काव्यालंकार सार-संग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या

व्याख्याकार

डॉ॰ राममूर्ति त्रिपाठी

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

काव्यालंकार-सार-संग्रह
एवं लघुवृत्ति की व्याख्या

व्याख्याकार
डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक
मोहनलाल भट्ट
सचिव, प्रथम शासन निकाय
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

प्रथम संस्करण : ११०० प्रतियाँ
प्रकाशन वर्ष : शक १८८८, सन् १९६६

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

प्रकाशकीय

भारतीय साहित्य-शास्त्र की परम्परा में उद्भट और उनके 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व है। उद्भट आठवीं शती ई० में हुए थे। उनके बाद नवीं शती ई० में आनन्द वर्धन ने काव्यशास्त्र के चिन्तन में ध्वनि-सिद्धान्त का निरूपण कर काव्यशास्त्रीय अन्य सिद्धान्तों को आत्मसात् कर लिया। दसवीं शती में प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट के अलंकार ग्रन्थ पर 'लघुवृत्ति' नाम की टीका लिखकर अलंकार-सिद्धान्त पर अपना एक मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया और 'पर्यायोक्त' अलंकार के प्रसंग से ध्वनि-सिद्धान्त की मौलिकता को अनावश्यक बताया। इस दृष्टि से 'लघुवृत्ति' का स्थान न केवल 'काव्यलंकार-सार-संग्रह' से महत्त्वपूर्ण है, अपितु काव्यशास्त्रीय चिन्तन-परम्परा में नया मोड़ उपस्थापित करने का आकर्षक प्रयास है, इसकी मौलिकता भारतीय साहित्य-चिन्तन के आचार्यों को आक्रान्त करती है। ध्वनि की प्रतिद्वन्द्विता में अलंकार-सिद्धान्त की सत्ता की स्थापना के प्रति पुनर्जागरण की घटना यह 'लघुवृत्ति' है। अतएव भारतीय काव्यशास्त्र के अनुशीलन में प्रतीहारेन्दुराज की इस कृति का अपना महत्त्व है, साथ ही मूल ग्रन्थ 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' में काव्यशास्त्रीय इतिहास के अनेक संगुम्फित तथ्य उसके अध्ययन के प्रति हमें उत्कण्ठित करते हैं।

इस प्रकार महिमामण्डित ग्रन्थ 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' और उसकी टीका 'लघुवृत्ति' का हिन्दी-व्याख्या के साथ प्रकाशन हिन्दी-काव्य-चिन्तन के क्षेत्र की अनिवार्य आवश्यकता थी। सम्मेलन ने इसी आवश्यकता को समझते हुए प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन किया है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तक को विद्वानों और स्नातकों की प्रियता प्राप्त होगी।

मोहनलाल भट्ट
सचिव
प्रथम शासन निकाय

भूमिका

नवोदित साहित्य-मर्मज्ञ और शास्त्र-चिन्तक डॉक्टर राममूर्ति त्रिपाठी की अनेक पुस्तकें पिछले वर्षों में प्रकाश में आयी हैं--जिनसे यह आशा बँधती है कि त्रिपाठी जी के अध्यवसाय और उनकी शास्त्रज्ञता के परिणाम-स्वरूप हिन्दी साहित्य को महत्त्वपूर्ण कृतियाँ उपलब्ध होंगी। कुछ बातें डॉक्टर त्रिपाठी को अन्य शास्त्रीय व्याख्याकारों से पृथक् करती हैं--उनमें से एक प्रमुख वस्तु उनका ऐतिहासिक बोध है। वे केवल ग्रन्थों की मीमांसा नहीं करते, उनके अनुक्रम को भी देखते हैं और उसके आधार पर अधिक वैज्ञानिक निष्कर्ष देते हैं। दूसरी वस्तु जो डॉक्टर त्रिपाठी की कृतियों को महत्त्वपूर्ण बनाती है उनकी पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र की जानकारी है। इस दिशा में वे निरन्तर अध्ययन करते रहे हैं और बहुत-सी सारवान् सामग्री का उपस्थापन किया है। इस दिशा में उनका आगामी कार्य और भी समृद्ध तथा तथ्यपूर्ण होगा--इसकी आशा की जा सकती है। साहित्य शास्त्र के साथ जिन अन्य शास्त्रों, विशेषकर जहाँ तक आधुनिक विषयों का सम्बन्ध है--उनका निरीक्षण और परीक्षण भी उन्होंने आरंभ किया है। इस प्रकार जैसे कुछ लोग विदेशी चिन्तन का विनियोग भारतीय साहित्य शास्त्र से करते हैं, उसी प्रकार डॉक्टर त्रिपाठी भारतीय साहित्य-शास्त्र का विनियोग पाश्चात्य विधाओं और नव्यचिन्तनों से करने की दिशा में अग्रसर हो रहे हैं। विशुद्ध भारतीय भूमिका पर इस प्रकार का विनियोग और सामंजस्य अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। मूल वस्तु भारतीय होगी, अलंकृतियाँ अथवा नवोद्भावनाएँ बाहर से आयेंगी। भारतीय साहित्य-चिन्तन के विकास का यह आधुनिक ऋजुपथ है और इस पर डॉक्टर त्रिपाठी जैसे पण्डित प्रस्थान कर रहे हैं--यह शुभ लक्षण है।

डॉक्टर त्रिपाठी का भारतीय साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी परिचय और अभिज्ञता पूर्णतया परम्परानुमोदित है। उन्हें काशी में रह कर इस विषय के शीर्षस्थ पंडितों के मुख से विद्यालाभ करने का अवसर मिला है। अतएव उनकी शास्त्रीय व्याख्याओं और विवेचनों में किसी प्रकार की भ्रांति या अपलाप की संभावना नहीं है। इस पूँजी को लेकर यदि वे विदेशी विनिमय के क्षेत्र में प्रवेश करेंगे तो उन्हें अधिक

सफलता मिलेगी—क्योंकि विनिमय में खरे सोने को लेने के लिए सभी तैयार रहते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक प्रसिद्ध अलंकार शास्त्री उद्भट के 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' तथा उसकी टीका 'लघुवृत्ति' की व्याख्या करती है, साथ ही एक विस्तृत भूमिका भी मूल विषय को विस्तृत सन्दर्भ में समझने के निमित्त उपस्थापित करती है। उद्भट अलंकार-शास्त्र के प्रारम्भिक आचार्यों में शीर्षस्थ हैं, इस ग्रन्थ तथा उसकी 'लघुवृत्ति' की यह प्रथम व्याख्या और विवेचन डॉक्टर राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा किया गया है, इससे न केवल उद्भट को वरन् संपूर्ण भारतीय काव्य शास्त्र को समझने में अच्छा योगदान प्राप्त होगा।

मुझे आशा और विश्वास है कि इस प्रामाणिक और ऐतिहासिक महत्त्व के ग्रंथ की यह व्याख्या हिन्दी के साहित्यिक पाठकों के लिए उपादेय होगी। मैं इसके प्रकाशन का स्वागत करता हूँ।

होलिकोत्सव,
संवत् २०२२ वि०।

—नंददुलारे वाजपेयी

रीति-शास्त्र के मर्मज्ञ

आचार्य

पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र

को

सश्रद्ध

विषय-क्रम

कृतिकार उद्भट : जन्मस्थान एवं जन्मतिथि

अतीत के गर्भ में विलीन जिन अनेक कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभाओं की रक्षा कल्हण की लेखनी से हुई है, उनमें उद्भट भी एक हैं। उनकी कृति 'राजतरंगिणी' से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये जन्मजात काश्मीरक हैं। उसी स्रोत से यह भी पता चलता है कि ये काश्मीरराज जयापीड की सभा के सभापति थे। कहा गया है—

विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः[1]॥

यह ऐसा विद्वान् था जिसका दैनिक वेतन लक्ष दीनार थे। निश्चय ही यही उद्भट 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' के प्रणेता हैं। इस निश्चय का न केवल उपरिलिखित एक ही स्रोत है, प्रत्युत अनेकविध स्रोत हैं। आनंदवर्द्धन ने इन्हें सादर अनेक स्थलों पर उद्धृत किया[2] है, जिससे यह निश्चित होता है कि आनंद वर्द्धन से पूर्व तो इनकी स्थिति थी ही। आनंदवर्द्धन काश्मीर नरेश अवन्ति वर्मा के सभासद थे।[3] दूसरी ओर इन्होंने भामह के 'काव्यालंकार' पर टीका[4] भी लिखी है और 'काव्यालंकार' में जिन अलंकारों का विवेचन किया है, उन पर भामह का पर्याप्त प्रभाव भी लक्षित होता है। निष्कर्ष यह कि ये भामह से पहले के नहीं हो सकते। इस प्रकार इतना तो निर्भ्रान्ति सिद्ध होता है कि भामह तथा आनन्दवर्द्धन के बीच उद्भट की स्थिति है। आनन्दवर्द्धन से ये बहुत पहले हो चुके हैं—ऐसी संभावना की भी गुंजाइश नहीं है। भामह का समय लगभग ७०० ई० के आसपास माना गया है। इसलिये ७५० ई० से पहले उद्भट का समय निर्धारित करना युक्ति-संगत नहीं होगा। आनन्दवर्द्धन नवम शतक के

---

१. राजतरंगिणी।

२. अन्यत्र वाचकत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोभटादिभिः।—ध्वन्यालोक।

३. राजतरंगिणी ५।३४।

४. विशेषोक्तिलक्षणे च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्द एवं व्याख्यातो यथेहास्माभिर्निरूपितः—लघुवृत्ति टीका

उत्तरार्द्ध के हैं। उद्भट को नवम शतक के उत्तरार्द्ध से पूर्व भी रखना ही होगा—कारण, आनन्दवर्द्धन ने उन्हें अपने ग्रंथों में अनेकत्र उद्धृत किया है। कश्मीर की परम्परा इन्हें एक विद्वान् पण्डित के रूप में जयापीड़ का सभासद् मानती है—७७९–८१३ तक राज्याधिरूढ़ जयापीड का समसामयिक मानती है। यदि इस परम्परा को मान लिया जाय, तो निश्चय ही उद्भट ८०० ई० के आस-पास होंगे और परम्परा न भी स्वीकृत की जाय, तो भी उक्त प्रकार से उनका यही समय निश्चित होता है। निष्कर्ष यह कि उनकी स्थिति ७५० से ८५० ई० के भीतर ही माननी होगी।

कृतियाँ

उद्भट की कई कृतियों का पता चलता है। 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' तो प्रस्तुत आलोच्य कृति है ही। इसके अतिरिक्त 'भामह-विवरण' एवं 'कुमारसंभव' नामक व्याख्यात्मक एवं काव्यात्मक दो रचनाएँ और भी कही जाती हैं। कहने को तो यह भी कहा जाता है कि इन्होंने नाट्य-शास्त्र पर भी एक टीका लिखी[१] थी। 'भामह-विवरण' तथा 'कुमारसंभव' का पता इनके टीकाकार प्रतीहारेंदुराज से मिलता[२] है[३]। इंदुराज के इस उल्लेख के अतिरिक्त कुछ ऐसे तर्क भी हैं जो प्रस्तुत कृतियों से अतिरिक्त कृति के अस्तित्व का संकेत देते हैं। उदाहरणार्थ, उद्भट की अलंकारशास्त्रीय विविध मान्यताओं का जो अनेकत्र उल्लेख मिलता है, उनमें से बहुतों का अस्तित्व 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' में दिखाई नही पड़ता। इससे यह अनुमान तो निकाला ही जा सकता है कि प्रस्तुत कृति से अतिरिक्त अन्य अलंकारशास्त्रीय विवेचन भी है—वह 'भामह-विवरण' हो या और कोई हो। उदाहरणार्थं, रसगंगाधरकार ही ने कह दिया है—"अत्राहुरुद्भटाचार्याः—येन नाप्राप्ते य आरभ्यते[४]·······"। यहाँ जो कुछ उद्भट के नाम पर उद्धृत

---

१. व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः। भट्टाभिनवगुप्ताश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः।

संगीत रत्नाकर १।१९

२. विशेषोक्तिलक्षणे च भामहविवरणे भटोद्भटेन एकदेशशब्द एवं व्याख्यातो यथेहास्माभिर्निरूपितः—लघुवृत्ति टीका (का० सा० सं० की)

३. अनेन ग्रंथ कृता स्वीयरचितकुमारसंभवैक देशोऽत्रोदाहरणत्वेनोपन्यस्तः वहीं।

४. रस गंगाधर

किया गया है, वह काव्यालंकार-सार-संग्रह में नहीं दिखाई देता। वैसे सम्पादक प्रवर वनहट्टीजी ऐसे उद्धरणों को ज्यादा महत्त्व नहीं देते ; पर रुय्यक के इस वक्तव्य से—'इह हि तावद्भामहोद्भटप्रभृतयः·······अथवा उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्'[1]—इतना अवश्य स्थिर किया जा सकता है कि वे एक प्रामाणिक आलंकारिक थे और प्रस्तुत कृति से भिन्न कोई अतिरिक्त शास्त्रीय कृति भी उनकी थी।

रही 'कुमारसंभव' की बात, तो उसके तमाम उद्धरण प्रस्तुत[2] कृति ही में उपलब्ध हैं। जहाँ तक नाट्य-शास्त्र की टीका का संबंध है, कुछ लोगों का कहना है कि उसके प्रणेता कोई दूसरे उद्भट हैं। अपनी इस स्थापना के समर्थन में उन लोगों का तर्क यह है कि उद्भट एक अलंकारवादी आचार्य हैं। शब्दार्थ धर्म को ही वे महत्त्व देते हैं। रस-जैसे तत्त्व को रसवद् अलंकार में रखकर उसे गौण स्थान देते हैं। अलंकारवादी भामह के अनुयायी भी हैं, तो क्या ऐसी मान्यताओं का व्यक्ति उस भरत का, जो रसोद्रेक संप्लावित हृदय वाले कवि के अंतस् से संभूत रसनिःष्यंद से जीवलोक को मग्नकर देने वाले सारस्वत-प्रवाह को काव्य मानता हो——टीकाकार हो सकता है ? फिर अपने ही तर्कों पर पूर्ण विश्वस्त न होकर वे लोग यह भी कहते हैं कि हो सकता है कि भामह आदि ने भी श्रव्यकाव्य को ही अलंकार-प्रधान माना हो और वहाँ रस की अलंकारता सम्भव कही हो और दृश्य काव्य में रसवत्ता की प्रधानता स्वीकार की हो——रस की स्थिति की उभयत्र एक रूपता नहीं मानी हो। इसीलिये वही अलंकारवादी उद्भट जब 'नव नाट्ये रसाः स्मृताः'[2] कहते हैं, तो लगता है कि दृश्य-काव्य की रस-प्रधानता उन्हें भी ईप्सित है। इसी ऐतिहासिक धारणा के विरोध में हो सकता है, रुद्रभट्ट, रुद्रट एवं आनंदवर्द्धन ने उभयत्र रस की एकरूपता वाला पक्ष साभिनिवेश स्थापित किया हो और किया ही है।

निष्कर्ष यह कि वे नाट्यशास्त्र के टीकाकार हो भी सकते हैं। इधर हाल में प्रकाशित गणेश त्र्यम्बक देशपांडे प्रणीत 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' में डा० शङ्करन्, श्री रामस्वामी, डा० सुशील कुमार डे, म० म० पी० वी० काने के मतों का खण्डन करते हुए यह स्थापना की गई है कि आरंभ में काव्य चर्चा नाट्यचर्चा से ही निकली और बाद में चलकर वह पृथक् हुई। भामह,

---

१. अलंकार सर्वस्व।
२. काव्यालंकार-सार-संग्रह।

दण्डी, उद्‌भट आदि भरत के विरोध में भिन्न संप्रदाय के आविष्कारक नहीं थे और न तो दृश्य में रस-प्राधान्य के विरोधी थे। असल में भामह, दण्डी आदि तो श्रव्यकाव्य पर विचार कर रहे थे। नाट्य पर तो अन्यत्र विस्तारपूर्वक विचार हो चुका था। इस प्रकार इन लोगों द्वारा जो विचार एक सहज क्रम से विकसित हो रहे थे [विरोध में नहीं]——उद्‌भट भी उसी धारा के उन्नेता हैं। अत: उद्‌भट को भरत का विरोधी कहकर उनके नाट्यशास्त्रीय व्याख्याता होने का विरोध करना ठीक नहीं है।

इन तर्कों के अतिरिक्त इनके नाट्यशास्त्रीय व्याख्यान में और अनेक अनुकूल तर्क मिलते हैं; जैसे——अभिनव भारती में उद्‌भट से समादृत पाठभेद तथा तदनुरूप व्याख्याएँ स्थल-स्थल पर मिलती हैं। जहाँ लोल्लट एवं उद्भट द्वारा गृहीत पाठ में वैमत्य लक्षित होता है, वहाँ अभिनव गुप्त प्राय: उद्भट-गृहीत पाठ को ही प्राधान्य देते हैं। कुंतक ने भी रसवदलंकार निरूपण के अवसर पर उद्भट की पर्याप्त हँसी उड़ाई है——इससे भी उद्भट की व्याख्यातृता सिद्ध होती है।

दशरूपक में धनञ्जय ने चार ही वृत्तियों को मानते हुए उद्भटानुयायियों की पाँचवीं वृत्ति अस्वीकार की है और कहा है—'नार्थवृत्तिरत: परा''। नाट्यमाता वृत्तियों पर किये गये विचार से भी स्पष्ट होता है कि उन्होंने नाट्य-शास्त्र पर व्याख्यान अवश्य किया था। कारण, नाट्यवृत्तियों-संबंधी विवेचन की संभावना न तो कुमारसंभव में की जा सकती है और न काव्यालंकार-सार-संग्रह तथा भामह-विवरण में ही। भोज ने भी शृंगार-प्रकाश में औद्भट मत को ही मन में रख कर दशरूपोपयोगी पंचवृत्तियों का उल्लेख करते हुए यह कहा है कि पाँचवीं वृत्ति मिश्र-नामक अर्थवृत्ति है—यद्यपि इस वृत्ति का उल्लेख भरत ने नहीं किया और इसके अतिरिक्त धनञ्जय ने उनका खण्डन भी किया है। शारदातनय ने अपने 'भाव प्रकाशन' नामक ग्रन्थ में भोज एवं धनञ्जय के मत का प्रदर्शन किया है। निष्कर्ष यह कि इन सब तर्कों के आधार पर उन्हें नाट्य-शास्त्र का व्याख्याता माना जा सकता है।

श्री रामस्वामीजी का विचार है कि यद्यपि कुमारसंभव से भी कम अंश आज 'भामह-विवरण' का उपलब्ध है, फिर भी निश्चय ही यह ग्रन्थ बहुत प्रौढ़ तथा विस्तृत रहा होगा। उनका तो यह भी अनुमान है कि हो सकता है, काव्यालकार-सार-संग्रह उसी का संक्षिप्त रूप हो; पर अब तो यह ग्रन्थ उपलब्ध हो चुका है। पाकिस्तान सरकार ने इसे प्रकाशित भी कर दिया है। इस प्रकार उनकी कृतियाँ निम्नलिखित जान पड़ती हैं—

(१) काव्यालंकार-सार-संग्रह

(२) भामह-विवरण
(३) नाट्य-शास्त्र की टीका
(४) कुमारसंभव

उद्भट के समसामयिक साहित्यकार

जयापीड़ के शासन में राजतरंगिणी के अनुसार अनेक विद्वान् हो चुके हैं जिनके बीच उद्भट एक मान्य सभापण्डित थे। उनकी सभा में कवियों के रूप में मनोरथ, शंखदत्त, चटक एवं संधिमान्[1] तथा मंत्रियों में वामन का महत्त्वपूर्ण स्थान था। कुट्टनी मत के प्रणेता दामोदर भट्ट भी सामयिक हैं। इन सभी लोगों में इनके क्षेत्र के आचार्य हैं—वामन। वामन दण्डी का ज्यादा अनुसरण करते हैं तथा भामह एवं उद्भट द्वारा समादृत अलंकारवाद को सर्वथा अस्वीकार करते हैं। व्यापक अर्थ में यद्यपि वामन अलंकार शब्द को ग्रहण करते हैं और काव्य की उपादेयता भी अलंकार के कारण स्वीकार करते हैं--फिर भी रुय्यक के अनुसार भामह एवं उद्भट-जैसे प्राचीन आलंकारिकों की भाँति काव्य में अलंकार को महत्त्व नहीं प्रदान करते।

वामन ने तो रीति को काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया है। आश्चर्य है कि उद्भट के समकालिक होकर भी वामन ने कहीं भी उद्भट का नामोल्लेख नहीं किया। उद्भट की समस्त कृतियाँ तो उपलब्ध नहीं हैं कि जिससे यह अधिकारपूर्वक कहा जा सके कि उद्भट ने भी वामन का उल्लेख कहीं नहीं किया; पर उपलब्ध विवेचित अंश में तो कहीं उद्भट ने भी वामन का नाम नहीं लिया। संभव है कि समसामयिक तथा एक राजाश्रित ये दोनों आचार्य परस्पर प्रतिस्पर्द्धी रहे हों और प्रतिस्पर्द्धिता के ही कारण एक दूसरे का नामोल्लेख न करते हों।

उद्भट का व्यक्तित्व और उनकी मान्यता

उद्भट अपने समय के एक मान्य आलंकारिक हैं। इनकी मान्यताओं से प्रभावित एक सम्प्रदाय ही था, जो औद्भट सम्प्रदाय[2] के नाम से ख्यात है। लोचनकार ने एक स्थान पर यह कहा है कि 'उद्भटमतानुसारिणस्तु भङ्क्त्वा व्याचक्षते'। विभिन्न

---

१. मनोरथः शंखदत्तश्चटकः संधिमान् तथा। बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मंत्रिणः॥ राजतरंगिणी, ४।४९७

२. ध्वन्यालोक, द्वि०उ०, पृ० १९२

मान्यतम आचार्यों ने जो अनेक विध विशिष्ट विशेषणों से उद्भट का स्मरण किया है—उसने उनके गरिमामय व्यक्तित्व का पता चलता है। ध्वन्यालोककार उनके लिये कहते हैं—'तत्रभवद्भिरुद्भटादिभिः'[1]। अलंकार सर्वस्वकार 'इह हि तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः'—कहकर उनका चिरन्तन आलंकारिकों के बीच सादर स्मरण करते हैं। व्यक्ति-विवेक की टीका में तो उन्हें अलंकार-तंत्र-प्रजापति शब्द से बोधित किया गया है। अभिनव गुप्त के सम्बन्ध में ऊपर ही कहा जा चुका है कि जहाँ लोल्लट एवं उद्भट के बीच पाठभेद-सम्बन्धी वैमत्य उपलब्ध होता है, वहाँ उद्भट समादृत पाठ ही वे ग्रहण करते हैं। न जाने कितने परवर्त्ती आचार्यों ने इन्हें उद्धृत किया है—यद्यपि कुछ लोगों ने खण्डनार्थ भी उद्धृत किया है। पर, ध्यान देने की बात यह है कि खण्डन भी बड़े आचार्य उसी विद्वान् का करते हैं, जिनके व्यक्तित्व और विचारों में कुछ सार होता है। वैसे तो अन्यान्य लोगों ने उनके स्वतंत्र विचार-प्रवर्त्तकत्व तथा काव्य-क्रियाशिक्षण-पाटव का भी उल्लेखपूर्वक प्रशंसन किया है। भामह को ही ले लिया जाय—जिनके वे टीकाकार रह चुके हैं—उनके सर्वत्र अंधानुकरण की प्रवृत्ति उद्भट में नहीं मिलेगी। उन्होंने अपने काव्यालंकार-सार-संग्रह में भामह स्वीकृत कतिपय अलंकारों को अस्वीकार कर दिया है और कतिपय को स्वीकार करके भी उसमें समुचित परिवर्त्तन एवं संस्कार किया है और इस संस्कार को मम्मट-जैसे समर्थ आचार्यों ने मान्यता प्रदान की है। साथ ही उसे अपने ग्रंथ में सादर ग्रहण भी किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उद्भट का आचार्यमय व्यक्तित्व पर्याप्त सम्मानास्पद दृष्टि से देखा जाता था। आनंद के ध्वनि-सिद्धांत के बाद भी उद्भट की ऐसी धाक थी कि इंदुराज ने बड़ी निर्भीकता और आस्था के साथ उद्भट का समर्थन किया।

अन्य आलंकारिक एवं उद्भट

इस विषय का विवेचन करते हुए पहले हमें प्राक्तन आलंकारिकों के साथ उद्भट की परीक्षा करनी है और व्यापक तौर पर समस्त प्रमुख आलंकारिकों में इनका स्थान देखना है। स्वयं वेदों, रामायण तथा महाभारत आदि पुरातन कृतियों तथा निरुक्तकार, पाणिनि एवं बादरायण के शास्त्रीय प्रयासों में स्थल-स्थल पर जो उपमा आदि अलंकारों का विवेचन एवं विनियोग दृष्टिगोचर होता है, उससे पता चलता है कि शब्द-संस्कार की भाँति अलंकारात्मक उत्कर्ष

---

१. वही।

विधान की बात भी अनादि समय से होती आ रही है। व्यवहार में संस्कृत शब्दों की भाँति अलंकृत शब्द भी उत्कर्ष का आधान करते ही हैं। अनुमान किया जा सकता है कि जिस प्रकार शब्दों के संस्कार प्रदर्शनार्थ व्याकरण आदि शास्त्र का निर्माण बहुत पहले हो गया था, उसी प्रकार काव्यालंकार निर्णयोपयोगी दर्शन का सूत्रपात भी निश्चय ही प्राचीन काल में हो गया होगा। विषाद इस बात का है कि आज वे अलंकार-दर्शन व्याकरण-दर्शन की भाँति उपलब्ध नहीं हैं।

उपलब्ध प्रबंधों में भरत-प्रणीत नाट्य-शास्त्र में दृश्य के वाचिक अंग का निरूपण करते हुए इस प्रसंग में उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक नाम के चार अलंकारों का उल्लेख मिल जाता है। भरत ने रस-प्रधान दृश्य-काव्य के वाचिक अंग का निरूपण करते हुए भी इन कतिपय अलंकारों का ही नामोल्लेख किया, पर इससे यह निष्कर्ष निकालना कि श्रव्य-काव्य में भी ऐसे कतिपय अलंकारों का ही अवस्थान था——ठीक न होगा। रामायण आदि प्राचीन प्रबंधों में अन्यान्य अलंकारों का प्रचुर प्रयोग उपलब्ध होता है। अभिनेय काव्य में श्रव्य-काव्य की अपेक्षा अलंकारों का प्रयोग निश्चय ही कम मात्रा में होता है—कदाचित् इसीलिये भरत ने थोड़े ही अलंकारों का निर्देश किया।

उपलब्ध ग्रंथों को देखा जाय, तो ऐसा लगता है कि काव्य-शास्त्र के विकास में काश्मीरक आचार्यों का श्लाघ्य योग रहा है। उन ग्रन्थों का सूक्ष्म तौर पर अध्ययन करने से यह भी पता लगाने का प्रयास विद्वानों ने किया है कि किस प्रकार अलंकार-शास्त्र का एक विशेष ढंग से विकास होता जा रहा था।

भरत के बाद और भामह से पूर्व काव्य-शास्त्र की विकास-शृंखला ऐसी अंधकारमयी है कि उस पर कुछ निश्चयात्मक प्रकाश नहीं पड़ता। ग० त्र्य० देशपांडेजी ने इस विच्छिन्न कड़ी को जोड़ने का कुछ प्रयास अवश्य किया है। उनका कहना है कि भरत ने उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक—चार अलंकार दिये हैं। फिर उपमा के निंदोपमा, प्रशंसोपमा एवं कल्पितोपमा——ये तीन भेद किये हैं। भामह ने अपने अलंकार-विवेचन के आरंभ में कहा है—

अनुप्रासः स यमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलंकाराः पञ्चैवान्यैरुदाहृताः॥

विभिन्न वर्गों में आलंकारिकों का उल्लेख करते हुए पहले-पहल किसी अज्ञात आलंकारिक का मत उपर्युक्त कारिका में उद्धृत किया गया है। देशपांडेजी का अनुमान है कि इस अज्ञातनामा आलंकारिक ने भरतोक्त चार अलंकारों में अनुप्रास नामक एक और भेद ऊपर से जोड़ दिया होगा। भामह ने स्वयं स्वीकार किया है कि मेधावी ने यथासंख्य नामक अलंकार अधिक माना था। यमक और

अनुप्रास में निकट का संबंध है ; अतः हो सकता है कि यह आलंकारिक मेधावी से भी पहले का हो । हो सकता है कि भरत के बाद उसमें एक और अलंकार जोड़ देने वाला पहला आलंकारिक वही हो । इस प्रकार भरत—अनुप्रास जोड़ने वाला अज्ञातनामा-मेधावी-भामह—यह क्रम हुआ । पर इसका मतलब यह नहीं कि भामह से पूर्व अन्य आलंकारिक नहीं थे—नहीं, और भी आलंकारिक थे । फिर भी भरत एवं भामह के बीच का यही इतना आभास मिलता है ।

भामह के बाद से साहित्य-शास्त्र का निर्माण जिस क्रम से हुआ है, उसकी ऐतिहासिक विकास-संगति लगाने का उपक्रम कई विचारकों ने अपने-अपने ढंग से किया है । इन विचारकों का द्विविध वर्ग है—चिरन्तन एवं अद्यतन । अद्यतन के भी दो वर्ग हैं—संस्कृत-क्षेत्र के नूतन दृष्टि-सम्पन्न अध्येता तथा हिंदी-क्षेत्र के सप्रतिभ समीक्षक ।

साहित्य-शास्त्रीय विकास के अध्येता

(क) चिरन्तन — अद्यतन

अद्यतन: (ख) संस्कृत के क्षेत्र में काम करने वाले — (ग) हिंदी के क्षेत्र में काम करने वाले

(क) वर्ग में रुय्यक तथा उनके टीकाकार समुद्रबंध (ख) वर्ग में म० म० कुप्पूस्वामी शास्त्री, डा० शंकरन्, म० म० पी० वी० काणे, डा० एस० के० डे०, श्री रामस्वामी आदि तथा (ग) वर्ग में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पं० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र, डा० नगेंद्र, श्री शिवदानसिंह चौहान, श्री० ग० त्र्य० देशपाडे आदि आ सकते हैं ।

(क) अलंकार सर्वस्व तथा समुद्रबंध का मत—अलंकार-सर्वस्व की टीका करते हुए समुद्रबंध ने यह लिखा है कि विशिष्ट शब्दार्थ ही काव्य है । काव्यगत वैशिष्ट्य (शास्त्र या विज्ञान से व्यावर्त्तक-तत्त्व) का अनुसंधान करते हुए किस आचार्य ने किस तत्त्व पर बल दिया—इसका अच्छा रूप समुद्रबंध ने प्रस्तुत किया है । उन्होंने बताया कि काव्य के शब्दार्थगत (शास्त्रव्यावर्त्तक) वैशिष्ट्य की खोज जब से आरंभ हुई, तब से किसी ने उसका विश्लेषण 'धर्म' द्वारा, किसी ने 'व्यापार' द्वारा और किसी ने 'व्यंग्य' द्वारा किया है । 'धर्म' दो प्रकार के बताये गये—अलंकार एवं गुण । पहली दृष्टि से वैशिष्ट्य के विवेचक भामह और दूसरी दृष्टि से वामन हुए । व्यापार भी दो प्रकार का है—विचित्र भणिति या वक्रोक्ति तथा

भावना। पहली के पुरस्कर्ता कुंतक और दूसरी के भट्टनायक हैं। व्यंग्यार्थ द्वारा काव्य वैशिष्ट्य का विवेचन करने वाले आचार्य हैं—आनंदवर्द्धन।

समुद्रबंध के वक्तव्य का उद्धरण उपर्युक्त दोनों वर्ग के लोगों ने दिया है, अर्थात् उन लोगों ने भी जिन्होंने परस्पर-विरोधी सम्प्रदायों के रूप में साहित्य-शास्त्रीय विकास का अध्ययन किया और उन लोगों ने भी, जिन लोगों ने अविरोधी ढंग से एक ऐतिहासिक अनुक्रम में इसके विकास का उपस्थापन किया। समुद्रबंध ने 'वैशिष्ट्य' से किसी खास तत्व का निर्देश नहीं किया। यों रुय्यक के स्वकीय ग्रंथगत आरंभिक तर्कों से यह स्पष्ट पता चलता है कि वे ध्वनिमार्गानुयायी हैं। और इस मार्ग के अनुयायी अतत: वैशिष्ट्याधायक प्रशस्त तत्व 'रस' को ही मानते हैं। सम्प्रति, इनके मत की खींचतान करके किसी एक ही ओर उसे नियोजित करने का अवैज्ञानिक प्रयास मैं नहीं करना चाहता।

(ख) **आचार्य वाजपेयी का अभिमत**—साहित्य-शास्त्रीय चर्चा के विकास का ऐतिहासिक अनुक्रम बिठाने का प्रयास आचार्य वाजपेयीजी ने अपने 'नये साहित्य नये प्रश्न' शीर्षक कृति में किया है। यहाँ उनके मत का सारांश दिया जा रहा है। वाजपेयीजी ने अपने मत को उपस्थापित करते हुए पूर्ववर्त्ती साहित्य-मर्मज्ञों के मत का भी उपस्थापन किया है। उनका कहना है कि शुक्लजी रस को ही सर्वातिशायी साहित्य-सिद्धान्त मानते हैं; पर उन्होंने ऐतिहासिक अनुक्रम में उसका विवेचन प्रस्तुत नहीं किया। 'प्रसाद' जी ने अवश्य दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित बुद्धिवादी और आनंदवादी धाराओं में साहित्यिक नये सिद्धांतों की व्याख्या की है। उनके विचार में अलकार, रीति और वक्रोक्ति आदि बुद्धिवादी धारा से और ध्वनि तथा रस के सिद्धांत आनन्दवादी दार्शनिक धारा से निष्पन्न हैं। डा० नगेंद्र ने पश्चिमी विवेचन की भूमिका पर वस्तुवादी एवं आत्मवादी सिद्धांतों की सीमा में भारतीय साहित्य-सिद्धांतों को रखने की चेष्टा की है। वे अलकार, रीति एवं वक्रोक्ति को वस्तुवादी तथा ध्वनि और रस को आत्मवादी सिद्धांत मानते हैं।

वाजपेयीजी की अपनी उपपत्ति यह है कि भारतीय सभी काव्य-मतों का आरंभ काव्य के विभिन्न-पक्षों की स्वतंत्र व्याख्या के रूप में हुआ था। उन्हें समुद्रबंध का उक्त निर्देश मान्य है। वे मानते हैं कि काव्य की मीमांसा की प्रमुखत: तीन भूमियाँ हैं—पहली भूमि कल्पना-तत्त्व से संबंधित है, जिसे सर्जन-प्रक्रिया का पक्ष कहा जाता है। अलंकार-सम्प्रदाय इसी पक्ष से संबंधित है। दूसरी भूमि में रूपों या कल्पनाओं के व्यक्तीकरण की स्थिति आती है। रीति एवं वक्रोक्ति का संबंध अपनी मूल भूमिका में इसी व्यक्तीकरण की प्रक्रिया से संबद्ध है। इसे ही समुद्र

वंच ने काव्य का व्यापार मुख कहा है। ध्वनि और साधारणीकरण के भारतीय विवेचक इस व्यक्तीकरण के प्रश्न को काव्य की प्रेषणीयता की समस्या से जोड़ते हैं। इस प्रकार रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि एवं साधारणीकरण की मीमांसाएँ काव्य के व्यापार-पक्ष को पूर्णताएँ प्रदान करती हैं। अंततः 'रस'-सिद्धांत का कार्य-क्षेत्र आता है, जो मूलतः काव्य के आस्वाद के प्रश्नों से संबद्ध है। यह तो रही मूल भूमिका। इसके अनंतर इन विभिन्न संप्रदायों के विशदीकरण (Elaboration) की स्थिति आती है। इस स्थिति में ये सभी संप्रदाय अधिकाधिक भूमियों को घेरते हुए अपने को काव्य की आत्मा घोषित करने लगते हैं। इस प्रकार यदि भूमिका Thesis है, तो परवर्ती प्रयास Antithesis है।

तीसरी स्थिति समन्वय या अंतिम अभिमत Synthesis की है। यहाँ आकर भारतीय साहित्यिक संप्रदायों का एक परिवार बन जाता है, जिसके विविध परिवारी अपने-अपने व्यावहारिक कार्यों में संलग्न होने लगते हैं।

उक्त वक्तव्य तो वाजपेयीजी ने भूमिका में दिया है। उसके अतिरिक्त मूल ग्रन्थ में 'भारतीय साहित्य-शास्त्र की रूप रेखा'––शीर्षक निवन्ध में साहित्य-शास्त्रीय विवेचन के विकास के कई सोपान स्थिर किये हैं—

१ उद्‌भवकाल से लेकर भरत मुनि तक––भारतीय काव्य-शास्त्र अपने निर्माण की स्थिति में था। इस युग में काव्य से संबद्ध वस्तुओं का व्यवस्थित नामकरण हुआ और काव्य के प्रधान तत्त्व खोज लिये गये। मुख्य तत्त्व 'रस' भी चिंतन का विषय बन गया।

२. भरत से अभिनव तक––इसे अन्वेषण और विदग्ध विवेचन का युग कहा जाता है। इस युग में केवल रस या काव्य-तत्त्व के समस्त पक्षों पर ही विभिन्न दृष्टिकोणों से गवेषणा नहीं की गई प्रत्युत इन चेष्टाओं के फलस्वरूप एक काव्यदर्शन भी आविर्भूत हुआ।

३. तृतीय युग––जिसमें अनेक काव्य संबंधी मत प्रवर्त्तित और प्रतिष्ठित हुए तथा उनके आधार पर अनेक काव्य-संप्रदायों की स्थापना हुई। काव्यतत्त्व चिन्तन का यह वास्तविक युग है। तिथियों की दृष्टि से यह युग द्वितीय युग के साथ चलता है और काफी बाद तक चलता रहता है।

४. चतुर्थ युग—इसे समन्वय का युग कहते हैं। इसका आरंभ १०-११वीं शताब्दी के आसपास मम्मट द्वारा हुआ और पण्डितराज तक चलता रहा।

५. विघटन एवं विकलन युग—इसमें यत्र-तत्र नवीनता की किरणें दृष्टि-गोचर होती हैं।

६ आधुनिक युग--जो मुख्य रूप से पुनरुत्थान और नव जागरण के प्रकाश में प्रत्येक वस्तु का मूल्य पुनः अंकित करने का युग है।

इस प्रकार आचार्य वाजपेयीजी ने साहित्य-शास्त्रीय चर्चा के विकास को एक ऐतिहासिक अनुक्रम दिया है। उस अनुक्रम में वर्गीकरण की भी बात आ गई है अथवा प्राक्तन वर्गीकरण की दृष्टि को भी कुक्षिस्थ कर लिया गया है।

(ग) गणेशत्र्यम्बक देशपाण्डे द्वारा निर्धारित अनुक्रम--देशपांडेजी ने 'साहित्य शास्त्र का विकास' शीर्षक अपनी कृति के आठवें अध्याय में यह बताया है कि आजकल लोग साहित्य-शास्त्र के विकास का अध्ययन विभिन्न सम्प्रदायों में करते हैं, जो समुचित नहीं जान पड़ता। सम्प्रदाय (Schools) की एक असाधारण विशेषता यह है कि वे जिस धर्म का पुरस्कार करते हैं--अतिरिक्त मान्य धर्मों का खण्डन भी करते हैं; पर यहाँ विभिन्न सम्प्रदायों में एक दूसरा अपने-अपने मान्य तत्त्व की प्रतिष्ठा करता हुआ भी अन्य सम्मत तत्त्व का अभाव सिद्ध नहीं करता। [मेरा ख्याल तो यह है कि अन्य दीय तत्त्व का अभाव चाहे अन्य साम्प्रदायिक न करता हो; पर उसकी प्रधानता का अभाव तो सिद्ध करता ही है]।

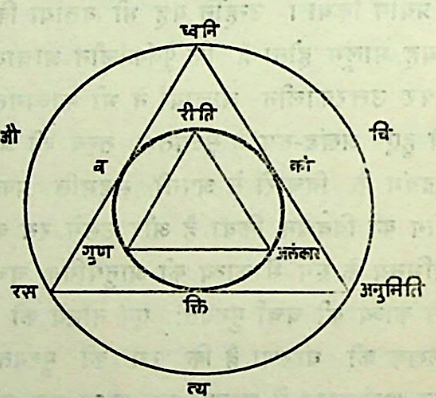
इनका विचार है कि सम्प्रदायों में अध्ययन यहाँ तब शुरू हुआ, जब पश्चिमी विद्वानों ने इतिहास मुख से भारतीय साहित्य-शास्त्र का अध्ययन करते हुए School शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने यह भी बताया कि साहित्य-शास्त्र का इतिहास देखने से यह मालूम होता है कि पूर्वकालीन आचार्यों के मतों का यथावत ज्ञान कर लेने पर उत्तरकालीन आचार्यों ने भी काव्यगत पदार्थों के विशिष्ट धर्म की खोज करते हुए अखंड-रूप से सूक्ष्मतम तत्त्व की ओर बढ़ने का प्रयास किया है और समुद्रबंध के विचारों से अपनी सहमति प्रकट की है। भरत ने मुख्यतः नाट्य-प्रयोग का विवेचन किया है और उसमें रस की प्रतिष्ठा स्वीकार की है। वाचिक अभिनय के रूप में काव्य की आनुषंगिक चर्चा वहाँ अवश्य हुई है! भामह-दण्डी से काव्य की चर्चा मुख्यतः एवं नाट्य की चर्चा प्रासंगिक रूप में आरम्भ हुई। लेखक की धारणा है कि 'रस' की मुख्यता सभी आचार्यों ने स्वीकार की है; पर श्रव्यकाव्य में शब्दार्थ रूप काव्य गत कौन-सा विशिष्ट धर्म है—जो रस-निष्पत्ति में सहायक है—इस पर अन्वेषण करते हुए भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न तत्त्वों की प्रतिष्ठा की है। भामह ने शब्दार्थगत 'वक्रोक्ति' को ही विभावक अलंकारों का मूल माना और उस वक्रोक्ति के मूल को ध्यान में रखते हुए समाधि एवं अमुख्य वृत्ति की चर्चा दण्डी, वामन तथा उद्भट ने की। समुद्रबंध की व्याख्या करते हुए देशपांडेजी ने यह माना है कि जरत्तम आचार्यों ने धर्म (अलंकार तथा गुण) द्वारा, जरत्तर ने फल (आनंद) द्वारा तथा जरन्

(भट्टनायक तथा कुंतक) ने व्यापार-द्वारा (कवि-व्यापार तथा रसिक-व्यापार विचित्र अभिधा या वक्रता तथा भोग) काव्य-वैशिष्ट्य का निरूपण किया। विवेचन के इन सभी प्रकारों की पूर्णता अभिनव गुप्त एवं मम्मट के विवेचन में दिखाई पड़ती है।

साहित्य-शास्त्र के विकास की पाँच धाराओं---१. क्रियाकल्प (भरत) २. काव्य-लक्षण (भरत से भामह दण्डी) ३. काव्यालंकार (६००-८०० रुद्रट तक) ४ साहित्य (८००-११००) तथा ५. साहित्य-पद्धति (११००-१६५०)--में से तीसरी एवं चौथी की जो विचार-धाराएँ थीं--उनकी संगति इसी प्रकार है।

उनका यह भी कहना है कि आनंदवर्द्धन के पूर्व शास्त्र-विरचना (Formation) का और आगे शास्त्र की पुनर्व्यवस्था एवं तत्त्व-परीक्षा (Systematization and application) का काल है। ध्वनि का उद्भव प्राग्विवेचित सामग्री के परीक्षण से ही है।

(घ) म० म० कुप्पू स्वामो शास्त्रो तथा साहित्य-सिद्धान्तों के विकास-क्रम का विवेचन--स्वामीजी ने साहित्य-शास्त्रीय विवेचन में जो क्रम बिठाया है--उसे एक मानचित्र से दिखाया है; वह यों है--



इस चित्र के मध्य में पहले एक त्रिकोण है—जिसके द्वारा यह दिखाया गया है कि काव्य-निर्माण की दृष्टि से किये गये प्राक्तन विवेचनों को अपनी परिधि में समेटने वाले 'वक्रोक्ति' मत के आविर्भाव से पूर्व तीन मतों का उद्भव हो चुका था--अलंकार-मत, गुण-मत तथा रीति-मत। पर ग्राहक की दृष्टि से किये गये विवेचन से प्रसूत रसवाद एवं ध्वनिवाद तथा उसकी प्रतिक्रिया में उद्भूत अनुमितिवाद—इन वादों ने अपना प्रभाव ऐसा जमाया कि प्राक्तन

विवेचन को निगलकर अपनी कुक्षि में उन सब को रख लिया। चित्र द्वारा यह भी दिखाया गया है कि औचित्य की परिधि इतनी व्यापक है कि इसे लाँघ कर कोई भी वाद या किसी भी वादी का प्रतिपाद्य तत्त्व सुंदर नहीं हो सकता। ऐतिहासिक दृष्टि से भी औचित्य-सिद्धान्त परवर्त्ती सिद्धांत है। यों तो इस सिद्धांत के बीज सभी प्राक्तन आलंकारिकों में मिलते हैं; पर इसकी व्यापक विवेचना एक कृति के माध्यम से क्षेमेंद्र ने ही की।

(ङ) म० म० पी० वी० काणे ने भी इस विषय में History of Sanskrit Poetics नामक अपनी कृति में विचार किया है और कहा है "What is the soul of Poetry ? To this question various answers have been given by several schools." उन्होंने बताया है कि उसे यदि ऐतिहासिक अनुक्रम में रखा जाय, तो रस, अलंकार, रीति, ध्वनि एवं वक्रोक्ति का क्रम हो सकता है। ध्वन्यालोककार ने ध्वनि के विरोध में तीन सम्प्रदायों की—अभाववादी, भक्तिवादी एवं अनिर्वचनीयतावादी—चर्चा की है। उन्होंने समुद्रबंध के द्वारा तर्कित पाँच सम्प्रदायों का भी उल्लेख किया है। काणे साहब ने समुद्रबंध के विवेचन में यह लक्षित किया है, कि उन्होंने अपने वर्गीकरण मे भरत के रस-सिद्धांत का उल्लेख नहीं किया है, जब कि भट्टनायक उसी धारा के आचार्य हैं और उनका उल्लेख किया गया है। ध्वनि के विरोध में भट्टनायक की भाँति महिम भी आये—पर उन्होंने अपना कोई अनुयायी पैदा नहीं किया इसलिये उनके सम्प्रदाय की चर्चा नहीं हुई। वक्रोक्तिकार का भी कोई अनुयायी नहीं है; पर जाने क्यों वे संप्रदाय प्रवर्त्तक के रूप में उल्लखित होते हैं। काणे साहब को इन लोगों के मत को 'सम्प्रदाय' के रूप में प्रथित करना उचित नहीं जान पड़ता, पर क्या किया जाय, वे इसलिये लाचार हैं कि इस विषय पर विवेचन करने वालों ने प्रायः सम्प्रदाय शब्द या तत्समशील शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ तक कि राजशेखर आदि प्राचीन आचार्यों ने भी 'वामनीयाः' तथा 'औद्भटाः शब्द, का प्रयोग किया है, जिसे अभिनव गुप्त ने भी मान्यता दी है-—तो वहाँ 'वामनीयाः' और 'औद्भटाः' का अर्थ वामन तथा उद्भट का सम्प्रदाय ही तो है ?

(च) श्री एस० के० डे० ने अपने Sanskrit Poetics के अंतिम अध्याय में यह बताने की कोशिश की है कि अपने अध्ययन के आधार पर वे भारतीय साहित्य-शास्त्रीय सामग्री को क्या और कैसा ऐतिहासिक अनुक्रम दें। उनका क्रम इस प्रकार है—

(क) अज्ञात कालिक आरंभ से भामह तक—(Formative stage)

भामह से आनंदवर्द्धन तक--(७वीं मध्य से ९वीं मध्य---Creative stage)

(अ) भामह, उद्भट एवं रुद्रट---अलंकार-सिद्धांत ।

(ब) दण्डी-वामन---रीति " ।

(स) लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अन्य---रस सिद्धान्त ।

(द) अग्निपुराण ।

(य) ध्वनिकार एवं आनंदवर्द्धन ध्वनि-मत ।

(ग) आनंदवर्द्धन से मम्मट (९म के मध्य से ११ के मध्य तक) Definitive stage अभिनव, कुंतक, महिम, रुद्रभट्ट, धनंजय, भोज मम्मट से जगन्नाथ तक ११वीं के मध्य से १८वीं का मध्य Scholastic stage.

(च) मम्मट, रुय्यक, विश्नाथ, हेमचंद्र, विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव अप्पय तथा अन्य ।

(ट) वाग्भटद्वय (iii) 'रस' के लेखक-(खासकर शृंगार) शारदातनय, शिंग भूपाल भानुदत्त, रूपगोस्वामी तथा अन्य ।

(ह) कवि शिक्षा के आचार्य–राजशेखर, क्षेमेंद्र, अरिसिंह, अमरचंद्र, देवेश्वर तथा अन्य ।

(प) जगन्नाथ ।

आगे चलकर पुनः व्यापक रूप से समस्त साहित्य-शास्त्रीय सामग्री को इन्होंने तीनों भागों में विभक्त किया--(i) प्राग्ध्वनि (ii) ध्वनि (iii) पश्चध्वनि। प्राग्ध्वनि में उपर्युक्त 'क' एवं 'ख' वर्ग (ध्वनिकार को छोड़कर) तथा पश्चध्वनि में मम्मट से जगन्नाथ तक के समस्त ध्वनिमतानुयायी, ध्वनिविरोधी, रस विवेचक एवं कवि शिक्षाकार ।

दूसरी ओर विभिन्न संप्रदायों में भी वर्गीकरण का प्रयास किया गया है---रस सम्प्रदाय, अलंकार संप्रदाय, रीति एवं ध्वनि संप्रदाय । डा० डे का भी कहना है---But it is doubtful whether we may safely apply the term 'School' to indicate application to a particular system of opinion." अर्थात् ये भी सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग समुचित नहीं मानते ।

(छ) पी० पञ्चपगेश शास्त्री ने "The Philosophy of Aesthetic Pleasure" में सब आठ पद्धतियों की चर्चा की है---रस-पद्धति (२) औचित्य-पद्धति, (३) अलंकार-पद्धति, (४) गुण-पद्धति, (५) रीति-पद्धति, (६) ध्वनि-पद्धति, (७) वक्रोक्ति-पद्धति, (८) एवं अनुमान-पद्धति । उन्होंने कहा है । "A study

of our extensive critical literature reveals that our ancestors explained the powei of literature in as many as eight differentmethods, each being elaborated and championed by distinguished critics." निष्कर्ष यह कि 'School' शब्द का प्रयोग इन्होंने भी नहीं किया।

इस प्रकार डा० शंकरन्, रामस्वामी, पं० बलदेव उपाध्याय आदि-आदि विद्वानों ने भारतीय साहित्य-शास्त्र के ऐतिहासिक विकास एवं वर्गीकरण पर विचार किये हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख मत ऊपर निर्दिष्ट हुए हैं।

हिन्दी के क्षेत्र में कार्य करने वाले मनीषियों में से कुछ लोग तो 'सम्प्रदाय' वाले वर्गीकरण को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करके ही पृष्ठ-पूर्ति करना आरम्भ कर देते हैं। पर, कुछ मनीषी ऐसे भी हैं, जो स्वतन्त्र-चिंतन-प्रसूत ढंग से भी इस प्रकृत विषय पर अपना अभिमत प्रस्तुत करते हैं। ऐसे लोगों में भी दो वर्ग हैं—एक वर्ग उन लोगों का है, जो पौरस्त्य-वासना-वासित दृष्टि को महत्त्व देता है; दूसरे वे, जो पश्चिमी ढंग के वर्गीकरण की वासना से परिचालित होते हैं। इस प्रकार हिन्दी के क्षेत्र में 'प्रसाद' जी ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने सर्वथा अनूठे ढंग से सोचा है। वाजपेयीजी—जिनका विचार ऊपर दिया जा चुका है—वे भी अपने ढंग से सोचते हैं; पर समुद्रबंध के वर्गीकरण को मान्यता देते हुए पूर्वी विवेचन की ओर जागृत और आस्था रखने से प्रतीत होते हैं। अवतरे का भी विवेचन अपने ढंग का है, जिसे आगे रखा जा रहा है। मिश्रजी कुप्पू स्वामी के क्रम को स्वीकार तो करते हैं; पर अपने ढङ्ग से उसे और विस्तृत एवं परिवर्द्धित परिवेश में उपस्थापित करते हैं।

डा० नगेन्द्र ने अपने 'रीति-काव्य की भूमिका' में तथा शिवदानसिंह चौहान ने 'आलोचना के मान' में इस विषय पर दृष्टि-निक्षेप किया है।

(ज) डा० नगेन्द्र का कहना है कि साहित्य-शास्त्र में सम्प्रदायों की प्रतिद्वंद्विता खड़ी करने का मूल कारण अलंकार्य तथा अलंकार का व्यावहारिक एवं तात्त्विक—दोनों दृष्टियों से भेद मानकर चलना है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो रस, ध्वनि, वक्रोक्ति रीति एवं अलंकार पाँच नहीं, बल्कि रस एवं रीति या अलंकार—दो ही मुख्य सम्प्रदाय हैं। रस एवं ध्वनिवादी आत्मवादी कहे जा सकते हैं तथा अलंकार रीति एवं वक्रोक्तिवादी शरीरवादी। तत्त्वतः ये दोनों दल भी परस्पर विरुद्ध नहीं हो सकते। भला; आत्मा एवं शरीर की विरोधी स्थिति हो कैसे सकती है? भाव एवं उक्ति का निरपेक्ष अवस्थान हो कैसे सकता[1] है?

---

१. रीति-काव्य की भूमिका, पृ० १२०

(झ) 'प्रसाद' जी का साहित्य-शास्त्रीय विवेचन और वर्गीकरण——दर्शन में दो धाराएँ हैं——आनन्दवादी तथा बुद्धिवादी। पहले वर्गवालों ने आनंद का प्रचार करने के लिये नाट्य-रसों की उद्भावना की थी। इधर विवेक या बुद्धिवादियों की वाङ्मयी धारा दर्शनों और कर्म-पद्धतियों तथा धर्मशास्त्रों का प्रचार करके भी जनता के समीप नहीं हो रही थी। उन लोगों ने पौराणिक कथानकों के द्वारा वर्णनात्मक उपदेश देना आरम्भ किया। उनके लिये भी साहित्यिक व्याख्या की आवश्यकता हुई। उन्हें अपनी अलंकारमयी सूक्तियों पर गर्व था ; इसलिए प्राचीन रसवाद के विरोध में उन्होंने अलंकारमत खड़ा किया, जिसमें रीति एवं वक्रोक्ति इत्यादि का भी समावेश था। रस की विवेचना जिस प्रकार शिलालिन्, कृशाश्व एवं भरत ने की, उसी प्रकार अलंकार की विवेचना के लिये भी प्रयत्न हुए। भामह ने काव्य-शरीर का निर्देश करते हुए शब्दालंकार का विवेचन किया। इनके अनुयायी दण्डी ने रीति को प्रधानता दी। सौंदर्य-ग्रहण को पद्धति समझने के लिये वाग्विकल्पों के चारुत्व का अनुशीलन होने लगा। अलंकार का महत्त्व बढ़ा ; क्योंकि वे काव्य की शोभा मान लिये गये थे। काव्यालंकार-सूत्रों में ये आलोचक और गहरे उतरे उन्होंने अलकारों की व्याख्या सौंदर्य-बोध के आधार पर करने का प्रयत्न किया——सौंदर्यमलंकारः, काव्यं ग्राह्यमलंकारात्——इत्यादि से सौंदर्य की प्रतिष्ठा अलकार में हुई। काव्य के सौंदर्यबोध का आधार शब्द-विन्यास-कौशल ही रहा। इसी को वे रीति कहते थे। रीति, अलंकार तथा वक्रोक्ति श्रव्य-काव्य के संबंध में विचार करने वालों के निर्माण थे। वहाँ रस को भी अलकार ही माना गया। इस शब्द-विन्यास कौशल का समर्थन करने वालों को भी रस की आवश्यकता प्रतीत होती हुई, क्योंकि रस-जैसी वस्तु इनके काव्य-शरीर की आत्मा बन सकती थी। 'शृंगार तिलक' में स्वीकार किया गया——"प्रायो नाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यैः रसस्थितिः। यथामति मयाऽप्येषा काव्यं प्रति निगद्यते।' × × × साहित्य में विकल्पात्मक मनन धारा का प्रभाव इन्हीं अलंकारवादियों ने उत्पन्न किया तथा अपनी तर्क-प्रणाली से अलोचना-शास्त्र की उपस्थापना की, किंतु संकल्पात्मक अनुभूति की वस्तु रस का प्रलोभन कदाचित् उन्हें अभिनव गुप्त की ओर से मिला। उन्होंने लोचन में कहा——

'काव्येऽपि लोकनाट्यधर्मस्थानीयस्वाभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेनालौकिक प्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता। अस्तु वा नाट्यात्विचित्ररूपा रसप्रतीतिः।"

रस को अपना कर भी इन बुद्धिवादी तार्किकों ने नये-नये वाद खड़े किये। रस कार्य है या साध्य, व्यंग्य है या भोज्य——इन प्रश्नों पर रस का काव्य और

नाट्य--दोनों में समन्वय करने की दृष्टि से विचार होने लगा। समन्वय के लिये ध्वनि की व्याख्या अलंकार-सरणि-व्यवस्थापक आनंद ने इस तरह की कि ध्वनि के भीतर रस एवं अलंकार सभी आ गये। अभिनव ने आनन्द सिद्धान्त की अभिनेय काव्यवाली परम्परा का पूर्ण उपयोग किया। भट्टनायक ने साधारणीकरण से जिस सिद्धान्त की पुष्टि की थी, अभिनव ने उसे अधिक स्पष्ट किया। यह रस जब बुद्धिवादियों के पास गया, तब धीरे-धीरे स्पष्ट हो गया कि रस के मूल में चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्त्व है। फिर तो चमत्कार या अनुभव साक्षिक रस को पण्डितराज ने आगमवादियों की ही तरह 'रसो वै सः' के प्रकाश में आनन्द-ब्रह्म ही मान लिया। बुद्धिवादियों की कृति दुःखांत (रामायण एवं महाभारत) भी, पर आनन्दवादियों ने प्रबन्ध को दुःखान्त होने का निषेध किया। भरत श्रृंगार एवं शांत दोनों को मानते थे; पर आगे बुद्धिवादियों में भक्तों ने श्रृंगार से असंतुष्ट होकर उसे 'मधुर' की संज्ञा दे दी। निष्कर्ष यह कि इन्होंने दार्शनिक आधार पर काव्य-सिद्धांतों का विकास और और वर्गीकरण किया।

(ञ) शिवदानसिंह चौहान और काव्यशास्त्रीय विवेचन---इनका कहना है कि साहित्यकार की ही भाँति मनुष्य होने के कारण आलोचक की भी रसग्राही चेतना अंतर्मुखी या बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से नियंत्रित होती है। इसीलिए आलोचना में आरम्भ से ही उपयोगितावाद एवं रीतिवाद की धाराएँ रही हैं। साहित्य के समस्त सिद्धान्त अपने सूक्ष्म भेदों के बावजूद इन्हीं दोनों में से किसी-न-किसी के अन्दर आ जायेंगे। उपयोगितावादी सिद्धान्त-साहित्य के सामाजिक प्रयोजन और उसकी विषय-वस्तु पर अधिक जोर देते आये हैं। रीतिवादी सिद्धान्त, साहित्य के सौंदर्य पक्ष और रूप-तत्त्व पर अधिक जोर देते हैं। (आलोचना के मान पृ० ३७)।

(ट) आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र और साहित्यशास्त्रीय विवेचन का अनुक्रम तथा वर्गीकरण--मिश्रजी ने अपने 'वाङ्मय-विमर्श' में म० म० कुप्पूस्वामी शास्त्री के विवेचन को थोड़ा और परिवर्द्धित कर एक विशिष्ट परिवेश दिया है। स्वामीजी के चित्र को आधार मानकर विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में तो विवेचन अपने ढंग से प्रस्तुत किया ही है, साथ ही उसको अपनी दृष्टि से समझाने के लिये यह भी कहा है कि साहित्य का सम्बन्ध यदि एक ओर कवि से है, तो दूसरी ओर सहृदय से। विवेचक आचार्यों ने इसीलिए साहित्यशास्त्र का विवेचन कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से किया। कवि का कर्म है—वर्णना और सहृदय का चर्वणा। वर्णना-पक्ष से विचार करते हुए कवि-कौशल-संबंधी वादों का उत्तरोत्तर आविर्भाव होता गया—अलंकारवाद, रीतिवाद एवं वक्रोक्तिवाद। इसी प्रकार चर्वणा-पक्ष से विचार करते हुए रस तथा ध्वनिवाद का उन्मीलन हुआ।

इन पंक्तियों के लेखक ने भी इसी परम्परा में यह स्वीकार कर कि काव्य-विषयक विचार के कवि एवं सहृदय--दो विन्दु हैं। 'संस्कृत साहित्यशास्त्र में सौंदर्य विषयक विवेचन' शीर्षक एक लेख में यह स्वीकार किया गया है कि मूलतः दो ही वाद हैं—अलंकारवाद एवं रसवाद। रीतिवादी भी 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' 'सौंदर्यमलंकार:' तथा 'स च दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्'—द्वारा व्यापक रूप में अपने को अलंकारवादी ही कहता है। रहा वक्रोक्तिवाद, सो उस विषय में कुंतक ने भी माना ही है कि काव्य यदि अलंकार्य है, तो वक्रोक्ति अलंकृति है। निश्चय ही व्यापक अर्थ में तो कुंतक ने भी वक्रोक्ति को अलंकृति कहा है। इस प्रकार यदि रीति एवं वक्रोक्तिवाद भी अपने को अलंकारवाद के ही भीतर रखते हैं, तो ध्वनिवादी आनन्द ने भी यह कह कर कि 'काव्यस्यात्मा स एवार्थ:' यह स्वीकार किया ही है कि काव्य की आत्मा वस्तुत: रस ही है और फिर तो वे भी रसवादी ही हुए। इस प्रकार कुल दो ही वर्गों में सबको समेटा जा सकता है।

अवतरे ने भी दो ही वर्गों में साहित्यिक विवेचन को घेर लेने के पक्ष में यह तर्क दिया है कि अलंकार रीति एवं वक्रोक्ति वालों ने शब्दार्थ को ही काव्य का शरीर मानकर वहीं से विवेचन आरम्भ किया और शोभाधायक तत्त्व को ढूँढ कर फिर उसी शरीर को अलंकार्य भी कहा, अर्थात्--जहाँ से प्रस्थान किया, वहीं लौट आये। विपरीत इनके रस एवं ध्वनिवादियों ने शरीर से काव्य-विवेचन विषयक यात्रा अवश्य प्रारम्भ की ; पर अलंकार्य के रूप में उन्होंने काव्य की आत्मा (रस) को ही प्रतिष्ठित किया ; अत: इन लोगों के लिये उन्होंने प्रस्थित पर्यवसित शब्द का प्रयोग किया। इस प्रकार दो वर्गों में इन्होंने भी भारतीय साहित्यशास्त्रीय विवेचन को प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार भारतीय साहित्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकास एवं वर्गीकरण के संबंध में अनेक मतमतान्तर उपलब्ध होते हैं। सम्प्रति, परीक्षणपूर्वक निर्द्धारण यह करना है कि कौन-सा मत मान्य है और क्यों ?

सबसे पहले ऐतिहासिक अनुक्रम विठाने वालों का मत लीजिये—डॉडे ने ऐतिहासिक क्रम यों रखा--

(क)	अज्ञातकालिक आरम्भ से भामह तक	Formative Stage
(ख)	भामह से आनन्दवर्द्धन तक	Creative Stage
(ग)	आनन्दवर्द्धन से मम्मट तक	Definitive Stage
(घ)	मम्मट से जगन्नाथ तक	Scholastic Stage

फिर प्राग् ध्वनि एवं पश्च ध्वनि के रूप में त्रिधा विभाजन क्रिया है। विभिन्न मतों एवं सिद्धांतों के संबंध में 'सम्प्रदाय' (Schcol) शब्द का प्रयोग इनकी दृष्टि

में समुचित नहीं है। इस प्रकार रुय्यक् एवं समुद्रबंध के विचारों पर आश्रित Sovani के मत का खंडन किया है, जिन्होंने रस, रीति, अलंकार एवं ध्वनि आदि सम्प्रदाय में साहित्यशास्त्रीय सामग्री को विभक्त किया है। डाँडे ने यह भी बताया है कि रुय्यक ने केवल प्रतीयमान अर्थ के पक्ष से विभिन्न मतों को उपस्थित किया है और वताया है कि उसे किसने कहाँ तक और किस रूप में स्वीकार किया है। फिर समुद्रबंध के मत को अवैज्ञानिक भी ठहराया है। कारण यह दिया है कि यह वर्गीकरण इस परम्परागत मान्यता पर आधारित है कि काव्य विशिष्ट शब्दार्थ है। यह वर्गीकरण यद्यपि महत्त्वपूर्ण है तथापि इसमें दोष यह है कि यह अतिव्याप्त (overlapping) एवं ऐतिहासिक दृष्टि से असंगत है। पहली आपत्ति तो यह है कि व्यापार मुखेन विभाजित करते हुए व्यञ्जना को भणिति-वैचित्र्य या विचित्र अभिधा-व्यापार से पृथक् क्यों रखा? दूसरी बात वास्तविकता की यह है कि कुंतक ने भामह की वक्रोक्ति को ही व्यापक रूप दिया है; इसलिये इनको अलंकारवादियों के ही वर्ग में रखना चाहिए था। भट्टनायक ने भी रस-प्रापक प्रक्रिया का विचार किया है; अतः इन्हें रस-सिद्धांत के व्याख्याता के रूप में ही रखना चाहिए था।

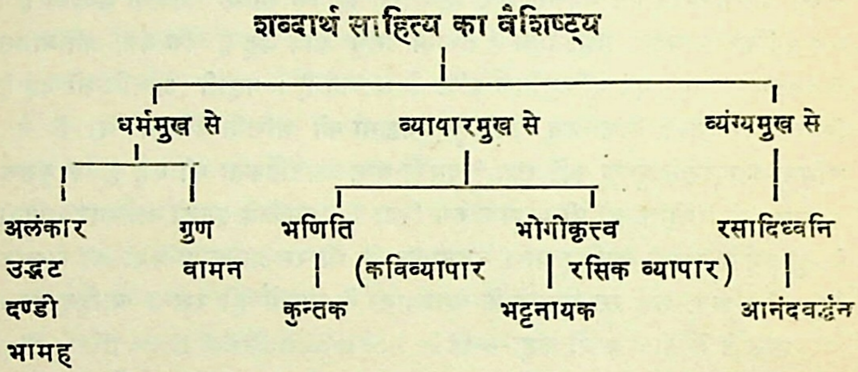
डॉ० डे ने तो यह भी कहा—It is not maintained here that the History of Sanskrit Poetics of only one stream of developement and that within it we have more currents and counter-currents यद्यपि counter currents से कोई स्वतन्त्र सरिता नहीं निकली और वे सब भी अंततः एक प्रमुख धारा में विलीन हो गये।

समुद्रबंध के वर्गीकरण के पक्ष एवं विपक्ष में व्याख्यान देने वाले तीन मनीषी प्रमुख हैं—डॉ० डे, आचार्य वाजपेयी एवं देशपांडे। पहले ने विपक्षी और अवशिष्ट दोनों ने सपक्षी व्याख्यान दिये हैं।

वाजपेयीजी की अपनी उपपत्ति यह है कि काव्यीय सभी मतों का आरंभ काव्य के विभिन्न पक्षों की स्वतंत्र व्याख्या के रूप में हुआ और समुद्रबंध के त्रिधा विभाजन के आधार हैं—सृजन प्रक्रिया, व्यक्तीकरण प्रक्रिया और व्यक्तीकरण की प्रक्रिया से प्रेषणीयता की समस्या का योग तथा आस्वाद-पक्ष। पहले से अलंकार, दूसरे से रीति एवं वक्रोक्ति, तीसरे से ध्वनि तथा साधारणीकरण एवं अन्तिम से रस का संबंध है। इस विवेचन के संबंध में मुझे इतना ही कहना है कि स्वतंत्र रूप से इस विचार का चाहे जो महत्त्व हो; पर समुद्रबंध के वक्तव्य की व्याख्या यह किस प्रकार हो सकेगी? रीति और वक्रोक्ति को समुद्रबंध ने काव्य का व्यापारमुखी विवचन कहाँ कहा है? वक्रोक्ति को तो कहा है; पर रीति को वो नहीं कहा। हाँ, समुद्रबंध को परिष्कृत 'व्याख्या कहना चाहें, तो कह सकते हैं; लेकिन चाहे

जो हो, पण्डितजी का स्वतन्त्र चिंतन मौलिक एवं अपने-आप में निस्संदेह महत्त्वपूर्ण है। पंडितजी का यह कहना ठीक ही है कि काव्य में व्यापार-पक्ष एवं फल-पक्ष दो हैं। व्यापार भी कवि एवं सहृदय दो का है—एक का निर्माणार्थ दूसरे का ग्रहणार्थ। अलंकार, रीति एवं वक्रोक्ति का निर्माणार्थ तथा ध्वनि एवं भावना का ग्रहणार्थ। फल-पक्ष से रससिद्धांत सम्बद्ध है।

देशपांडेजी ने इस ढंग से समुद्रबंध को समझाया है।



पर डॉ० डे ने इस वर्गीकरण को असंगत बताया है; पर मैं सोचता हूँ कि इतिहास-क्रम से चाहे इसमें असंगति हो; पर अर्थ-क्रम से तो कोई असंगति लक्षित नहीं होती। भामह की 'वक्रोक्ति' को कुन्तक ने व्यापक रूप दिया; अत: उन्हें भी धर्म-पक्ष-अलंकार पक्ष ही में रखने का तर्क देना इसलिए अवश्य सही है कि 'वक्रोक्ति' को स्वयं उन्होंने 'तयोः पुनरलंकृतिः' कहा है, पर उन्होंने 'वक्रोक्ति' को 'वक्रकवि व्यापार' भी कहा है—इससे आँख मूदना कहाँ तक संगत है ? हाँ, यहाँ यह प्रश्न अवश्य खड़ा होता है कि एक ही वस्तु का अलंकार एवं व्यापार कहना कहाँ तक संगत है, तो इस विषय में यह समझ लेना अवश्यक है कि कुंतक ने इसी वक्र कवि-व्यापार को काव्य का सौंदर्याधायक तत्त्व मानकर अलंकृति कहा है।

संप्रति, ऐतिहासिक विभाजन विषयक तीनों की धारणाओं को रखकर देखा जाय कि वह कहाँ तक ग्राह्य है। डॉ० डे० की आगमन-प्रणाली है; अत: वह बहुत कुछ साधार है। देशपांडे की भी यही पद्धति है, यद्यपि भिन्न-भिन्न कालों के नाम उन्होंने कुछ विचित्र रखे हैं। श्री वाजपेयीजी का विभाजन पश्चिम की पदावली में है।

डॉ० डे के अनुसार पहला युग निर्माण का, दूसरा मौलिक चिंतकों का, तीसरा एक निश्चयात्मक धारा के अनुपक्षी एवं प्रविपक्षी विचारों का तथा चौथा विद्वत्ता-प्रदर्शन का है। इस विभाजन से असहमत होने का कोई कारण नहीं

दिखाई देता। ध्वनि को केंद्र मानकर प्राग्ध्वनि एवं पश्च-ध्वनि का भी विभाजन ग्राह्य जान पड़ता है। यह विचार पूर्णतः वस्तु परक है।

वाजपेयीजी ने, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, पहले तो अद्यावधिक साहित्यिक-चिंतन की धारा को ६ भागों में विभक्त किया है और फिर सब को समेटकर Thesis, Antithesis, एवं Synthisis के वर्गों में रखा है। दूसरे विभाजन की सीमा पंडितराज तक ही है, जब कि पहले की उसके बाद के भी दो स्तर और आगे को घेरती है। चार में से दूसरी एवं तीसरी काल की दृष्टि से लगभग एक हैं; अतः तीन ही ठहरती हैं। निष्कर्ष यह कि दोनों विभाजनों में कोई अंर्तविरोध नहीं है।

देशपांडे ने इन लोगों की भाँति द्विधा विभाजन किया है—एक तो पाँच धाराओं में और फिर दो धाराओं में।

अब यह देखना चाहिए कि वर्गीकरण की प्रक्रिया में तीनों में कहाँ तक मतभेद या मतैक्य है? वाजपेयीजी के दो युगों को—जो पण्डितराज के बाद के हैं--छोड़ दिया जाय, तो सभी पण्डितराज तक के विकास तक की बात करते हुए दिखाई पड़ते हैं। डे० ने पण्डितराज तक ४, वाजपेयीजी ने भी ४ तथा देशपांडे ने पाँच खण्ड किये हैं।

डॉ० डे०	वाजपेयीजी	देशपांडेय जी
प्रथम प्रकार		
(i) Formative Age प्रा० भामह	उद्भव से भरत—निर्माण	क्रियाकल्प—भरत (प्रायोगिक पक्ष)
(ii) Creative Age भामह-आनंद	भरत से अभिनव-अन्वेषण विदग्ध-विवेचन-युग	काव्यलक्षण—भामह दण्डी तक (काव्य लक्षणों की अलंकारों में परिणति)
(iii) Definitive Age आनंद-मम्मट	तृतीय युग—विभिन्न मत	काव्यालंकार—रुद्रट तक सौंदर्य धर्म को अलंकार रूप ६००–८००
(iv) Scholastic Age. मम्मट-पंडितराज	चतुर्थ युग—मम्मट पण्डित-राज	साहित्य—८००-११०० आनंद से मम्मट शब्दार्थ का 'विशेष' क्या ?
		साहित्य पद्धति—११००-१६५० (मम्मटीयपद्धति से पण्डितराज तक)

द्वितीय प्रकार

प्राग्ध्वनि	Thisis	Formation प्रागान्दवर्द्धन
ध्वनि	Antithisis	Systimatization
पश्चध्वनि	Synthesis	

पहला युग जो उद्भव से भरत तक का है--प्राय: तीनों ने उसे निर्माण-काल कहा है। डा० डे के द्वितीय एवं तृतीय युग को वाजपेयीजी ने अपने द्वितीय एवं तृतीय युग से प्राय: अभिन्न ही रखा है। चतुर्थ युग की विशेषता से दोनों ही सहमत हैं। देशपांडे ने द्वितीय एवं तृतीय युग के समकक्ष 'साहित्य-युग' को रखा है और चतुर्थ युग के समकक्ष 'साहित्य-पद्धति' को रखा है--देशपांडे का 'काव्य-लक्षण' एवं 'काव्यालंकार' भी उक्त दो मनीषियों के द्वितीय युग में ही अंतर्भूत है। कारण, ये दोनों नाम धर्ममुखेन के शब्दार्थ वैशिष्ट्य के विवेचन की सूचना देते हैं। इस प्रकार विभाजन का प्रथम प्रकार नामत: भिन्न होने पर भी अर्थत: ज्यादा भिन्न नहीं है।

जहाँ तक विभाजन का दूसरा प्रकार है--डा० डे ने यह स्वीकार किया है कि आरंभिक सारा प्रयास ध्वनि-तत्त्व के अन्वेषण की भूमिका है। आगे दो कार्य हुए--एक तो ध्वनि-तत्त्व की गवेषणा और स्थापना तथा पुनरुपस्थापना। स्थापन एवं पुनरुपस्थापन के बीच कुछ प्रतिक्रियावादी मत भी आये। इस प्रकार तीन खंडों का इनका संगत विवेचन है। आचार्य वाजपेयी का यह कहना है कि साहित्यशास्त्रीय विकास को देखा जाय, तो एक स्थिति ऐसी है, जहाँ सभी काव्यीय प्रमुख तत्त्व अपना-अपना अस्तित्व प्राप्त करते हुए दिखाई देते हैं। दूसरा स्तर वह आता है, जहाँ प्रत्येक अस्तित्व-सम्पन्न मत अपना विस्तार करता हुआ प्रमुख पद तक पहुँचता है और अन्य तत्त्वों को अपने अंग रूप में कर लेता है। निस्संदेह इस स्थिति और इस प्रकार के प्रयास से मैं भी सहमत हूँ ; पर तीसरा स्वर जो समन्वय का कहा गया है--उसके वास्तविक स्वरूप को जरा स्पष्ट करना आवश्यक है। इस समन्वय के दो अर्थ किये जा सकते हैं--एक तो यह कि परवर्ती आचार्य मम्मट आदि ने उन तत्त्वों का उच्चावच भाव समाप्त कर सबको समन्वित रूप से काव्य में महत्त्वपूर्ण बताया। दूसरा यह कि ये स्वयं विशेषवाद (ध्वनिवाद) के समर्थक होते हुए भी मूल उपस्थापक (ध्वनिवादी) आचार्य से इस माने में समन्वयी हैं कि जहाँ उन्होंने अन्य तत्त्वों को बहुत हल्का स्थान दिया--वहाँ मम्मट ने उनके विवेचन पर ज्यादा बल देकर, सबको बराबर-बराबर विवेचन का स्थान देकर सबको एक आवश्यक उनका प्राप्य

दिया। इसी दूसरे अर्थ में ही उन्हें समन्वयी कहा जा सकता है, तो कहा जा सकता है।

उपर्युक्त वर्गीकरण संबंधी समस्त प्रयासों में जो अन्वेषण की प्रवृत्ति निहित है, उसके मूल में विभिन्न दृष्टियाँ लक्षित होती हैं, अथवा यों कहें कि साहित्य-शास्त्र में जो भिन्न-भिन्न मत आभासित होते हैं, उनके मूल में विभिन्न दृष्टियाँ निहित जान पड़ती हैं। रुय्यक एवं समुद्रबंध ने यह कहा कि आचार्यों ने शास्त्र-व्यावर्तक काव्यगत शब्दार्थ वैशिष्ट्य का मूल उत्स खोज निकालना चाहा और इसी खोज में अपनी-अपनी मानसिक गठन के अनुरूप विभिन्न विचार प्रस्तुत किये। सम्प्रदायों के रूप में विभिन्न शास्त्रीय विचारों का वर्गीकरण करनेवालों का यह कहना है कि काव्य की आत्मा का अनुसंधान करते हुए ये विभिन्न परस्पर विरोधी मत निकले। यद्यपि इसी परम्परा के कतिपय विचारकों ने आगे चलकर यह भी कहा कि तत्त्वत: इन सम्प्रदायों में विरोध हो ही नहीं सकता। कुछ लोग ऐसा भी सोचते हैं कि आचार्यों के काव्यसंबंधी विचार के दृष्टिबिंदु ही कभी कवि और कभी सहृदय रहे हैं। पहले पर दृष्टि केन्द्रित रहने से अलंकार, रीति एवं वक्रोक्ति और दूसरी पर दृष्टि केन्द्रित रहने से ध्वनि एवं रस-सिद्धान्त का आविर्भाव हुआ। चौथे दल का यह खयाल है कि 'रस' को ही केन्द्र में रखकर उसके महत्त्वपूर्ण प्रकाशक धर्म की खोज उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती गई और इसी प्रयास में अनेक विभिन्न मतों का जन्म हुआ।

इनमें से काव्यगत शब्दार्थ-वैशिष्ट्य का मूल-उत्स खोजना या काव्य की आत्मा की खोज करना—एक ही तरह के प्रयास हैं। कवि एवं सहृदय को ध्यान में रखकर वर्णना या चर्वणा पर विचार करते हुए उत्तरोत्तर सूक्ष्म मतों का आविष्कार होता गया—यह एक भिन्न पंथ है। और इन दोनों से भिन्न यह है कि रस की मुख्यता तो सभी मानते हैं—विचार आगे इस बात का धीरे-धीरे सूक्ष्म-सूक्ष्मतर होता गया कि उस रस का उत्तेजक कौन-सा तत्त्व सर्वाधिक है? इनमें से तीसरा मत कि सभी लोग रस की मुख्यता मानकर ही तदनुगुण अन्य विचार प्रस्तुत करते हैं—कई कारणों से अभी मुझे स्वीकार्य नहीं है। वामन के संबंध में जैसा कि अन्यत्र विचार किया गया है—यह स्थापना पूरी तरह लागू नहीं होती। दूसरे यह कि भामह आदि जरत्तम आलंकारिकों ने श्रव्यकाव्य में रस के विभावक पदार्थों के सुन्दरीकरण में ही अलंकारों का मुख्यतः विचार किया और उन अलंकारों का भी बीज वक्रोक्ति को बताया—यह वक्तव्य भी पूरा हृदयंगम इसलिए नहीं हो पाता; क्योंकि यदि ऐसा होता, तो भामह आदि रस की उत्तेजक सामग्री (अलंकार) के बीच रस को ही कैसे रखते? कदाचित् इसका भी उत्तर हो

जाता, परन्तु यह तब हो पाता, जब कि उन लोगों ने अप्रधान रस की यह स्थिति कही होती; लेकिन यह सब कुछ है नहीं। शेष तीनों मत इसलिए अविरोधी हैं कि वे सभी यह मानते हैं कि शब्दगत एवं अर्थगत काव्यीय सारतत्त्व का उत्तरोत्तर गहरा अनुसंधान होता गया और अंततः यह स्थापना प्रायः सर्वमान्य-सी ही हो गई कि ध्वनित रस ही काव्य का सर्वस्व है। उसी के कारण काव्य का शब्दार्थ-शास्त्र के शब्दार्थ से विशिष्ट हो जाता है। यहीं कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो यह मानते हैं कि रस काव्यगत शब्दार्थ-वैशिष्ट्य का प्रशस्त साधक भले ही हो; पर व्यापक साधक तो 'वक्रता' ही है।

देशपांडेजी के Formation एवं Systematization से मेरा कोई विरोध नहीं है; लेकिन इनकी विकासगत मूल स्थापना से दो-एक स्थानों में मेरा मतभेद अवश्य है। पहला मतभेद तो यह है कि इनकी स्थापना के अनुसार विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में साहित्य-शास्त्रीय विकास का अध्ययन नहीं करना चाहिये। इसके समर्थन में इन्होंने यह बताया है कि काव्य में शब्दार्थगत शास्त्र व्यावर्तक वैशिष्ट्य का मूल स्रोत रस को ही भामह, दण्डी, उद्भट, वामन आदि भी मानते हैं। औरों का तो नहीं, पर वामन के सम्बन्ध में आपने यह बताया कि वे भी 'रस' को काव्य का परम तत्त्व स्वीकार करते हैं, तभी 'काव्येषु दशरूपकं श्रेयः' मानते हैं; अन्यथा और कौन-सा कारण है कि जिससे वे दशरूप को महत्त्वपूर्ण बताते। मेरा विचार यह है कि इन्होंने दशरूप की श्रेष्ठता का जो हेतु उत्तरवर्ती सूत्र में प्रस्तुत किया है, वह यह है कि दशरूप में चित्रपटवत् सभी प्रकार के काव्यों की विशेषता मिल जाती है। दूसरी बात देशपांडेजी की उपस्थापना में बाधा के रूप में यह भी कही जा सकती है कि वामन ने गौड़ी रीति को अतत्त्व रूप एवं इसीलिये अनुपादेय बताया है; पर यदि वामन रस को महत्त्व देते तो दीप्त रसमय कांति गुण से सम्पन्न इस रीति को अनुपादेय बताते? देशपांडे-जी ने इन प्रश्नों का विचार नहीं किया। दूसरे यह भी एक वक्तव्य बात है कि जब इधर देखा जा चुका है कि डा० डे० एवं काणे महोदय School या सम्प्रदाय शब्द को नापसन्द करते हैं, तब उनके मत्थे देशपांडे ने सम्प्रदाय-समादर का दोष क्यों मढ़ा?

जिन लोगों ने आत्ममुखी एवं शरीरमुखी अथवा अंतरंग एवं बहिरंग रूप साहित्यिक प्रयास का विभाजन किया है, उनसे हम इसलिये सहमत नहीं हैं कि सभी आत्मचिंतन की ओर उन्मुख हैं—और आत्मचिंतन की ओर उन्मुख बहिरंग एवं विषयमुखी नहीं हो सकता। यह बात दूसरी है कि वे लोग अंतरंग और वास्तविक तत्त्व को पकड़ नहीं सके।

'प्रसाद' जी की पृष्ठभूमि दार्शनिक है और वह उनकी अपनी व्याख्या है जिस ढंग से उनके अतिरिक्त और किसी ने सोचा ही नहीं। यहाँ उनकी दार्शनिक पृष्ठ-भूमि का लम्बा विवेचन अनावश्यक है ; परन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि कुंतक शैव हैं। कारण, वृत्ति-ग्रन्थ में उनका नमस्कार इस प्रकार है—

जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्मविधायिनम् ।
शिवं शक्तिपरिस्पंदमात्रोपकरणं नुमः ।।

इस मंगल श्लोक में त्रिकदर्शन की स्पंद धारा का 'परिस्पंद' शब्द भी उन्हें शैव सिद्ध करता है। त्रिकदर्शनवाले आनंदवादी शैव ही हैं। फिर आनंदवादी शैव कुंतक विवेकवादियों की आलोचना-सरणि किस प्रकार पकड़ सकते हैं—थोड़ा विचारणीय है।

अतिरिक्त वर्ग है—कुप्पू स्वामी के मानचित्र का। इस चित्र में ऐतिहासिक क्रम का अभाव खटकता है। दूसरे रीति, गुण एवं अलंकार को कुक्षिस्थ करने वाला वक्रोक्ति का वृत्त, ध्वनि, रस एवं अनुमिति के त्रिकोण से सीमित कर दिया गया है। निश्चय ही वक्रता का जैसा व्यापक रूप कुंतक ने प्रस्तुत किया है, उसमें ध्वनि के समस्त रूपों के अंतर्भाव की तो कोशिश की ही गई है, अन्य काव्यीय तत्त्वों को भी समेटा गया है। इस प्रकार इतनी व्यापक वक्रता को रस, ध्वनि एवं अनुमिति के त्रिकोण में सीमित करना एक आर्थिक असंगति भी बताता है।

हाँ, सहृदय एवं कवि की दृष्टि से जो विभाजन किया गया है, वह अवश्य संगत जान पड़ता है। अलकार, रीति एवं वक्रोक्ति—निश्चित ही कवि के पक्ष से किये गये साहित्यशास्त्रीय विचार के परिणाम-स्वरूप आ पाये हैं। इसी प्रकार ध्वनि एवं रसवाद सहृदय की ओर से किये गये विचारों के परिणाम हैं।

इन अनेकविध साहित्यशास्त्रीय चर्चा के विकास का ऐतिहासिक अनुक्रम जैसा स्पष्ट एवं साधार डॉडे ने प्रस्तुत किया है, वह ज्यादा हृदयग्राही जान पड़ता है। उसे ही स्वीकार करके मैं अपना क्रम आरम्भ करता हूँ।

इस प्रसंगागत विचार से मूल विचार-क्रम थोड़ा व्यवहित हो गया था। अस्तु, प्रसंग यह चल रहा था कि अन्य आलंकारिकों के साथ उद्भट का क्या महत्त्व है ?

इतिहास एवं विद्वद्वर्ग साक्षी है कि काव्यशास्त्र का विकास कश्मीर में पहले हुआ। वहाँ के भिन्न-भिन्न आचार्यों के ग्रंथों में इस विकास के कई स्तर मिलते हैं। भामह भी काश्मीरक आचार्य ही हैं, जिन्होंने काफी पहले अलंकार-शास्त्र पर लिखा। भरत के बाद श्रव्यकाव्योपयोगी अलंकारों का निर्देश पहले-पहल आज भामह में ही उपलब्ध होता है, यद्यपि उन्होंने मेधावी प्रभृति

अन्यान्य और आचार्यों का भी उल्लेख किया है। भामह ने लगभग कुल ३९ अलंकारों का स्वरूप स्पष्ट किया है। प्रायः प्रत्येक परिच्छेद के अंत में 'स्वयं कृतैरेव निदर्शनैः,' 'गिरामलंकारविधिः सविस्तरः' 'स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः,' 'इति निगदितास्ता वाचामलंकृतयो मया बहुविधकृतीर्दृष्ट्वाऽन्येषां स्वयं परिवर्त्यच' 'अवगम्य स्वधिया च काव्य लक्ष्म'—इत्यादि उक्तियों से यह नितरां सुस्पष्ट है कि इन्होंने स्वयं अनेक अलंकारों का आविष्कार किया और लक्षण उदाहरण भी स्वयं बनाये। यद्यपि कहीं-कहीं अलंकारों के नाम निर्देश-स्थल में 'अन्ये' 'कैश्चित्' तथा 'अपरे' का कथन उन्होंने स्वयं किया है; पर इसका यह अर्थ कि तत्तत् अलंकारों के भी लक्षण इतने ही परिष्कृत रूप में पहले भी थे, ठीक नहीं ; इसलिये यही भामह काव्यालंकारकारों में काफी प्राचीन हैं—यह कहा जा सकता है। दण्डी ने काव्यादर्श में यह कहा है—'पूर्वं शास्त्राणि संहृत्य,' 'सूरयः। वाचां विचित्र मार्गाणां निबबंधुः क्रियाविधिम्' 'तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः' 'किंतु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्। तदेव परिसंस्कर्तुमेत्रमस्मत्परिश्रमः' अर्थात्—पूर्वाचार्यों द्वारा बीज रूप में प्रदर्शित अलंकारों के परिसंस्कारार्थं ही यह परिश्रम है इत्यादि, उक्तियों से यह स्पष्ट है कि भामह की तरह इन्होंने कहीं भी अलंकारों की स्वीयज्ञता का निर्देश नहीं किया।

भामह एवं दण्डी—दोनों ही काव्य लक्षण के प्रणेता हैं। इनका उद्देश्य केवल गुण, रीति दोष हानादि से भिन्न अनुप्रास एवं उपमा आदि का निरूपण ही था। वामन की दृष्टि में दोषहान एवं गुणोपादान भी व्यापक अर्थ में अलंकार हैं। कवि द्वारा क्रियमाण सत्काव्य के लिये जो भी अवश्य उपादेय तत्त्व हैं—उन सब का काव्यालंकार भाव इन दोनों के मत में अविरुद्ध है।

भट्टि नामक कवि ने भामह एवं दण्डी द्वारा विशिष्ट अलंकारों को ही उदाहृत करने के लिये 'प्रसन्न' नामक एक काण्ड ही अपने ग्रंथ में नियोजित कर रखा है। व्याकरणिक लक्षणों के उदाहरण की भाँति अलंकार लक्षणों के भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं ; इसलिए जहाँ एक ओर उन्होंने पाणिनीय व्याकरण का सहारा लिया है, वहीं दूसरी ओर किसी आलंकारिक ग्रंथ का भी सहारा होना चाहिए। अर्थालंकारों में भट्टि ने भामह का तथा शब्दालंकारों में दण्डी का अनुसरण किया है। इन्हीं लोगों के लिये उदाहरण निर्माण में भट्टि प्रवृत्त हुए ; इसलिये—

भामह के—काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥२२।२०

इस वचन का उत्तर देते हुए—

व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम् ।२२।३४

भट्टि ने भी कहा।

अलंकारों की संख्या-वृद्धि में 'लक्षणों' का योग पर्याप्त रहा है। भरत ने १७वें अध्याय में अलंकारों से अतिरिक्त 'लक्षण' का निर्देश किया है। आगे चलकर 'संगीतराज' (१५ वीं शताब्दी) तथा 'चन्द्रालोक' आदि कतिपय ग्रन्थों में ही 'लक्षण' का उल्लेख हुआ है। कुछ लोगों ने इन्हीं लक्षणों में से कतिपय को अलंकार नाम से आगे चलकर विवेचित किया है। उदाहरणार्थ--हेतु, लेश एवं आशी: को ही लीजिये, दंडी ने इन्हें अलंकार नाम से अभिहित किया है। भरत ने 'भूषण' नाम से एक 'लक्षण' को स्मरण किया है और--

"अलंकारैर्गुणश्चैव बहुभि: समलङ्कृतम्।
भूषणैरिव चित्रार्थैस्तद्भूषणमिति स्मृतम् ॥१७।६

इस उक्ति से तो यह भी स्पष्ट होता है कि भरत ने लक्षण या भूषण में गुण एवं अलंकार---दोनों को समेट रखा है। दंडी एवं वामन ने भरत के 'भूषण' की भाँति 'अलंकार' शब्द को ज्यादा व्यापक बनाया और वामन ने गुण, दोषहान तथा अलंकार---सबको अलंकार शब्द से ही पुकारा। 'संगीतराज' में 'भरतनाट्य-शास्त्र' के लक्षणों का उल्लेख हुआ है। उन्होंने पुन: भूषण एवं लक्षण की लगभग वही परिभाषा की है, जो नाट्य-शास्त्र में मिलती है---

'अलंकारैर्गुणैश्चैव भूषणैरिव यद्युतम्।
रूपकं रसवद्भाति तद्भूषणमितिस्मृतम् ॥३॥

इस प्रकार अलंकार-संख्या वृद्धि में योग देने वाले लक्षणों का विचित्र इतिहास है।

भामह एवं दण्डी की तुलना में जब हम काव्यालंकार-सार-संग्रह के प्रणेता उद्भट को देखते हैं, तो यह स्पष्ट ही दिखाई पड़ता है कि इन्होंने दोषहीन, गुण एवं अन्य विध रूप-अलंकारों को छोड़कर सारभूत पुनरुक्तवदाभास आदि अलंकारों की ही चर्चा की और वस्तुत: जैसा कि रुय्यक कहते हैं कि---

'अलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्राचां मतम्'

उद्भट ने उसे प्रमाणित कर दिया। उन्होंने सार (आत्मा) का ही संग्रह किया।

अलंकारों के नाम निर्देश में केवल भामह, दण्डी एवं उद्भट में यद्यपि अधिक मतभेद नहीं है, तथापि उन दोनों के लक्षण एवं विभाग से उद्भट कितनी दूर हैं, यह अधोलिखित तुलनात्मक पट्टिका से स्पष्ट हो जायगा--

	अलंकार	भामह	दण्डी	उद्भट
१.	अतिशयोक्ति	एक रूप	एक	चार रूप
२.	अनन्वय	एक भेद	असाधारणोपमान्तर्गत	एक भेद

	अलंकार	भामह	दण्डी	उद्भट
३.	अनुप्रास	द्विविध	×	त्रिविध
४.	अपह्नुति	एक रूप	एक रूप	एक रूप
५.	अप्रस्तुत प्रशंसा	एक रूप	एक रूप	चार भेद
६.	अर्थान्तरन्यास	एक रूप	एक रूप	एक रूप
७.	आवृत्ति	×	एक रूप	×
८.	आशीः	×	एक रूप	एक रूप
९.	आक्षेप	द्विविध	वहुविध	द्विविध
१०.	उत्प्रेक्षा	एक रूप	एक रूप	द्विविध
११.	उत्प्रेक्षावयव	है	उत्प्रेक्षान्तर्गत	है ही नहीं
१२.	उदात्त	द्विविध	द्विविध	द्विविध
१३.	उपमा	त्रिविध	बहुविध	१७ या २१ भेद
१४.	उपमारूपक	है	है	नहीं
१५.	उपमेयोपमा	,,	,,	है
१६.	ऊर्जस्वी	अलक्षण	विलक्षण	रसाभासभावाभासरूप
१७.	काव्यालिंग	×	×	नूतन
१८.	छेकानुप्रास	×	×	नूतन
१९.	तुल्ययोगिता	एक रूप	विलक्षण एक रूप	अन्यविध दो भेद
२०.	दीपक	त्रिविध	वहुविध	त्रिविध
२१.	दृष्टान्त	नहीं	नहीं	नूतन
२२.	निदर्शना	एक रूप	दो भेद	अन्यविध दो रूप
२३.	परिवृत्ति	एक रूप	एक रूप	,, ,, त्रिविध
२४.	पर्यायोक्ति	एक रूप	एक रूप	स्फुट नररूप
२५.	पुनरुक्तवदाभास	×	×	नूतन
२६.	प्रतिवस्तूपमा	है	है	है
२७.	प्रेय	अलक्षण	अस्फुटलक्षण	स्फुट परिष्कृत
२८.	भाविक	है	है	है
२९.	यथासंख्य	,,	,,	,,
३०.	यमक	,,	,,	×
३१.	रसवत्	,,	,,	स्फुटतर
३२.	रूपक	द्विविध	वहुविध	चतुर्विध
३३.	लाटानुप्रास	अलक्षण एक रूप	×	स्फुट पंचविध

	अलंकार	भामह	दण्डी	उद्भट
३४.	लेश	निषिद्ध	है	नहीं
३५.	विभावना	है	है	है
३६.	विरोध	,,	,,	,,
३७.	विशेषोक्ति	अन्य तरह की	अन्य तरह की	परिष्कृत-द्विविध
३८.	व्यतिरेक	एक रूप	अव्यवस्थित बहुरूप	परिष्कृत अष्टविध
३९.	व्याजस्तुति	अन्य तरह की	अन्य तरह की	स्फुट
४०.	श्लिष्ट	अपरिष्कृत	त्रिविध किञ्चित्	परिष्कृत स्फुट द्विविध
४१.	संसृष्टि	सामान्यत: सूचन	द्विविध	सकर मिश्र
४२.	सकर	×	संसृष्ट्यन्तर्गत	नूतन चतुर्विध
४३.	समासोक्ति	एक रूप	द्विप्रभेद	एक रूप
४४.	समाहित	अलक्षण	सलक्षण	अन्य ही रसभावशांति रूप
४५.	ससंदेह	एक रूप	उपमान्तर्गत	द्विरूप
४६.	सहोक्ति	एक रूप	एक रूप	एक रूप
४७.	सूक्ष्म	इसका निषेध है	लक्षित	×
४८.	स्वभावोक्ति	है	है	है
४९.	हेतु	निषिद्ध	लक्षित	×

इस प्रकार भामह एवं दण्डी द्वारा लिखित ४९ अलंकारों में केवल ४१ अलंकारों का ही उद्भट ने सपरिष्कार उल्लेख किया। उद्भट की एक खास विशेषता यह है कि इन्होंने भामह तथा दण्डी के अलक्षित, अस्फुट लक्षित एवं अव्यवस्थित प्रभेदों का परिष्कार किया और आने वाले आलंकारिकों के लिये एक सुगम पथ प्रदर्शित किया—नये अलंकारों की स्वयं उद्भावना की तथा प्राचीन सम्मत कतिपय अलंकारों का खंडन भी किया। इस प्रकार अलंकार-शास्त्र में अपनी अद्भुत स्वतंत्रता स्थापित की। दूसरी बात यह भी है कि इनके नवाविष्कृत अलकारों को मम्मट, रुय्यक आदि परवर्ती आलंकारिकों ने स्वीकार कर नये भेद मात्र प्रस्तुत किये हैं। कहीं-कहीं खण्डन भी करते हैं। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि भामह एवं दंडी उद्भट के समक्ष अग्रभाव नहीं प्राप्त कर सकते। इसके अतिरिक्त, जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा, उद्भट की स्थापनाओं का जितना संरम्भपूर्वक खंडन-मंडन हुआ है, और इस क्रिया के द्वारा उन्हें अलंकार साहित्य में जो महत्त्व मिला है—वह भामह एवं दंडी नहीं प्राप्त कर सके। यह तो रही प्राचीन अलकारिकों मे उद्भट की महत्ता, सम्प्रति अवशिष्ट अन्य आलंकारिकों के साथ भी इनकी स्थिति देखनी चाहिए।

भामह काश्मीर के आचार्य हैं और कदाचित् प्राचीनतम हैं। उनके बाद शीघ्र ही उद्भट वहाँ के साहित्यिक रंगमंच पर उपस्थित होते हैं। इस समय के थोड़े बाद ही ध्वनिकार भी प्रकट होते हैं। दशम् शतक के उत्तरार्द्ध में इन्दुराज का प्राकट्य होता है। इनसे थोड़े ही पहले रुद्रट तथा मुकुल भी आ जाते हैं। यद्यपि कुछ लोग नमिसाधु के समय के अनुसार (१०६९) रुद्रट को ११वीं शताब्दी का कहते हैं पर बनहट्टी जी की निश्चित धारणा है कि इनका समय ९७० के आस-पास इन्दुराज से पहले होना चाहिये। इन्दुराज की यह प्रकृति है कि वे नजदीकी लेखकों को बिना नाम दिये उद्धृत करते हैं और इन्दुराज ने रुद्रट को इसी पद्धति से उद्धृत किया है। रुद्रट की विवेचन पद्धति तथा विवेच्य-विषय यह स्पष्ट करते हैं कि वे ध्वन्यालोककार एवं इंदुराज के मध्यवर्ती हैं। आनंदवर्द्धन ८८५-९१० के हैं। इन्दुराज के बाद अभिनवगुप्त का समय है। दशम् शतक का अंत इनका समय है। इनके बाद महिम, रुय्यक, क्षेमेंद्र एवं मम्मट आते हैं। काश्मीरक आचार्यों की इस तालिका में यदि दण्डी, वामन, भोज, हेमचन्द्र एवं वाग्भट को भी ले लें,–तो मम्मट तक की एक स्थूल तालिका बन जायगी। वामन के संबंध में कुछ लोगों की धारणा है कि वे काश्मीरक हैं; पर इसमें संदेह है। अलंकार-शेखरकार केशव तथा काव्यानुशासनकार वाग्भट्ट मम्मट के परवर्ती हैं; अतः उनका उल्लेख ऊपर नहीं किया जा सका।

भारत के अन्य भागों के आलंकारिकों से इन काश्मीरक आलंकारिकों की भेदक विशेषताएँ बहुत ही सुस्पष्ट हैं। यदि हम एक तरफ दण्डी, वामन, भोज एवं वाग्भट्ट को रख लें और दूसरी ओर भामह, उद्भट एवं रुय्यक को, तो हमें उनमें बहुत महत्त्वपूर्ण परम्परागत विभिन्नताएँ मिलेंगी। दण्डी एवं उनके अनुयायी गुण को विशेष महत्त्व देते हैं, जो उनके अनुसार दस हैं। उक्त चारों आलंकारिक उन गुणों का नाम लेते हैं। इन दस गुणों का उल्लेख भरत में भी है। सभी दण्डी के अनुयायी हैं—इसका कई ढंग से समर्थन किया जा सकता है। इन चारों के मत से दोष गुणविपर्ययात्मा हैं। रीति को सभी ने काव्य का आवश्यक एवं मुख्य तत्त्व माना है (देखिये—वामन १।२।६ दण्डी १।४०, भोज २रा परिच्छेद, वाग्भट्ट ४।१५०–१५४)। ये लोग हेतु, लेश एवं सूक्ष्म को मानते हैं, काश्मीरक आचार्य इन सभी बातों में भिन्न हैं। भामह ने गौड़ एवं सूक्ष्म वैदर्भ के पार्थक्य की बात कही है और कहा है—हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः। २।८६ अर्थात् हेतु सूक्ष्म एवं लेश को अलंकार रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। साथ ही यह भी एक ध्यान देने की बात है कि भामह ने तीन ही गुण स्वीकार किये हैं और सभी काश्मीरकों ने यही माना है। रुय्यक ने भी, जिसने अलंकारों की

चर्चा की, लेश एवं हेतु को नहीं लिखा। वनहट्टीजी इन्हें काश्मीरक एवं वैदर्भक—इन दो वर्गों में विभक्त करते हैं।

जहाँ तक काश्मीरकों का संबंध है—उत्तरोत्तर उनमें एक खास तरह का विकास लक्षित होता है। यदि हम भामह एवं मम्मट की तुलना करें, तो यह स्पष्ट दिखाई पड़ेगा कि दोनों के काव्यशास्त्रीय विवेचन में काफी अंतर है। दोनों के अपने-अपने तौर-तरीके भिन्न दिखाई पड़ते हैं। चिंतन की एक नई धारा का उन्मेष ध्वनिकार से होता है। यद्यपि इसकी प्रतिक्रिया में दशाधिक मतों का उल्लेख मिलता है। उद्‌भट का तो पता नहीं कि वे ध्वनि-सिद्धांत से परिचित रहे या नहीं, पर इंदुराज ने उनके मौन की व्याख्या करते हुए कहा है कि उन्होंने ध्वनि की चर्चा इसलिये नहीं की कि वे उसे अलंकार से बहिर्भूत मानते ही नहीं।

ध्वनि के संबंध में उद्‌भट का क्या मत था—इसको जानने के लिये हमारे पास कोई स्रोत नहीं है; परन्तु जहाँ तक अलंकारों के विकास का संबंध है—उद्‌भट की स्थिति पर्याप्त स्पष्ट है। भामह एवं मम्मट की स्थितियों की शृंखला जोड़ने में भामह का पर्याप्त हाथ है। कहीं-कहीं तो वे भामह का शब्द-प्रतिशब्द ले लेते हैं; पर कहीं-कहीं नूतन लक्षण तथा अलंकारों का आविष्कार करते हैं, जिसके ऋणी मम्मट भी बन जाते हैं। उद्‌भट के उपमा-संबंधी समस्त विवेचन को मम्मट ने आत्मसात् कर लिया है। अतिशयोक्ति एवं उत्प्रेक्षा का इन्होंने इतना सुंदर विवेचन किया है कि रुय्यक तथा मम्मट को भी उनसे लेना पड़ा है। मम्मट यद्यपि किसी की चीज को शब्द-प्रतिशब्द नहीं लेते, फिर भी यदि ध्यान से देखा जाय, तो स्पष्ट मालूम होगा कि मम्मट उद्‌भट के कितने ऋणी हैं। काव्य, हेतु एवं दृष्टान्त उद्‌भट की कृति के महत्त्वपूर्ण अलंकार हैं।

उद्भट की अलंकारशास्त्र संबंधी समस्त धारणाओं की जानकारी का आधार हमारे समक्ष तभी होता, जब उनकी समस्त कृतियाँ उपलब्ध होतीं। विपरीत इसके उनके कार्यों का केवल एक छोटा-सा टुकड़ा प्रस्तुत कृति के रूप में हमारे सामने है। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि काश्मीरक आलंकारिकों में उनका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। समस्त साहित्य-शास्त्री, जिनमें आनंदवर्द्धन, अभिनव गुप्त, रुय्यक तथा मम्मट भी हैं—बड़ी श्रद्धा के साथ उनका स्मरण करते हैं। अलंकार के क्षेत्र में तो उनका एक सम्प्रदाय ही चलता था, जैसा कि उद्भटादयः (रसगंगाधर) औद्भटाः (ध्वन्यालोक) उद्भटमतानुयायिनः (अलंकार-सर्वस्व) उद्भटप्रभृतयः (प्रतापरुद्र यशोभूषण, रत्नापण)— इन उद्धरणों से ज्ञात होता है। इनके कुछ विचार यों हैं—

गुणालंकारों का प्रायशः साम्य---अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक ने स्पष्टतः तथा मम्मट ने अनूदित रूप से यह कहा है कि उद्भट आदि ने प्रायः गुण एवं अलंकार को समान ही माना है। मम्मट ने इनके मत का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है कि उद्भट ने उन लोगों का निरसन किया है, जिन लोगों ने यह माना है कि गुण काव्य में समवाय संबंध से रहते हैं, अर्थात् गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और अलंकार काव्य में संयोग सबंध से रहते हैं अर्थात् वे काव्य के अनित्य धर्म हैं। उद्भट ने कहा कि उक्त अंतर लौकिक अलंकार को सामने रखकर किया गया है जो शरीर से अलग भी कर दिये जा सकते हैं और फिर शरीर से संबद्ध भी कर दिये जा सकते हैं। क्या काव्यीय अलंकार भी लौकिक अलंकारों की तरह काव्य शरीर शब्दार्थ से पृथक् किये जा सकते हैं और बाह्य अलकारों की भाँति एक बार पृथक् करके—उनका अस्तित्व अलग करके—फिर उन्हीं लौकिक अलंकारों की भाँति जोड़ा जा सकता है? यदि ऐसा नहीं है, तो क्यों नहीं अलंकारों को भी गुण की तरह शब्द और अर्थ का नित्य या समवेत धर्म मान लिया जाय।[1]

उद्भट के इस मत का मम्मट ने खण्डन किया है। खण्डन में यह बताया है कि गुण का रसात्मक (काव्य की) आत्मा से अविच्छेद्य संबंध है, इसके विपरीत अलंकारों का काव्य के शरीर---शब्द एवं अर्थ---से। निष्कर्ष यह कि गुण और अलंकार इसलिए परस्पर भिन्न-भिन्न हैं कि यदि गुण का आश्रय काव्य का अंगी और आत्मा 'रस' है, तो अलंकार काव्य के अंग या शरीर---शब्द तथा अर्थ का। दूसरा अंतर यह भी है कि गुण नियमतः जिस प्रकार आत्मा के साथ रह कर नियमपूर्वक उत्कर्ष-विधान ही करता है, उसी प्रकार अलंकार भी नियमतः 'रस' के साथ रहें ही और रहें भी तो उत्कर्ष विधान ही करें---यह आवश्यक नहीं है। अतः दोनों चीजें एक नहीं हो सकती।[2]

इसके साथ उद्भट यह भी मानते हैं कि उपमा, उत्प्रेक्षा आदि सर्वथा अलंकार ही होते हैं। वे किसी स्थिति विशेष में अलंकार्य भी हो सकते हैं या नहीं, इस पर विचार नहीं किया। यहाँ तक कि अन्य अलंकारवादियों की भाँति 'रस' को भी अलंकार रूप में ही स्वीकृत किया है। यह वह युग है, जब माना जाता था कि शब्दार्थ ही अलंकार्य हैं और शेष अलंकार। प्रतीहारेंदुराज के स्थल-स्थल

---

१. उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्---अलंकार सर्वस्व

२. काव्य प्रकाश---अष्टम उल्लास

के इंगितों[1] से यह पता चलता है कि हो-न हो ये भी शब्दार्थात्मक काव्य को अलंकार्य मानते रहे हों। इन्हीं के समसामायिक वामन ने अलंकार की दो व्युत्पत्तियों—भावव्युत्पत्ति तथा करणव्युत्पत्ति—के आधार पर उसे सौंदर्य का पर्याय भी कहा था और सौंदर्य का साधन भी।[2] साधन के भी व्यापक और संकुचित दो रूप स्पष्ट किये थे; पर उद्भट ने यहाँ पर एक स्थान पर ही 'चेतोहारि[3] साधर्म्यम्' कहा है, जिससे यह पता चलता है कि 'साधर्म्य रूप उपमा जैसे अलंकार ही काव्य में चित्त को आकृष्ट करने वाले सौंदर्य के स्रोत-तत्त्व हैं।

अलंकार सामान्य से संबंधित उनकी इन धारणाओं के अतिरिक्त जब विशेष-विशेष अलंकारों के संबंध में उनके मत को देखते हैं—तो उनकी कई मान्यताएँ इधर-उधर के स्रोतों से उपलब्ध होती हैं।

जैसे, श्लेष अलंकार के विषय में उद्भट का मत है कि अर्थ के भेद से शब्द का भेद भी होता है। अतः श्लेष अलंकार में जहाँ अनेक अर्थों की स्थिति दिखाई देती है, वहाँ एक की नहीं अनेक शब्दों की स्थिति माननी चाहिए। इन अनेक शब्दों की स्थिति जो एक ही शब्द में दिखाई पड़ती है, उसका कारण यह है कि उन भिन्न-भिन्न प्रतीत अर्थों के बोधक शब्द कभी तो आकारतः एक ही होते हैं और कभी आकारतः भिन्न। जब आकारतः एक होते हैं, तब उद्भट वहाँ एक ही शब्द की तरह मानते हैं और बताते हैं कि उस शब्द से प्रतीत होनेवाले भिन्न-भिन्न अर्थों की वही स्थिति होती है, जो एक ही वृत में लटकते हुए विभिन्न फलों की होती है। इसे वे 'अर्थश्लेष' कहना चाहते हैं; जैसे—'शिलीमुख' शब्द है, इसके दो अर्थ हैं—वाण और भौंरा। उद्भट कहेंगे कि यहाँ इन दोनों अर्थों का बोध दो भिन्न 'शिलीमुख' शब्द से होगा; पर दोनों की आकृति या वर्णविन्यास-क्रम और उच्चारणार्थ चालित ध्वनियंत्र के अवयवों का समान प्रयास, एक ही सा होता है; अतः वे दोनों एक ही जान पड़ते हैं।

उद्भट श्लेष की वहाँ एक दूसरी स्थिति भी मानते हैं—जहाँ भिन्न आकार के अनेक शब्द मिलकर वैसे ही एकाकार जान पड़ते हैं; जैसे—पिघली हुई लाक्षा और काठ मिलकर अभिन्न जान पड़ते हैं; जैसे—'अपारिजात' शब्द है। यहाँ दो

---

१. अत्रालंकार्यं यत्काव्यं तद्धर्मत्वेन पुनरुक्तवदाभासमानयोः पदयोरलंकारत्वम्। लघुवृत्ति—पृ० ३

२. सौंदर्यमलंकारः। सच दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्॥—काव्यालंकार सूत्र वृत्ति

३. काव्यालंकार-सार-संग्रह—प्रथम वर्ग

विभिन्न अर्थ वाले दो विभिन्न शब्द मिल गये हैं। जो यों हैं—अ + पारिजात = पारिजात हीन स्थान (२) अप + अरिजात = शत्रुओं से रहित। इसे वे शब्द-श्लेष कहते हैं।

मम्मट (एवं पण्डितराज) ने उद्भट की इस मान्यता का खंडन किया है। वे मानते हैं कि ये दोनों प्रकार शब्द-श्लेष के ही हैं।[१]

उद्भट श्लेष के सम्बन्ध में एक दूसरी मान्यता भी देते हैं कि जहाँ-जहाँ श्लेष अलंकार होता है, वहाँ-वहाँ दूसरे अलंकार भी होते हैं; अतः यह सवाल होगा कि फिर उन उदाहरणों में श्लेष की प्रधानता स्वीकार की जाय या अन्य अलंकार को अथवा दोनों की? उद्भट की यह मान्यता है कि श्लेष का अस्तित्व कहीं भी स्पष्ट रूप से जब संभव नहीं है, तब कम-से-कम ऐसे सभी स्थलों में श्लेष को ही महत्त्व देना होगा——अन्य अलंकारों को नहीं।

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ एवं पण्डितराज ने इसका भी खंडन किया।[२]

अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक ने तो यह भी कहा है कि उद्भट आदि आलंकारिक समस्त व्यंग्य अर्थ को भी वाच्य अर्थ का उपस्कारक मानते हैं——उपस्कार्य या अलंकार्य तो शब्द और वाच्य अर्थ ही हैं; अतः इनके यहाँ समस्त ध्वन्यमान अर्थ का अंतर्भाव अप्रस्तुत प्रशंसा या पर्यायोक्त में ही कर लेना चाहिए। ध्वन्यालोककार ने ध्वन्य-भाववाद के संदर्भ में इस मत का उल्लेखपूर्वक खण्डन किया है।[३] प्रतीहारेंदुराज ने भी अपनी टीका में यही आशय व्यक्त किया है।[४] इससे पता चलता है कि ध्वनि के सद्भाव को तो वे मानते हैं; पर उसे अलंकार से पृथक् नहीं मानना चाहते।

अन्य अलंकारों के संबंध में इनकी धारणा का स्पष्टीकरण पीछे तो किया ही गया है, आगे भी विशेषरूप से बताया जा सकेगा। छेक, पुनरुक्तवदाभास, काव्यहेतु और दृष्टांत——जैसे जहाँ अनेक नूतन अलंकारों का आविष्कार किया, वहीं अनेकपूर्वाचार्यनिरूपित अलंकारों की अनुपादेयता देखकर उसे छोड़ भी दिया।

लोचनकार ने गुण एवं संघटना की एकता और अनेकता पर विचार करते हुए यह माना है कि उद्भट के अनुसार गुणों का आश्रय संघटना है।[५] उसका

---

१. देखिये (विस्तार)——मूल व्याख्या, तथा भूमिका (श्लेष-विवेचन)।
२. देखिये व्याख्या तथा भूमिका
३. ध्वन्यालोक लोचन——प्रथम उद्योत
४. का० सा० सं० की 'लघुवृत्ति' टीका
५. ध्वन्यालोक लोचन——"संघटनाया धर्मा गुणाः"

कारण यह हैं कि गुण के स्वरूप की धारणा ही इन लोगों की भिन्न है। ध्वनिवादियों की गुण संबंधी धारणा भिन्न है; इसलिए वे लोग इनकी गुण-संबंधी धारणा का खंडन करते हुए मानते हैं कि संघटना का ही आश्रय गुण है। आश्रय इस अर्थ में कि गुण के ही आधार पर संघटना का निर्माण होता है।[1]

काव्य-मीमांसा में कुछ ऐसे उद्धरण उपलब्ध होते हैं, जिनसे यह पता चलता है कि उद्भट ने वाक्य के तीन प्रकार के व्यापार माने हैं—१. वैभक्त २. शाक्त एवं ३. शक्तिविभक्तिमय।[2] पर इसका अधिक स्पष्टीकरण नहीं किया गया है।

अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में भामह के 'शब्दाश्छंदोऽभिधानार्थाः'[3] वाक्यांश की टीका के रूप में उद्भट का वाक्य उद्धृत किया है—"अभिधानं गुणवृत्तिश्च"[4]—अर्थात् शब्द की दो शक्तियाँ होती हैं—अभिधा और गुणवृत्ति। इससे पता चलता है कि शब्द की दो शक्तियों का तो स्पष्ट ही उल्लेख किया गया है; परन्तु पर्यायोक्त अलंकार के प्रसंग में उद्भट ने यह भी कहा है कि यहाँ वाच्यवाचकभाव या अभिधा शक्ति से नहीं, वल्कि शब्द की 'अवगमात्मक'[5] शक्ति से वक्ता का तात्पर्य स्पष्ट होता है। इस 'अवगमात्मक' को आगे चलकर व्यंजना नाम से कहा गया है। इस प्रकार व्यंजना की भी अनजान में आवश्यकता स्वीकार कर ली गई है—पर वास्तव में इन्होंने अभिधा और गुणवृत्ति को ही मान्यता दी है।

उसी 'काव्य-मीमांसा' में राजशेखर ने उद्भट के नाम पर यह भी कहा है कि उन्होंने ही अर्थ को दो रूपों को वताया है—विचारितसुस्थ एवं अविचारित रमणीय।[6] पहले को 'शास्त्र' और दूसरे को 'काव्य' कहा जाता है। ठीक इसी प्रकार की बात 'व्यक्ति विवेक' की टीका[7] में कही गई है कि उद्भट आदि का यह सिद्धान्त है कि काव्य का शास्त्र एवं इतिहास आदि से जो व्यतिरेक है, वह शब्द और अर्थ की विशेषता वश न कि 'अभिधा' की विशेषतावश। 'काव्य-मीमांसा'

---

१. ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत

२. तस्य (वाक्यस्य) च त्रिधाभिधाव्यापाराः—वैभक्तः, शाक्तः, शक्तिविभक्तिमयः—काव्यमीमांसा

३. लोचन प्रथम उद्योत

४. वही

५. काव्यालंकार सारसंग्रह—[पर्यायोक्त निरूपण]—वाच्यवाचक वृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।४।६

६. काव्यमीमांसा

७. व्यक्ति विवेक व्याख्यान

कार ने इनके इस मत की आलोचना की है और यह बताया है कि इनकी इस बात को मानने से समस्त काव्य-गत अर्थ ही असत्य और अप्रामाणिक माना जाने लगेगा।[१]

इस प्रकार विभिन्न उद्धरणों से प्राप्त उद्भट की उपर्युक्त विभिन्न मान्यताओं के अतिरिक्त सम्प्रति उनकी रस-विषयक मान्यता पर विचार करना चाहिए। इस विषय में तो स्वयं प्रस्तुत कृति में इतने विचार उपलब्ध हैं कि उसी को आधार बनाकर बहुत कुछ कहा सुना जा सकता है।

अलंकार-निरूपण-प्रवण इस कृति में पूर्ववर्ती अलंकारवादियों की भाँति इन्होंने भी रस एवं भाव आदि को काव्य में अप्रधान स्थान ही दिया है। तभी तो 'रस' की जहाँ प्रधानता है, वहाँ 'रसवद् अलंकार'[२] और जहाँ अप्रधानता हो, वहां 'उदात्त[३] अलंकार माना है। भाव और रस को आधार बताकर उन्होंने 'प्रेयस्वद्' 'ऊर्जस्वी' और 'समाहित' की भी चर्चा की है।' प्रेयस्वद्' में भी भामह और दण्डी की अपेक्षा इनकी यह विशेषता है कि जहाँ भामह ने केवल प्रीति या रति को ही 'प्रेयस्वद्'[४] का विषय माना है, वहाँ उद्भट ने समस्त भावों का जहां अनुमानादि द्वारा सूचन किया जाय, वहाँ 'प्रेयस्वत्'[५] माना है। प्रतीहारेंदुराज ने इसी लिये समस्त भावों के लिये 'प्रेयस्वद्' शब्द को लाक्षणिक[६] स्वीकार किया है। अभिनव गुप्त ने भी 'लोचन'[७] में इस अंतर को स्वीकार किया है। इसी प्रकार ऊर्जस्वी और समाहित की भी इन्होंने और स्पष्टता की। इन्होंने बताया है कि जहाँ भाव एवं रस की सामग्री में या उन्हीं में अनौचित्य की गंध मिले, वहाँ ऊर्जस्वी माना जाना चाहिये। आगे चलकर इसी को रसाभास या भावाभास के रूप में स्वीकार किया गया। इन्होंने तो 'समाहित' का स्वरूप मानते हुए इन शब्दों की ओर भी इंगित किया है—**"रसभावतदभास वृत्ते[८] प्रशमबंधनम्"** यहाँ स्पष्ट ही रसभाव और भावाभास संज्ञा की ओर भी इंगित किया है। रसाभास, और भावाभास,

---

१. काव्य-मीमांसा
२. काव्यालंकार-सार-संग्रह ४।४४,४५
३. वही ४।४९
४. काव्यालंकार
५. वही
६. लघुवृत्ति
७. प्रथम उद्योत
८. का० सा० संग्रह

रस और भाव का जहाँ प्रशम दिखाया जा रहा हो और अन्य रस के अनुभाव आदि का वर्णन न किया जा रहा हो, तो वहाँ 'भाव प्रशम' होने से 'समाहित' कहा जाता है।[१] आगे के लोगों ने इसे ही 'भावशांति'[२] कहा है। भामह ने तो इसका (समाहित का) लक्षण ही नहीं[३] किया और दण्डी[४] ने परवर्ती आचार्यों में समाधि अलंकार के स्वरूप के अनुरूप 'समाहित' की परिभाषा दी।

प्रेयस्वत् एवं रसवद् अलंकार में जहाँ भाव और रस का स्वरूप बताया है, वहाँ यह स्पष्ट किया है कि भाव के लिये यदि अनुभाव आदि से सूचना भर हो गई हो तो वही पर्याप्त है; पर 'रस' के लिये स्पष्ट रूप से शृंगार आदि की स्थिति होनी चाहिए। दण्डी और भामह की अपेक्षा विभाव, अनुभाव एवं संचारी शब्दों का प्रयोग भी उद्भट को रस-प्रक्रिया के अधिक सन्निहित बताता है। इन्होंने भाव तथा रस के द्योतक उपकरण को[५] चार और पाँच[६] प्रकार के क्रमशः बताये हैं और वे हैं--१ स्ववाचक शब्द, २ विभाव, ३ संचारी, ४ अनुभाव तथा ५ स्थायी। इनमें से पहले का तो परवर्ती आचार्यों ने खण्डन किया है। अभिनव गुप्त ने भट्टलोल्लट का मत प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि चिरन्तन आचार्यों का भी मत भट्टलोल्लट के अनुरूप ही है। अर्थात्--जिस प्रकार भट्टलोल्लट के यहाँ अनुकार्य में 'रति' आदि स्थायी भावों की परिपुष्टि माना जाती है, उसी प्रकार उद्भट के मत में भी। पर, इस प्रकार के निष्कर्ष से सहमत होने के लिये अपने पास अभी कोई ठोस प्रमाण नहीं है।

ग० त्र्यं० देशपांडे का तो यह भी अनुमान है कि हो-न-हो उद्भट के इस 'चतूरूपा भावाः' तथा 'पञ्चरूपा भावाः' से ध्वन्यालोक लोचन में स्थित 'अन्ये शुद्ध विभावम्' अपरे शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम्... रसमाहुः '--इन मतों का कुछ-न-कुछ संबंध अवश्य[७] हो। रस के 'स्वशब्द वाच्यत्व' का खण्डन तो आनंदवर्द्धन आदि परवर्ती सभी ध्वनिवादी[८] आचार्यों ने ही नहीं, शंकुक तक ने किया है।

नाट्यशास्त्र के दशरूपाध्याय[९] की टीका में अभिनव गुप्त ने उद्भट का मत

---

१. का० सा० सं० ४।
२. काव्य-प्रकाश, चतुर्थ उल्लास
३. काव्यालंकार
४. काव्यादर्श
५. का० सा० सं० ४।
६. वही
७. भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० २६६
८. ध्वन्यालोक--तृतीय उद्योत
९. नाट्यशास्त्र--अभिनव भारती

बड़े विस्तार से दिया है और वहीं 'वृत्ति' तथा 'रसविभाव' के संबंध में इनका मत विस्तार से प्रस्तुत किया है। उस स्थल के सूक्ष्म निरीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उद्भट ने रस-स्वरूप के निर्धारण में उन दशरूपकों के वर्गीकरण में पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को भी निकष आस्वाद्यता के साथ बताया है। इन्हीं पुरुषार्थों के अनुसार उद्भट मानते हैं कि नाट्य में धर्म के लिये वीर, अर्थ के लिये रौद्र, काम के लिये शृंगार तथा मोक्ष के लिये शांत और बीभत्स का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार दशरूपकों के वर्गीकरण के संबंध में भी इनका यह खयाल है कि भाण एवं प्रहसन आदि तो शुद्ध मनोरंजन की दृष्टि से निर्मित हैं। नाटक तथा प्रकरण पुरुषार्थ प्रधान होते हैं, इसीलिये उसमें शृंगार, वीर का विधान होता है। समवकार, डिम तथा व्यायोग में रौद्र की प्रधानता होती है। यद्यपि आगे चलकर उद्भट के इन मतों की आलोचना हुई है, फिर भी पुरुषार्थ की दृष्टि से काव्य का विचार आनंद और अभिनव गुप्त ने भी किया है। अभिनव गुप्त आदि जब 'प्रीति' और 'व्युत्पत्ति' का विचार करते हैं तो 'रस' की उपयोगिता पुरुषार्थ की ओर प्रेरित करने में प्रतिपादित करते ही हैं।

उद्भट की एक देन यह भी मानी ही जानी चाहिए कि जब वे काव्य में कभी विभाव का, कभी स्थायी का, कभी संचारी का और कभी अनुभाव तथा कभी स्वशब्द वाच्यत्व का उल्लेख करते हैं, तब निश्चय ही उनके सामने श्रव्य काव्य का अस्तित्व है। मतलब यह कि आनंदवर्द्धन से पूर्व श्रव्य काव्य से उद्भट ने ही रस का संबंध स्थापन आरंभ कर दिया था।

एक बात रस के संबंध में और रह जाती है। वह यह है कि यद्यपि ऊपर यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि इन्होंने 'रस' को काव्य के उपस्कारक तत्त्व के ही रूप में उल्लिखित किया है; परंतु एक श्लोक उद्भट के किसी किसी काव्यालंकार-सार-संग्रह वाली प्रति में मिलता है, जिससे पता चलता है कि वे रस को काव्य का 'जीवद्रूप' (आत्मा) भी मानते हैं——रस का काव्य में प्रमुख स्थान भी स्वीकार करते हैं। श्लोक यों है—

रसाद्याधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया यतः।

कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम् ॥६। [१७ का० सा० सं०] पर एक तो यह श्लोक सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता। दूसरे इसका उल्लेख भी अनवसर पर है। यदि ऐसा कोई मत उद्भट का होता, तो रसवदलंकार के ही प्रसंग में कहा गया होता; अतः इस पाठ के आधार पर Herman Jacobi का जो यह अनुमान है कि उद्भट ही वह पहला आलंकारिक है, जिसने रस को श्रव्य काव्य की भी आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया——निर्भ्रांत नहीं कहा जा सकता।

दूसरे यदि उद्भट ने स्पष्ट ऐसा कह दिया होता, तो प्रतिहारेन्दुराज यह विकल्प प्रस्तुत न करते कि रस काव्य का उपस्कारक है या उपस्कार्य और उपस्कारक वाला पक्ष ही समर्थित न करते। यह अवश्य कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती भामह एवं दण्डी की अपेक्षा उद्भट को 'रस' संबंधी जानकारी अधिक थी। इस प्रकार छिटपुट रूप में उद्भट के साहित्यिक सिद्धान्तों का पता लगता है।

आचार्य के अतिरिक्त उद्भट एक कवि भी थे, जैसा कि प्रस्तुत ग्रन्थ में लक्षणों के समन्वयार्थ उदाहृत श्लोकों से पता चलता है।

डा० राघवन् की तो यह स्थापना है कि नाट्यशास्त्र के आठ रसों में एक और शांतरस उद्भट ने सिद्ध किया है।

इस प्रकार उद्भट के जो सिद्धान्त ऊपर निर्दिष्ट हुए हैं, उनमें से बहुतों से परवर्ती आलंकारिक सहमत नहीं है—यह भी दिखाया गया ; पर इससे उद्भट का महत्त्व कम नहीं होता। विपरीत इसके लोगों का ध्यान उद्भट की ओर आकृष्ट होता है। बड़े-से-बड़े आलंकारिक आनंद से लेकर पण्डितराज उद्भट के मत की आलोचना किये बिना आगे नहीं बढ़ते। आगे चलकर यद्यपि आनंद-वर्द्धन का इतना प्रभाव हुआ कि सभी महान् आचार्यों ने उनका अनुगमन किया, फिर भी उद्भट के मत को बड़े ही संरम्भ से समर्थित करने वाले आचार्य प्रतीहारेन्दुराज हुए।

टीकाकार प्रतीहारेंदुराज

प्रस्तुत कृति की 'लघुवृत्ति' नामक टीका के प्रणेता इंदुराज भी अलंकारशास्त्र के एक प्रतिष्ठित आचार्य हैं। इनके गुरु थे—'अभिधावृत्तिमातृका' के प्रणेता भट्ट मुकुल[1]। कहा जाता है कि मुकुल कल्लट के पुत्र थे। राजतरंगिणीकार कल्लट को एक सिद्धपुरुष के रूप में देखते थे, जो अवन्ति वर्मा के राज्य[2] में थे। अवन्ति-

---

१. विद्वदग्र्यान्मुकुलादधिगम्य विविच्यते।
प्रतीहारेंदुराजेन काव्यालंकार संग्रहः—लघुवृत्ति टीका

अथवा—मीमांसा सारमेघात्पदजलधिविधोस्तर्कमाणिक्यकोशात्
साहित्यश्रीमुरारेर्बुधकुसुममधोः शौरिपादाब्जभृंगात्।
श्रुत्वा सौजन्यसिंधोर्द्विजवरमुकुलात् कीर्तिवल्ल्यालवालात्
काव्यालंकारसारे लघुविवृतिमधात् कौंकडः श्रींदुराजः—लघुवृत्ति

२. अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्री कल्लटादयः। अवन्ति वर्म्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्॥६६

वर्मन् को राज्य तिथि ८५७-८८४ तक मानी जाती है। कल्लट को यदि मुकुल का पिता मान लिया जाय, तो यह अच्छी तरह कहा जा सकता है कि मुकुल का समय ९वीं का अंत तथा दशम को शुरूआत होगी। इस प्रकार मुकुल के शिष्य इंदुराज का समय मुकुल के कुछ बाद अर्थात् ९५० ई० के आसपास अनुमान किया जा सकता है।

गुरु के रूप में इंदुराज का सम्बन्ध अभिनव गुप्त से है, जैसा कि स्वयं 'लोचन' के आरंभ में उन्होंने कहा[1] है। 'लोचन' के भीतर भी वे स्थान-स्थान पर यह कहते हैं--"यथाऽस्मदुपाध्यायभट्टेंदुराजस्य"।[2] इस सम्बन्ध-स्रोत से भी हम इंदुराज की तिथि निश्चित कर सकते हैं। अभिनव गुप्त का समय ९८०-१०२० के आस-पास माना जाता है, इसलिये इंदुराज का समय ९५०-९९० तक कहा जा सकता है।

लेकिन यहाँ एक प्रश्न खड़ा हो सकता है कि 'लघुवृत्ति' कार तथा अभिनव गुप्त के गुरु इंदुराज क्या एक ही हैं? यद्यपि अब इस पर विचार इतना हो चुका है कि पुर्नविचार की अब कोई गुञ्जाइश नहीं है। फिर भी कुछ अतिरिक्त प्रमाण लें। पी० वी० काणे ने भट्टेंदुराज तथा प्रतीहारेन्दुराज--जो समसामयिक एवं आलंकारिक भी हैं--को भिन्न-भिन्न माना है और उसमें कारण यह बताया है कि प्रतीहारेन्दुराज के मत से सर्वथा भिन्न अभिनव गुप्त ने ध्वनि की स्थापना की है; पर जब यह देखा जाता है कि द्वैती के शिष्य अद्वैती हो जाते हैं, तो शिष्य अभिनव गुप्त के भी अन्यथा हो जाने पर क्यों अँगुली उठाई जाय? दूसरी बात यह कि अभिनव के एक नहीं अनेक गुरु थे, तब उक्त तर्क का महत्त्व कितना नगण्य हो जाता है। कतिपय तर्क यों भी हैं--जैसे कि इंदुराज की प्रकृति है वे दूरवर्ती भामह, दण्डी, वामन--आलंकारिकों के ही उद्धरण नाम-निर्देशपूर्वक देते हैं--समसामयिकों या निकट अतीत के लोगों का उद्धरण नाम-निर्देशपूर्वक नहीं देते। आनंदवर्द्धन के अनेक उद्धरण इन्होंने अनामनिर्देश पूर्वक दिये हैं, इससे यह अनुमान सहज ही निकलता है कि ये आनंदवर्द्धन समीपी थे। (२) दोनों एक इसलिए भी हो सकते हैं कि दोनों आलंकारिक एवं कवि हैं--दोनों के देश-काल एक हैं--अतः दोनों एक हो तो सकते ही हैं। इस प्रकार यह स्थापना मान्य ही है कि इंदुराज ९४०-९९० के बीच के हैं।

---

१. भट्टेंदुराजचरणाब्जकृताधिवासो हृद्यश्रुतोभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्।
यत्किंचिदप्यनुरणन् स्फुटयामि काव्यालोकं सुलोचननियोजनया जनस्य॥
लोचन, प्र० उ०

२. लोचन

अभिनवगुप्त ने इंदुराज के माता-पिता के सम्बन्ध में अपनी गीता की व्याख्या के अंत में कहा है कि इंदुराज के पिता थे भूतिराज और पितामह थे शौचुक। (Shauchuk) बनहट्टीजी की भी धारणा है कि इंदुराज कश्मीरक थे। पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आलंकारिकों के सम्बन्ध में भी यह बात निश्चित होती है।

संप्रति, यह देखना चाहिए कि प्रतीहारेन्दुराज को जो 'कौंकण:' कहा गया है, उसका अभिप्राय क्या है? यहाँ तीन बातें सम्भावित हैं—(i) कुंकण इनके पिता या किसी प्रसिद्ध पूर्वज का नाम रहा होगा। (ii) काश्मीर में या आसपास कुंकण नामक स्थान भी हो सकता है (iii) अथवा कोंकण आज का दक्षिणी प्रदेश (बम्बई के पास) हो। प्रमाणाभाव में पहले और दूसरे विकल्प के सम्बन्ध में कहा ही क्या जा सकता है? तीसरे का ही अस्तित्व प्रामाणिक जान पड़ता है। पर कश्मीर का व्यक्ति दक्षिण के इतने दूरदेश में बैठे, यह सम्भव नहीं दिखाई पड़ता। हाँ, यह सम्भव है कि अन्यान्य विद्वानों की भाँति वे या उनका परिवार वहाँ से चलकर कोंकण आ गया हो, इसीलिए वे अपने को कौंकण (कोंकण सम्बन्धी) कह रहे हों। यह सम्बन्ध असम्भव नहीं है। बारहवीं शताब्दी में कौंकणाधिप अपरादित्य ने तेजकण्ठ को राजदूत बनाकर वहाँ से काश्मीर भेजा था (श्री कण्ठ चरित २५/१०९-१११)। यह भी देखना चाहिए कि प्रतीहार विशेषण का अर्थ क्या है? यह एक उपाधि थी (The recipient of a free hold such as Agrahar)। इसका सम्बन्ध प्रतीहार से भी हो सकता है अथवा सामवेद का विशेष अक्षर, जिसका गान सामवेदी प्रतिहर्त्ता करता है। सम्भव है यह सामवेदी रहा हो।

लघुवृत्ति

इंदुराज प्रणीत यह एक विद्वत्तापूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण टीका है। कारिकाओं की व्याख्या विलक्षण एवं आकर्षक ढंग से की गई है। भाषा प्रवाहमय एवं प्राञ्जल है। पद्धति तर्कसंगत, तलस्पर्शी एवं लोचदार है। प्रत्येक अलंकार के लक्षण की व्याख्या उसके एक-एक पद की सार्थकता स्पष्ट करते हुए की गई है। इस व्याख्या के कारण प्रस्तुत मूलकृति का महत्त्व और भी बढ़ गया है।

इंदुराज की मान्यताएँ

श्री इन्दुराज मानते हैं कि शास्त्र से काव्य का वैशिष्ट्य यह है कि काव्य सरस होता है। सरस पदार्थों में ही काव्य व्यवहार-संगत है। इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी बताना चाहा है कि काव्य का स्वरूप क्या होता है—"काव्यं खलु गुणसंस्कृत

शब्दार्थशरीरत्वात्सरसमेव भवति'—काव्य सरस होता ही है, कारण है उसके शब्दार्थ रूप शरीर का गुण द्वारा सस्कार। इनके मत में दण्डी एवं वामन की भाँति दस या वीस गुण नहीं हैं, बल्कि भामह की तरह तीन ही गुण—प्रसाद, माधुर्य एवं ओज हैं। गुणों का स्वरूप बताते हुए इन्होंने यह कहा कि माधुर्य आह्लादकता है, ओज बंधगत गाढ़ता है और प्रसाद शीघ्र रसाभिव्यक्ति के अनुकूल होना है। स्वरूप को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि गुण को इन्होंने रस धर्म के रूप में स्वीकार नहीं किया है। गुण का स्वरूप जैसा कि आगे बताया जायगा—वामन के अनुरूप ये मानते हैं। इन तीनों गुणों में भी इंदुराज ने प्रसाद को प्रमुख गुण माना है और तत्तत् रस की अभिव्यक्ति के अनुरूप तारतमिक रूप से अवस्थित माधुर्य तथा ओज की उपयोगिता को प्रसाद' की निष्पत्ति ही में बताया है। लगता यह है कि प्रसाद या स्वच्छता रहने पर ही शेष गुणों का अपना लक्ष्य पूरा होता है; अतः ये भी प्रसाद को इतनी मुख्यता देते हैं। इस प्रकार माधुर्य एवं ओज से सुसंस्कृत जब रसादि की अव्यवहित प्रतीति कराने वाला प्रसाद शब्दार्थ को अनुगृहीत करता है, तब तो काव्य में सरसता आती ही है।

यहाँ यह सवाल सहज ही उठ सकता है कि जब गुणों से ही काव्य कृत-कृत्य हो जाता है, तब अलंकारों की क्या आवश्यकता है? इन्दुराज मानते हैं कि गुणों का काव्य से अनिवार्य संबंध इसलिये बताया गया है कि विना इसके अलंकार शोभावह नहीं हो सकते। जैसे युवती नायिका को ही अलंकार शोभा देते हैं, उसी प्रकार सगुण काव्य ही में अलंकार शोभावह हो पाते हैं। निर्गुण काव्य में अलंकार की वही स्थिति है, जो वृद्धा नायिका में अलंकार की होती है। यदि गुण रहित शब्दार्थ हो, तो वह काव्य ही नहीं कहा जायगा; हाँ, अलंकार रहित होने पर कहा भी जा सकता है। यहाँ अलंकारवादी भामह से, जो यह मानते हैं कि कमनीयतायुक्त मुख भी यदि अलंकारयुक्त न हुआ तो वह उत्तेजक न होगा—इन्दुराज भिन्न दृष्टि रखते हुए दिखाई पड़ते हैं। इस विषय में वे वामन को उद्धृत करते हुए उनके साथ जाते हैं। किस प्रकार सगुण काव्य अलंकार रहित होकर भी रसस्यंदी होते हैं—इसका उदाहरण अमरुशतक से दिया है।

यहाँ गुणों के स्वरूप एवं महत्ता के विषय में भामह से तथा उनकी संख्या एवं प्रभेद स्वरूप में वामन से भिन्न होकर इन्दुराज व्यक्तिगत यह स्थापना करते हैं कि यद्यपि गुण सामान्य का स्वरूप एवं उसकी काव्य में अनिवार्य स्थिति वामन ने कही है और इंदुराज उनसे सहमत हैं; पर वामन की भाँति वे वीस गुण मानते हैं, ऐसा नहीं। वामन से इनकी एक दूसरी विशेषता यह भी है कि जहाँ

इंदुराज गुणों की सार्थकता पदार्थों को सरस बना देने में मानते हैं, वहाँ वामन कुछ इस तरह की बात नहीं करते। उनके यहाँ तो केवल कांति नामक गुण ही में समस्त रस अंतर्भूत हैं। इस प्रकार इनका यह विलक्षण-सा ही मत है।

यहाँ पर एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि इंदुराज ने निरलंकृत; परन्तु गुणयुक्त शब्दार्थ की सरसता का उदाहरण प्रस्तुत किया है—

कथमपि कृतप्रत्यासत्तौ प्रिये स्खलितोत्तरे,
विरहकृशया कृत्वा व्याजप्रकल्पितमश्रुतम्।
असहनसखी श्रोत्रप्राप्तिप्रमादसंसभ्रमम्।
विवलितदशाशून्ये गेहे समुच्छ्वसितं ततः॥

[१-८२ में उद्धृत] और बताया है कि यहाँ ईर्ष्याविप्रलम्भ शृंगार निबद्ध है। इंदुराज ने स्वयं कहा है—"रसाःखलु काव्यस्यालंकाराः"—रस भी काव्य के अलंकार ही हैं फिर यहाँ जब रस रूप अलंकार मौजूद है, तब निरलंकृत का यह उदाहरण देना कहाँ तक उचित है? इस प्रश्न पर उनका समाधान सुनिये —"न खलु काव्यस्य रसानां चालंकार्यालंकार भावःकित्वात्मशरीर भावः—पृ० ८३

यही बात समस्त ध्वनिवादी एवं रसवादी मानते हैं कि काव्य का रस से अलंकारालंकार्यभाव नहीं, प्रत्युत आत्मशरीरभाव सम्बन्ध है। इसको उन्होंने यहाँ अलंकार ही नहीं कहना चाहा, बल्कि उसे काव्य की आत्मा कहा है और किसी का उद्धरण भी दिया है—

रसाद्याधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया मतः।
कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम्॥ पृ०८३ पर उद्धृत

जिससे यह समर्थित होता है कि काव्य की आत्मा रस है; लेकिन इस उत्तर से एक अंतर्विरोध पैदा होता है और वह यह कि एक जगह अलंकारवादियों के साथ वे रस को अलंकार कहते हैं और दूसरी जगह रसवादियों के साथ उसे काव्य की आत्मा मानते हैं; पर आगे इस अंतर्विरोध को हटाते हुए कहा है—

"यत्तु रसादीनां पूर्वमलंकारत्वमुक्त तदेवंविधभेदाविवक्षया" पृ० ९३

अर्थात्—पहले जो रसादि को अलंकार कह दिया गया है, वहाँ इस प्रकार के भेद की विवक्षा के न होने से।

एक जगह इदुराज ने यह भी कहा है—"रसानां भावानां च काव्यशोभातिशय-हेतुत्वात् किं काव्यालंकारत्वमुत काव्यजीवितत्वमिति न तावद्विचार्यंते ग्रंथगौरव भयात्"—"रस एवं भाव काव्य के शोभाकर धर्म हैं; अतः वे काव्य के अलंकार हैं या जीवितभूत—इसका विचार ग्रंथगौरव के भय से नहीं कर रहा हूँ"। पर एक जगह उन्होंने काव्य का अलंकार भी कहा और दूसरी जगह काव्य को जीवित भी

कहा---विरोध को हटाने का रास्ता भी दिखा दिया ; पर उनका संरम्भ कम-से-कम इस स्थल में रस को काव्य का जीवित कहने का ही जान पड़ता है। उनके इस संरम्भ का पता अनुप्रास एवं वृत्ति की व्याख्या से भी चलता है। अनुप्रास में वर्णों का रसानुगुण प्रकृष्ट उपन्यास मानते हैं। वृत्यनुप्रास के भी जो तीन भेद---परुषा, कोमला एवं उपनागरिका---रखे गये हैं, वे भी रसानुगुण वर्णयोजना की ही दृष्टि से। कहा ही है---"तासु च रसाद्यभि व्यक्त्यानुगुण्येन पृथक्---पृथगनुप्रासो निबध्यते।" [पृ० ६]। इस प्रकार प्रतीहारेंदुराज निस्संदेह रस को जीवित मानने वाले हैं।

इन्होंने यह प्रश्न भी खड़ा किया है कि उद्भट ने तत्त्व की चर्चा क्यों नहीं की ? और फिर इस प्रश्न के समाधान में यह बताया है कि इसका उल्लेख उद्भट ने अलग से इसलिये नहीं किया कि वह तो अलंकारों से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। यहाँ पुनः आश्चर्य होता है कि उन्होंने वस्तु अलंकार एवं रस-रूप त्रिविध प्रतीयमान तत्त्व को पुनः किसी-न-किसी अलंकार ही में अंतर्भूत किया है और रस को भी रसवदलंकार के भीतर ही लिया है। आगे यह भी कहा है कि इस विषय को बहुत बढ़ाना अच्छा नहीं है, विद्वान् लोग स्वतः बहुत-कुछ समझ लेंगे। इस प्रकार इंदुराज रस की स्थिति में शुरू से अन्त तक खींचतान मचाये हुए हैं।

काव्यालंकार-सार-संग्रह की अन्य टीकाएँ

जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है उद्भट स्वयं एक टीकाकार हैं। उन्होंने भामह के काव्यालंकार पर स्वयं टीका लिखी है। उनकी मौलिक एवं रचनात्मक प्रतिभा टीका लिखकर सन्तुष्ट नहीं हुई, कदाचित् इसीलिये प्रस्तुत कृति उन्होंने प्रस्तुत की और अलंकारों के विकास में एक महत्त्वपूर्ण योग दिया। मम्मट के काव्य-प्रकाश से पूर्व उद्भट का अलंकार-क्षेत्र में पूरा अधिकार था, जैसा कि उनके प्रति प्रयुक्त विशेषणों से ऊपर स्पष्ट किया गया है। मम्मट ने इन लोगों को इस प्रकार स्वायत्त किया कि उनके बाद इन लोगों का यशोदीप मन्द पड़ गया। इनकी ख्याति के ही कारण संभवतः इनकी कई टीकाएँ रही होंगी ; परन्तु प्रस्तुत प्रमाणों के आधार पर इतना तो निश्चय है ही कि इन पर तीन टीकाएँ, तो अवश्य ही हैं। इनमें से प्रथम टीकाकार इंदुराज से पूर्ववर्ती किसी टीकाकार का किसी स्रोत से पता नहीं चलता। इनके बाद राजानक तिलक ने **उद्भट विवेक या उद्भट विचार** नामक टीका लिखी। रुय्यक के अलंकार-सर्वस्व के टीकाकार 'विमर्शिनी' प्रणेता जयरथ ने एकाधिक बार इस बात का उल्लेख किया है कि तिलक ने उद्भट की टीका की है। उद्भट-विवेक का सर्वस्वकार ने यत्र-तत्र सहारा भी लिया है।

रुय्यक ने ११५० में अलंकार-सर्वस्व का निर्माण किया। इसीलिये, तिलक थोड़ा इनसे पहले के होंगे।

उद्भट-विवेक की कोई हस्तलिखित प्रतिलिपि अब तक नहीं मिली। उद्भटालंकार विवृति—नामक टीका की एक हस्तलिखित प्रति मालाबार से १९१९-२० में मिली है। ग० ओ० मैं० ला० मद्रास में इसकी एक प्रति है। मूल दोनों टीकाकारों का एक ही है—उसमें कोई झंझट नहीं दिखाई पड़ती। तिलक इंदुराज के ही नहीं, मम्मट के भी परवर्ती हैं—कारण है मम्मट के ग्रंथ के अनेक अंशों की स्थिति। इन्होंने फिर भी उद्भट, भामह, रुद्रट एवं वामन का नाम लिया है; पर मम्मट का नहीं—इससे स्पष्ट पता चलता है कि ये मम्मट से बहुत दूर नहीं थे। उद्भट-विवेक से उद्भट-विवृति भिन्न टीका है—इसमें कोई संदेह नहीं। हस्तलिखित प्रति में 'विवृति' कार का कोई निर्देश नहीं मिलता। उद्भटालंकार-विवृति में कुछ ऐसी व्याख्याओं का उल्लेख मिलता है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि काव्यालंकार-सार-संग्रह की अनेक व्याख्याएँ हो चुकी हैं, पुनरुक्त वदाभास की व्याख्या पर विवृतिकार ने पाँच भिन्न मतों का उल्लेख किया है।

उद्भटालंकारविवृतिः श्री रामस्वामी का कथन है कि विवृतिकार अपेक्षित पदों के द्वारा अवश्य व्याख्येय अर्थ का व्याख्यान कर सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक शब्दों का परस्पर समन्वय करते हैं और अर्वाचीन आलंकारिकों के अनुगुण परिष्कार करते हैं। वहाँ वह पूर्वालोचित अर्थ का आलोचन भी करते हैं, निराकरणीय अर्थों को निराकृत करते हैं, परस्पर व्यावृत्त पदार्थों का स्वरूप-निर्धारण करते हुए अपना स्वातंत्र्य ख्यापित करते हैं। इस प्रकार यह व्याख्या पूर्ववर्ती व्याख्याओं को पछाड़ती हुई अन्य लोगों के लिये प्रौढ़ शैली का उपदेश करती हुई दृढ़तापूर्वक अपने पक्ष की स्थापना करती हुई इंदुराज का निश्चय ही अतिक्रमण कर जाती है, मुकुलित अलंकारों पर अपनी व्याख्या का प्रकाश फेंककर उसे विकस्वर रूप प्रदान करती है। उनकी कुछ करामातें देखें—

(१) पुनरुक्ताभास को अर्वाचीन आलंकारिकों ने उभयालंकार माना है; इसलिए 'वाचा' में 'वाक्' शब्द का अर्थ 'शब्दार्थ' किया गया। (२) उपमा लक्षण का ऐसा सुन्दर परिष्कार किया है कि उसमें सभी उपमादोष निराकृत हो गये हैं। (३) उद्भट की ही कारिकाओं में अर्वाचीन सम्मत २१ उपमा-प्रभेदों का आकलन किया है। (४) अर्थान्तरन्यास की व्याख्या कर उसमें अर्वाचीन सम्मत समर्थ्य-समर्थक भाव का उद्भावन किया। उद्भट के लक्षण का परिष्कार करते हुए उसमें उसने १६ प्रभेदों की कल्पना की। (५) व्यतिरेक अलंकार में भी मम्मट सम्मत प्रभेद का अनुसरण करते हुए अनेक भेदों की संभावना प्रकट की (६) मम्मट ही

की तरह उद्भट के भी विरोधाभास में दसविध भेद निकाले। (८) अप्रस्तुत प्रशंसा का एक ही भेद उद्भट ने किया; किन्तु एक ही पर इन्होंने मम्मट की भाँति उसके पाँच भेद निकाल ही लिये। (८) प्रेयोलंकार में अनुभावों द्वारा भावानुमिति-पक्ष परित्यागपूर्वक आनंद-सम्मत व्यंग्य-व्यंजक भाव की प्रधानता देते हुए काव्य एवं रस का संबंध स्थापन करते हुए इन्होंने भी रस को काव्य जीवित बताया। इस प्रकार अनेकानेक प्रौढ़ व्याख्याएँ की हैं और 'विवृत्ति' ने 'लघुवृत्ति' नाम को अपने सामने सार्थक कर दिया है।

उद्भट की कृत का जो विवेचन इन्होंने किया है, उसमें उन्हें न तो मूल कार की महत्ता का ध्यान है, न सप्रदाय की संरक्षणीयता का। स्थल-स्थल पर स्वतंत्र प्रतिभा से प्रतिभात अर्थों के आविष्करण का लोभ ज्यादा है। इस वक्तव्य की पुष्टि कई उद्धरणों से की जा सकती है।

(क) उद्भट ने प्रथम पुनरुक्तवदाभास का लक्षण किया—"अभिन्न वस्त्विवोद्भासि भिन्न रूप पदम्"। विवृत्तिकार ने इस लक्षण को असंगत बताया और लक्षण गत शब्दों का परिष्कार निर्दिष्ट ढंग से करके लक्ष्य में उसे संगत किया। 'शितिकण्ठ: कालगलत्सतीशोकानलव्यथ:" इस उदाहरण में शितिकण्ठ' एवं कालगल शब्द अभिन्नार्थक से लगते हैं। कालगल शब्द में पौनरुक्त्य अवश्य भासित है, पर वह भिन्न पद नहीं है, भिन्न पद तो है—काल गलत्, लेकिन 'कालगलत्' अभिन्नार्थक नहीं है। अकारान्त कालगल शब्द समुदायावयव होने से सार्थक भी नहीं है। इसलिये भिन्न पदों में अभिन्नार्थकता आई ही नहीं। इसलिये लक्षण का परिष्कार करते हैं—यह नहीं कि इन्दुराज की तरह चुप्पी मारकर यथाक्षर व्याख्यान कर दें।

इसी प्रकार लक्षण एवं उदाहरण में जहाँ आनुरूप्य नहीं रहता है, वहाँ ये संशोधन कर देते हैं; जैसे—'पररूपेण' रूपणात् द्वारा लक्षित रूपक के चतुर्थ भेद का उदाहरण है—"असाधारण विशिखैः" इसकी अस्पष्टरूपता का उद्भावन कर रुद्रट आदि द्वारा कथित परम्परित रूपक की तरह उस लक्षण का स्वरूप अन्वयान्तर द्वारा परिष्कृत कर स्पष्ट रूप से 'मेसरुकेसरमुदार'—पद को भी श्लिष्ट परम्परित रूपक के उदाहरण रूप में प्रतिष्ठित किया।

इस प्रकार अनेक उदाहरणों से उक्त प्रतिज्ञा की पुष्टि की जा सकती है।

विवृत्तिकार राजानक तिलक

राजानक तिलक प्रणीत कोई 'उद्भट विवेक' नामक व्याख्या थी। क्या राजानक तिलक कृत 'उद्भट-विवेक' यही व्याख्या है? यही विवृत्ति?

काश्मीरक जयरथ ने अपनी विमर्शिनी में दो बार 'उद्भट विवेक' का तथा तीन बार राजानक तिलक का उल्लेख किया है। जहाँ व्याख्या का स्मरण करते हैं, वहीं तदीय या स्वीय शब्दों में उसका उल्लेख भी करते हैं। वनहट्टीजी का विचार है कि 'उद्भट' विवेक एवं 'विवृति' भिन्न-भिन्न टीकाएँ हैं; पर कारण नहीं बताया कि ऐसा क्यों? आक्षेपालंकार के प्रकरण में जयरथ ने कहा है कि 'एतच्चोद्भट विचारे राजानकतिलकेनैव सप्रपञ्चमुक्तम्।' इसी प्रकार एक नहीं अनेक स्थलों में इन्हें उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि इसके निर्माता विवृतिकार तिलक ही हैं।

तिलक के अन्य ग्रंथों की भी संभावना जयरथ के निर्देशों से की जा सकती है। जयरथ ने तिलकोक्त बातों का अन्यत्र भी स्मरण किया है और वे अर्थ विवृति में मिलते नहीं, पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि तिलक ने उद्भट विवेक या विवृत्ति नहीं लिखी; नहीं, उन्होंने तो स्पष्ट कहा है कि यह बात तिलक ने उद्‌भट-विवेक में प्रतिपादित की है। तीन अनूदित अंशों में से तीसरे के संबंध में वे तिलक का होना तो मानते हैं; पर उद्‌भट-विवेक से लिया जाना नहीं मानते। इससे स्पष्ट है कि तिलक ने किसी अन्य ग्रंथ का भी निर्माण किया। तीसरा अंश है--"एतदेव राजानक तिलकेनाप्युक्तं-कारणसामग्र्यमिह बाधकत्वे-नैव प्रतीयते।" यह बात विवृति में नहीं मिलती। अच्छी तरह देखा जाय, तो जयरथ का यह कहना है कि राजानक रुय्यक या रुचक प्रायः तिलकानुवर्ती हैं, यहाँ प्रायः' पद सार्थक है। कहीं-कहीं इस ग्रंथ से रुय्यक का विसंवाद भी है। हो सकता है तिलक का वही अन्य ग्रंथ उस विसंवाद का मूल अंश हो।

जहाँ तक तिलक के जीवन-काल का सवाल है, विद्वानों ने यह संभावना की है कि हो सकता है ये तिलक के पुत्र हों। तिलक प्रणीत 'सहृदय लीला' नामक ग्रंथ के अंत में कुछ इसी प्रकार की बात भी कही गई है। जयरथ रुय्यक को तिलकानुयायी बताते हैं। 'काव्य प्रकाश संकेत' के द्वितीय श्लोक में कहा है कि उसने तिलक से साहित्य-विद्या प्राप्त की है। इससे इतना तो स्पष्ट है ही कि तिलक रुय्यक से पहले हो चुके हैं। दूसरे श्रीकण्ठ-चरित प्रणेता मंखक रुय्यक को अपना गुरु कहता है (Kane)। वह काश्मीरक नरपति जयसिंह (११२८-४९) का सांधिविग्रहिक था; इसलिये इनसे पूर्व ही तिलक एवं रुय्यक का वैदुष्य-काल रहा होगा। 'काव्य प्रकाश संकेत' में माणिक्यचंद्र (११५८) रुय्यक की ख्याति काश्मीर से गुर्जर तक बताता हुआ संभवतः उनसे २५ वर्ष पहले का बताता है।

कुछ लोग इस निश्चय पर आपत्ति करते हुए कहते हैं कि मंखक कृत श्रीकण्ठ-चरित से कुछ पद्य अलंकार-सर्वस्व में उद्‌धृत हैं; अतः कम-से-कम रचनाकाल

तो अलंकार-सर्वस्व का श्रीकण्ठ से परवर्ती है ही ; पर इसकी अपेक्षा यह क्यों न मान लिया जाय कि मंखक ने परिष्कार करते समय कुछ अपने पद्य उसमें जोड़ दिये होंगे ; इसलिये जयरथ ने सर्वस्वगत पाठभेद विषयक जो आलोचना प्रस्तुत की हैं, वह भी संगत हो जाता है । केरलीय समुद्रबंध ने मंखक को ही वृत्तिकार कहा है । इन सब तर्कों से यह निष्कर्ष निकलता है कि १०७५–११२५ के आस-पास ही तिलक तथा उनके ग्रंथ का काल है ।

काव्यालंकार-सार-संग्रह के विभिन्न संस्करण

१. भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, प्र० सं० १९२५ नारायण वनहट्टी संपादित, नोट्स युक्त इस संस्करण के निर्माण में दो हस्तलेखों की सहायता ली गई है । पहली प्रति डेकन कालेज की लाइब्रेरी से (जो सम्प्रति B. O. R. में मिला ली गई है) उपलब्ध है । इसका नाम है उद्‌भटालंकार-लघुटीका सहित । वस्तुत: यह प्रति जैसलमेर से Dr. G. Buhlar ने प्राप्त की थी [१८७३–७४ की यात्रा में] । प्रतिलिपिकार का नाम है—व्यासगोपीदासात्मज ।

दूसरी प्रति गवर्नमेण्ट मेन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास से मिली है । इसमें इंदुराज से भिन्न टीकाकार हैं । इसके प्रतिलिपिकार हैं—नारायण नम्बूदरीपाद ।

२. काव्यालंकार-सार-संग्रह—संपादक-मंगेश रामकृष्ण तैलंग, निर्णय सागर प्रेस, (लघुवृत्ति युत) १९१५ आदर्श पुस्तक-पुण्य पत्तनस्थ राजकीय पुस्तकालय से प्राप्त ।

३ का० सा० सं०—संपादक—के० एल० रामस्वामी शास्त्री शिरोमणि (विवृति युत) सम्पादित (श्रौत पण्डित) । ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, बड़ौदा १९३१, इसका आदर्श है—केरल मातृका से प्राप्त प्रतिलिपि के बल से ।

प्रस्तुत वृत्ति की प्रतिलिपियाँ उत्तर एवं दक्षिण–दोनों तरफ मिलती हैं । उत्तर से तो (Buhlar) ने प्राप्त ही की है । दक्षिण में इसकी उपलब्धि आश्चर्यकर नहीं है । केरल में अभिनव भारती, वक्रोक्ति जीवित, व्यक्ति-विवेक तथा शृंगार-प्रकाश आदि मिले ही हैं ।

२ यहाँ तक प्रस्तुत कृति के बहिरंग पक्ष का विचार किया गया । सम्प्रति इसके अंतरंग की परीक्षा करने के पूर्व संक्षेप में अलंकार स्वरूप, अन्य शोभादायक धर्मों से अंतर, वर्गीकरण एवं प्रभेद की बात कर लेनी चाहिए । फिर यह देखना चाहिए कि उद्‌भट ने जिन-जिन अलंकारों का विवेचन किया है, उनके स्वरूपगत

ऐतिहासिक विकास का अनुक्रम क्या है? वे अपने पूर्ववर्तियों से कहाँ तक प्रभावित हैं और परवर्ती को कहाँ तक प्रभावित करते हैं।

अलंकार का सामान्य स्वरूप

भरत ने केवल यमक, दीपक, रूपक एवं उपमा के लिये अलंकार शब्द का प्रयोग किया था। भरत से भामह के बीच मेधाविन् आदि आलंकारिकों ने कुछ और संख्या-वृद्धि की। भामह ने अलंकारों को वक्रोक्ति का व्याप्य बनाया। दण्डी ने कहा कि काव्य शोभाकर धर्म अलंकार हैं। संभवतः शब्दार्थालंकार से अलंकार की परिधि का फैलाव यहीं से शुरू होता है। दण्डी ने तो संधि-संध्यंग जैसी चीजों को भी अलंकार के ही भीतर परिगणित किया है। इनके लक्षण से शब्दार्थालंकार मात्र व्यावृत्त रूप का बोध नहीं होता, वरन् अन्यान्य शोभाकर धर्म भी अंतर्भूत हो जाते हैं। उद्भट की कोई परिभाषा प्राप्य नहीं है। यों उद्धरणों से जो ज्ञान होता है वह यह कि ये गुण एवं अलंकार का प्रायः साम्य स्वीकार करते थे और जो लोग गुण एवं अलंकार में यह अंतर मानते थे कि गुण का काव्य से समवाय सम्बन्ध तथा अलंकार का संयोग सम्बन्ध है, उसका खण्डन भी किया गया है। वामन ने पुनः प्रयास किया कि गुण एवं अलंकार में अंतर किया जाय और किया भी; पर इस प्रसंग में यह भी जान लेना चाहिए कि वामन ने अलंकार शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है——सौंदर्य और सौंदर्य-साधन। पहला भावव्युत्पत्ति है और दूसरा करणव्युत्पत्ति। करण व्युत्पत्ति क अलंकार शब्द के भी दो अर्थ हैं—— व्यापक तौर पर अलंकार के अंतर्गत गुण, दोषहान एवं अलंकार तीनों हैं और सीमित रूप में केवल शब्दार्थालंकार। शब्दार्थालंकार का गुण-व्यावृत्त परिचय देते हुए उन्होंने कहा कि गुण काव्य में शोभा पैदा करने वाले मूल एवं अवश्य ग्राह्य धर्म हैं जबकि अलंकार गुणाहित शोभा को बढ़ाने वाले हैं। जिस प्रकार वही नारी अलंकार द्वारा विभूषित की जा सकती है, जिसमें यौवन का गुण पहले से विद्यमान हो; उसी प्रकार अलंकार द्वारा वही कविता विभूषित की जा सकती है, जिसमें पहले से सहज गुणों द्वारा शोभा पैदा की जा चुकी है; परन्तु परवर्ती आलंकारिकों (मम्मट) ने इस परिभाषा की आलोचना की और बताया कि कहीं-कहीं ऐसा भी देखा गया है कि कोई भी काव्य-गुण वहाँ पहले से विद्यमान नहीं है और अलंकार शोभावर्द्धक हो रहे हैं; अतः गुणाहित शोभावर्द्धक शोभाकर धर्म ही अलंकार हैं——यह कहना साधार एवं सयुक्तिक नहीं है। इंदुराज ने भी वामन का ही समर्थन किया है; पर वह मान्य नहीं हुआ।

वस्तुतः अलंकार के सर्वतोव्यावृत्त रूप का सम्यक् परिचय ध्वनिसंप्रदाय का

उद्भत्र हो जाने के बाद मिला। इन लोगों ने अन्य लोगों की भाँति गुण को शब्दार्थ का या संघटना का धर्म नहीं माना, प्रत्युत आत्मभूत रस का धर्म माना। रस से गुण का अव्यभिचरित संबंध स्थापित किया और साथ ही यह बताया कि गुण निरन्तर शोभावह ही होते हैं। जब कि अलंकारों का सम्बन्ध शब्दार्थ रूप काव्य के शरीर से है। ये शरीर से भी अव्यभिचरित सम्वन्ध नहीं रखते। अर्थात् शरीर में कभी रहते भी हैं और कभी नहीं भी रहते। इसके साथ यह भी अंतर जानना चाहिये कि ये अलंकार रहकर भी कभी तटस्थ रह सकते हैं—कभी-कभी उपकारी एवं कभी अपकारी भी हो सकते हैं। गुण में यह बात नहीं है। इस तरह गुण एवं अलंकार का अंतर स्थिर किया गया।

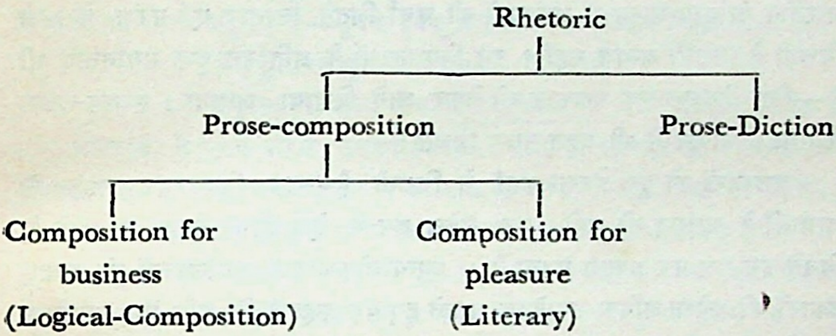
ध्वनिवादियों ने यह भी बताया कि अलंकार तभी अलंकार हैं, जब वे अयत्न-सम्पाद्य हों, सहज संघटित हों। उसका सायास संयोजन उसे साधन रूप में, शोभाकर धर्म-रूप में न रहने देकर कुछ-कुछ साध्य रूप तक पहुँचा देता है और तव वह सौंदर्य साधन रूप अलंकार पद से च्युत हो जाता है। यही नहीं, ध्वनि-वादियों ने तो यह भी बताया कि अलंकार की अलंकारता बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि उसकी योजना सदा अंग रूप में ही रहे; अंगी रूप में कभी न होने पावे। अवसर देखकर उसका ग्रहण हो और यदि अवसर न हो तो गृहीत का भी परित्याग हो जाना चाहिए। किसी भी गृहीत अलंकार को अंत तक निबाह ले जाने के लिये कमर नहीं कस लेना चाहिए नहीं तो रस की धारा भंग हो जाती है।

पश्चिमी विचारक एवं अलंकार (Figure of speech) का रूप :—

"A figure of speech is a deviation from the plain and ordinary way of speaking, for the sake of greater effect." (Rhetoric—By Alexender Bain, Page 135). अर्थात् अलंकार एक विशेष प्रकार की प्रभाव पैदा करने वाली लोकातिक्रांत-वचन-भंगी है। भारतीय आचार्यों ने भी अलंकार के मूलतत्त्व 'वक्रता' अथवा 'अतिशय' की यही परिभाषा दी है। अभिनव गुप्त ने कहा है कि शब्द एवं अर्थ की वक्रता उनकी लोकोत्तर रूप से अवस्थिति ही है। रुय्यक ने भी 'अतिशय' की परिभाषा देते हुए यही कहा है—'कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादतिशयस्तस्य'। कहीं कोई लोक-सामान्य रीति का अतिक्रमण कर जाता है—यही उसका अतिशय है।

पश्चिम में अलंकारों का विचार यों तो Poetics एवं Rhetoric उभयत्र हुआ है; पर मूलतः इसका सम्बन्ध आरंभ में Rhetoric से ही हुआ। Rhetoric का आरंभ में अर्थ था—अपनी वाग्मिता द्वारा जनता को अपने अनुकूल कर लेने

की कला ; पर अब वह कुछ विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। आज Rhetoric से प्रवचन एवं लेखन की सर्वविध कला समझी जाती है। कहा है—Rhetoric means originally and properly the art of pursuation by public-speaking, it is now used more largely to mean the whole art of speach and writing in whatever kind." इसकी विभिन्न शाखाओं का चित्र यों उपस्थित किया जा सकता है—



Composition में Direction अथवा Force कैसे आता है—इसी प्रसंग में Figure of speech की चर्चा आती है।

'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में तो यह भी लिखा है कि महान् वक्ताओं के प्रभाव के कारण सफल भाषण-कला के लक्षणों की खोज आरंभ हुई। विशेषत: अरस्तू के समय से भाषण की कला एवं पद्धति, विद्या की प्रमुख शाखा समझी जाने लगी। वहाँ कहा गया है कि वक्तृत्व-कला में चार बातों का विचार होता है—

(i) मानवीय विवेक को उद्‌बुद्ध करना।

(ii) मानवीय इच्छाशक्ति का उद्‌बोधन।

(iii) शैली—जिसमें Figure of speech भी आते हैं।

(iv) वक्तव्य वस्तु।

Rhetoric का पहले विश्वविद्यालयों में महत्त्वपूर्ण स्थान था, पर प्रेसों की वृद्धि ने इस कला का ह्रास कर दिया और आज यह पढ़ने-पढ़ाने में नहीं है। आज इस विषय पर शायद ही कोई कुछ पढ़ता-लिखता हो।

भारतवर्ष में काव्य-शास्त्र के भीतर अलंकारों की चर्चा हुई। यही कारण है कि यहाँ प्रत्येक अलंकार को 'सुन्दर' होना आवश्यक माना गया, तभी वह काव्योपयोगी समझा गया। Rhetoric के अंतर्गत विचारित अलंकारों में सर्वत्र 'सौंदर्य' का नियंत्रण इसलिए नहीं दिखाई पड़ता कि वहाँ Figure of speech का क्षेत्र

काव्यातिरिक्त भी है। दूसरा अंतर भारतीय एवं यूरोपीय अलंकार-विवेचन में यह है कि भारतीय शास्त्र में शब्द-शक्ति का विवेचन अलग से हुआ है; जब कि वहाँ पर अलंकारों में ही लक्ष्य एवं व्यंग्य अर्थ के समस्त चमत्कार अंतर्निहित हैं। यद्यपि यहाँ भी आक्षेप, समासोक्ति, पर्यायोक्त एवं अप्रस्तुत प्रशंसा आदि में व्यंग्यार्थ का ही चमत्कार है, फिर भी भारतीय साहित्य-शास्त्र में अलग से भी व्यंग्यार्थ की अनन्त विधाओं की चर्चा मिलती है। तीसरा अंतर यह है कि भारतीय साहित्य-शास्त्र में अलंकारों की चर्चा जितने विस्तार एवं संरंभ के साथ मिलती है, उतनी अन्यत्र नहीं। इन विषमताओं के अतिरिक्त कुछ समानताएँ भी हैं—जैसा कि एक-एक अलंकार को लेकर आगे दिखाया जायगा। स्वरूप-लक्षण में तथा विभाजन में भी बहुत साम्य मिलते हैं।

अलंकारों को मूल प्रेरणा कहाँ से मिलती है—इस विषय पर संस्कृत के आचार्यों ने साक्षात् तो नहीं, पर संकेत रूप में ऐसे प्रसंग अवश्य ला दिये हैं, जिनसे इस पक्ष पर प्रकाश पड़ता है। ध्वन्यालोककार ने अर्थालंकारों की शब्दालंकारों की अपेक्षा अधिक उपादेयता बताते हुए यह कहा है कि कवि जब रसाविष्ट दशा में रहता है, तब तदनुरूप व्यंजक पदार्थ सुन्दर-सुन्दरतर एवं सुन्दरतम रूप में काव्यशय्या पर अपने-आप चलते चले आते हैं। जब तक पदार्थ सुन्दर नहीं होंगे, वे रसनिष्पादक या भावोत्तेजक हो कैसे सकेंगे? मतलब यह कि भावोत्तेजन ही वाणी में वैचित्र्य या लोकातिक्रान्त वक्रता का आधान कर देता है। वही उसका मूल प्रेरक तत्त्व है।

यहीं यह प्रश्न खड़ा होता है कि अलंकार का अलंकार्य से क्या संबंध है? भारतीय आचार्यों ने काव्य में तीन प्रकार के अर्थ माने हैं—वस्तु, भाव एवं रस। यदि वस्तु एवं भाव अलंकार्य हैं, तो अलंकार उनके सुन्दरीकरण का साधन। डा० नगेन्द्र ने इस प्रसंग में यह कहा है कि संस्कृत का आचार्य अलंकार और अलंकार्य का पृथक्-पृथक् विवेचन करता है और पश्चिम का प्राचीन अलंकार-शास्त्र भी इससे सहमत है। निस्संदेह पूर्व के आचार्यों ने पृथक् से अलंकारों का विवेचन किया है; परन्तु इस प्रसंग में एक बात ज्यादा ध्यान देकर यह समझने की है कि ध्वन्यालोककार एवं कुंतक ने यहाँ एक स्मरणीय बात कही है। आनन्दवर्द्धन ने तो यह बताया है कि वही अलंकार अलंकार है, जो अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य हो, जिसके लिये अलग से यत्न न किया गया हो अर्थात् रसावेश में उक्ति का सहज अंग बनकर जो व्यक्त हो गया हो—ऊपर से जोड़ा न गया हो—वहाँ माथा-पच्ची न की गई हो, रसात्मक उक्ति का अभिन्न अंग बनकर वह बाहर आ गया हो। किसी आचार्य ने गुण एवं अलंकार का अंतर बताते हुए यह कहा था कि

अलंकार का काव्य से संयोग (अनित्य) संबंध है—अर्थात् दोनों पृथक्-पृथक् हैं—बाद में जुट जाते हैं और गुण के साथ ऐसा नहीं है—इस पर आपत्ति करते हुए उद्भट ने कहा था कि इस प्रकार का भेद लौकिक अलंकार में हो सकता है ; पर काव्यीय अलंकार एवं अलंकार्य में तो कथमपि नहीं हो सकता। यहाँ तो अलंकार अलंकार्य से अभिन्न होकर ही रहेगा। इसी प्रकार कुंतक ने कहा है कि वक्रोक्ति एक अलंकृति है और काव्य उसका अलंकार्य। वस्तुतः समझाने के लिये अलंकृति और अलंकार्य को—जो अपृथक् हैं—पृथक्-पृथक् करके उनका विचार किया जाता है—

अलङ्कृतिरलङ्कार्यादपोद्धृत्य विविच्यते
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ।१।६ वक्रोक्तिजीवित ।

अलंकार्य से पृथक् करके उसका विवेचन किया जाता रहा है। काव्य तो सालंकार ही होता है, उसमें ऊपर से या बाद में अलंकार नहीं लाया जा सकता।

यह तो अवश्य है कि कुछ लोग अलंकार्य को काव्य का शोभाधायक धर्म मानते हैं और कुछ स्वरूपाधायक। पहले पक्ष में तो दोनों का पार्थक्य ही कहना पड़ेगा—दोनों में अनित्य संबंध ही मानना पड़ेगा ; परन्तु जो लोग कर्ण के कवच एवं कुंडल की भाँति इसे काव्य का स्वरूपाधायक धर्म मानते हैं—उनके मत से तो दोनों का अपृथक् संबंध ही स्वीकार करना होगा ; इसलिये यह कहना कि समस्त भारतीय आचार्यों ने व्यावहारिक रूप से तो दोनों का भेद माना ही है ; पर तात्त्विक रूप से भी माना है—ठीक नहीं। स्वयं कुंतक कहते हैं कि तात्त्विक रूप से तो भेद नहीं है ; पर व्यावहारिक दृष्टि से बिना भेद किये समझाया कैसे जाय ? क्रोचे ने तो इस प्रकार के भेद को स्पष्ट अस्वीकार किया है—

"One can ask oneself how an ornament can be joined to expression, Externally ? In that case it must always remain separate. Internally ? In that case either it does form part of it and is not an ornament but a constituent element of expression indistinguishable from the whole."

अर्थात्—अलंकार उक्ति में ऊपर से जोड़ा जा सकता है या भीतर से ? यदि ऊपर से जोड़ा गया, तो वह मूल उक्ति से पृथक् ही बना रहा और यदि भीतर से जोड़ा गया, तो दो स्थितियाँ होंगी—एक अनुरूप न पड़ने से बाधक की और दूसरी अनुरूप पड़ने से साधक की। यदि भीतरी योजना अनुरूप है, तब तो वह उक्ति का ही अभिन्न अंग है—वह एक अखंड उक्ति ही है—उसमें अलंकार एवं अलंकार्य का भेद कैसा ?

आइये, अब अलंकारों के वर्गीकरण पर। वर्ग-वर्ग के रूप में विभाजन तो भामह से ही होता आ रहा है ; पर उस प्रकार के वर्गीकरण से हमारा

तात्पर्य यहाँ नहीं है। हमें तो अनेक विशेष अलंकारों के मूल में निहित कितने सामान्य रूप मिलते हैं—उसे खोज निकालना है। सबसे पहले तो अलंकारों का वर्गीकरण शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं उभयालंकार के रूप में किया गया है। इस प्रसंग में भामह ने कुछ कारिकाएँ लिखी हैं और मम्मट ने वे उद्धृत भी की हैं; जिनमें यह कहा गया है कि एक दल तो ऐसा है, जो केवल शब्दालंकार ही को अलंकार मानता है और दूसरा केवल अर्थालंकार को। केवल शब्दालंकार को अलंकार मानने वालों का तर्क यह है कि काव्य जब श्रुतिगोचर होवा है, तब ये शब्दालंकार ही हैं, जो आकर्षण पैदा करते हैं। फिर अर्थबोध होता है और भावानुभूति हो जाती है। अर्थालंकारों का पता तो लक्षण का अनुसंधान करने पर बाद को होवा है; अतः वे बहिरंग हैं और बहिरंग होने के कारण उपेक्ष्य हैं। केवल अर्थालंकार मानने वालों का यह पक्ष है कि रस के उपकरण हैं विभावादि रूप अर्थ और वे अर्थ रसानुभूति-गत उत्कर्ष लाने में अपने को जिन अलंकारों से सुन्दर बनाते हैं, वे हैं--अर्थालंकार; अतः रस में सीधा उपयोग अर्थालंकारों का ही है, फलतः उन्हें ही अलंकार कहना चाहिए; पर मम्मट आदि आचार्यो ने दोनों को परम्परया रसानुभूति में योग देने से अलंकार मानना चाहा है।

अच्छा अब यह देखना आवश्यक है कि शब्दगत, अर्थगत एवं उभयगत अलंकारों के वर्गीकरण का मूल आधार क्या है? इस विषय पर प्रायः दो आधार उपस्थित किये जाते हैं—आश्रयाश्रयि भाव एवं अन्वयव्यतिरेक। मम्मट ने आश्रयाश्रयि भाव को मूल आधार मानने वालों का खण्डन किया है अर्थात् उन लोगों का खण्डन किया है, जो लोग यह मानते हैं कि शब्दाश्रित अलंकार शब्द-गत एवं अर्थाश्रित अलंकार अर्थगत। खण्डन में तर्क यह दिया है कि शब्द एवं अर्थ का ऐसा अभेद है कि वे काव्य में अकेले रह ही नहीं सकते। काव्यगत शब्द न तो अर्थ शून्य हो सकता है और न वहाँ बिना शब्द के अर्थोपलब्धि हो सकती है। इस हालत में केवल शब्द-गत अलंकार शब्दालंकार एवं केवल अर्थगत अलंकार अर्थालंकार—यह कहने का कोई मतलब ही नही हैं; अतः मानना यही चाहिए कि दोनों (शब्द एवं अर्थ) के रहने पर भी जिसके साथ किसी खास अलंकार-जनित चमत्कार का नियत संबंध हो, उसी के साथ उस अलंकार का संबंध बनाना चाहिये। उदाहरणार्थ--

रावण शिर सरोज वनचारी।
चलि दस सीस शिलीमुख धारी॥

यहाँ 'शिलीमुख' में श्लेष अलंकार का चमत्कार पैदा करने की क्षमता है। पर यदि शिलीमुख का कोई पर्यायवाची शब्द रख दिया जाय (अर्थात् मूल शब्द

को हटा दिया जाय और उसी अर्थ का पर्यायवाची शब्द रख दिया जाय) तो वह चमत्कार नहीं रह पाता। निष्कर्ष यह कि अर्थ तो वह का वही भ्रमर वा बाण शब्द रख देने पर भी बना रह जायगा; पर वह सारा मूल चमत्कार बिगड़ जायगा। इससे फल यह निकला कि इस अलंकार का संबंध उसी खास शब्द से है। जब वही शब्द रहता है, तब वह अलंकार रह पाता है और जब वह शब्द नहीं रह जाता, तब वह अलंकार भी नहीं रह जाता; इसलिये यहाँ यह मानना चाहिए कि यहाँ शब्दालंकार ही है। जहाँ पर्याय का उपन्यास करने पर भी मूल चमत्कार में किसी प्रकार की क्षति न हो, वहाँ अर्थालंकार ही मानना चाहिये।

अलंकारों के मूलाधार का निर्देश तो भामह ने ही कर दिया था और कहा था कि 'वक्रोक्ति' सभी अलंकारों का मूल है। दंडी ने वक्रोक्ति की जगह अतिशयोक्ति का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सभी प्रकार की वक्रोक्तियों में प्रायः श्लेष का संपर्क भी स्वीकार किया है। वामन ने अधिकतर सादृश्य मूलक अलंकारों की ही चर्चा की; अतः उनका आधार यदि उपमा कहा, तो ठीक ही है। सबसे पहले अधिकाधिक अलंकारों के एकाधिक सामान्य (विभाजक) आधारों की चर्चा रुद्रट ने की। उन्होंने समस्त अलंकारों को चार भागों में विभक्त किया—वास्तवमूलक, औपम्यमूलक, श्लेषमूलक एवं अतिशयमूलक।

वास्तव मूलक—

वस्तु स्वरूप कथन ही वास्तव है; पर वह कथन पुष्टार्थक हो, विपरीत न हो, निरुपम हो, अतिशय एवं श्लेष से शून्य हो। इन संकोचक विशेषताओं में से प्रथम दो का ही महत्त्व अधिक है। उपमा, अतिशय एवं श्लेष को वास्तव से भिन्न कहा ही गया है। उनको फिर से यहाँ कहने का कोई अर्थ नहीं। इस वर्ग में सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित एवं एकावली—ये २३ भेद हैं।

औपम्यमूलक

जहाँ वक्ता प्रस्तुत के स्वरूप का सम्यक् प्रतिपादन करने के लिए उसी के समान अप्रस्तुत का कथन करे, वहाँ औपम्य होता है। इस वर्ग में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि २१ अलंकार आते हैं।

अतिशयमूलक

जहाँ अर्थ एवं धर्म का नियत स्वरूप लोक-सामान्य स्वभाव का अतिक्रमण करता हुआ प्रसिद्ध के विरुद्ध विपरीत हो जाय, वहाँ अतिशय होता है। इस वर्ग में पूर्व, विशेष आदि १२ अलंकार होते हैं।

श्लेषमूलक

जहाँ एक ही वाक्य से अनेक अर्थ का निश्चय हो, वहाँ अर्थश्लेष होता है। इस वर्ग में अविशेष एवं विरोध आदि १० भेद होते हैं।

प्रस्तुत वर्गीकरण बहुत प्रशस्त और विचारित तथा ग्राह्य नहीं है। पहला कारण इसमें यह है कि एक वर्ग में जो अलंकार (उत्प्रेक्षा, विरोध आदि) आता है, वही दूसरे में भी आ जाता है। उदाहरण के लिए उत्प्रेक्षा एवं विरोध ही को ले लें, वह 'औपम्य-मूलक' में तो है ही, 'अतिशय मूलक' में भी आता है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि दोनों के लक्षणों में शब्दावली का भेद है और उदाहरण भी भिन्न है, तथापि केवल शब्दावली ही भिन्न जान पड़ती है, वस्तुतः दोनों उदाहरणों के चमत्कार में भेद लक्षित नहीं होता और विच्छित्ति अथवा चमत्कार में भेद न होने पर अलंकार में भेद मानना असंगत है। दूसरा कारण यह भी है कि वास्तव तथा अतिशय इतने व्यापक आधार हैं कि उनके प्रसार में औपम्य एवं श्लेष कम बाधा डालते हुए दिखाई पड़ते हैं।

रुद्रट के अनंतर रुय्यक ने पुनः अपने ढंग से अलंकारों का वर्गीकरण करना चाहा है और उनका वर्गीकरण इस प्रकार है—औपम्यमूलक, विरोधमूलक, शृंखलामूलक, तर्कन्यायमूलक, लोकन्यायमूलक, वाक्यन्यायमूलक, गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक और सांकर्यमूलक। रुय्यक के इन आठ भेदों पर ध्यान न देकर डा० नगेन्द्र ने रीति-काव्य की 'भूमिका' में लोकन्याय, वाक्य-न्याय तथा तर्कन्याय के स्थान पर केवल 'न्याय' का उल्लेख किया है और इस अवान्तर विभाजन को विद्याधर एवं विश्वनाथ की देन माना है। विद्याधर ने इन भेदों का उल्लेख अवश्य किया है और विश्वनाथ ने भी, पर रुय्यक ने नहीं किया है, सो बात नहीं। इसी प्रकार डा० जगदीशनारायण त्रिपाठी ने भी 'आधुनिक हिंदी कविता में अलंकार विधान' शीर्षक प्रबंध में रुय्यक के विभाजित रूपों के बीच अवान्तर वर्गीकरण को छोड़कर केवल 'न्याय' का ही उल्लेख किया है—'संकर' का वह भी नहीं। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपने 'वाङ्मय विमर्श' में वाक्यन्याय, लोक न्याय तथा तर्कन्याय, का उल्लेख रुय्यक के ही नाम पर किया है। 'सकर' को अवश्य अनुल्लेखनीय समझ कर छोड़ दिया है; किंतु इस विवेचन में उनकी यह बहुत बड़ी देन है कि रुय्यक के वर्गीकरण की व्याख्या बड़ी ही स्पष्टता से विभिन्न अलंकारों में घटाते हुए की है। व्याख्या ही नहीं, उन स्थलों पर तो उन्होंने नवीन चमत्कार भी प्रस्तुत किया है—अर्थात् सादृश्यमूलक अलंकारों में यह दिखाया है कि किस प्रकार कभी-कभी उपमान की प्रधानता बढ़ते-बढ़ते उपमेय को 'अतिशयोक्ति' में निगीर्ण कर जाती है और दूसरी ओर उपमेय की प्रधानता बढ़ते-

बढ़ते 'अनन्वय' की स्थिति में उपमेय ही उपमान हो जाता है। आचार्य मिश्र ने अन्य वर्गों के भी स्वरूप को स्पष्ट करते हुए प्रायः प्रत्येक वर्गीय अलंकार की स्थिति स्पष्ट की है। ऐसा निरूपण वही प्रस्तुत कर सकता है जिसने अलंकारों के स्वरूप को पर्याप्त हृदयङ्गम कर लिया हो। इतना तो स्पष्ट ही है कि अन्य आचार्यों द्वारा विवेचित वर्गीकरण की अपेक्षा रुय्यक के इस वर्गीकरण को अधिक पसंद किया गया और उसका विवेचन और उल्लेख भी ज्यादा हुआ।

रुय्यक के अनन्तर प्रतापरुद्रीयकार विद्यानाथ ने अलंकारों के मूल आधारों की चर्चा करते हुए यह कहा कि—

केचित्प्रतीयमानवस्तवः केचित्प्रतीयमानौपम्याः।
केचित्प्रतीयमानरसभावादयः केचिदस्फुटप्रतीयमानाः।

अर्थात् (१) कुछ प्रतीयमान वस्तुमूलक (२) कुछ प्रतीयमान औपम्यमूलक (३) कुछ प्रतीयमान रसभावादिमूलक तथा कुछ स्फुट प्रतीयमानमूलक हैं। पहले वर्ग में समासोक्ति तथा आक्षेप आदि दूसरे वर्ग में रूपक एवं उत्प्रेक्षा आदि तीसरे में रसवत् प्रेय, ऊर्जस्वी आदि और चौथे में उपमा, अर्थान्तर न्यास आदि अलंकारों का समावेश किया जाता है।

इनके वर्गीकरण में यह बात मान ली गई है कि प्रत्येक अलंकार के मूल में व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ रहता ही है और वह चार प्रकार का हो सकता है— वस्तु रूप, औपम्य रूप, स्फुट रस भाव आदि तथा अस्फुट प्रतीयमान। तो इसे यों भी कहा जा सकता है कि अलंकार के मूल में रहने वाला प्रतीयमान अर्थ दो प्रकार का होता है—स्फुट तथा अस्फुट। और स्फुट के भी तीन भेद हैं—वस्तु, औपम्य एवं रस-भाव। ध्वन्यालोककार आनंदवर्द्धन ने भी वह स्थापना दी है कि अलंकार मात्र के मूल में एक अर्थ प्रतीयमान रहता है। पण्डितराज जगन्नाथ का भी यह कहना है कि प्रतीयमान से असंस्पृष्ट रह कर कोई भी अर्थ चमत्कारकारी नहीं हो सकता। यहाँ तक कि समस्त ध्वनिवादी इस चीज को स्वीकार करते हैं। यद्यपि काव्य-प्रकाशकार मम्मट ने यह कह दिया था कि अवर काव्य या चित्र काव्य (शब्दार्थालंकारपरक काव्य) अव्यंग्य या व्यंग्यहीन होता है; पर बाद में उस अव्यंग्यता के अर्थ को व्यंग्य के अभाव से सबद्ध नहीं किया है; बल्कि व्यंग्य की नगण्यता से किया है। निष्कर्ष यह कि 'अव्यंग्य' का अर्थ व्यंग्य का अभाव नहीं—प्रतीयमान का अभाव नहीं, प्रत्युत उसकी नगण्यता ही है। ध्वन्यालोककार ने 'अतिशय' को सर्वत्र व्यंग्य माना है और उसी प्रसंग में यह भी बताया है कि कहीं औपम्य प्रतीयमान होता है—कहीं

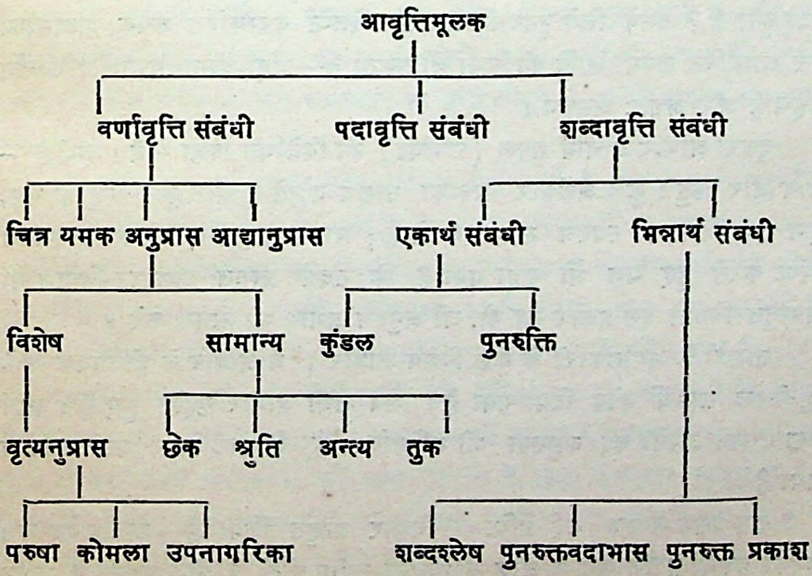
स्वतंत्र वस्तु प्रतीयमान रहती है। कहीं-कहीं नियमतः कोई अलंकार ही व्यंग्य रहता है; जैसे—व्याजस्तुति में प्रेयोलंकार। उपमा एवं दीपक परस्पर एक दूसरे के गर्भ में रहते हैं। इस प्रकार विद्यानाथ के वर्गीकरण पर ध्वनिवाद का ज्यादा प्रभाव लक्षित होता है। आगे चलकर विद्यानाथ ने अर्थालंकारों को नव भागों में विभक्त किया है—१. साधर्म्यमूल २. अध्यवसायमूल ३. विरोधमूल ४. वाक्यन्यायमूल ५. लोकव्यवहारमूल ६. तर्कन्यायमूल ७. श्रृंखलावैचित्र्य ८. अपह्नवमूल ९. विशेषणमूल। इस प्रकार विद्यानाथ के इन द्विविध विभाजनों में से यदि प्रथम पर ध्वन्यालोककार का प्रभाव है तो दूसरे पर कुछ नवीनता के साथ अलंकार सर्वस्वकार का प्रभाव स्पष्ट है।

'एकावली' प्रणेता विद्याधर ने कुछ ऐसे संकेत अवश्य दिये हैं, जिनसे पता चलता है कि वर्गीकरण के लिये अपेक्षित विभिन्न आधारों की चर्चा उन्होंने भी कुछ की है। उनके आधारों की संख्या अब तक के आविष्कृत आधारों की संख्या से कहीं ज्यादा है। वे क्रमशः यों हैं—भेदाभेद-प्रधान, भेद-प्रधान, अभेद-प्रधान, अध्यवसायाश्रय, गम्यौपम्याश्रय, वाक्यार्थगत, विशेषणविच्छित्त्याश्रय, उभयविच्छित्त्याश्रय, विशेष्यविच्छित्त्याश्रय, सामान्यविशेषभाव, प्रतीयमान प्रस्ताव, गम्यत्वविच्छित्ति प्रस्ताव, विशेषगम्यत्व, विरोधगर्भ, श्रृंखलाकार, तर्कन्यायमूल, न्यायमूल, एकानेक वाक्यन्याय, लोकन्यायाश्रय, गूढार्थप्रतीति, अन्योन्याश्लेष—इत्यादि। इसमें से कितने आधार तो इस प्रकार हैं कि उनके एक-एक आधार हैं। बाद के आलंकारिकों तक भी इन आधारों का उल्लेख होता रहा; पर स्वर मंद पड़ता गया। यों तो पण्डितराज जगन्नाथ ने भी यत्र-तत्र सादृश्यगर्भ अलंकारों के भेद-प्रधान, अभेद-प्रधान, भेदाभेद-प्रधान भेदों का निर्देश किया है। श्रृंखलामूलक एवं विरोधमूलक अलंकारों की भी चर्चा की है; पर वह मुखरता परवर्ती संस्कृत के आलंकारिकों में लक्षित नहीं होती।

हिंदी के आलंकारिकों में भी अलंकारों के आधारगत वर्ग स्थापित किये गये हैं। रीतिकालीन आचार्यों ने वर्गीकरण की बारीकी पर एक प्रकार से ध्यान नहीं ही दिया। रीतिकालीन आचार्यों में से केशव ने अलंकार केवल शोभा-साधन को ही नहीं, वर्ण्य विषय को भी कहा है। उन्होंने सामान्यतः इसके दो भेद किये हैं—साधारण और विशिष्ट। साधारण के चार भेद हैं—वर्ण, वर्ण्य, भू-श्री और राजश्री। विशिष्ट के अन्तर्गत स्वभावोक्ति, विभावना आदि ४० अलंकार रखे हैं। सामान्य में वर्ण्य की और विशिष्ट में वर्णन-शैली को अलंकार कहा गया है। चिंतामणि, कुलपति, सोमनाथ ने शब्दार्थगत विभाजन की ही चर्चा की है। भिखारीदास ने अर्थालंकारों को यों रखा है—उपमावर्ग, उत्प्रेक्षावर्ग, व्यतिरेक

वर्ग, अतिशयोक्तिवर्ग, अन्योक्तिवर्ग, विरुद्धवर्ग, उल्लासवर्ग, समवर्ग, सूक्ष्मवर्ग, स्वभावोक्तिवर्ग, यथासंख्यवर्ग, एवं दीपकवर्ग। इधर आधुनिक हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में काम करने वाले कतिपय मनीषियों ने वर्गीकरण के क्षेत्र में अवश्य प्रयास किया है। कन्हैयालाल पोद्दार ने भी रुय्यक वाले वर्गीकरण को ही महत्त्व प्रदान किया है। इतना अवश्य है कि जहाँ रुय्यक ने केवल ६४ अलंकारों की ही चर्चा की थी, वहाँ पोद्दारजी ने १०० अलंकारों की चर्चा की है। सुब्रह्मण्यम् शर्मा ने अलबत्त एक नया प्रयास अर्थालंकारों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया है। उन्होंने समस्त अर्थालंकारों को आठ भागों में विभक्त किया है। वे यों हैं—औपम्यमूल, विरोधमूल, कार्यकारण-सिद्धान्तमूल, न्यायमूल (वाक्य न्याय, लोकन्याय, तर्कन्याय) अपह्नवमूल, शृंखलावैचित्र्यमूल, विशेषण-वैचित्र्यमूल, कवि-समयमूल। कुछ इसी प्रकार का वर्गीकरण 'भाषा-भूषण' की भूमिका में ब्रजरत्नदास ने भी किया है।

वस्तुतः वर्गीकरण पर विचार करने वाले हिंदी के विद्वानों में श्री रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', आचार्य विश्वनाथप्रसादजी मिश्र तथा डा० नगेन्द्र का नाम लिया जा सकता है। डा० रसाल इसलिए उल्लेखनीय हैं कि जहाँ अन्य लोगों ने केवल अर्थालंकार के वर्गीकरण की बात कही थी, वहाँ इन्होंने शब्दालंकारों के भी वर्गीकरण की बात कही है। डा० रसाल का शब्दालंकारों का वर्गीकरण यों है—



रसालजी ने 'वक्रोक्ति' को अन्य आचार्यों की भाँति शब्दालंकार के अंतर्गत

नहीं रखा है। उन्होंने कहा है कि वक्रोक्ति एवं चित्र को वे क्रमशः अर्थालंकार एवं वर्णकौतुकालंकारों के अंतर्गत रखते हैं ; परंतु रसालजी से मेरा इस माने में मतभेद ही है कि वे वक्रोक्ति (श्लेष एवं काकु) में शब्द-सौंदर्य और शब्द-चमत्कार नहीं मानते हैं और इसीलिये शब्दालंकारों से अलग रखते हैं।

पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने पूर्वागत समस्त आचार्यों के वर्गीकरण का बहुत ही उत्तम ढंग से व्यवस्थित उपस्थापन किया है। उन्होंने वर्गीकरण के तीन आधार प्रस्तुत किये हैं--शब्दार्थ, वर्ण्य तथा आधार। शब्दार्थ के आधार पर शब्दगत और अर्थगत या शब्दालंकार तथा अर्थालंकार–ये दो भेद प्रस्तुत किये हैं। इन दोनों में जो पर्याय परिवर्त्तन सह सके, वह अर्थालंकार और जो न सह सके वह शब्दालंकार है। इनके अतिरिक्त एक तीसरा अलंकार वे उभया-लंकार भी मानते हैं। मिश्रजी 'उभयालंकार' में 'उभय' का अर्थ दो मानते हैं। मेरा तो यह कहना है कि यदि 'उभय' का अर्थ 'दो से कम नहीं'—यदि यह माना जाय, तो और भी अच्छा हो, फिर चाहे दो या दो से अधिक अलंकारों का तिल-तण्डुल न्याय से या नीर-क्षीर न्याय से मिश्रण हो, वहाँ उभयालंकार का ही व्यवहार मिश्रजी के मत से होगा ; पर कुछ लोगों का यह भी विचार है कि यदि 'उभय' का अर्थ 'दो' और 'दो' से केवल शब्द एवं अर्थ ही लिये जायँ और इस प्रकार उभयालंकार का अर्थ यदि 'शब्दार्थालंकार' माना जाय, तो क्या बुरा है ? इसके लिये पुनरुक्तवदाभास, श्लिष्ट परम्परित रूपक, शब्दसाम्य पर आधारित उपमा आदि को लिया जा सकता है—जहाँ अंशतः पर्याय परिवर्त्तन सह्य है और अंशतः असह्य।

दूसरा आधार आचार्य शुक्ल (रामचंद्र) की विवेचित दिशा में है। वर्ण्य है--भाव और वस्तु। कुछ अलंकार भाव का उत्कर्ष बढ़ाते हैं और कुछ वस्तु के रूप, गुण तथा क्रिया का स्वरूप स्पष्ट करते हैं ; पर रूप, गुण एवं क्रिया का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह भी कहा गया है कि तदर्थ प्रस्तुत अलंकार-विधान या अप्रस्तुत विधान इस प्रकार का हो, जो अनुरूप प्रभाव भी उत्पन्न करे।

तीसरा है अर्थालंकारों के कुछ विशेष आधार। ये आधार वे ही रुय्यक वाले हैं, केवल 'सांकर्य' छोड़ दिया गया है। शेष सभी आधार गृहीत हुए हैं। इसमें कुछ उनकी अपनी नई व्याख्या भी सम्मिलित है, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है।

इस प्रसंग में एक नई दृष्टि से विचार प्रस्तुत किया है—डॉ॰ नगेंद्र ने। इनका कहना है कि मन के ओज से भावना उद्दीप्त होती है और भावना के उद्दीप्त होने से वाणी उद्दीप्त होती है। वाणी जब उद्दीप्त होती है, तब उसमें एक बाँकपन

आ जाता है। इस प्रकार यदि मन के आवेग का सहज माध्यम है ओज, तो वाणी के आवेग का सहज माध्यम है अतिशयोक्ति। इसी को उन्होंने एक दूसरे प्रकार से भी कहा है कि अलंकार प्रेम का प्रेरक है—आत्मप्रदर्शन और आत्म-प्रदर्शन में अतिशय का तत्त्व वर्त्तमान होता है। भारतीय आचार्यों ने भी अतिशय या वक्रता को अलंकारों का मूल स्वीकार किया है।

अर्थालंकारों के वर्गीकरण के लिये अपेक्षित जहाँ विभिन्न आधारों की बात है, डॉ० साहब का कहना है कि उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये कविगण कभी अभिप्राय की स्पष्टता के निमित्त सादृश्य विधान करते हैं, कभी बात को बढ़ा-चढ़ाकर उससे मनका विस्तार करते हैं, कभी वाह्य वैषम्य आदि का नियोजन करके उसमें आश्चर्य की उद्भावना करते हैं, कभी अनुक्रम या औचित्य की प्रतिष्ठा करके उसकी वृत्तियों को अन्वित करते हैं, कभी बात को घुमा-फिराकर वक्रता के साथ कह कर उसकी जिज्ञासा करते हैं अथवा बुद्धि की करामात दिखाकर मन में कौतूहल उत्पन्न करते हैं। निष्कर्ष यह है कि उसके छः आधार हैं—स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल। इन्हीं के मूर्तरूप हैं साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार (बौद्धिक)। उपमा रूपक से दृष्टान्त अर्थांतरन्यास तक साधर्म्य, अतिशयोक्ति तथा सार एवं उदात्त में अतिशय, विरोध एवं आक्षेप आदि में वैषम्य, कारण माला एवं एकावली आदि में औचित्य एवं पर्याय विहित आदि में वक्रता, और श्लेष, यमक, मुद्रा आदि में बौद्धिक चमत्कार है। यहाँ 'अतिशय' का लम्बी चौड़ी बात करने में, वक्रता को घुमा-फिरा कर बात करने में तथा चमत्कार का बुद्धि कौतुक के अर्थ में प्रयोग समझना चाहिए।

डॉ० नगेंद्र की उपर्युक्त विचारणा में कई ऐसी बातें हैं जिनसे पूर्ण सहमति व्यक्त नहीं की जा सकती। डॉ० साहब ने वाणी में आलंकारिक वक्रता के उभड़ आने का जो मनोवैज्ञानिक क्रम निर्धारित किया है, उसमें तो असहमति की कोई बात नहीं है; परन्तु जहाँ उन्होंने वर्गीकरण, उसके आधार और एक-एक वर्ग में कतिपय अलंकारों की स्थिति की बात कही है, उस पर मतभेद हो सकता है।

पहली आपत्ति तो अन्य वर्गीकरणों की भाँति यह हो सकती है कि जिस प्रकार अन्य लोग वाग्विकल्पात्मक अलंकारों की इयत्ता न मानकर भी परिमित आधारों पर उनके वर्गीकरण की बात सोचते हैं, वही हम डॉ० साहब में भी तब पाते हैं, जब कुल छ आधारों पर ही उसे वर्गीकृत कर सीमित कर देते हैं। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि जितने अलंकारों की चर्चा हुई है, उनमें से प्रमुख को या उन सबको तो ध्यान में रखकर पहले मूल आधार खोज निकाले

जायँ, फिर अनन्त की बात अनन्त (काल) के लिये छोड़ी जा सकती है। अस्तु, यहाँ इस तर्क से सहमत होकर भी इस पर मैं पुनः विचार करूँगा।

सम्प्रति तो यह देखना है कि ये छ आधार मनोवैज्ञानिक होते हुए कहाँ तक यौक्तिक निकर्ष पर खरे हैं? उपमा या रूपक, दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास में वक्ता अपने अभिप्राय को अवश्य ही स्पष्ट करने के लिये अप्रस्तुत का सहारा लेता है; पर जब स्पष्टता का ही मूर्त रूप वे 'साधर्म्य' को कहते हैं और उसके अतर्गत जब अर्थान्तरन्यास को लेते हैं, तभी एक सैद्धांतिक आपत्ति खड़ी होती है। अर्थान्तरन्यास में सामान्य और विशेष अर्थों की योजना होती है। सामान्य और विशेष में भेद ही नहीं होता; वल्कि अभेद होता है और वास्तविक अभेद जहाँ होता है, वहाँ साधर्म्य की संभावना करनी ही ग़लत है। यह कहना कि सामान्य विशेष की समष्टि ही तो है; अतः सामान्य अंततः विशेष पर्यवसायी होकर ही कुछ है और जब इस प्रकार दो विशेष (व्यक्ति) हो गये, तब भेद भी हो गया और भेद-सापेक्ष 'साधर्म्य' की भी स्थापना हो गई; पर ऐसा करने पर दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास का अंतर क्या होगा? दोनों का यही अंतर तो है कि एक में सामान्य से विशेष का और दूसरे में विशेष से विशेष का (तथा सामान्य से सामान्य का) समर्थन करना है। इस प्रकार जरा यह सब कुछ विचारणीय ही है।

दूसरा आधार है—विस्तार। इस विस्तार का मूर्त्त रूप है—अतिशय। अतिशयोक्ति, सार और उदात्त आदि में प्रतीत होने वाले अतिशय का अमूर्त रूप डॉ॰ साहब 'विस्तार' को मानते हैं। अर्थात् मानसिक विस्तार उत्पन्न करने के लिये बात को कुछ बढ़ा चढ़ाकर (अतिशय) अतिशयोक्ति, सार एवं उदात्त आदि अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। डॉ॰ साहब का 'मानसिक विस्तार' से क्या अभिप्राय है? अतिशयोक्ति एवं सार या उदात्त-जैसे अलंकारों के मनन से उत्पन्न मानसिक प्रभाव को ही यदि वे पारिभाषिक रूप में 'विस्तार' कहना चाहते हैं, तो ठीक है; पर इस 'विस्तार' का मूर्त रूप अतिशय जिसका अर्थ उन्होंने बात बढ़ा-चढ़ाकर कहना या लम्बी-चौड़ी बात करना किया है—क्या इतनी ही दूर तक सीमित है? सामान्य 'अतिशय' से इस 'अतिशय' का क्या भेदक तत्त्व है? इस अतिशय को काट-छाँटकर ऐसी प्रकृति स्पष्ट नहीं की गई, जिसकी व्याप्ति इन परिमित अलंकारों तक ही सीमित रखी जाय। निष्कर्ष यह कि इसमें अपेक्षित स्पष्टता नहीं है।

इसी प्रकार 'आश्चर्य' के मूर्त्त रूप 'वैषम्य' की भी स्थिति है, जो 'आक्षेप' नामक अलंकार के मूल में बताया गया है। उस 'वैषम्य' को खींच-तान करके

ही उसमें रखा जा सकता है ; वरना विरोध, विभावना एवं असंगति में निहित रहने वाला 'वैषम्य' अपनी प्रकृति में 'आक्षेप' में तो कतई नहीं है। इसी प्रकार यह कैसा 'औचित्य' है, जो कारणमाला एवं एकावली-जैसे अलंकारों तक ही सीमित है ? 'वक्रता' की बात तो समझ में आती है कि वह सर्वत्र है, तो 'पर्याय' जैसे अलंकार में भी है ; लेकिन वह 'वक्रता' केवल इतना कह देने से कि जहाँ बात को घुमा-फिरा कर कहा जाय वहाँ इस प्रकार की वक्रता होती है-- अपनी प्रकृति को सर्वतोव्यावृत्त रूप में स्पष्ट नहीं कर पाती। यह होना ही चाहिए कि जब आप किसी शब्द में (और खास कर विज्ञान और शास्त्र में) नया अर्थ भरना चाहते हैं, तब उसे इतना स्पष्ट करें कि उसके कारण कोई उलझन न खड़ी हो।

आगे चलकर डॉ० साहब ने यह दिखाना चाहा है कि विभिन्न अलंकार इन मानसिक अवान्तर प्रभावों को उत्पन्न कर (रसात्मक रूप में परिणत होने के लिये) वृत्तियों में संतुलन पैदा करते हैं। वृत्तियों का यही संतुलित रूप ही रसात्मक रूप है। इस मनोविज्ञान संमत आंतर-प्रक्रिया का विशेषज्ञ न होने के कारण न तो वह बात मेरी समझ में पूर्णतः उतर पाती है और न उस पर कोई मीन-मेख करने की मैं हिम्मत ही कर सकता हूँ।

डॉ० जगदीशनारायण त्रिपाठी ने भी 'आधुनिक हिंदी कविता में अलंकार विधान' नामकी पुस्तक में जो अपना मत दिया है, उसमें उन्होंने पाँच आधारों की चर्चा की है। १. सादृश्य मूल। २. विरोध मूल। ३. शृंखलाबद्ध। ४. न्याय मूल। ५. गूढ़ार्थ प्रतीतिमूल। रुय्यक एवं तदनुसारी अन्य आचार्यों के वर्गीकरण पर आक्षेप करते हुए त्रिपाठीजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं और भिन्न-भिन्न वर्ग में भिन्न-भिन्न अलंकारों को अपनी बुद्धि और युक्ति के अनुसार रखते हैं।

त्रिपाठीजी ने परिकर और पर्यायोक्त को भी सादृश्यमूलक अलंकारों में, पता नहीं किस आधार पर रख दिया है। परिकर तो विशेषण विच्छित्ति-सापेक्ष अलंकार है—सादृश्य-सापेक्ष नहीं। रही बात पर्यायोक्त की, वह भी वक्तव्य का एक घुमावदार तरीका है—वहाँ दो (अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत) समानान्तर अर्थ ही नहीं हैं, फिर सादृश्य किसका और किससे ?

दूसरी बात यह भी है कि किया वर्गीकरण अर्थालंकारों का और बीच में घुसा दिया शब्दालंकार भी। गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकारों के बीच 'वक्रोक्ति' नामक शब्दालंकार की गणना क्यों कर दी ? ये सब बातें भी त्रिपाठीजी के वर्गीकरण के संबंध में कही-सुनी जा सकती हैं।

संस्कृत के परवर्ती आचार्यों ने इस पक्ष (वर्गीकरण) पर ज्यादा ध्यान नहीं

दिया। सादृश्य, विरोध, शृंखला आदि कतिपय आधारों की चर्चा स्वयं पण्डित-राज जगन्नाथ ने की है; पर ज्यादा दूर तक नहीं बढ़े। वस्तुतः यदि वर्गीकरण करना ही है, तो कुछ परिगणित अलंकारों को ध्यान में रखकर वर्गीकरण करने की अपेक्षा कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर वह किया जाय, तो वह कुछ दूर तक संभव और उपयुक्त हो सकता है। उदाहरणार्थ—ध्वन्यालोककार आनंद-वर्द्धन का प्रयास ले लें और आचार्य शुक्ल को ले लें।

कुछ अलंकार रस या भाव का उत्कर्ष करने के लिये आते हैं। कुछ (नीरस-स्थल में) वक्तव्य वस्तु का (सौंदर्यानुरूप) स्वरूप बोध कराने के लिये आते हैं और कुछ अलंकार चमत्कार मात्र पैदा करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। अर्थालंकारों का स्वरूपबोध तथा भावोत्कर्ष से अधिक संबंध है—जैसा कि शुक्लजी ने भी कहा है। शब्दालंकारों में कुछ दूर तक अनुप्रास को छोड़कर शेष सभी एक बौद्धिक चमत्कार मात्र क्षण भर के लिये पैदा करते हैं। ध्वन्यालोककार के व्यापक सिद्धान्त को भी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इससे ज्यादा इस विषय में मैं यहाँ कहना नहीं चाहता।

मेरा विचार तो इस वर्गीकरण के संबंध में यह है कि जब आचार्यों ने वाग्विकल्प का आनंत्य माना है अर्थात् अलंकारों की कोई सीमा नहीं मानी और इस तरह जब तक जिनका वर्गीकरण करना है—वे ही पूरी तरह से मस्तिष्क में नहीं आते—तो उनके वर्गीकरण की एक सुनिश्चित रूप-रेखा किस प्रकार तैयार की जा सकती है? कदाचित् इसीलिये कतिपय साहित्य के धुरंधर आचार्यों ने भी इस ओर दृष्टिपात नहीं किया।

मूल ग्रंथ और उसका अलंकार-विवेचन

१. पुनरुक्तवदाभास—भरत नाट्यशास्त्र में इस अलंकार का विवेचन नहीं हुआ है। भामह एवं दण्डी ने भी इस अलंकार का उल्लेख नहीं किया। इसका अर्थ यह हुआ कि भामह ने पूर्व-प्रख्यात जिन आलंकारिकों के द्वारा उद्भावित विभिन्न वर्गों में विभिन्न अलंकारों का नामोल्लेख किया है, वहाँ जब पुनरुक्त-वदाभास नहीं है, तो यह उद्भट का ही नवाविष्कृत सर्वथा अपना अलंकार है। वामन संभवतः समसामयिक होने के कारण ईर्ष्यावश उसे स्वीकार न कर सके हों। उद्भट ने नामोद्देश-स्थल में इसे 'पुनरुक्तवदाभास' कहा है, पर जहाँ लक्षण लिखते हैं, वहाँ वे 'पुनरुक्ताभास' नाम देते हैं। कहने का मतलब यह कि इस अलंकार की दो संज्ञाएँ हैं—पुनरुक्तवदाभास तथा पुनरुक्ताभास।

इंदुराज ने उद्भट-द्वारा लक्षित पुनरुक्ताभास के लक्षण को स्पष्ट करते हुए

यह बताया है कि इसमें दो पद इस प्रकार के प्रयुक्त रहते हैं, जिनमें समानार्थकता का आभास मिलता है; पर वस्तुतः वे समानार्थक नहीं प्रतीत होते। उदाहरणार्थ—"शितिकण्ठः कालगलत्" में 'शितिकण्ठ' एवं 'कालगल' शब्द समानार्थक प्रतीत होते हैं—पुनरुक्तता का आभास वहाँ मिलता है; पर वह आभास ही है, वास्तव नहीं।

'विवृति' कार ने इंदुराज की तरह यथाक्षर व्याख्यान नहीं किया है, बल्कि मूल लक्षण का परिष्कारपूर्वक विचार किया है। उद्भट ने इस अलंकार को 'वाचामलंकार' के मध्य परिगणित किया है। इंदुराज ने इसे स्पष्टतः शब्दालंकार कहा; पर 'विवृति' कार ने अर्वाचीन आलंकारिकों के अनुरूप 'वाचां' का अर्थ व्युत्पत्तिभेद से शब्द एवं अर्थ—दोनों किया और अर्वाचीनों की भाँति इसे उभयालंकार सिद्ध किया। 'उद्भट' की पदावली इस प्रकार श्लिष्ट है कि 'वाचाम्' को केवल शब्दपरक रखकर केवल शब्दालंकार भी कहा जा सकता है और शब्दार्थपरक रखकर उभयालंकार भी कहा जा सकता है।

वामन तो वामन, रुद्रट ने भी इस नाम के अलंकार को लक्षित नहीं किया। मम्मट ने इसका लक्षण यों किया—पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकार शब्दगा।
एकार्थतेव ॥९।८६

मम्मट ने उद्भट के लक्षण को ज्यों-का-त्यों नहीं लिया। विवृतिकार ने एक आपत्ति खड़ी की थी कि उद्भट प्रणीत लक्षण के अंतर्गत प्रयुक्त 'भिन्न पद' शब्द ठीक नहीं है। उदाहरण में उसकी संगति नहीं बैठती। उदाहरण में जो भिन्न पद हैं—'शितिकण्ठः' तथा 'कालगलत्'—वे अभिन्नार्थक नहीं हैं और जो अभिन्नार्थक हैं 'शितिकण्ठः' तथा 'कालगल' वे भिन्न पद नहीं हैं। पद तो पूरा है 'कालगलत्' न कि 'कालगल'। इसलिये उद्भट ने जो 'पद' शब्द का प्रयोग किया है, वह ठीक नहीं है। इसीलिये मम्मट ने 'पद' की जगह 'शब्द' रख दिया और इस शब्द के प्रयोग से फिर कोई आपत्ति नहीं खड़ी होती।

'भिन्नवस्त्विवोद्भासि' से भी कहीं अधिक सुस्पष्टता है—'एकार्थतेव' में।

मम्मट ने भी मोटे तौर पर इसे शब्दालंकार में ही परिगणित किया है।

अलंकार-सर्वस्वकार ने इसका लक्षण किया—'आमुखावभासमानम् पुनरुक्तवदाभासः'—इस संक्षिप्त लक्षण का मूल मम्मट की 'पुनरुक्तवदाभास' की यह वृत्ति जान पड़ती है—'भिन्नरूपसार्थकानर्थकरूपनिष्ठमेकार्थत्वेन मुखे भासनं पुनरुक्तवदाभासः' यहाँ का 'मुखे भासनं' ही रुय्यक का 'आमुखावभासनम्' हो गया है। रुय्यक ने अब इस अलंकार को इतना प्रख्यात मान लिया कि सांकेतिक लक्षण

ही पर्याप्त माना गया। यद्यपि इस लक्षण का पर्यालोचन किया जाय, तो किसी-न-किसी प्रकार समस्त स्वरूप आ जायगा ; पर है यह अत्यंत संक्षिप्त परिभाषा। रुय्यक ने इसके साथ एक चमत्कार और खड़ा किया। उन्होंने यह बताया कि पौनरुक्त्य तीन प्रकार का होता है--अर्थपौनरुक्त्य २. शब्द पौनरुक्त्य ३. शब्दार्थ पौनरुक्त्य। अर्थ पौनरुक्त्य भी दो प्रकार से संभव है---वास्तव एवं आभासमान। यदि वह वास्तव है, तब तो दोष है, पर यदि वह आभासमान है और चारु है, तो अलंकार है। अनुप्रास में शब्द पौनरुक्त्य आयगा और लाट में उभयगत पौनरुक्त्य आयगा। इनका कहना यह है कि इस अलंकार में अर्थगत या अर्थाश्रित पौनरुक्त्य है ; अतः इसे शब्दालंकार या उभयालंकार न कहकर अर्थालंकार कहना चाहिए। कहा है--"अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्वार्थालंकारत्वं ज्ञेयम्।" उद्भट ने इसे शब्दालंकार ही रखा और अंत तक लोगों ने इसे शब्दालंकार में तो अवश्य ही रखा---उभयालंकार भी कह लें, यह दूसरी बात है।

साहित्य-दर्पणकार का कहना है कि पुनरुक्तवदाभास है तो शब्दार्थोभयालंकार-परंतु चिरंतन आलंकारिकों ने चूँकि इसे शब्दालंकार ही कहा है ; इसलिये शब्दालंकार के प्रसंग में पहले इसे ही उपस्थित किया जा रहा है। इसका लक्षण इस प्रकार है--

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम्।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः॥

अर्थात्---जहाँ अर्थ का आपाततः पौनरुक्त्य भिन्नाकार शब्दों से भासित हो, वहाँ पुनरुक्तवदाभास नामक अलंकार होता है। साहित्य-दर्पणकार के लक्षण में मम्मट की-सी चुस्ती तो नहीं ही है। आपाततः प्रतीत होना तथा 'भासन' करीब-करीब समानार्थक शब्द ही हैं। हाँ, यह है कि इनका लक्षण ही उदाहरण भी हो, तो ठीक है।

चंद्रालोककार ने इसे 'पुनरुक्त प्रतीकाश' नाम दिया है और पुनरुक्तार्थ सन्निभ उसका लक्षण बताया है।

पण्डितराज ने उद्‌भटाविष्कृत प्रस्तुत अलंकार की चर्चा ही नहीं की है। इसी की क्या, उन्होंने तो समस्त शब्दालंकारों की उपेक्षा की है। 'साहित्यसार' के प्रेणता अच्युतराय ने भी इस अलंकार को परिभाषित नहीं किया। इन्होंने तो छेक, लाट, यमक की चर्चा करते हुए भी इसे छोड़ दिया। अप्पय दीक्षित की दोनों कृतियों---कुवलयानंद तथा चित्र मीमांसा---में शब्दालंकार का उल्लेख नहीं है। निष्कर्ष यह कि उद्‌भटाविष्कृत इस अलंकार की अंत तक मान्यता हलकी पड़ती ही दिखाई पडती है।

पुनरुक्तवदाभास का कुछ साम्य लाट एवं यमक से हो सकता है; पर 'लाट' में जहाँ समानाकार शब्द होते हैं, वहाँ इसमें विभिन्नाकार। यमक में समानाकार शब्द होते हैं और यहाँ विभिन्नाकार। इसके अतिरिक्त जहाँ पुनरुक्तवदाभास में समानार्थता का आभास मात्र रहता है, वहाँ लाट में वस्तुतः समानार्थकता रहती है; हाँ, इतना अवश्य है कि उस पौनरुक्त्य का निवारण अन्वय-भेद-द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इसी प्रकार यमक से, अर्थ की दृष्टि से तो इसका स्पष्ट अंतर है कि यमक में समानाकार शब्दों में समानार्थकता बिलकुल नहीं रहती, जबकि यहाँ समानार्थकता की आपाततः प्रतीति होती है।

इस प्रकार उद्भट के इस आविष्कृत अलंकार का यह इतिहास है।

यहाँ पर टीकाकार इंदुराज ने एक अवसरोचित प्रश्न उठाया है कि यदि पुनरुक्तवदाभास अलंकार है, तो अलंकार्य क्या है? अलंकारवादी प्रतीहारेंदुराज का यह प्रश्न विचारणीय है कि यहाँ अलंकार्य क्या है? स्वयं उनका उत्तर है—"अत्रालंकार्यं यत्काव्यं तद्धर्मत्वेन पुनरुक्तवदाभासमानयोः पदयोरलंकारत्वमुक्तं न तु स्वतंत्रतया।" यहाँ अलंकार्य है—काव्य; और उसका अलंकार है—पुनरुक्तवदाभासमान पद। पर अलंकार का अलंकार्य काव्य होता है—इससे रसवादी, एवं ध्वनिवादी आचार्य तो संतुष्ट नहीं ही हैं।

छेकानुप्रास—

उद्भट का यह दूसरा अलंकार है। पूर्वोक्त अलंकार की भाँति यह अलंकार भी उद्भट ही में भामह तथा दण्डी के बाद पहले-पहल उपलब्ध होता है। आगे के आलंकारिकों ने 'अनुप्रास' के अंतर्गत ही छेकानुप्रास को एक भेद के रूप में रखा है। पर उद्भट ने 'अनुप्रास' के पहले ही 'छेकानुप्रास' को रखा है। हो सकता है, इसका कारण 'कुमार संभव' (स्वरचित) के उदाहरणों का क्रम हो। अनुप्रास के उदाहरणों से पूर्व ही 'छेक' का उदाहरण क्रम में पड़ता हो। लेकिन, यह उत्तर बहुत वजनदार नहीं है। पहला कारण यह है कि स्वयं उन्होंने 'अनुप्रासास्त्रिधा'—कहकर अनुप्रास के भेदों को नियमित कर दिया। जहाँ तक टीकाकार इंदुराज का संबंध है, उन्होंने भी इसे छेकों (विदग्धों) का अनुप्रास ही कहा है। निष्कर्ष यह है कि यह क्रम कुछ ठीक नहीं जान पड़ता। संभव है, उदाहरण-क्रम के अनुरोध से अलंकारों का क्रम रखा हो, जैसा कि ऊपर कहा गया है, तो ठीक है।

इन्होंने, जैसा कि टीकाकार की सहायता से स्पष्ट होता है—छेकानुप्रास का स्वरूप यह माना है कि जहाँ दो-दो स्वर-व्यंजन समष्टियों की सुसदृश उक्ति हो, वहां यह अलंकार होता है; अर्थात् यहाँ एक नहीं, प्रत्युत सदृशोक्ति के अनेक

युग्मक या जोड़े हों, केवल एक ही सदृशोक्ति सम्पन्न जोड़ा न हो। भिन्न युग्मों के वर्णसाम्य (स्वर एवं व्यंजन साम्य) में आनुपूर्वी का साम्य नहीं अपेक्षित है— यदि कहीं अनेक सदृश वर्णों के जोड़े में आनुपूर्वी भी एक हो गई, तो अर्थ-भेद होने पर यमक से इसका अंतर ही नहीं रह जायगा। यदि कहीं अर्थभेद हुआ, या उसकी आशंका मात्र हुई, तो लाट तथा पुनरुक्तवदाभास से अंतर नहीं रह जायगा। 'सुसदृशोक्ति में सुष्ठु सादृश्य का क्या अर्थ लेना चाहिए? टीकाकार तो यही कह रहे हैं—उन युग्मकों में कतिपय युग्मकों का ही सुसदृश होना आवश्यक है, सबका नहीं; पर यह स्पष्ट नहीं किया कि उस 'सुसादृश्य' का अर्थ क्या किया जाय? केवल व्यंजन सादृश्य या स्वर-व्यंजन-सादृश्य या आनुपूर्वी सहित स्वर-व्यंजन-सादृश्य। मूलकार ने इस विषय पर कुछ कहा नहीं, टीकाकार ने थोड़ा प्रयास अवश्य किया; पर उनसे भी इन तीनों विकल्पों में से किसी का समाधान नहीं मिलता। हाँ, इनके उदाहरण द्वारा कुछ समाधान का रास्ता अवश्य मिलता है। उदाहरण यों है—

स देवो दिवसान्निन्ये तस्मिन्न्शैलेंद्र कंदरे।
गरिष्ठगोष्ठीप्रथमैः प्रमथैः पर्युपासितः॥

उदाहरण में छेकानुप्रासोपयोगी युग्मक हैं—सदेव दिवस, इन्द्र कन्दर, गरिष्ठ गोष्ठी, प्रथम प्रमथ इत्यादि। इन उदाहरणों से तो ऐसा लगता है कि एक युग्मक के दोनों अवयवों में व्यंजन-सादृश्य भर अनिवार्य रूप से आवश्यक है, उसमें स्वर-सादृश्य तथा आनुपूर्वी की एकता अपेक्षित नहीं है। अच्छा, कहीं, कदाचित् आनुपूर्वी एवं स्वर का भी साम्य हो गया, तो वहाँ और लोगों के मत से यमक हो सकता है; पर इन्होंने तो यमक माना नहीं, अतः क्या उस स्थिति को भी छेक का ही क्षेत्र मानना चाहिए? 'यमक' के संबंध में जो इन्होंने अभावात्मक रूप लिया, या मौन ग्रहण किया, उसका अर्थ क्या होना चाहिए? यहाँ मौन का अर्थ यही लेना चाहिए कि छेक का प्रवेश वहाँ तक हो। कारण भी इसमें है और वह यह कि 'छेक' का लक्षण वहाँ तक चला जाता है। हाँ, लाटानुप्रास इन्होंने स्वीकार किया है, अतः जहाँ स्वर-साम्य एवं आनुपूर्वी साम्य के साथ-साथ अर्थ-साम्य भी हो जाय, उसे छेक की परिधि से बहिर्भूत समझना चाहिए।

भरत ने केवल चार ही अलंकारों की चर्चा की—उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि उद्भट ने अनुप्रास की तो जमकर चर्चा की; पर यमक की उपेक्षा की। जबकि भरत ने अनुप्रास की उपेक्षा की और यमक की अपेक्षा। प्राचीनों में कदाचित् यही एक ऐसे आलंकारिक हैं, जिन्होंने यमक की चर्चा नहीं की। दण्डी ने भी अनुप्रास पर बल दिया है और यमक को

उतना महत्त्वपूर्ण नहीं बताया। वामन ने भी यमक की प्रशस्त रूप से चर्चा की है। रुद्रट ने तो यमक पर एक अध्याय ही और लगा दिया है। मम्मट ने भी यमक के प्रभेदों को काव्य का अंतर्भूत बताया। साम्प्रतिक अथवा परवर्ती आलंकारिकों ने दोनों का समान महत्त्व बताया है।

भामह, दण्डी एवं वामन ने छेकानुप्रास की कोई चर्चा नहीं की। इनके बीच उद्भट ही ऐसे आलंकारिक हैं जिन्होंने छेकानुप्रास की चर्चा की है। उद्भट के अनंतर आने वाले आचार्यों में से रुद्रट ने भी अनुप्रास के प्रसंग में इसका उल्लेख नहीं किया। अग्निपुराण वाले अलंकार-विवेचन के खंड में भी इसका पता नहीं लगता। उद्भट के अनंतर लगता है कि मम्मट ने ही फिर इसकी चर्चा की। मम्मट ने इसका स्वरूप यों दिया है—

वर्णसाम्यमनुप्रासः छेकवृत्तिगतो द्विधा।
सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः, एकस्याप्यसकृत्परः॥

मम्मट में किसी पूर्व विवेचित वस्तु को व्यवस्थित रूप देने की अद्भुत क्षमता है। उद्भट ने जहाँ अनुप्रास-विवेचन के पूर्व ही छेकानुप्रास को रखा है, वहाँ मम्मट ने अनुप्रास की सामान्य परिभाषा दी है और फिर उसके दो भेद किये हैं—छेक तथा वृत्ति। उद्भट से इन्होंने छेक के स्वरूप में कुछ परिष्कार भी किया। उद्भट ने यह कहा था कि कई युग्मकों में वर्णों की सदृशोक्ति होने पर छेक होता है। इन्होंने कई युग्मकों की बात तो नहीं कही, पर अनेक वर्णों की सकृत् आवृत्ति से सम्पन्न यदि अनेक युग्मक मिलें, तो उनका निषेध भी नहीं किया। हाँ, यह अवश्य स्पष्ट किया कि विभिन्न युग्मकों में अनेक वर्णों की एक-सी आवृत्ति न हो। यदि अनेक वर्णों की एक की जगह अनेक बार समान रूप से आवृत्ति हुई, तो वहाँ वृत्ति अनुप्रास हो जायगा। इस प्रकार मम्मट ने एक तो स्पष्ट रूप से उसे अनुप्रास के भीतर लिया। वैसे कहने को उद्भट ने भी 'छेक' को अनुप्रास ही कहा है; पर मम्मट का ढंग ज्यादा निश्चयात्मक है। मम्मट ने भी 'अनेक की एक बार आवृत्ति' की बात करते हुए यह नहीं बताया कि अनेक की एक बार आवृत्ति करने में क्रम भी वही हो या नहीं। वही उद्भट वाली कमी इनमें भी है। [इनके टीकाकार वामन का कहना है कि अनुप्रास दो प्रकार के होते हैं—निरर्थक वर्णानुप्रास एवं सार्थक वर्णानुप्रास। निरर्थक वर्णानुप्रास के भी दो प्रभेद होते हैं। छेक तथा वृत्ति।] पर इन्होंने जो उदाहरण दिया है, उसमें अनेक निरर्थक वर्णों की एक बार जो आवृत्ति है, वहाँ आनुपूर्वी भी एक है। स्वर साम्य पर तो स्पष्ट ही उन्होंने बल नहीं दिया, वैसे हो जाय, तो निषेध भी नहीं किया है।

उदाहरण है—ततोऽरुणपरिस्पंद मंदीकृतवपुः शशी।
दध्रे काम परिक्षाम कामिनीगण्डपाण्डुताम्।।

इसमें 'स्पंद-मंद' 'गण्ड-पाण्डु'—ये उदाहरण हैं। यहाँ पहले में व्यंजन तथा स्वर में आनुपूर्वीगत साम्य है। दूसरे में स्वर-वैषम्य तो है ; पर आनुपूर्वी वैषम्य नहीं है। अग्निपुराण में जो शब्दालंकार गिनाये गये हैं, उनमें इसका कोई स्थान नहीं है।

अलंकार-सर्वस्वकार रुय्यक ने इसकी परिभाषा यों दी है—"संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः" इसकी वृत्ति यों है—"द्वयोर्व्यञ्जनसमुदाययोः परस्परमनेकधा सादृश्यं संख्या-नियमः"। इनके टीकाकार जयरथ का कहना है कि यद्यपि इस अलंकार को अन्य लोगों ने अनुप्रास के ही अन्तर्गत समाविष्ट किया है, तथापि उद्भट के मत के अनुरोध से रुय्यक ने इसका अलग से लक्षण दिया है। उद्भट के लक्षण में जहाँ 'द्वयोर्द्वयोः' है, वहाँ इनके लक्षण में उसी अर्थ को ध्यान में रख कर कहा गया है—'संख्या नियमे'। संख्या-नियम का अर्थ यही है कि यदि दो ही व्यंजन-समष्टियों में अनेकधा सादृश्य हो, तभी छेकानुप्रास होता है। दो की जगह यदि तीन-तीन समुदायों में साम्य होने लगे, तो वहाँ उक्त संख्या (दो) का नियम न होने से यह अलंकार न हो पायगा।

हेमचन्द्र ने इस अलंकार को पृथक् से निरूपित नहीं किया है। अनुप्रास की परिभाषा देने के वाद इन्होंने उसके तीन भेद बताये—एक की अनेक बार, अनेक की एक बार तथा अनेक की अनेक बार। दूसरा भेद ही औरों की दृष्टि में छेकानुप्रास है।

चन्द्रालोककार पीयूषवर्ष जयदेव ने इस अलंकार की परिभाषा यों दी है—

स्वरव्यंजन-संदोहव्यूहा मंदोहदोहदा।
गौर्जगज्जाग्रदुत्सेका छेकानुप्रासभासुरा।।

अर्थात्—स्वर-व्यंजन समुदाय की जहाँ एक बार आवृत्ति हो, वहाँ छेकानुप्रास होता है। इस परिभाषा में उतनी स्पष्टता नहीं है, जितनी होनी चाहिए।

कविराज विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में इसकी परिभाषा यों दी है—

'छेको व्यंजनसंघस्य सकृत्साम्यमनेकधा'

अर्थात्—व्यंजन-समुदाय का जहाँ अनेकधा साम्य हो। इसमें मम्मट तथा रुय्यक के लक्षणों का सहारा लिया गया जान पड़ता है। 'व्यंजनसंघस्य सकृत्' तो 'अनेकस्य सकृत्' की जगह प्रयुक्त है और रुय्यक से 'अनेकधा' ले लिया गया है। इस प्रकार इनका लक्षण सम्पन्न हुआ है। कविराज विश्वनाथ की, अन्य सब की अपेक्षा एक नई बात स्पष्ट रूप से यह है कि इन्होंने छेकानुप्रास के संबंध में वह

बात कही, जो और किसी ने नहीं कहीं थी; और वह है उनका 'अनेकधा' शब्द। यद्यपि इस 'अनेकधा' शब्द का प्रयोग रुय्यक ही ने कर दिया था; पर उस 'अनेकधा' का अर्थ क्या है—यह उन्होंने नहीं बताया। इनके टीकाकार जयरथ ने 'अनेकधा' का कुछ अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया; परन्तु उससे सर्वथा स्पष्ट अर्थ विश्वनाथ ने किया। विश्वनाथ ने 'अनेकधा' का अर्थ अनेक प्रकार (से सादृश्य) कहा। अनेक प्रकार का मतलब यह कि सादृश्य स्वरूपतः भी हो और क्रमतः भी। उन्होंने यह भी कहा कि यदि 'रसः सरः' हो गया, तो क्रम-भेद होने के कारण यहाँ छेकानुप्रास तो नहीं होगा। उद्भट तथा उनके टीका-कार प्रतीहारेंदुराज, दोनों ने 'सदेवदिवस', को छेकानुप्रास का उदाहरण माना है। आगे चल कर उद्भट के छेकानुप्रास के स्वरूप में इस प्रकार का परिवर्तन हुआ। बीच के मम्मट आदि आलंकारिकों ने उदाहरण तो अवश्य दिया; पर उसके सैद्धांतिक पक्ष को उतना स्पष्ट नहीं किया। परवर्ती आलंकारिकों में कोई खास बात लक्षित नहीं होती।

जहाँ तक 'छेकानुप्रास'—इस संज्ञा—का संबंध है, स्वयं प्रतीहारेंदुराज ने विचार किया है और इस शब्द का कई दृष्टियों से प्रकरणोपयोगी अर्थ निकाला है। उनका कहना है कि 'छेक' शब्द के अनेक अर्थ हैं—गृहासक्त अण्डज तथा मृग एवं विदग्ध। पहला अर्थ यह है कि अन्य लोगों से अनायासित अपने-अपने नीड़ में बैठे हुए पक्षीगण इसी अनुप्रास की तरह मधुर वाणी का उच्चारण करते हैं, इसीलिये यह अनुप्रास छेकानुप्रास कहा जाता है। दूसरे लोग छेकानुप्रास का अर्थ यह करते हैं कि जिस प्रकार नीड़स्थ पक्षी सायं-प्रातः—दो बार सदृश भाषित करते हैं, इसी प्रकार यहाँ भी दो भाषित खंडों का साम्य रहता है; इसलिये इसे छेकानुप्रास कहते हैं। छेकानुप्रास का एक अतिरिक्त अर्थ यह भी है—छेक=विदग्ध (का) अनुप्रास—विदग्धों द्वारा प्रयुक्त अनुप्रास।

अनुप्रास—

यह एक ऐसा अलंकार है, जिस पर कदाचित् भरत से लेकर आज तक अलंकार पर लिखने वाला कोई ही ऐसा आलंकारिक हो, जिसने कुछ न लिखा हो। उद्भट ने तो इसका सामान्य स्वरूप बताया; पर पहले उसके तीन प्रभेद कह लिये। उनके मतानुसार अनुप्रास का लक्षण यों है—

सरूपव्यंजनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा॥

ग्राम्या, परुषा एवं उपनागरिका—इन तीनों वृत्तियों में यथासंभव रस आदि

की अभिव्यक्ति के अनुरूप वर्ण प्रयोग में जो समान वर्णों का पृथक्-पृथक् उपनिबंध होता है, उस अनुप्रास की छवि की कवि सदा इच्छा करता है। 'वृत्ति' का अर्थ किया गया—रस आदि की अभिव्यक्ति के अनुगुण वर्णों का व्यवहार।

इनके अनुसार परुषा में श, स, रेफ संयोग तथा ट वर्ग ङ्ग, ह्ल एवं घ्र-जैसे वर्णों की असकृत् आवृत्ति रहती है। उपनागरिका में समानरूप वाले वर्णों का संयोग तथा वर्गीय अन्त्याक्षर से युक्त स्पर्शवर्ण का प्रयोग होता है। ग्राम्या में उक्त दोनों वृत्तियों से अवशिष्ट लादि वर्णों का उपयोग होता है।

भामह ने 'सरूप-वर्ण-विन्यास' को अनुप्रास बताया और उसके दो ही भेद बताये—ग्राम्यानुप्रास एवं लाटीयानुप्रास, यह भी दूसरों के नाम पर। अन्य लोगों ने ये दो भेद बताये हैं—दण्डी ने 'पादगत या पदगत वर्णावृत्ति'' को अनुप्रास कहा और शर्त यह लगाई कि यह आवृत्ति बहुत व्यवहित न हो। इन्होंने प्रभेद-पक्ष से कोई विचार नहीं किया। वामन ने 'शेषः सरूपोऽनुप्रासः' कहा है अर्थात् बताया है कि एकार्थक अथवा अनेकार्थक पद तथा अक्षर की अनियत स्थान रूप से जहाँ आवृत्ति हो, तो वहाँ अनुप्रास होता है। वे मानते हैं कि यह आवृत्ति पूर्व प्रयुक्त वर्णों से साम्य रखती हो। वे अनुल्बण अनुप्रास को श्रेयस्कर मानते हैं, उल्बण को नहीं। अक्षरानुप्रास के अन्य लोगों ने जो छेकानुप्रास तथा वृत्ति अनुप्रास—दो भेद स्वीकार किये हैं, उन भेदों का नाम वामन ने नहीं लिया। वृत्ति अनुप्रास का उदाहरण तो दिया है; पर वृत्ति के भेदों की चर्चा नहीं की। उल्बण अनुप्रास अर्थात् परुषा वृत्ति को महत्त्व नहीं दिया; लेकिन यह ठीक नहीं है। अवसर-विशेष पर यह अनुप्रास भी उपयोगी हो सकता है। पादानुप्रास (जिसकी इन्होंने चर्चा की है) औरों का लाटानुप्रास ही है। यद्यपि वामन ने जो उदाहरण पादानुप्रास का प्रस्तुत किया है, वह उदाहरण की दृष्टि से तो अवश्य लाटानुप्रास का है, परंतु पादानुप्रास का जो लक्षण किया गया है। वह लक्षण लाटानुप्रास पर नहीं घटता। लक्षण में कहा गया है कि पद चाहे एकार्थक हों या अनेकार्थक। लाट में अनेकार्थक पदों की आवृत्ति नहीं होती, बल्कि एकार्थक पदों की आवृत्ति होती है, भले ही अन्वयवश उनमें भेद आ जाय। दूसरे, लाटानुप्रास में नियत स्थान भी होता है, जब कि यहाँ नियमतः स्थान का नैयत्य नहीं होना चाहिये।

रुद्रट ने उसकी परिभाषा यों दी है—

> एकाद्वित्र्यन्तरितं व्यंजनमविवक्षितस्वरं बहुशः।
> आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदसावनुप्रासः॥

अर्थात्—एक, दो या तीन के व्यवधान से अनेकदा आवृत्त व्यंजनों द्वारा अनुप्रास होता है। स्वर की सरूप आवृत्ति अविवक्षित है। इन्होंने भी अनुप्रास के उद्भटानु-

सारी तीन नहीं, बल्कि पाँच भेद किये हैं और वे पाँच हैं—मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता एवं भद्रा। उद्भट के तीन भेदों में से 'परुषा' मात्र का ही यहाँ नाम है। उद्भट की उपनागरिका का इनकी 'मधुरा' से सर्वाधिक साम्य है। कारण, उभयत्र नासिक्य ध्वनियों का स्ववर्गीय ध्वनियों से योग माना गया है; पर इतना अंतर अवश्य है कि जहाँ उद्भट ने सरूपसंयोग (क्क, प्प, च्च आदि) की भी बात कही है, वहाँ रुद्रट ने इस प्रकार की कोई बात नहीं कही। जिस प्रकार 'ग्राम्या' के संबंध में उद्भट ने शेष वृत्तियों में उपयुक्त वर्णों से बचे हुए वर्णों के उपयोग की बात कही है, उसी प्रकार रुद्रट ने भी 'भद्रा के लिये कहा है—''परिशिष्टा भद्रायाम्''।

कुंतक ने 'वर्णविन्यास-वक्रता' के नाम से ही अनुप्रास संबंधी विचार प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने 'वर्णविन्यास-वक्रता का स्वरूप बताते हुए यह कहा है कि जिस रचना में एक दो अथवा बहुत से वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तर से बार-बार (उसी रूप में) विन्यस्त होते हैं, वह वक्रता 'वर्णविन्यास-वक्रता' कही जाती है। अनुप्रास की परिभाषा में जिस प्रकार 'वर्ण' 'व्यंजन' का पर्याय माना जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी कुन्तक ने 'वर्ण' का अर्थ 'व्यंजन' ही स्वीकार किया है।

इन्होंने एक व्यंजन, दो व्यंजन तथा तीन व्यंजन की अनेकता-जैसी आवृत्ति की दृष्टि से वर्णविन्यास-वक्रता के तीन भेद किये हैं। इस वक्रता के औचित्य के सबंध में उनका यह भी कहना है, इसके किसी भी विधा की योजना आग्रह-पूर्वक न की गई हो, वहाँ असुन्दर वर्णों की भी योजना न हो, साथ ही यह भी ध्यान में रहे कि पूर्वावृत्त वर्णों की आवृत्ति का परित्याग कर नूतन वर्णों की आवृत्ति हो।

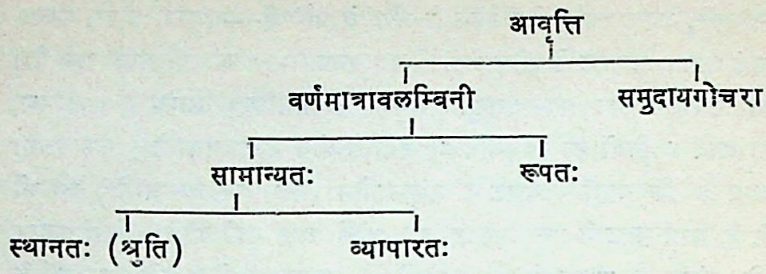
पूर्वोक्त आचार्यों की मधुरा एवं उपनागरिका की भाँति इस वक्रता का विवेचन करते हुए उन्होंने यह कहा है कि स्पर्श वर्ण अपने-अपने अन्त्यवर्णों से संयुक्त, त, ल तथा न द्विरुक्त एवं प्रस्तुत औचित्य को देखते हुए रकारादि से संयुक्त शेष वर्ण इस प्रकार की वक्रता के सूचक होते हैं।

इस प्रकार कुंतक ने अनुप्रास शीर्षक से अनुप्रास का विवेचन नहीं किया है, इसके विपरीत 'वर्णविन्यास-वक्रता' के नाम से उसका विवेचन प्रस्तुत किया है।

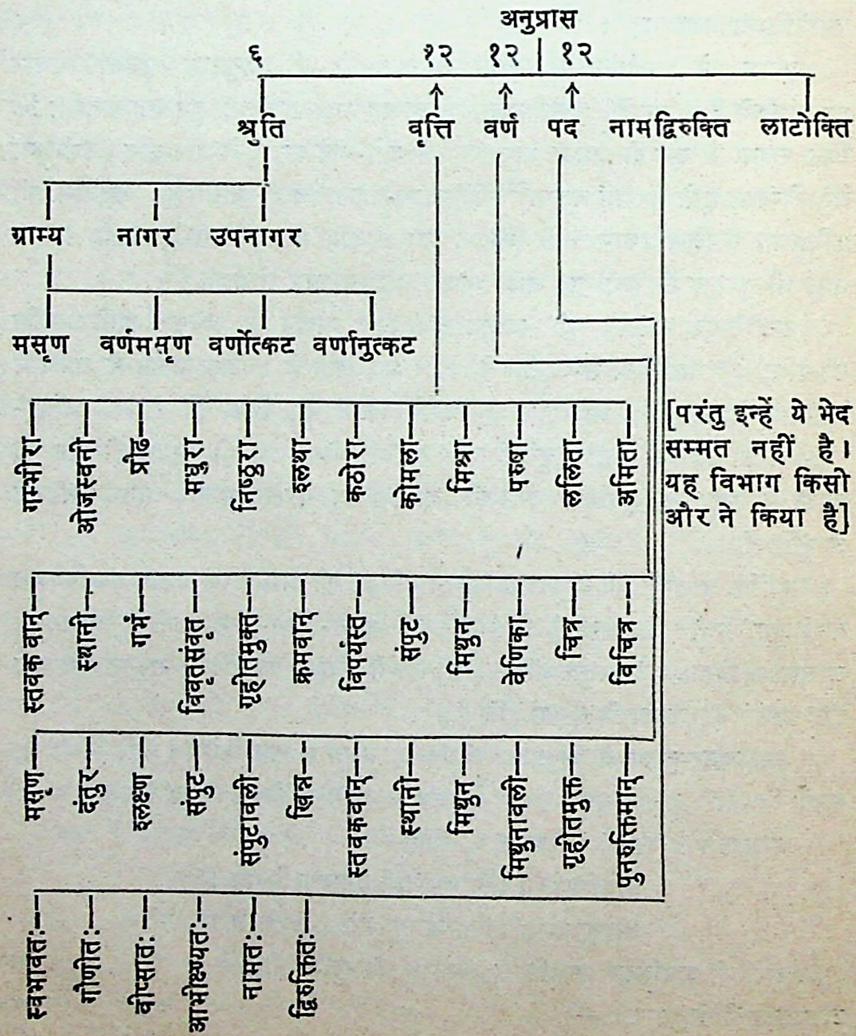
भोजराज ने इसकी परिभाषा यों की है—

आवृत्तिर्या तु वर्णानां नातिदूरान्तरस्थिता।
अलङ्कारस्य विद्वद्भिरनुप्रासः प्रदर्श्यते ।।२।२३०

वर्णों की अनतिदूर आवृत्ति से अनुप्रास की सृष्टि होती है। टीकाकार के अनुसार :—


आवृत्ति
वर्णमात्रावलम्बिनी
समुदायगोचरा
सामान्यतः
रूपतः
स्थानतः (श्रुति)
व्यापारतः

मूल ग्रंथ के अनुसार :—


अनुप्रास
६
१२ १२ | १२
श्रुति
वृत्ति
वर्ण
पद
नामद्विरुक्ति
लाटोक्ति
ग्राम्य
नागर
उपनागर
मसृण
वर्णमसृण
वर्णोत्कट
वर्णानुत्कट
गम्भीरा
ओजस्विनी
प्रौढ़ा
मधुरा
निष्ठुरा
श्लथा
कठोरा
कोमला
मिश्रा
परुषा
ललिता
अमिता
[परंतु इन्हें ये भेद सम्मत नहीं है। यह विभाग किसी और ने किया है]
स्तवकवान्
स्थानी
गर्भ
विवृतसंवृत
गृहीतमुक्त
क्रमवान्
विपर्यस्त
संपुट
मिथुन
वेणिका
चित्र
विचित्र
मसृण
दंतुर
श्लक्ष्ण
संपुट
संपुटावली
चित्र
स्तवकवान्
स्थानी
मिथुन
मिथुनावली
गृहीतमुक्त
पुनरुक्तिमान्
स्वभावतः
गौणीतः
वीप्सातः
आभीक्ष्ण्यतः
नामतः
द्विरुक्तितः

इस प्रकार अनेक भेद-भेदान्तरों की यहाँ चर्चा मिलती है। कदाचित् इतने भेद-प्रभेदों की चर्चा किसी ने न की हो। इन प्रभेदों में वृत्ति, छेक तथा लाट सब का विवेचन आ गया है।

मम्मट ने 'वर्णसाम्य को' अनुप्रास कहा है और यह भी कहा है कि वह छेक तथा वृत्ति-गत दो प्रकार का होता है। 'वृत्ति' के वे ही तीन भेद यहाँ मिलेंगे, जिनकी चर्चा उद्भट ने की थी--उपनागरिका, परुषा तथा कोमला। माधुर्य व्यञ्जक वर्णों वाली उपनागरिका, ओजः प्रकाशक वर्णों से समन्वित परुषा तथा अवशिष्ट वर्गों वाली कोमला कही जाती है।

अग्नि पुराण में कहा गया है कि पद और वाक्य में वर्णों की आवृत्ति का नाम अनुप्रास है। इसके दो भेद हैं--एक वर्णगतावृत्ति तथा दूसरी अनेक वर्णगतावृत्ति। एक वर्णगतावृत्ति अनुप्रास (वृत्ति अनुप्रास) की पाँच वृत्तियाँ हैं--मधुरा, ललिता, प्रौढ़ा, भद्रा और परुषा। रुद्रट ने भी वृत्ति के ये ही भेद बताये हैं। इन्होंने परुषावृत्ति के देश भेद से अनेक भेद स्वीकार कराये हैं--कर्णाटी, कौन्तली, कौन्ती, कौंकणी, वामनासिका, द्रावणी तथा माधवी।

इन्होंने अनेक वर्णावृत्ति अनुप्रास को यमक कहा है।

अलंकार-सर्वस्वकार का यह वक्तव्य है कि पौनरुक्त्य दो प्रकार का है--अर्थ पौनरुक्त्य तथा शब्द पौनरुक्त्य (शब्द पौनरुक्त्य भी दो प्रकार का है--व्यञ्जन मात्र पौनरुक्त तथा स्वर व्यंजन समुदाय पौनरुक्त। अर्थ पौनरुक्त पुनरुक्तवदाभास का विषय है। शब्द पौनरुक्त्य में पहले के दो भेद है--छेक तथा वृत्ति अनुप्रास और दूसरे को यमक कहते हैं। दूसरे में ही यदि तात्पर्य-भेदवशं पौनरुक्त्य हट जाता हो, तो 'लाट' हो जाता है।

हेमचन्द्र ने कहा है--व्यञ्जनस्यावृत्तिरनुप्रासः--व्यंजन की आवृत्ति ही अनुप्रास है। व्यंजन से अभिप्राय एकाधिक व्यंजनों से है। अन्य आलंकारिकों ने 'व्यंजन' की जगह 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया है, ताकि उसमें स्वर की समाई का निषेध न हो, पर हेमचंद्र ने स्पष्ट ही कह दिया कि व्यञ्जन की आवृत्ति अनुप्रास है। इन्होंने अपनी मूल-परिभाषा को करते हुए यह कहा है 'एकस्यानेकस्य वा व्यञ्जनस्यावृत्तिः--''अर्थात् एक या अनेक व्यंजन की आवृत्ति हो। अनुप्रास शब्द का अर्थ करते हुए इन्होंने कहा है--'पुनःपुर्नानिबंधो रसानुगतः प्रकृष्टोऽदूरान्तरितो न्यासोऽनुप्रासः''--रसानुरूप तथा अनतिव्यवहित व्यंजन का पुनः पुनः विन्यास ही अनुप्रास है। एक की यदि एक ही बार आवृत्ति हो तो इसमें कोई विशेष चमत्कार लक्षित नहीं होता और चमत्कार के बिना कोई अलंकार नहीं होता। इनकी विशेषता यह है कि इन्होंने उद्भट या अन्य किसी

की तरह अनुप्रास का छेक, वृत्ति आदि नामों से वर्गीकरण नहीं किया ; पर उदाहरण द्वारा सभी रूपों को प्रस्तुत किया है। उन्होंने यह बताया है कि यह आवृत्ति अनेक की एक और अनेक बार हो सकती है। एक को तो अनेक बार होनी आवश्यक है।

चंद्रालोककार पीयूषवर्ष जयदेव ने अनुप्रास का सामान्य लक्षण तो नहीं किया; परन्तु उसके भेदों का उल्लेख अवश्य किया है—छेक, वृत्ति, लाट, स्फुट, अर्थ। उद्भट की भाँति इन्होंने वृत्ति के भेद ही नहीं दिखाए, साथ ही अतिरिक्त भेदों का भी उल्लेख किया।

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने 'व्यञ्जन' एवं 'वर्ण' को छोड़कर 'शब्द साम्य' को अनुप्रास कहा है, उसके साथ ही यह भी कहा है कि स्वरगत वैषम्य हो, तो भी कोई हानि नहीं है। अनुप्रास के इन्होंने पाँच भेद बताये हैं—छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य एवं लाट।

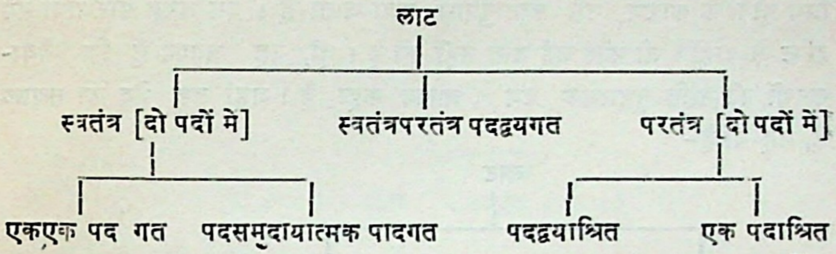
लाटानुप्रास को अनुप्रास का भेद मानने पर झलकीकर वामन (काव्य प्रकाश टीकाकार) आदि ने तो यह आपत्ति की है कि इसे वस्तुतः अनुप्रास का भेद मानना नहीं चाहिए। कारण, अनुप्रास का लक्षण उस पर नहीं घटता। इसे तो अनुप्रास केवल इसलिये कहा जाता है कि वहाँ आवृत्ति है। अभिप्राय यह कि यहाँ अनुप्रास का प्रयोग लाक्षणिक ही समझना चाहिए।

इस प्रकार उद्भट की अनुप्रास सम्बन्धी धारणा को जब मैं इस ऐतिहासिक आलोक में देखता हूँ, तब यह पाता हूँ कि उद्भट ने 'सरूप व्यञ्जनन्यास' अनुप्रास की परिभाषा दी थी। आगे के लोगों ने 'व्यञ्जन' की जगह 'वर्ण' तथा 'शब्द' का भी प्रयोग किया। एकाध आलंकारिक ही ऐसे हैं—जैसा कि ऊपर कहा गया है—जिन्होंने 'व्यञ्जन' शब्द का प्रवेश इसकी परिभाषा में किया है। जहाँ तक इसके प्रभेद के रूप में वृत्ति-भेद का सम्बन्ध है—उसकी कुछ लोगों ने तो संख्या बढ़ा दी है और कुछ लोगों ने उसकी चर्चा ही नहीं की हैं। मम्मट ने तो वृत्ति एवं रीति को एक ही कर दिया है। उद्भट ने अनुप्रास लक्षण करने से पूर्व ही छेकानुप्रास की चर्चा की है और बाद में 'लाटानुप्रास' की। पर बाद के आलंकारिकों ने अनुप्रास के भेद में ही छेक तथा लाट को समाविष्ट कर लिया। दर्पणकार एवं चंद्रालोककार ने तो छेक तथा लाट के अतिरिक्त और भी प्रभेद कर लिये। भोजराज ने भी कुछ अतिरिक्त प्रभेदों पर दृष्टि डाली है।

लाटानुप्रास—

उद्भट ने इसकी परिभाषा बताते हुए यह कहा है कि स्वरूपतः एवं अर्थतः

अभिन्न शब्द या पद की पुनरुक्ति, जहाँ किसी अन्य प्रयोजन से की जाय, वहां लाटानुप्रास होता है। इसके भेद इन्होंने यों बताये हैं—



इस प्रकार इन्होंने सब पाँच प्रकार के लाटानुप्रास बताये हैं। प्रतीहारेंदुराज ने इसे लाटानुप्रास इसलिये कहा है कि यह अलंकार लाट प्रदेशवासियों को काफी प्रिय है।

भामह ने इसका उल्लेख तो अवश्य किया है; पर उसका स्वरूप नहीं दिया। दण्डी ने इसकी कोई चर्चा नहीं की। वामन की भी वही स्थिति है। रुद्रट की भी दृष्टि इधर नहीं गई। कुंतक भी विमुख से ही हैं। भोज ने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में यह अवश्य बताया है "अर्थाभेदे यदावृत्तिः प्रवृत्त्या भिन्नयेहया। स सूरिभिरनुप्रासो लाटीय इति गीयते।२।१०२

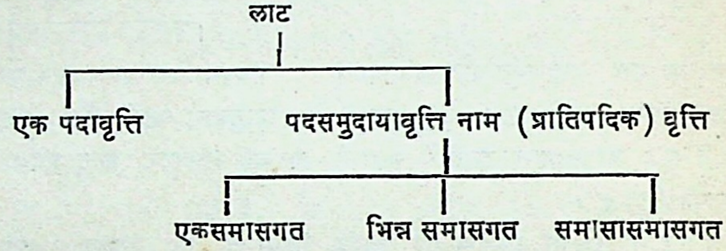
स चाव्यवाहितो व्यस्तः समस्त उभयः पुनः। उभयं चक्रवालश्च गर्भश्चेवाभिधीयते।२।१०३

यस्तु व्यवहितो नाम नेयता तस्य शक्यते। कर्त्तुमेकादिगणना पदवृत्त्यादिभङ्गिभिः॥२।१०४

अर्थ-गत अभेद रखते हुए जहाँ पदों की आवृत्ति हो और वह इसलिये कि वहाँ तात्पर्य भिन्न हो। वह पदावृत्ति अव्यवहित भी हो सकती है और व्यवहित भी। यह आवृति समासगत भी हो सकती है और पृथक्-पृथक् पद-गत भी हो सकती है। जहाँ तक व्यवहित रूप में पदावृत्ति का सवाल है—उसकी निश्चित रूप में गणना नहीं की जा सकती।"

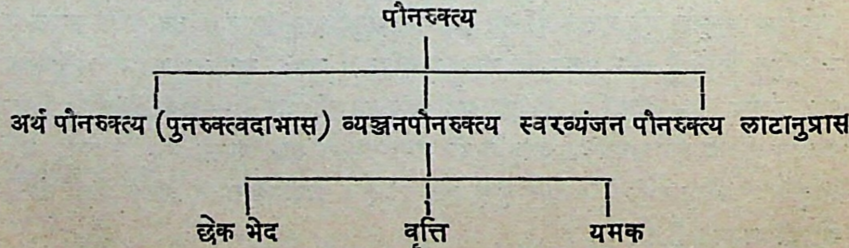
उद्भट ने इसके पाँच भेद बताये हैं। वहाँ उन्होंने अव्यवहित आवृत्ति या व्यवहित आवृत्ति की बात नहीं की है। वैसे समुदायावृत्ति का उदाहरण उद्भट ने व्यवहित दिया है और पदावृत्ति का अव्यवहित। जहाँ तक लक्षण या परिभाषा का संबंध है—दोनों में केवल पदावली का ही भेद है—अर्थतः नहीं। भिन्न पदगत अथवा एक पदाश्रित आवृत्ति की बात समस्त एवं व्यस्त रूप से कही गई आवृत्ति से भिन्न नहीं है। बहुत कुछ एक ही है। पादाभ्यास में अनेक भेद दोनों को ही सम्मत हैं।

मम्मट ने इसकी परिभाषा यों बताई कि शब्द एवं अर्थ-गत अभेद रहने पर भी अन्वयमात्र से जहाँ भेद हो, वहाँ जो अनुप्रास होता है, लाटदेश के लोगों को प्रिय होने के कारण, उसे लाटानुप्रास कहा जाता है। इस तरह परिभाषा की दृष्टि से इन्होंने भी कोई नई बात नहीं की है। हाँ, यह अवश्य है कि वैयाकरणों की भाँति सूत्रात्मक ढंग से अवश्य कहा है। जहाँ तक भेद का सवाल है, वह यों है—

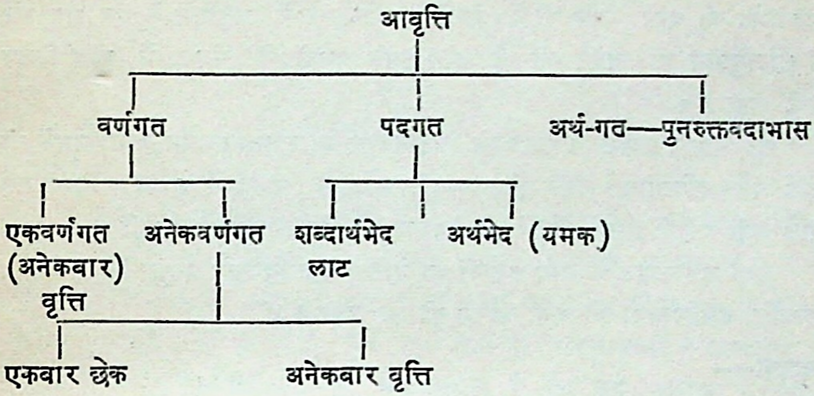


इस विभाजन से यह सुस्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों आलंकारिकों ने जो सामग्री दी है, उसका मम्मट ने कितना व्यवस्थित उपयोग किया है। इतना साम्य तो अवश्य है कि त्रिधा विभाजन दोनों ने किया है, पर उद्भट ने जहाँ स्वतंत्र, परतंत्र एवं स्वतंत्र परतंत्र पदगत रूप से किया है, वहाँ मम्मट ने कुछ और गहरे पैठ कर एक पदावृत्ति, नानापदावृत्ति एवं नामावृत्ति के रूप से किया है। नामावृत्ति वाली बात मम्मट की विशेष रूप से ध्यान में रखने की है। शेष में कोई खास अंतर नहीं है। स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः 13/43।।

अग्निपुराण में इस अलंकार की कोई चर्चा नहीं। अलंकार-सर्वस्वकार रुय्यक ने कहा है—'तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रासः' शब्द एवं अर्थ-गत पौनरुक्त्य रहने पर भी जहाँ तात्पर्यतः अर्थभेद आ जाता हो, वहाँ लाटानुप्रास हो जाता है। इन्होंने पौनरुक्त्य के पहले तीन भेद किये—व्यञ्जन पौनरुक्त्य तथा स्वर व्यंजन पौनरुक्त्य एवं अर्थ पौनरुक्त्य। व्यञ्जन पौनरुक्त्य के तीन भेद—छेक, वृत्ति एवं लाट। अर्थ पौनरुक्त्य का पुनरुक्तवदाभास। स्वरव्यंजन पौनरुक्त्य का लाट। चित्र यों हुआ—

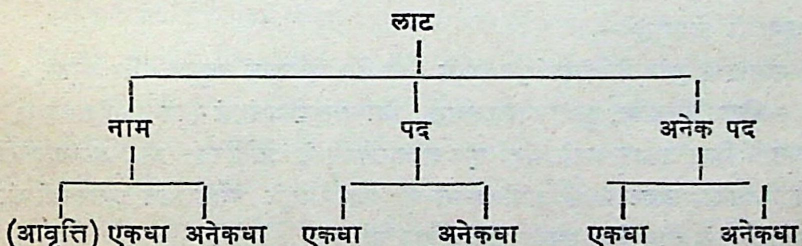


दूसरे लोगों ने और ढंग से भेद की बात कही है—वह यों है—



इन लोगों ने पुनरुक्तवदाभास को अपने वर्गीकरण में रखना तो नहीं चाहा है ; पर वहाँ उक्त वर्गीकरण के समानान्तर एक और विधा रख दी गई है।

हेमचंद्र ने प्रकाशकार का ही अनुकरण किया है और कहा है कि शब्द एवं अर्थ-गत अभेद रहने पर भी अन्वयमात्र से जहाँ भेद हो, वहाँ लाटानुप्रास होता है। यहाँ आवृत्ति नाम, पद एवं पदसमुदाय की होती रहती है। इन्होंने जो उदाहरण दिये हैं, उनके देखने से पता चलता है कि उन्हें इस प्रकार के भेद अभीष्ट हो सकते हैं एक नाम की एक बार आवृत्ति, अनेकवार आवृत्ति, अनेक नामों की एक आवृत्ति तथा अनेक बार आवृत्ति ; पद की एक बार आवृत्ति, तथा अनेक बार आवृत्ति, अनेक पद की एक बार तथा अनेक बार आवृत्ति। चित्र यों होगा।



इनका वर्गीकरण पहले के लोगों से विलक्षण ही हुआ—मम्मट से भी भिन्न और उद्भट से भी। मम्मट ने नामावृत्ति के जो समास, असमास एवं समासासमास-गत तीन भेद किये थे, हेमचंद ने उन्हें छोड़ दिया और उसकी जगह और ही भेद बताये। उद्भट से तो सर्वथा भिन्न हैं ही।

पीयूषवर्ष जयदेव ने उसकी परिभाषा यों दी है—लाटानुप्रासभूमिन्नाभिप्राया पुनरुक्तता। अर्थात् जहाँ पुनरुक्त पद भिन्न-भिन्न अभिप्राय के प्रकाशक हों, वहाँ

लाटानुप्रास होता है। इन्होंने लाटानुप्रास का स्वरूप बताने के बाद फिर किसी भेद-प्रभेद की चर्चा नहीं की है। साहित्य-दर्पणकार ने अनुप्रास के एक भेद रूप में लाटानुप्रास की चर्चा की है और उसके प्रभेदों के संबंध में कुछ विशेष नहीं कहा है।

इस प्रकार उद्भट के द्वारा जो लाटानुप्रास का स्वरूप बताया गया, उसमें तो कोई अंतर दृष्टिगोचर नहीं होता---हाँ, प्रभेदों के संबंध में अवश्य कतिपय नई बातें कही गई हैं। उन्हें यहाँ पुनः दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यहाँ तक उद्भट के शब्दालकारों का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया गया। सम्प्रति, अर्थालंकारों की चर्चा आरंभ की जा रही है।

रूपक---

अर्थालंकारों में सादृश्यमूलक 'रूपक' का ही विवेचन सर्वप्रथम आरंभ किया गया है। रूपक का स्वरूप मूलग्रंथ में स्पष्ट किया ही गया है। उन्होंने कहा है कि जहाँ एक पद का दूसरे पद से अभीष्ट संबंध अभिधा-लभ्य अर्थ द्वारा न बन सके, वहाँ प्रधानानुरोधवश अप्रधानपद की लक्षणा के द्वारा जब प्रधान पद से संबंध किया जाय, तो रूपक-अलंकार कहा जाता है।

जहाँ तक इनके प्रभेदों का संबंध है---समस्त वस्तु विषय एवं एक देश-विवर्ती---दो भेद तो कहे ही हैं। कुछ लोग समस्त वस्तु विषय को ही मालारूपक कहना चाहते हैं और एक देश-विवर्ती की व्याख्या और ढंग से करते हैं।

रूपक एक ऐसा अलंकार है, जिसकी चर्चा भरत ने भी की। भरत ने इसका लक्षण यों दिया है---

नानाद्रव्यानुषंगाद्यैर्यदौपम्यं गुणाश्रयम्। रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम्।
स्वविकल्पैर्विरचितं तुल्यावयवलक्षणम्। किञ्चित्सादृश्यसंपन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत्।।

भरत ने जिस प्रकार अपने यहाँ एक शब्दालकार के अतिरिक्त तीन अर्थालंकारों को लिया है, उद्भट ने भी अर्थालंकारों में सबसे पहले इन्हीं तीन अलंकारों को लिया है। वे तीन हैं---उपमा, दीपक एवं रूपक।

रूपक की परिभाषा भरत के यहाँ कुछ विचित्र-सी ही है। इन्होंने बताया कि थोड़े सादृश्य से समन्वित रूप को रूपक कहते हैं। इस रूप में समान अवयवों की स्थिति होती है। उसकी रचना स्वगत विकल्प से होती है। इसी के साथ एक परिभाषा और भी है, जिसका भाव यों है---नाना द्रव्यों के संबंध से समान धर्ममूलक जो औपम्य है, वही रूप-वर्णना से युक्त होकर रूपक कहा जाता है। उदाहरण है---

पद्माननास्ताः कुमुद प्रकाशा विकासिनीलोत्पल चारुनेत्राः ।
वापीस्त्रियो हंसकुलैर्नदद्भिःर्विरेजुरन्योन्यामिवाह्वयन्त्यः ॥

१६।५९

वापी रूपी स्त्रियाँ, पद्म ही जिनके आनन हैं और कुमुद ही कांति, खिले हुए कमल ही जिनकी आँखें हैं, मानों बोलते हुए हंसों के माध्यम से एक दूसरे को पुकारती हुई-सी हों।

भरत का लक्षण कुछ स्पष्ट नहीं है। दूसरे यह कि 'तुल्यावयवलक्षणम्' तथा उदाहरण से यह जान पड़ता है कि भावी आलंकारिकों के सांगरूपक-सा इन्हें रूपक का स्वरूप कुछ अभीष्ट है। उपमा से रूपक का अन्तर औपम्य के तिरोहित और अतिरोहित रहने में ही है; पर यहाँ दोनों ही परिभाषाओं में स्पष्टरूप से औपम्य की बात कही गई है। हाँ, यह अवश्य है कि वह सादृश्य तिरोहित हो---यह स्पष्टतः नहीं कहा गया है।

भामह की परिभाषा यों है---

उपमानेन यत्तत्वमुपमेयस्य रूप्यते। गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः।

२।२१

अर्थात्---उपमान से उपमेय का जहाँ तादात्म्य गुण-साम्य देखकर निरूपित किया गया हो—वहाँ रूपक होता है।

इन्होंने रूपक के दो भेद बताये---समस्तवस्तुविषय तथा एक देश विवर्त्ति। उद्भट ने भी इन्हीं दोनों भेदों की चर्चा की। भरत का उदाहरण भी समस्तवस्तु-विषय वाला ही है।

दण्डी ने तो स्पष्ट कह दिया—"उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते"---उपमा से ही यदि भेद हटा दिया जाय, तो वह रूपक हो जाती है। बात यह है कि उपमा में उपमान तथा उपमेय का भेद होता है और यही भेद यदि हटा दिया जाय तथा उपमान और उपमेय का अभेद कर दिया जाय, तो वहाँ रूपक का व्यवहार किया जायगा। इन्होंने जो उदाहरण दिये, वे सांगरूपक के नहीं हैं। इनके उदाहरण हैं---बाहुलता, पाणिपद्म एवं चरणपल्लव। दण्डी ने रूपक के लगभग २० भेद स्वीकार किये हैं। असमस्तरूपक, समस्त रूपक, समस्तव्यस्त सकल रूपक, अवयव रूपक, अवयवि रूपक, एकाङ्ग रूपक, मुक्त रूपक, अमुक्त-रूपकम्, विषम रूपक, सविशेषण रूपक, विरुद्ध रूपक, हेतुरूपक, श्लिष्ट रूपक, उपमा रूपक, व्यतिरेक रूपक, आक्षेप रूपक, समाधान रूपक, रूपक रूपक, अपह्नव रूपक। इतने भेदों से भी जब पेट न भरा, तब अंत में उन्हें यह कहना पड़ा कि उपमा तथा रूपक के भेदों की कोई नियत संख्या नहीं है; इसलिये

यहाँ केवल एक दिशा मात्र दिखा दी गई है। इसी से विद्वान् लोग अनुक्त का भी अनुमान लगा लें।

भरत की अपेक्षा इनकी परिभाषा तो साफ ही है; भेदों की इतनी भरमार मचा दी है कि बहुत दूर तक लोगों ने इतने भेद की बात नहीं की। इन प्रभेदों में कतिपय क्या सभी को सांग अथवा निरंग रूपक के अंतर्गत रखा जा सकता है। कई प्रभेद तो इस प्रकार के भी हैं, जहाँ अन्य अलंकारों (विरोध, अपह्नुति, व्यतिरेक) का मिश्रण है। इसीलिये इन प्रभेदों की किसी परवर्ती आलंकारिक ने अपेक्षा नहीं की। रूपक तो उतने ही अंश में माना जायगा, जितने में भेदहीन उपमान तथा उपमेय का प्रयोग हो।

वामन ने कहा है--'उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम्' उपमान के साथ उपमेय का गुणासाम्य होने से [उपमेय में उपमान के] तत्त्व अर्थात् अभेद का आरोप रूपक-अलंकार कहा जाता है। इन्होंने भेदोपभेद की कोई चर्चा ही नहीं की।

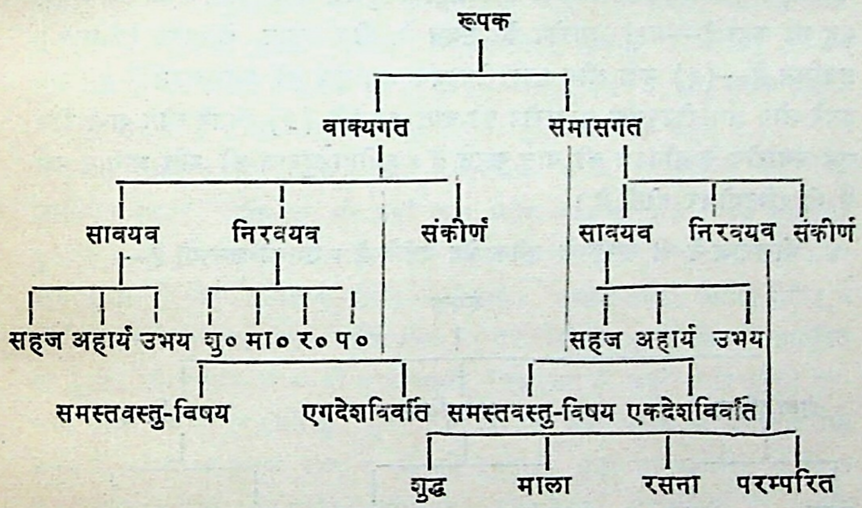
उद्भट ने इस प्रकार अपने पूर्ववर्तियों से रूपक की सामान्य परिभाषा बिलकुल उधार नहीं ली। उसे सर्वथा नये ढंग से कहा; पर सर्वथा नये ढंग से कहने से एक दोष भी उसमें है। दोष यह है कि जिस पद का पदान्तर से लाक्षणिक संबंध होना बताया है, वे दोनों आपस में किस प्रकार का संबंध रखते हों--सादृश्य या सादृश्येतर ? यह कुछ नहीं बताया। हाँ, यदि 'गुणवृत्ति' को 'पदान्तर' का विशेषण मानें और गुणवृत्ति का अर्थ गुणबोधक किया जाय, तो किसी प्रकार यह संकेत मिल सकता है कि दोनों में सादृश्य-संबंध हो। जो भी हो, यह भी लक्षण थोड़ा झमेले का है। जहाँ तक प्रभेदों का सवाल है, इन्होंने भामहोक्त दो ही भेदों की बात की। समस्त वस्तु-विषय को ये माला-रूपक भी कहना चाहते हैं। प्रतीहारेंदुराज ने उसका कारण बताते हुए कहा--'एकस्मिन् रूप्ये समुच्चयेन अस्यन्ते क्षिप्यन्ते बहूनि रूपकाणि'--जहाँ एक ही रूप्य (उपमेय) पर अनेक उपमानों का आरोपात्मक क्षेपण हो; परन्तु इसे पूर्वोक्त समस्त वस्तु-विषय (सांग रूपक) से भिन्न प्रकृति का बताया है। पूर्वोक्त समस्त वस्तु विषय में एक-एक तो अङ्गीभूत (रात्रि एवं कन्या) उपमान तथा उपमेय हैं और शेष उनके अंग-रूप। माला रूपक की स्थिति दूसरी है, वहाँ एक ही उपमेय हैं, और उस पर अनेक उपमानों का आरोप है।

इसी प्रकार एक देश विवर्ति का भी दूसरा अर्थ किया गया है। उदाहरण तो एक ही तरह का है; पर 'एक देश' का अर्थ यहाँ भिन्न रूप का किया गया है--'एकदा अन्यदा ईशः प्रभविष्णुः यो वाक्यार्थस्तद्वृत्ति।" व्याख्याग्रंथ में

इसे अच्छी तरह समझाया गया है। पहले एक देश का अर्थ 'एक भाग' किया गया है।

इस प्रकार उद्भट ने पूर्वाचार्यों द्वारा कथित समस्त वस्तु-विषय तथा एकदेश विवर्ति लिये तो दो ही भेद, परन्तु उसकी अन्यथा व्याख्या कर दी तथा और रूपों की चर्चा भी की। माला-रूपक को परवर्ती आलंकारिकों ने निरंग रूपक के भीतर ले लिया है।

रुद्रट ने रूपक (वाक्यगत) का स्वरूप वामन तथा दण्डी एवं भामह की तरह यही माना है कि जहाँ गुणों का साम्य होने पर उपमान एवं उपमेय में अभेद कहा जाय। यद्यपि सामान्य (साम्य ?) यहाँ है; पर वह विवक्षित नहीं है। भेद निरूपण यों है---



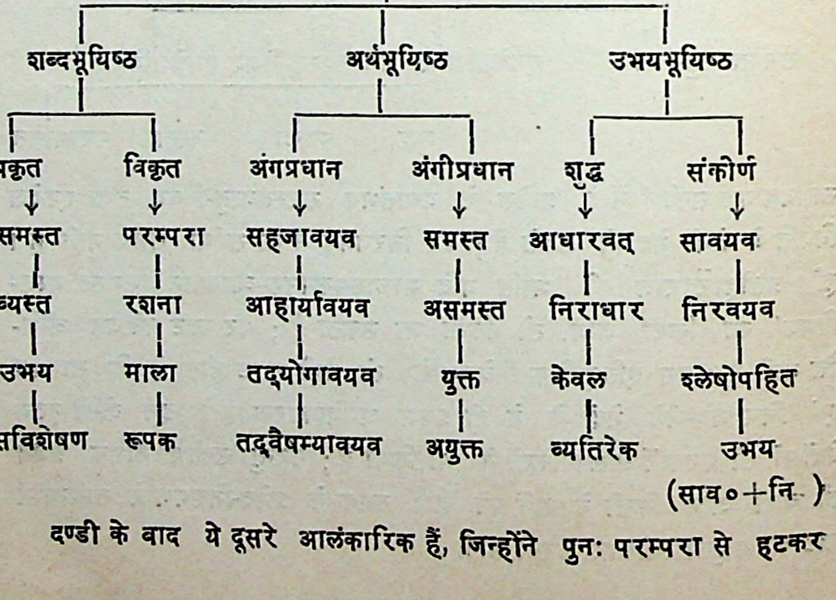
सावयव एवं संकीर्ण में से प्रत्येक के यथासंभव समस्तवस्तु-विषय तथा एकदेश विवर्ति ये दोनों भेद हो सकते हैं; पर निरवयव में तो सर्वथा संभव नहीं है। हाँ, प्रतीहारेंदुराज की भांति यदि मालारूपकपरक-व्याख्यान 'समस्त वस्तु-विषय' का किया जाय, तो किया जा सकता है; पर रुद्रट को वह अभि-प्रेत नहीं है। इस ऐतिहासिक विवेचन से तो यही स्पष्ट होता है कि सावयव एवं निरवयव-जैसे भेदों के ये ही प्रथम आविष्कारक हैं। इन दोनों नूतन भेदों को तो परवर्ती आलंकारिकों ने भी किया है; परन्तु 'संकीर्ण' नामक प्रभेद की चर्चा और किसी ने नहीं की है। रूपक के प्रभेद-निरूपण के सम्बन्ध में रुद्रट की महत्ता स्वीकार करनी होगी।

उद्भट के अनन्तर कुंतक ने 'रूपक' का प्राण उपचार-वक्रता को बताया है तथा उसके स्वरूप के सम्बन्ध में यह भी बताया है कि जहाँ समान उपमान उपमेय रूप वस्तु को अपना सर्वस्व अर्पित कर दे, वहाँ रूपक नामक अलंकार होता है।

कुंतक ने इसके दो प्रभेदों की ओर निर्देश किया है—समस्त वस्तु-विषय तथा एकदेशविवर्ती। भोज ने रूपक की परिभाषा इस प्रकार की है--
"यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात्! उपमेये भवेद्वृत्तिस्तदा तद्रूपकं विदुः।"
अर्थात्—जब गौणीवृत्ति के सहारे उपमान वाचक शब्दों का उपमेय में संक्रमण हो, तो वहाँ यह अलंकार होता है।

उद्भट, कुंतक एवं भोज तीनों ने--रूपक अलंकार में लक्षणा शक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया है। प्रतीहारेंदुराज ने प्रसंगतः एक स्थान पर यह भी कहा है--यहाँ आरोप के संवध में तीन प्रकार के दर्शन (विचार) प्रचलित हैं--(१) कुछ लोग शब्दारोपपूर्वक अर्थारोप की वात करते हैं। (२) दूसरे लोग अर्थारोपपूर्वक शब्दारोप की वात करते हैं (३) तीसरे लोग शब्दारोप एवं अर्थारोप के यौगपद्य की वात करते हैं। प्रतीहारेंदुराज की रुचि अन्तिम पक्ष में ही दृष्टिगोचर होती है।

भोजराज ने भी रूपक के अनेक भेद बताये हैं। उनका क्रम यों है--



दण्डी के बाद ये दूसरे आलंकारिक हैं, जिन्होंने पुनः परम्परा से हटकर

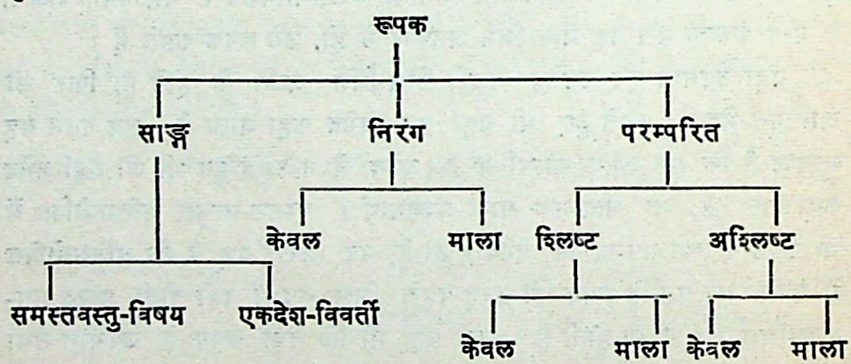
एक नये ढंग से रूपक-प्रभेदों की चर्चा की है। काश्मीरी आचार्यों से इनकी स्थिति भिन्न होकर परस्पर कभी-कभी मिलती-जुलती भी दिखाई पड़ती है। इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ दण्डी ने अलंकारान्तर के संस्पर्श-वश भी कई प्रभेदों की कल्पना कर ली थी, वहाँ भोज कुछ सावधान दिखाई पड़ते हैं। दण्डी द्वारा विवेचित कई प्रभेद भी इनमें समाविष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। अस्तु। उद्भट से इनकी धारा ही सर्वथा भिन्न लक्षित होती है।

मम्मट ने साम्यमूलक अलंकारों के प्रसंग में रूपक की परिभाषा यों दी है—उपमान एवं उपमेय का जो अभेद है, वही रूपक है। वामन ने इसकी व्युत्पत्ति यों दी है--"रूपयति एकरूपतां नयति—इति रूपकम्" अर्थात् जो (उपमान तथा उपमेय को) एकरूपता लाता हो। आशाधर भट्ट ने इसका अर्थ अन्य प्रकार से दिया है--"रूपवत् करोति, अथवा रूपयतीति" रूपकम्। "रूपको लक्षणाविशेष: रूपयुक्तं करोतीत्येर्थः सोऽस्मिन्नस्तीति रूपकमलंकार इत्याहुः"—अर्थात् जो रूप युक्त करे या रूपण करे। रूपक का अर्थ है—लक्षणाविशेष। सो, रूपक लक्षणा से योग कराता है। यह योग जिस अलंकार में हो, उसे रूपक कहते हैं।

यहाँ उपमान एवं उपमेय यद्यपि भिन्न-भिन्न जाति के होते हैं, फिर भी जातिगत भेद के रहते हुए भी यहाँ जब अभेद कहा जाता है, तब इनसे यह सुस्पष्ट है कि यह अभेद काल्पनिक है। अभेद के न रहते हुए भी जो यहाँ अभेद कहा जाता है, वह अत्यधिक साम्य-प्रदर्शनार्थ। मम्मट-सम्मत अतिशयोक्ति में भी उपमान तथा उपमेय का अभेद होता है; पर अन्तर यह है कि अतिशयोक्ति में उपमेय की प्रतीति रूपक की तरह पहले भिन्न रूप में नहीं होती, प्रत्युत उपमानाभिन्न रूप से ही होती है। दूसरे यह भी कि जहाँ रूपक में उपमान तथा उपमेय--दोनों स्ववाचक शब्द से कहे गये रहते हैं, वहाँ अतिशयोक्ति में केवल उपमानवाचक शब्द का प्रयोग रहता है। इसी प्रकार अपह्नुति में भी यद्यपि तथाविध अभेद रहता है, फिर भी यहाँ उपमेय का गोपन होने के कारण भेद का भी अपह्नव हो जाता है। रूपक में भेद के अपह्नव की बात नहीं होती। इस प्रकार जहाँ गौण सारोपा लक्षणा का स्थान होता है, वहाँ रूपक तथा गौण साध्यवसाना का स्थान जहाँ होता है, वहाँ अतिशयोक्ति होती है। कुछ आलंकारिक (अप्पय-दीक्षित आदि) यहाँ लक्षणा नहीं मानते; पर इसका विचार हम आगे चलकर करेंगे। धर्मवाचक लुप्ता उपमा की भाँति रूपक में भी केवल उपमान तथा उपमेय का प्रयोग होता है, फिर भी विवेकियों का कहना है कि वहाँ यह देखकर निर्णय करना चाहिए कि इस स्थान में प्रयुक्त विशेषण का संबंध उपमेय से हो रहा है या उपमान से ? यदि विशेषण का सम्बन्ध उपमेय से है, तो वहाँ धर्मवाचक लुप्त

उपमा समझनी चाहिए और यदि उपमान से हो, तो रूपक। एक उदाहरण लें—"मुख पद्म विकसित हो रहा है।" इस उदाहरण में विकास पद्म-रूप उपमान से ही सम्बन्ध रखता है, अतः यहाँ रूपक है। "मुख पद्म हास्य युक्त है"—इस उदाहरण में हास्य का सम्बन्ध चूँकि मुख से है; अतः यहाँ उपमा माननी होगी। पदार्थनिदर्शना से रूपक का यह अंतर है कि वहाँ भी शब्दतः उपमेय अनुक्त रहता हैं। "मनोरम रामा आनंद ही है"—यहाँ भी यद्यपि दो भिन्न पदार्थों में अभेद कराया गया है, तथापि यह मानना होगा कि यहाँ अभिन्न कहे जाने वाले पदार्थों में सादृश्य नहीं है; अतः यहाँ रूपक का प्रयोग नहीं हो सकता।

काव्य-प्रकाशकार ने रूपक के तीन भेद बताये हैं—साङ्ग, निरङ्ग तथा परम्परित। सांग के भी दो भेद हैं—समस्तवस्तु विषय तथा एक-देश-विवर्ती। निरङ्ग के भी दो भेद हैं—शुद्ध एवं माला रूपक। परम्परित के पहले दो भेद हैं—श्लिष्ट एवं अश्लिष्ट, फिर प्रत्येक के दो-दो भेद हैं। इस प्रकार चित्र यों हुआ—



सांगरूपक में अंग सहित उपमान तथा उपमेय का अभेद कहा गया रहता है, जब कि निरंग में अवयवहीन केवल एक उपमान का एक उपमेय से। सांग एवं परम्परित इस माने में अवश्य समान होते हैं कि उभयत्र सावयव उपमान तथा उपमेय होते हैं; पर इस माने में भिन्न भी हैं कि जहाँ सांगरूपक के अवयवभूत आरोप एवं अवयवी रूप आरोप परस्पर निरपेक्ष भी आत्म-लाभ करते हैं, वहाँ परम्परित रूपक के दोनों परस्पर साक्षेप होकर ही आत्मलाभ करते हैं; लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि यहाँ अन्योन्याश्रय-दोष है। कल्पनालोक में अन्योन्याश्रय क्यों? कुछ लोग इसे सांग से पृथक् नहीं मानते।

मम्मट से पूर्व साङ्ग, निरंग तथा परम्परित-जैसे नामों की कल्पना कहीं नहीं मिलती।

अग्निपुराण में केवल रूपक-सामान्य का स्वरूप बताया गया है, वहाँ इसके भेद-प्रभेदों की कोई चर्चा नहीं मिलती। इनके लक्षणों में भामह एवं दण्डी के ही लक्षणों का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। तुलना करें--

अग्निपुराण---उपमानेन यत्तत्वमुपमेयस्य रूप्यते। गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ।।

भामह---उपमानेन यत्तत्वमुपमेयस्य रूप्यते। गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ।।

अग्निपुराणः---उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमेव वा।

दण्डी---उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ।।

रुय्यक ने 'अलंकार-सर्वस्व' में रूपक का स्वरूप यों बताया है---सर्वस्व-कार ने सादृश्य मूलक अलंकारों के तीन वर्ग बताये हैं---भेदमूलक २. अभेदमूलक तथा भेदाभेदमूलक। भेदाभेदमूलक अलंकारों का निरूपण कर लेने के बाद इन्होंने अभेदमूलक अलंकारों में सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया है। इनका लक्षण यों है---

'अभेद प्रधान्ये आरोपे आरोपविषयानपह्नवे रूपकम्'

अर्थात्---भेद तो रहता है, पर प्रधानता 'अभेद' (उपमान एवं उपमेय) को दी जाती है। यहाँ उपमेय पर उपमान का आरोप होता है और विषय या उपमेय का स्ववाचक शब्द से उपादान रहता है।

प्रभेद के नाम पर इन्होंने प्रकाशकार के ही पूर्वोक्त आठ भेदों की चर्चा की है। और यह भी कहा है कि अन्य लोगों ने तो इनमें से प्रत्येक के वाक्यगत एवं समासगत आदि भेद किये हैं; पर उनके प्रपञ्च में पड़ना ठीक नहीं।

हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में लिखा है--

''सादृश्ये भेदेनारोपो रूपकमेकानेकविषयम्'

सादृश्य रहने पर, भिन्न उपमेय में भिन्न उपमान का आरोप होने पर, रूपक नाम का अलंकार होता है। आरोप एक उपमान का भी हो सकता है।

उक्त लक्षण में 'सादृश्य' की शर्त से यह सिद्ध होता है कि जहाँ कार्य-कारण भाव आदि सादृश्येतर संबंध हों, वहाँ रूपक नहीं होता। भेदपूर्वक आरोप की बात करने से अतिशयोक्ति की व्यावृत्ति सिद्ध होती है।

जहाँ तक प्रकार-भेद का संबंध है, एक विषय तथा अनेक विषय---दो भेद पहले बताये गये हैं। एक विषय के भी इन्होंने कई भेद बताये हैं, पहला वह, जहाँ एक उपमेय (विषय) पर एक ही उपमान का आरोप हो, दूसरा वह, जहाँ एक उपमेय पर अनेक उपमानों का आरोप हो। तीसरा वह

जहाँ विषय या उपमेय तो कई हों; पर शब्दतः एक ही उपमान का प्रयोग हो। ऐसे उपमानों की प्रसंग से आर्थ अवगति होती हो।

इसी प्रकार 'अनेक विषय' के भी भोज आदि पूर्वाचार्यों द्वारा विवेचित अनेक प्रभेदों की सोदाहरण चर्चा की है; जैसे—सहजावयव-रूपक, आहार्यावयव-रूपक एवं उभयावयव-रूपक आदि। और भी बहुत-से भेद हो सकते हैं; पर भोज का ख्याल है कि उनका लक्षण बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। कारण, ऊपर जो भेद किये गये हैं, उन्हीं से उन अनुक्त भेदों की चर्चा गतार्थ है। और दण्डी तथा भोज आदि ने जिन अनावश्यक प्रभेदों की चर्चा की है, वैसी चर्चा ही करने की ठान ली जाय, तो हजारों प्रकार के वैचित्र्यमूलक प्रभेद आविष्कृत हो सकते हैं। फिर वे इस बात को मानते हैं—

न पर्यन्तो विकल्पानां रूपकोपमयोरतः।
दिङमात्रं दर्शितं धीरैनुक्तमनुमीयताम्॥

अर्थात्—रूपक एवं उपमा के प्रभेदों की कोई सीमा है क्या? धैर्यशाली मनीषियों ने कतिपय भेदों का अनावरण किया है, आगे प्रतिभावान् लोग खुद तर्कित कर लें।

चंद्रालोककार की परिभाषा इस प्रकार है—

"यत्रोपमान चित्रेण सर्वथाप्युपरज्यते। उपमेयममयी भित्तिस्तत्र रूपक-मिष्यते॥" अर्थात्—जहाँ उपमेयमयी भित्ति उपमान रूपी चित्र से रंग दी जाय, वहाँ रूपक होता है। यह परिभाषा कुछ आलंकारिक हो गई है।

इन्होंने रूपक के चार प्रभेद सर्वथा नवीन संज्ञाओं द्वारा माने हैं—सोपाधि-रूपक, सादृश्य-रूपक, आभास-रूपक और रूपित-रूपक। भोजराज का सविशेषण-रूपक तथा इनका सोपाधि-रूपक—दोनों एक ही-जैसे जान पड़ते हैं। सादृश्य सांग-रूपक से या भोजराज के सहजावयव से समानता रखता है। आभासरूपक यदि चमत्कारहीन निरंग-रूपक को (जैसे अङ्गयष्टि) कहते हैं, तब तो उसे अलंकार ही कहने में संकोच है; पर हाँ, यदि प्रसंग-विशेष में स्वरूपबोध के लिये प्रयुक्त इस अलंकार से यदि किसी प्रकार की सौंदर्य-वृद्धि होती है, तो मानना पड़ेगा कि वह भी रूपक अलंकार का एक भेद है। जहाँ तक रूपितरूपक का सवाल है, यह एक इसका विलक्षण ही भेद है। एक उपमेय पर यदि एक उपमान का आरोप कर दिया जाय, तो उस उपमान पर पुनः आरोपान्तर की आवश्यकता ही क्या है? उदाहरण के लिये यदि कोई कहे—कुचकलश, कोकयुगल। कुच को गोलाई का बोध करने के लिये कलश उपमान प्रयुक्त है ही, फिर उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुच-कलश पर कोकयुगल का आरोप क्यों किया जाय?

इस तरह के प्रयोगों में यदि सहृदयों को कोई विशेष चमत्कार प्रतीत होता, तो——तब तो ठीक है——इसे अलंकार कहा जा सकता है और यदि नहीं, तो फिर एक प्रश्न ही बनकर रह जाता है।

साहित्य-दर्पणकार की परिभाषा यों है——

"रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे अर्थात्——निषेधरहित विषय (उपमेय) में रूपित अर्थात् उपमान के आरोप को रूपक अलंकार कहते हैं। अर्थात् जहाँ इस परिभाषा में भी पदों का साभिप्राय प्रयोग है।

इन्होंने प्रकाशकार मम्मट की भाँति रूपक के तीन प्रभेद–सांग, निरंग तथा परम्परित——स्वीकार किये हैं। इसके अतिरिक्त कुछ नई बातें भी लाई हैं। इनका कहना है कि जिस प्रकार परम्परित-रूपक में श्लिष्ट एवं अश्लिष्टनामक भेद होते हैं, उसी प्रकार सांग रूपक में भी ये भी भेद संभव हैं। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से उन्होंने यह भी बताया है कि किन्हीं-किन्हीं स्थलों में उपमान तथा उपमेय विभिन्न विभक्तियों में भी प्रयुक्त होते हैं——समान विभक्तिक तो होते ही हैं। इन सबके अतिरिक्त जो परवर्ती नये भेदों की कल्पना के बीज इन्होंने बोये हैं, वह है——अधिकारूढ़ वैशिष्ट्य रूपक। अर्थात् जैसे एक उदाहरण यों है——'इदं वक्त्रं साक्षाद्विरहितकलङ्कः शशधरः'——यह तो कलंक-रहित वक्त्र साक्षात् शशधर ही है। यहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में कलङ्कराहित्य रूप एक विशेषण और है और वह उपमान की अपेक्षा उपमेय में एक अधिक (भेदक) धर्म है। संभव है, इसी भेद को देखकर कुवलयानंदकार को न्यून-रूपक, अधिक-रूपक तथा सम-रूपक-जैसे भेदों की कल्पना करने का अवसर मिला हो।

कुवलयानंदकार अप्पय दीक्षित ने कहा है कि जहाँ विषय में विषयी का अभेद एवं ताद्रूप्य वर्णित किया जाय, वहाँ रूपक-अलकार होता है। इस रूपक के पहले दो भेद हैं——अभेद-रूपक एवं ताद्रूप्य रूपक। इन दोनों में से प्रत्येक के तीन तीन भेद होते हैं——न्यून-रूपक, अधिक-रूपक तथा अनुभय (सम)-रूपक। ताद्रूप्य-रूपक में उपमान एवं उपमेय के धर्मों की एकता द्वारा अभेद स्थापना किया जाता है; पर अभेद-रूपक में दोनों——उपमान तथा उपमेय——का सीधा अभेद स्थापित कर दिया जाता है। इन दोनों में से प्रत्येक के तीन भेद हैं ही। आधिक्य रूपक का अर्थ ऊपर स्पष्ट किया गया ही है, उसके विरुद्ध न्यून-रूपक वहाँ है, जहाँ उपमान में उपमेय की अपेक्षा कम गुण दिखाया जाय। जहाँ उपमान तथा उपमेय में न कम और न अधिक गुण प्रदर्शित किये जायँ, वहाँ अनुभय रूपक होता है। इन भेदों के अतिरिक्त परम्परागत भेदों की चर्चा अप्पय दीक्षित ने अपनी 'चित्र मीमांसा' नाम की पुस्तक में की है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इस अलंकार पर पर्याप्त जमकर विचार किया है। अपने सभी पूर्ववर्ती आलंकारिकों की समीक्षा करते हुए रूपक के संबंध में अपना निर्णय देते चले गये हैं। इन्होंने रूपक का जो लक्षण दिया, वह नव्यनैयायिकों की अवच्छेद—गर्भित भाषा में है। इन्होंने इस विषय में प्रविष्ट होकर जो नये विचार दिये, वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) उपमेयगत उपमान तादात्म्य ही रूपक है, बशर्ते कि उपमेय की प्रतीति अपने असाधारण रूप में स्ववाचक शब्द से हो जाती हो। यही तादात्म्य यदि किसी वर्ण्य की शोभा का संपादन करता है, तो यह अलंकार कहा जा सकता है। यह 'तादात्म्य' कहीं संसर्ग (संबंध) रूप हो सकता है और कहीं शब्दतः प्रतीत होने पर विशेषण या विशेष्य भी हो सकता है।

फिर रत्नाकर, अप्पय दीक्षित, मम्मट भट्ट आदि प्रमुख आलंकारिकों के मत का खंडन किया है। भेदों के सम्बन्ध में पहले उन्हीं आठ प्रभेदों की चर्चा की है, जिन्हें मम्मट ने माना है।

(२) सावयव रूपक के संबंध में जो कुछ लोगों का यह आक्षेप है कि जिस प्रकार गौ के कपिला आदि भेदों की गणना के प्रसंग में यह मान लेना कि एक गोसंघातात्मक भी उसका भेद होता है, गलत एवं तर्कहीन है, उसी प्रकार रूपक संघातात्मक सावयव-रूपक को भी रूपक का एक भेद माना जाय यह ठीक नहीं। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए पण्डितराज ने यह माना है कि जिस प्रकार मोती के अलंकारों की भेद गणना के संदर्भ में एक मोती से बने हुए नासमौक्तिक की गणना की जाती है, उसी प्रकार अनेक मोतियों से बने हुए (संघातात्मक) मौक्तिक मञ्जरी आदि की भी गणना की जाती है, ठीक उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। साथ ही यह भी समझ लीजिये कि सावयव रूपक एवं माला-रूपक यद्यपि दोनों संघातात्मक हैं, तथापि दोनों का मौलिक अंतर यह है कि जहाँ सावयव रूपक में अनेक विषय होते हैं, वहाँ माला-रूपक में एक ही विषय होता है।

(३) परम्परित रूपक तथा सावयव रूपक दोनों में ही यद्यपि एक आरोप आरोपान्तर की अपेक्षा रखता है, तथापि दोनों का मूल अंतर यह है कि जहाँ परम्परित रूपक में आरोपान्तर ही निमित्त होता है (श्लेषभित्तिक अभेदाध्यव-साय द्वारा निष्पन्न साधारण धर्म और तन्मूलक सादृश्य से मूल आरोप की सिद्धि होती हैं) वहाँ सांग-रूपक में कवि-समय-सिद्ध सादृश्य से भी आरोपान्तर की सिद्धि होती है। कुछ लोगों का तो यह भी कहना है कि सांग-रूपक में अनेक आरोप होते हैं, जब कि परम्परित रूपक में दो ही; पर यह भेदक तत्त्व ठीक नहीं है। परम्परित रूपक में भी अनेक आरोप हो सकते हैं।

(४) इसके बाद जो समस्या उठाई गई है, उपमान के नाम पर रूपक के व्यवहार का, वह संस्कृत व्याकरण और उसकी व्युत्पत्तियों के अनुरोध-विरोध से ज्यादा संबद्ध है। उद्भट के संदर्भ में वह उतना आवश्यक भी नहीं है।

इस प्रकार पदार्थ रूपक संबद्ध अनेक विध विचारों को उपस्थापित करते हुए वे वाक्यार्थ रूपक पर उतरते हैं। वाक्यार्थ रूपक के प्रसंग में उन्होंने अप्पय दीक्षित के मत की आलोचना की है और बताया है कि उनके अनुसार निदर्शना तथा वाक्यार्थ रूपक का अंतर ही न हो सकेगा। कारण यह है कि अप्पय दीक्षित रूपक में 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव' नहीं मानते और निदर्शना में मानते हैं। पंडित-राज इस भेदक-तत्त्व को स्वीकार नहीं करते। साथ ही यह भी कहते हैं बिम्ब-प्रति-बिम्ब भावापन्न धर्मों की स्थिति यदि वाक्यार्थोपमा में होती है और अप्पय इस बात को मानते हैं, तो उन्हें यह भी मानना होगा कि उसी उक्त विध उदाहरण में जब उपमेय एवं उपमान के बीच सादृश्य की जगह अभेद की बात कह दी जाय, तो वहाँ रूपक मानना ही पड़ेगा। आखिर उपमा एवं रूपक में इतना ही तो अंतर है कि जहाँ एकत्र सादृश्य की शर्त है, वहीं दूसरी जगह अभेद की। वस्तुतः वाक्यार्थ रूपक एवं निदर्शना का जो अंतर अप्पय ने दिया है, वह मान्य नहीं है। होना चाहिए अंतर यों——

वाक्यार्थ रूपक में अभेद संबंध शाब्द होता है——अतः उद्देश्यविधेयभाव भी स्पष्ट रहता है, जबकि वाक्यार्थ निदर्शना में प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच का अभेद संबंध आर्थ रहता है, फलतः वहाँ उद्देश्य विधेयभाव स्पष्ट नहीं रहता।

अंत में रूपकस्थलीय शाब्दबोध का विचार तथा रूपक-ध्वनि के उदाह-रणों द्वारा प्रासंगिक विवेचन करते हुए 'रूपक' की चर्चा समाप्त की है।

अच्युतराय ने अपने 'साहित्यसार' नाम की पुस्तक में कहा है कि काव्य-प्रकाश आदि चार ग्रंथों में (साहित्य-दर्पण, प्रतापरुद्रीय तथा रसगंगाधर) रूपक के आठ भेद बताये गये हैं। दीक्षितजी ने इसे छः प्रकार का बताया है। राय साहब का कहना है कि इन दोनों को मिला दिया जाय, तो सब १४ प्रकार हो जायँगे। 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में शब्दभूयिष्ठ——अर्थभूयिष्ठ आदि २४ प्रभेदों की चर्चा की है। इन चौबीसों में रूपक-रूपक ही एक ऐसा भेद है, जो उक्त १४ भेदों में समाविष्ट नहीं हो सकता, शेष २३ का तो कहीं-न-कहीं समावेश हो ही जायगा।

निष्कर्ष यह कि उद्भटालोचित एवं आविष्कृत प्रभेदों को अंत तक मान्यता मिली है। कुछ और बढ़ना तो सृष्टि का नियम ही है। हाँ समस्त वस्तु-विषय और माला-रूपक को जो पर्याय की भाँति ले लिया है, वह अन्यत्र लक्षित नहीं होता।

दीपक--

दीपक का स्वरूप उद्भट ने यों बताया है। दीपक में जो साधारण धर्म प्रयुक्त होते हैं, वहाँ उपमा अंतर्निहित रहती है--वाच्य नहीं। इन धर्मों का संबंध उपमेय तथा उपमान, दोनों से होता है। धर्म आरम्भ में भी आ सकते हैं, मध्य में भी और अंत में भी। इस दृष्टि से इन्होंने तो क्या, इंदुराज ने दीपक के स्पष्ट ही तीन भेद कर दिये।

भरत ने कहा--नानाधिकरणस्थानां शब्दानां संप्रदीपतः।
एक वाक्येन संयोगो यस्तद्दीपकमुच्यते ।।

नाना प्रकार के शब्द जब परस्पर एक दूसरे को दीपित करते हुए एक वाक्य में स्थित हों, तो वहाँ दीपक नाम का अलंकार कहा जाता है।

'नानाधिकरणस्थानां' की जगह कहीं-कहीं 'नानाधिकरणार्थानाम' पाठ भी रखा गया है। श्री मनमोहन घोष ने इस कारिका की व्याख्या यों की है--
Condenced Expression :

When words agreeing with different [sets of] words are combined in to one sentence by way of illuminating them together it in (an instance of) Condenced-Expression (दीपक=Lit. Light).

भामह मे 'दीपक' का कुछ रूप स्फुट होना शुरू होता है। उन्होंने यह कहा आदिमध्यांतविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते। एकस्यैव व्यवस्थत्वात् इति तद्भिद्यते त्रिधा।
अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात्

अर्थात्--एक ही धर्म कभी आदि, कभी मध्य तथा कभी अंत में आता है--इसलिये दीपक के तीन भेद होते हैं। 'दीपक' संज्ञा इसलिये सार्थक है कि वहाँ प्रकृत धर्म अर्थ-दीपन करते हैं।

भामह ने 'अर्थ-दीपन' का अभिप्राय स्पष्ट नहीं किया और उपमा या सादृश्य की स्थिति क्या होती है--यह भी नहीं बताया; पर इन सबके बावजूद भरत-नाट्य-शास्त्र से कई स्तर आगे प्रस्तुत परिभाषा दीपक का स्वरूप स्पष्ट करती है।

दण्डी का लक्षण इस प्रकार हैं--

जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्र वर्तिना। सर्ववाक्योपचारश्चेत् तमाहुर्दीपकं यथा।

भरत की तरह ये आलंकारिक इस अलंकार के निरूपण में प्रायः एक ही क्रम रखते हुए देखे जा रहे हैं। दण्डी ने भी रूपक के बाद भरत की तरह दीपक'

का विचार किया है। इनकी परिभाषा का अर्थ यह है। एक वाक्य में अवस्थित जाति गुण, क्रिया एवं द्रव्य-वाचक पद यदि स्वसंसृष्ट वाक्य का उपकार करके स्वार्थ द्वारा अन्य वाक्यों का भी उपकार करते हों, तो दीपक अलंकार वहाँ होता है।

इन्होंने दीपक के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के बाद दीपक के दूसरी दृष्टि से चार भेद कहे हैं—जातिदीपक, गुणदीपक, क्रिया दीपक तथा द्रव्य दीपक। बाद में भामहोक्त आदि, मध्य एवं अंत वाले भेदों की भी सोदाहरण चर्चा की है। इसके बाद माला दीपक, विरुद्धार्थ दीपक, श्लिष्टार्थ दीपक आदि भेदों की चर्चा करते हुए यह भी कहा कि इसी तरह दीपक के शेष प्रकारों की भी जानकारी सुधीगण कर लें। यहीं तक नहीं, उन्होंने यह भी कहा कि अर्थावृत्ति, परावृत्ति एवं उभयावृत्ति नामक तीन अन्य अलंकारों की कल्पना दीपक के स्थान पर लोगों ने कर ली है। आश्चर्य है कि इन भेदों की चर्चा आगे चलकर और किसी ने नहीं की, सुदूर वर्ती कुवलयानंदकार ने अवश्य की।

इस विवेचन-क्रम में जहाँ तक उद्भट के ऋणी होने का सवाल है। वे दण्डी की अपेक्षा भामह के ऋणी हैं; परंतु उद्भट ने भामह की अपेक्षा दीपक की एकाधिक स्वरूप बोधक तथा भेदक विशेषताओं का उल्लेख किया है। भामह ने न तो यही कहा था कि इस अलंकार में उपमानोपमेयभाव अंतर्गत अर्थात् आर्थ (व्यंग्य) रहता है, शब्दतः नहीं कहा गया रहता है और न तो यही कहा था कि उन धर्मों का प्रधान (उपमेय) तथा अप्रधान (उपमेय के लिये प्रयुक्त-उपमान) से संबंध होता है। इस प्रकार उद्भट ने पर्याप्त स्पष्टता लाने की कोशिश की है।

इंदुराज—इनके टीकाकार ने—स्पष्टता के लिये कुछ और बातें कहीं हैं। वे ये हैं कि यहाँ धर्मों का एक ही बार प्रयोग होता है। यदि उन्हीं समान धर्मों का एकाधिक बार प्रयोग हो, तो निश्चय ही वहाँ प्रतिवस्तूपमा नाम का अलंकार होता है। जहाँ तक इस अलंकार की संज्ञा का सवाल है, इंदुराज का यह कहना है कि ये धर्म मुख्यतः तो उपमेय के उपकारार्थ प्रयुक्त किये जाते हैं; पर वे काम उपमान के भी आ जाते हैं। अतः उपमान का घर भी दीपक की तरह प्रकाशित कर देते हैं, फलतः इस अलंकार को दीपक-अलंकार कहते हैं।

काश्मीरिक आलंकारिकों की परम्परा में ये वामन ही हैं, जिन्होंने उपमा एवं रूपक के बाद दीपक-निरूपण का क्रम-भंग किया है। वामन ने उपमा एवं रूपक के बाद कई अलंकारों का विचार करने के बाद 'दीपक' का स्वरूप यों बताया है।

उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम् ४।३।१८

उद्भट द्वारा उक्त अन्य विशेषताओं का—जैसे सादृश्य का अंतर्निहित होना—तो उल्लेख नहीं किया, पर थोड़े ही शब्दों में दीपक का स्वरूप अवश्य स्पष्ट कर दिया। 'धर्मों का एक ही बार प्रयोग हो'—दीपक की इस शर्त को अलग से प्रतीहारेंदुराज को कहना पड़ा। वामन ने उसका उल्लेख ही कर दिया। इन्होंने कहा कि एक ही क्रिया रूप धर्म से यदि—उपमान तथा उपमेय—दोनों वाक्यों का कार्य चल जाय, तो वहाँ दीपक होता है।

प्रभेद-निरूपण के नाम पर भामह एवं उद्भट की भाँति इन्होंने भी आदि, मध्य एवं अंत में धर्मों की स्थिति-वश दीपक के तोन भेद स्वीकार किये हैं।

रुद्रट ने भी वामन की भाँति यही स्वीकार किया कि जहाँ एक ही क्रिया अनेक वाक्यार्थों से संबद्ध हो, वहाँ तो दीपक होता ही है, दीपक वहाँ भी होता है, जहाँ क्रिया की भाँति एक कारक पद भी अनेक वाक्यों से संबद्ध हो।

इनकी परिभाषा एक दृष्टि से इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि पहले के काश्मीरिक आलंकारिक जहाँ सामान्यतः 'एक धर्म' की बात करते थे, वहां वामन ने उस सामान्य धर्म को 'क्रिया' रूप स्थिर किया। रुद्रट ने 'क्रिया' के साथ 'कारक' को भी सामान्य धर्म के अंतर्गत परिगणित कर लिया है। इस प्रकार रुद्रट पहले आलंकारिक हैं, जिन्होंने दीपक के क्रिया-दीपक एवं कारक-दीपक नाम के दो भेद स्थिर किये। पुनः आदि, मध्य एवं अन्त-गत दीपक धर्मों की स्थितिवश ये दोनों छः प्रकार के हो जाते हैं।

कुन्तक का कहना है कि औचित्य के अनुरूप सुन्दर और सहृदयों के आह्लादकारक (प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत) पदार्थों के प्रतीयमान धर्म को प्रकाशित करने वाली वस्तु दीपक है।

इस परिभाषा में पुनः क्रिया एवं कारक की जगह पहले के आलंकारिकों की भाँति 'धर्म' जैसे सामान्य शब्द का प्रयोग किया गया। दूसरी विचित्रता यह भी है कि जहाँ अन्य आलंकारिकों ने धर्म के द्वारा अन्य उपमेय तथा उपमान वाच्यों के दीपन की बात कही थी—वहाँ कुन्तक 'धर्म' का ही दीपन या प्रकाशन बता रहे हैं और इसीलिये उसे 'अशक्त' [अशक्त धर्ममर्थानां दीपकं वस्तु दीपकम्] भी कहा है। 'अशक्त' का अर्थ 'अप्रकट' बताया है और इसलिये उसके प्रकाशन की, दीपन की आवश्यकता भी बताई है। यदि कुंतक का इस 'अशक्त धर्म' से पदार्थों के व्यंग्य साधर्म्य या सादृश्य से मतलब है, तब तो परम्परानुरोधी बात मानी जायगी; पर यदि इस 'अशक्त धर्म' का अर्थ कारक या क्रिया रूप प्रयुक्त (अन्वयोपयोगी) धर्म से है, तो वह हो भी नहीं सकता और परम्परा-विरुद्ध तो होगा ही। उदाहरणों के देखने से भी

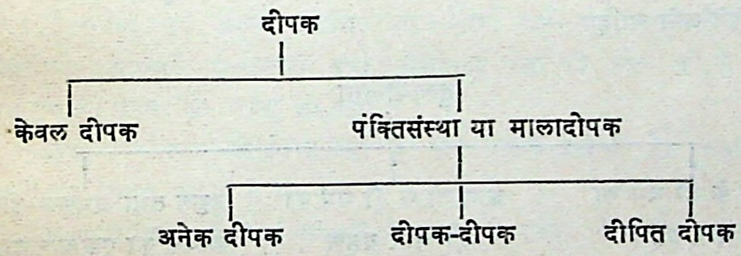
यही स्पष्ट होता है कि वह अप्रकट पदार्थों का सादृश्य ही है—उनसे सम्बद्ध साधारण धर्म नहीं।

इन्होंने दीपक के दो भेद स्वीकार किये और वह इस आधार पर कि 'प्रकाशक' कहीं एक ही पद हो सकता है—और कहीं अनेक पद हो सकते हैं। इनके नाम यों हैं—केवल दीपक तथा पंक्तिसंस्थ या मालादीपक। यद्यपि 'मालादीपक' नामक अलंकार की चर्चा आगे भी हुई है, परन्तु परवर्ती आचार्यों की धारणा कुंतक से मालादीपक के प्रथम स्वरूप के संबंध में भिन्न है।

कुंतक ने 'पंक्तिसंस्थ' या 'मालादीपक' के तीन प्रकार बताये हैं—एक प्रकार तो वह है, जहाँ 'अनेक पद' के रूप में प्रकाशक हो। दूसरा भेद है—दीपक-दीपक ; और तीसरा भेद है—दीपित—दीपक। 'दीपक-दीपक' का अर्थ यह हुआ कि एक वस्तु यदि जो दूसरे का दीपक है, उसका भी जब कोई दूसरा दीपक हो। दीपित-दीपक में यह है कि जो वस्तु पहले किसी दूसरी वस्तु से दीपित हुई, वही आगे जब दूसरे का दीपक हो जाय। उदाहरण लें—

दीपक-दीपक—क्षोणीमण्डल का मण्डन है—नृपति; और नृपति का भूषण है—श्री।

दीपितदीपक—पवित्र ज्ञान शरीर को विभूषित करता है और शान्ति उस ज्ञान को अलंकृत करती है।



भोजदेव ने दीपक के संबंध में अपनी परम्परा दंडी से जोड़ी है। भोजराज ने एक स्थान पर यह कहा है कि जहाँ एक स्थल पर प्रयुक्त गुण, क्रिया, जाति या द्रव्य से सभी वाक्यों का उपकार हो, वहाँ दीपक नामक अलंकार होता है। दण्डी ने इस दृष्टि की शुरुआत की थी और भोज ने उसी धारा को पकड़ा। जातिद्रव्य वाला विभाग तो है ही, दण्डी द्वारा निरूपित और भी अन्यान्य प्रभेदों की चर्चा भोज ने की है।

भोजराज के पश्चात् मम्मट ने स्वरूप में कोई परिवर्त्तन नहीं किया। पूर्व चर्चित कारक दीपक तथा क्रियादीपक जैसे भेदों के भी उदाहरण दिये। माला-दीपक तो उदाहृत किया हो। आदिमध्यान्त अथवा जातिगुण क्रिया आदि के कारण

होने वाले भेदों की मम्मट ने कोई चर्चा नहीं की। सर्वस्वकार रुय्यक ने भी क्रिया-दीपक, कारकदीपक तथा मालादीपक का सलक्षण निरूपण किया ही—इसके साथ उन्होंने 'आदिमध्यान्त' की भी बात उठाई है। इस संदर्भ में हेमचन्द्र ने विचित्र क्रांति की है। उन्होंने तुल्ययोगिता को दीपक से पृथक् नहीं माना और इसलिये उन्हें यह कहना पड़ा कि प्रकृत या अप्रकृत दोनों हों या केवल—यदि उनका संबंध एक धर्म से हो, तो वहाँ 'दीपक' का व्यवहार करना चाहिए। इस परिभाषा की परिधि में तुल्ययोगिता की भी समाई है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी यही प्रश्न उठाया है कि क्यों तुल्ययोगिता को दीपक से पृथक् माना जाय? हेमचंद्र ने तो क्रियादीपक एवं कारकदीपक-जैसे विभागों को भी निरर्थक बताया; परन्तु इनके तर्कों पर ध्यान न देते हुए साहित्य-दर्पणकार-जैसे आलंकारिक भी कारकदीपक एवं क्रियादीपक की बात करते हैं। हाँ, आदिमध्यान्तरमूलक भेदों को अवश्य निरर्थक बताते हैं और कहते हैं कि यदि इस प्रकार भेद ही करना हो, तो फिर कितने भेद किये जा सकते हैं।

पण्डितराज ने हेमचंद्र की उत्थापित समस्या को पुनर्जन्म दिया और आलंकारिकों के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि जहाँ हेमचंद्र दीपक से पृथक् तुल्योगिता का अस्तित्व नहीं रखते, वहाँ पण्डितराज तुल्ययोगिता से पृथक् दीपक का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते और प्रस्ताव रखते हैं कि तुल्ययोगिता के तीन भेद किये जाने चाहिए—

तुल्ययोगिता

प्रकृतों के ही धर्म का एक बार ग्रहण	अप्रकृतों के ही धर्म का एक बार ग्रहण	प्रकृत तथा अप्रकृत—दोनों के धर्म का एक बार ग्रहण

इस प्रकार पण्डितराज का यह विचार है कि तुल्ययोगिता से दीपक की पृथक् रचना प्राचीनों का एकमात्र दुराग्रह ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्भट ने तुल्ययोगिता से दीपक की जो पृथक् स्थिति समझी और उसके स्वरूप तथा प्रभेदों पर विचार किया, अंततः वे सभी बातें मान्य नहीं। इनके प्रभेदों पर तो विश्वनाथ, पण्डितराज आदि अनेक आलंकारिकों ने आक्षेप किये, पर हेमचन्द्र तथा पण्डितराज ने तो दोनों अलंकारों के पार्थक्य पर भी आपत्ति की। साहित्यसार अच्युतराय, चंद्रालोक तथा कुवलया-नन्दकार ने इन अलंकारों के पारस्परिक पार्थक्य पर कोई आपत्ति नहीं की।

उपमा —

'भरत-नाट्य-शास्त्र' में उपमा का स्वरूप यों बताया गया है—गुण और आकृति के आधार पर सादृश्यवश जहाँ किसी वस्तु को उपमित किया जाय, वहाँ उपमा नाम का अलंकार होता है। यह उपमा एक की एक तथा अनेक से और इसी प्रकार अनेक की एक तथा अनेक से ही हो सकती है। आगे चलकर इसके पाँच भेद बताये हैं—

उपमा

प्रशंसोपमा | निंदोपमा | कल्पितोपमा | सदृशी-उपमा | किंचित्सदृशी उपमा

प्रशंसा अथवा निंदा के उद्देश्य से यदि उपमान का प्रयोग है, तो वहाँ क्रमशः प्रशंसोपमा एवं निंदोपमा हो सकती है। जहाँ उपमान कल्पित हो, वहाँ कल्पितोपमा होती है। किंचित्सदृशी उपमा में उपर्युक्त तीनों बातें नहीं रहतीं, फिर भी किसी-न-किसी उपमान से उपमेय की समानता प्रदर्शित की जाती है। 'सदृशी' का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह सादृश्य-निषेध या आगे चलकर कल्पित होने वाले 'असम' अलंकार की तरह है।

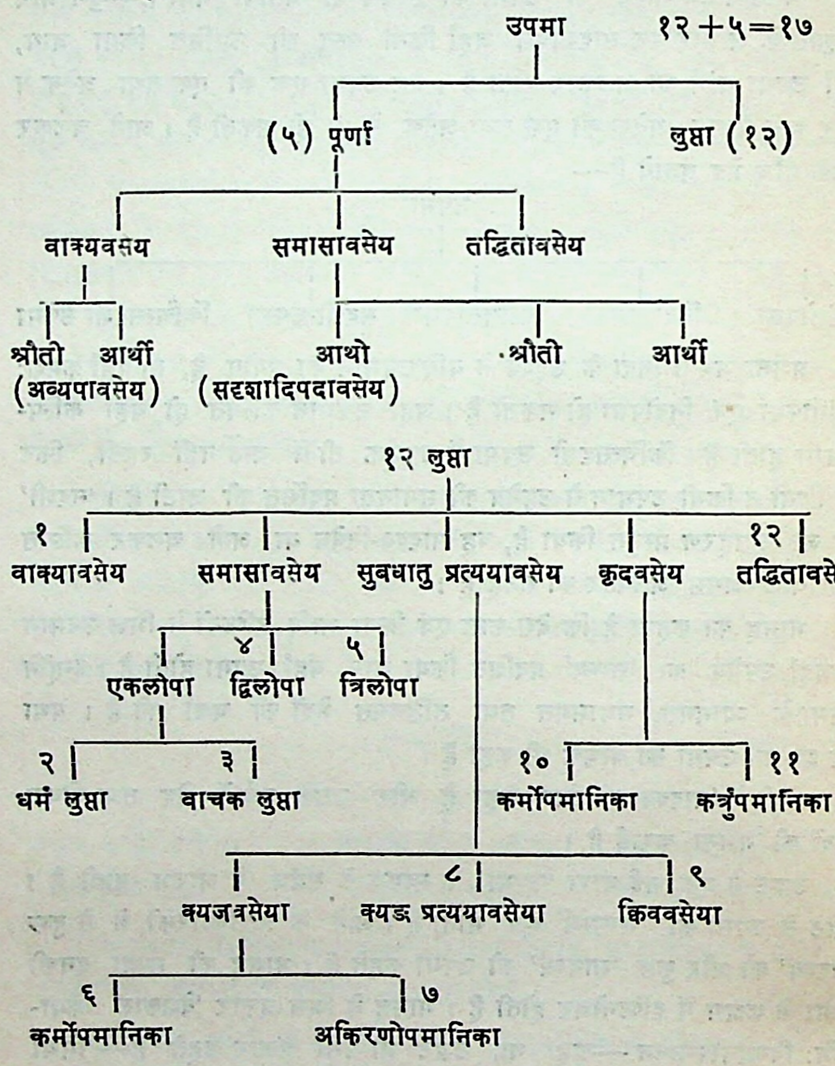
भामह का कहना है कि देश-काल एवं क्रिया आदि दृष्टियों से भिन्न उपमान से जहाँ उपमेय का 'साम्य' प्रदर्शित किया जाय, वहाँ उपमा होती है। इन्होंने उपमा के व्यासगत, समासगत तथा तद्धितगत भेदों की चर्चा की है। यथा एवं इव को उपमा का वाचक भी कहा है।

दण्डी ने 'सादृश्य' को उपमा कहा है और उसके दर्जनों भेद तथा बोधक शब्दों की गणना कराई है।

उद्भट से एक नई धारा 'उपमा' के स्वरूप के संबंध में आरंभ होती है। उद्भट ने उपमा को 'साधर्म्य' रूप माना है। आगे के आलंकारिकों में से कुछ 'सादृश्य' को और कुछ 'साधर्म्य' को उपमा कहते हैं। भामह की छाया इनकी उपमा के लक्षण में दृष्टिगोचर होती है। भामह ने जिस प्रकार 'देशकाल क्रियादिभिः विरुद्धेनोपमानेन'—कहा था, उद्भट भी उसी प्रकार कहते हैं—'मिथो विभिन्न कालादिशब्दयोरुपमा तु तत्'। जिस प्रकार भामह ने 'यथेव शब्दौ सादृश्यमाहतुः कहा था, उसी प्रकार उद्भट ने भी 'यथेव शब्द योगेन सा श्रुत्यान्वयमर्हति' कहा है।

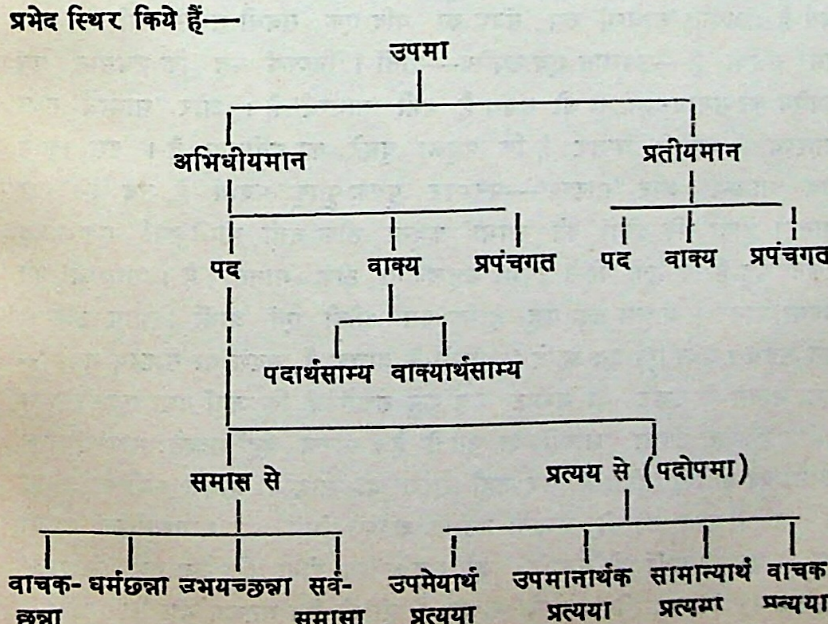
इसके पश्चात् उद्भट ने जो उपमा के १७ या २१ भेद स्थिर किये, उसका भी बीज भामह में मिलता है। यों कुछ दण्डी में भी मिलते हैं। इन्होंने उपमा

के सब भेद यों स्थिर किये। व्याख्याकार दो संख्याओं में इनका भेद संबंधी मत स्थिर करते हैं—



वामन उद्भट के समसामयिक हैं। इन्होंने 'साम्य' को उपमा की संज्ञा दी है। उद्भट की भाँति अनेक भेद-प्रभेदों की गहराई में न जाकर कल्पिता लौकिकी, पदगता, वाक्यगता एवं पूर्ण तथा लुप्ता का उल्लेख अवश्य कर दिया है। रुद्रट ने 'साम्य' 'साधर्म्य' या 'सादृश्य' में से किसी एक को सीधा उपमा का स्वरूप नहीं बताया, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से यह अवश्य कहा कि जहाँ एक

वस्तु में समान और एक ही गुण आदि (धर्म) सिद्ध हों और दूसरे में भी यदि उन्हीं गुणों की स्थापना की जाय, तो वहाँ 'उपमा' का प्रयोग किया जाना चाहिये। उन्होंने पहले-पहल उपमा के तीन भेद स्वीकार किये हैं—वाक्योपमा, समासोपमा एवं प्रत्ययोपमा। पहली के छ, दूसरी के तीन तथा अन्तिम का एक—कुल १० भेद इस प्रकार स्वीकृत किये गये हैं। इनके अतिरिक्त मालोपमा, रशनोपमा, समस्त-विषय तथा एकदेशिनी नामक भेद स्वीकार किये हैं। इन भेदों में से समस्त-विषया तथा एकदेशिनो नामक इन दो भेदों की कल्पना सम्भव है। रूपक के समस्त-वस्तु-विषय तथा एक देशविवार्ती के साम्य के आधार पर कर लिये गये हों। कुंतक ने कहा है कि विवक्षित चमत्कार की सिद्धि के लिये किसी उत्कृष्ट वस्तु के साथ जब किसी वस्तु का 'साम्य' प्रदर्शित किया जाय, तब वहाँ उपमा नाम का अलंकार होता है। 'साम्य' एवं 'सादृश्य' को पर्याय रूप में ही लिया है। वैसे प्रभेदों का उल्लेख इन्होंने नहीं किया है; पर उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पदगत, वाक्यगत, समासगत, इवादि प्रतिपाद्य क्रिया-प्रतिपाद्य आदि भेद मिलते हैं। भोजराज ने कहा है—प्रसिद्धि के अनुरोधवश जहाँ परस्पर दो पदार्थों में प्रचुररूप में अवयव-सामान्य का योग हो, वहाँ उपमा का प्रयोग होना चाहिए। अवयव-सामान्य का अर्थ टीकाकार ने "एकदेश साधर्म्य" किया है। अभिप्राय यह कि इन्होंने 'साधर्म्य' को उपमा कहा। उपमा के २४ प्रभेद स्थिर किये हैं—



मम्मट ने उपमा 'साधर्म्य' को कहा है। रुय्यक ने भी 'साधर्म्य' होने पर ही उपमा की सत्ता स्वीकार की है। हेमचंद्र ने भी 'हृद्य साधर्म्य' को ही उपमा का स्वरूप कहा है। पीयूषवर्ष, जयदेव तथा उनके टीकाकार अप्पय दीक्षित, विश्वनाथ कविराज, पण्डितराज जगन्नाथ एवं अच्युतराम ने 'सादृश्य' को उपमा का स्वरूप बताया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'उपमा' के संबंध में दो प्रकार की धारणाएँ मिलती हैं––मम्मट से पहले उद्भट ही एक ऐसे आलंकारिक हैं, जिन्होंने 'साधर्म्य' को पहले-पहल उपमा का स्वरूप बताया है, शेष आलंकारिकों में से किसी ने 'सादृश्य' रूप बनाया, तो किसी ने 'साम्य' रूप। उद्भट के बाद मम्मट ही दूसरे आलंकारिक हैं, जिन्होंने 'साधर्म्य' को उपमा कहा है। इनके बाद रुय्यक तथा हेमचंद्र आदि ने उद्भट एवं मम्मट की परम्परा अवश्य सँभाली है; परन्तु बाद के आलंकारिकों में से अनेक ने पुनः 'सादृश्य' को ही उपमा का स्वरूप बताया है। इस स्थिति में यह एक विचारणीय प्रश्न खड़ा होता है कि उपमा का स्वरूप 'सादृश्य' माना जाय या 'साधर्म्य'? पर किसी खास निर्णय पर पहुँचने से पूर्व 'सादृश्य' एवं 'साधर्म्य' में क्या अन्तर है––यह भी देखना चाहिए। 'सादृश्य' एक 'संबंध' है, जो उपमान और उपमेय के बीच माना जाता है अर्थात् 'सादृश्य' संबंध का एक संबंधी उपमान है और दूसरा उपमेय। 'साधर्म्य' भी एक संबंध ही है। समानधर्म संबंध 'साधर्म्य' का शाब्दिक अर्थ है। अर्थात् 'साधर्म्य' रूप संबंध का यदि एक संबंधी समान धर्म है तथा दूसरे संबंधी है––उपमान एवं उपमेय––दोनों। निष्कर्ष यह कि उपमान एवं उपमेय का समान-धर्म से जो संबंध है, वही 'साधर्म्य' है। और 'साधर्म्य' तथा 'सादृश्य' में यह भी अन्तर है कि पहला दूसरे का प्रयोजक है। इस प्रकार जब 'साधर्म्य' और 'सादृश्य'––परस्पर पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं, तब तो यह मानना होगा कि दोनों को 'उपमा' कहना ठीक नहीं, होगी कोई एक ही। देखना यह है कि तर्क किसे उपमा कहलवाना ठीक मानता है। 'साधर्म्य' को उपमा मानने में पहला तर्क यह है कि इससे श्रौती एवं आर्थी विभाग ठीक से बन सकेंगे। यथा एवं इव आदि 'साधर्म्य' के वाचक हैं, सदृश या सादृश्य नहीं–– ऐसा मानने से उद्भट या मम्मट यह कह सकते हैं कि जहाँ यथा एवं इव का प्रयोग है, वहाँ उपमा 'शाब्दी' या 'श्रौती' है। कारण वहाँ शब्दतः साधर्म्यात्मक उपमा की प्रतीति होती है, पर जहाँ 'सदृश' या 'सादृश्य' बोधक पदों का प्रयोग है, वहाँ 'सादृश्य' की तो शब्दतः प्रतीति अवश्य होगी; पर साधर्म्यात्मिक उपमा की तो शब्दतः नहीं हो सकती। हाँ, यह अवश्य होगा कि जब वहाँ 'सादृश्य' है, तब वह निश्चय ही 'साधर्म्य' के बल से ही तो है। मतलब यह कि 'सादृश्य'

के द्वारा वहाँ इस प्रकार की आर्थिक प्रक्रिया से हम 'साधर्म्य' तक पहुँचेंगे; अर्थात् वहाँ साधर्म्य रूप उपमा की आर्थी स्थिति होगी। जो लोग 'सादृश्य' को उपमा कहेंगे, उनके लिये यह कहना होगा कि उन्हें तो चाहे यथा एवं इव हो या सादृश्य एवं सम हो—सर्वत्र उपमा को श्रौती ही कहना पड़ेगा। पण्डितराज ने भी इव, यथागर्भित उदाहरणों में ही उपमा को श्रौती माना है, तुल्य या सदृश अथवा तत्समानार्थ शब्दों का जहाँ प्रयोग किया है, वहाँ आर्थी का उदाहरण बताया है; पर ऐसा कहने में ये लोग तर्क क्या देंगे? जहाँ 'सदृश' शब्द का प्रयोग है, वहाँ जब शब्दतः 'सादृश्यवान्' की प्रतीति है, तब उसकी प्रतीति को आर्थी कहने का अर्थ कुछ समझ में नहीं आता। इसलिये 'साधर्म्य' वाला पक्ष कम-से-कम इस दृष्टि से तो ठीक ठहरता ही है। इस दृष्टि से इस परम्परा के उद्भावक उद्भट का पर्याप्त महत्त्व स्वीकार करना पड़ता है।

जहाँ तक प्रभेद की दृष्टि से उद्भट के महत्त्व का संबंध है, उद्भट ने १७ प्रभेद स्थिर किये हैं। किसी-किसी टीकाकार ने २१ प्रभेद भी उन्हीं के ग्रंथ से निकाले हैं। उद्भट के पहले भी और बाद में भी उपमा के प्रभेदों की संख्या दर्जनों से भी ऊपर पहुँचाई गई है; किन्तु परवर्ती आलंकारिकों की विभाजन धारा का सूक्ष्म विश्लेषण करने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उद्भट आविष्कृत धारा ही परवर्ती प्रामाणिक आलंकारिकों द्वारा मान्य हुई। उदाहरणार्थ मम्मट को ही लें—उन्होंने जो पूर्ण उपमा के ६ तथा लुप्ता उपमा के १९ भेद स्थिर किये हैं, उनके आधार उद्भट के ही आधार हैं। वहाँ, पूर्णा, लुप्ता, श्रौती, आर्थी तथा वे ही व्याकरणिक प्रत्यय। कुछ और उद्भटानालोचित प्रत्ययों का सहारा लेकर इन्होंने उनकी संख्या २५ तक पहुँचा दी। पूर्णोपमा के उद्भट ने पाँच ही भेद माने थे, जहाँ मम्मट ने ६ माने। इसी प्रकार जहाँ उद्भट ने लुप्तोपमा के १२ ही भेद स्वीकार किये, वहाँ मम्मट ने १९ माने। संख्या अवश्य मम्मट ने बढ़ाई; पर सरणि नहीं बदली। रुय्यक ने यह कह कर चलता किया कि चिरंतन आलंकारिकों ने पूर्णा, लुप्ता आदि भेद किये हैं। इस प्रसंग में उन्होंने यह अवश्य बताने की कृपा की कि उपमा के धर्म कई रूप के होते हैं—कहीं वह साधारण धर्म अनुगामी रूप, कहीं वस्तु-प्रति-वस्तु रूप, कहीं बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप होता है। पण्डितराज ने इन दोनों (रुय्यक तथा उद्भट) के दिङनिर्देशों को बढ़ाया है। हेमचंद्र ने काव्य-प्रकाश द्वारा कुछ बढ़ाये हुए प्रभेदों की ओर इंगित किया है। चंद्रालोककार इस भेद-प्रपंच में प्रविष्ट ही नहीं हुए। अग्निपुराण में एक सर्वथा पृथक् मार्ग ही लक्षित होता है। उनकी सरणि उद्भट से सर्वथा भिन्न है। इन्होंने दण्डी एवं भोज की भाँति एक विचित्र ढंग से ही धर्मोपमा, परस्परोपमा, विपरीतोपमा, नियमोपमा, अनिय-

मोपमा, समुच्चयोपमा, व्यतिरेकोपमा, मालोपमा, अद्भुतोपमा, विक्रियोपमा, मोहोपमा, निश्चयोपमा, वाक्यार्थोपमा, अन्योपमा, गगनोपमा-जैसे भेदों की चर्चा की है और उपसंहार करते हुए भरत-निर्दिष्ट उपमा के पाँचों भेदों की कल्पना की है।

कुवलयानंद में अप्पय दीक्षित ने लुप्तोपमा के आठ भेदों की ही ओर संकेत दिया है—वाचकलुप्ता, धर्मलुप्ता, धर्मवाचकलुप्ता, वाचकोपमेवलुप्ता, उपमानलुप्ता, वाचकोपमानलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, धर्मोपमानवाचकलुप्ता। सरणि तो वही उद्भट की ही है; पर कुछ प्रभेदों का उल्लेख नहीं किया।

पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट द्वारा आलोचित २५ प्रभेदों का तो उल्लेख किया ही, सात और जोड़कर उसकी संख्या ३२ तक पहुँचा दी, और फिर मम्मट तथा अप्पय दीक्षित के कतिपय भेदों की आलोचना भी की। पण्डितराज ने एक अन्य दृष्टि से भी उपमा के पाँच भेद स्थिर किये—(१) वस्तु रूप प्रधान व्यंग्य की उपस्कारिका, (२) अलंकार रूप प्रधान व्यंग्य की उपस्कारिका, (३) रसादिरूप प्रधान व्यंग्य की उपस्कारिका, (४) वस्तुरूप प्रधान वाच्योपस्कारिका, (५) अलंकार रूप प्रधान वाच्योपस्कारिका। इस प्रकार मम्मटोक्त २५ भेदों में से यदि प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद मानें, तो कुछ मिलाकर १२५ भेद होते हैं और जौर जो लोग ३२ भेद मानते हैं, उनके अनुसार कुल १६० भेद हुए। इसी प्रकार और भी अनेक ढंग से किये हुए भेदों पर विचार किया है। फिर उपमा-स्थल के शाब्द बोध की प्रक्रिया तथा उपमा दोनों की भी छान-खोज प्रस्तुत की है। इस प्रकार उपमा-निरूपण में उद्भट का क्या स्थान है—यह स्पष्ट दिखाया गया।

प्रतिवस्तूपमा—

भरत-नाट्य-शास्त्र में इस अलंकार की कोई चर्चा नहीं है। भामह ने इसकी निरूपणा यों की है। समान वस्तुओं के न्यास से प्रतिवस्तूपमा होती है। यहाँ औपम्य की प्रतीति के लिये यद्यपि यथा, इव आदि का प्रयोग नहीं होता, फिर भी गुणों के कारण साम्य की प्रतीति होती ही है। भामह ने उपमा-भेद के रूप में इसका उल्लेख किया है। दण्डी ने भी उपमा-प्रभेद के ही रूप में इस पर विचार करते हुए यह कहा है—पहले किसी वस्तु का न्यास करके फिर उसी से धर्म-साम्य रखने वाले अन्य वस्तु का विन्यास जहाँ किया जाय और उनमें यदि साम्यप्रतीति हो, तो वहाँ प्रतिवस्तूपमा नाम का अलंकार होता है। वामन ने भी वही बात दुहराई कि उपमेय का कथन करने पर जहाँ बाद में उसी के समान वस्तु का विन्यास हो, वहाँ प्रतिवस्तूपमा नामक अलंकार होता है। वाक्यार्थोपमा से अंतर करते हुए इन्होंने यह भी कहा कि प्रतिवस्तु-

पमा में जहाँ दो वाक्य होते हैं। वहाँ इस वाक्यार्थोपमा में एक ही वाक्य होता है।

इस स्थिति में भामह एवं दण्डी के अनंतर वामन के समसामयिक इस उद्भट नाम के आलंकारिक ने 'प्रतिवस्तूपमा' को स्वतंत्र एक अलंकार मानते हुए उसका थोड़ा विस्तृत विवेचन किया है। उनका कहना है--उपमान एवं उपमेय के संविधान में जहाँ साम्यवाचक शब्द का (अनेक बार) बुधों ने अनेकधा प्रयोग किया हो, वहाँ यह अलंकार होता है। मूल ग्रंथकार ने तो केवल साम्यवाचक शब्द के प्रयोग की बात कही है, परंतु टीकाकार इंदुराज ने यह स्पष्ट कहा है कि साम्यवाचक शब्द का असकृत् (अनेक बार) प्रयोग हो। उद्भट ने प्रतिवस्तूपमा का स्वरूप बताते हुए कई आशंकाएँ भी मन में खड़ी की हैं। पहली यह कि जब वहाँ साम्यवाचक शब्द का अनेक बार प्रयोग होगा, तब निश्चय ही दो वाक्य होंगे और इस स्थिति में इव आदि शब्दों का प्रयोग संभव नहीं है; क्योंकि उनकी क्षमता एक ही वाक्य का अवयव बनकर प्रयुक्त होने में है। प्रश्न यह खड़ा किया जाता है कि फिर जब इव आदि जैसे पदों का प्रयोग ही नही है, तब वहाँ उपमानोपमेयभाव की प्रतीति किस प्रकार होगी? उत्तर स्पष्ट ही यों है कि जब एक प्राकरणिक एवं दूसरा अप्राकरणिक है, तब अर्थात् उनकी उपमानोपमेयता आभासित हो जायगी। उद्भट ने यहाँ यह भी बताया कि उपमा की प्रतीति कहीं तो शब्दतः होती है, जहाँ तद्वाचक शब्द का प्रयोग होता है। कहीं-कहीं 'शस्त्रीश्यामा' जैसे प्रयोग स्थलों में संस्कारवश आ जाता है और कहीं-कहीं अर्थात् प्रतीत होता है। प्रतिवस्तूपमा में इसकी प्रतीति आर्थी ही मानी जानी चाहिए।

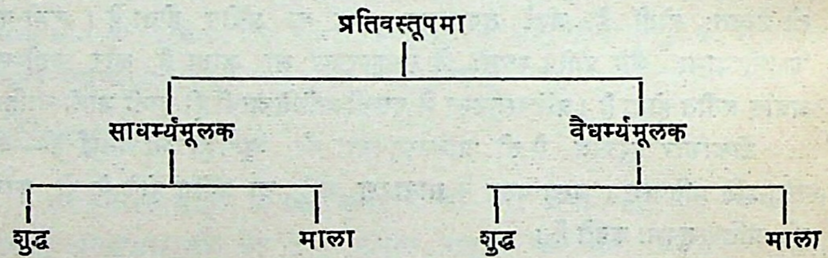
टीकाकार इंदुराज ने तो 'प्रतिवस्तूपमा' की व्युत्पत्ति भी बताई है--वस्तु वस्तु-इति प्रतिवस्तु। वस्तु-वस्तु में साधारण धर्म का प्रयोग होने के ही कारण इसे प्रतिवस्तूपमा कहते हैं।

इस प्रकार भामह एवं दण्डी की अपेक्षा उद्भट ने स्वतंत्र रूप से क्षोदक्षम तथा स्पष्ट विचार प्रतिवस्तूपमा के संबंध में किया है, परंतु प्रभेदों की वहाँ कोई चर्चा नहीं। स्वरूप के संबंध में तो आगे भी चलकर नया परिवर्तन नहीं है--परंतु विभिन्न प्रभेदों की बात तथा अन्य अलंकारों से पार्थक्य की बात गहराई के साथ अवश्य उपस्थित की गई है। रुद्रट ने इसकी जगह 'उभयन्यास' की बात कही है।

कुंतक ने इस अलंकार का खण्डन ही किया है। कुंतक का तर्क यह है कि प्रतिवस्तूपमा को प्रतीयमानोपमा ही में क्यों न अंतर्भूत कर लिया जाय, अलग से एक अलंकार मानने की आवश्यकता क्या है? पर यह तर्क लोगों को मान्य न हुआ। कारण यह है कि फिर तो वे सारे अलंकार--दीपक, रूपक, तुल्ययोगिता

आदि--जहाँ उपमा वाच्य न होकर प्रतीयमान रहती है, प्रतीयमानोपमा के अंतर्गत आ सकते हैं और पृथक्-पृथक् अपने निरूपण की अपेक्षा नहीं रख सकते? पर कुतक भी क्या इस तथ्य को स्वीकार करेंगे? और नहीं, तो फिर अन्य अलंकारों की भाँति इसे भी स्वतंत्र स्वीकार करना चाहिए।

रुय्यक ने स्वरूप के संबंध में कोई नई बात न कह कर 'सामान्य' के प्रकार बताते हुए प्रतिप्रस्तूपमा के प्रकार-वैचित्र्य की ओर इंगित मात्र किया है। 'सामान्य' को दो रूपों में होना बताया है--वह कभी साधर्म्य के द्वारा तो बताया ही जाता है, वैधर्म्य के द्वारा भी बताया जाता है। इस आधार पर कहना चाहें, तो दो प्रकार प्रतिवस्तूपमा के कहे जा सकते हैं। हेमचंद्र ने तो इस अलंकार की चर्चा ही नहीं की। चंद्रालोककार ने स्वरूपोल्लेख तो किया; पर प्रभेद-पक्ष की ओर उनकी दृष्टि नहीं है। साहित्य-दर्पणकार ने साधर्म्य एवं वैधर्म्यमूलक दो विभिन्न उदाहरण तो प्रतिवस्तूपमा के दिये ही हैं, एक तीसरा उदाहरण सामान्यों की माला रूपता को ध्यान में रखकर भी दिया है अर्थात् साधर्म्य या वैधर्म्य दो ही नहीं, अनेक भी हो सकते हैं। मम्मट ने इस अलंकार के जैसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि ये भी शुद्ध एवं माला रूप दो भेद मानते हैं। दर्पणकार ने पूर्ववर्ती उदाहरणों को आलोचना कर जो स्वयं उदाहरण प्रस्तुत किया है—उससे यह सुस्पष्ट है कि ये लोग चार भेद करते हैं--



कुवलयानंदकार ने इन भेदों के साथ कोई अपना वैमत्य प्रस्तुत नहीं किया है और इस नाम की व्युत्पत्ति देते हुए यह कहा है--'प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमा समानधर्मोऽस्यामिति व्युत्पत्तेः' --अर्थात् जहाँ प्रतिवाक्य में साधारण धर्म का भिन्न-भिन्न शब्दों में उपादान किया जाय। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात इस प्रसंग में इन्होंने यह बताई है कि यद्यपि आवृत्ति दीपक में भी सामान्य धर्मों का अनेक बार प्रयोग होता है, वहाँ भी औपम्यगम्य ही होता है, तथापि दोनों का अंतर यह है कि अर्थावृत्तिदीपक में जो सामान्य धर्म अनेकधा प्रयुक्त रहता है, उसका संबंध या तो केवल प्राकरणिक से होता है या केवल अप्रकारणिक से ही होता है, जब कि प्रतिवस्तूपमा के साधारण धर्मों का दोनों से होता है। दूसरा अंतर यह भी होता

है कि प्रतिवस्तूपमा वैधर्म्यमूलक भी होता है, पर आवृत्तिदीपक वैधर्म्यमूलक कभी संभव ही नहीं है।

पंडितराज जगन्नाथ अन्य सदृश अलंकारों से इसका भेद स्थिर करते हुए परिभाषा पर उतरते हैं। इन्होंने कहा कि प्रतिवस्तूपमा वाक्यार्थोपमा से महज इसलिये पृथक् नहीं है कि प्रतिवस्तूपमा वाक्यगत होती है और उपमा वाक्यगत नहीं (पदार्थगत) होती। उपमा भी दो वाक्यार्थों में हो सकती है——

देखिये——दिविभाति यथा भानुस्तथा त्वं भ्राजसे भुवि।

जिस प्रकार द्युलोक में सूर्य शोभित हो रहे हैं, उसी प्रकार भूलोक में तुम शोभित हो रहे हो। उपमा और प्रतिवस्तूपमा में महज इसलिए अंतर समझना कि उपमा में साधारण धर्म का प्रयोग केवल एक ही बार होता है, जब कि प्रतिवस्तूपमा में दो बार——गलत है। उपर्युक्त उदाहरण उपमा का ही है, जहाँ दो बार समान धर्म का प्रयोग हुआ है। इसलिये प्रतिवस्तूपमा का स्वरूप यह समझना चाहिये——"जहाँ वस्तुप्रतिवस्तु भावापन्न साधारण धर्म वाले दो वाक्यार्थों की अर्थ प्राप्त उपमा को प्रतिवस्तूपमा कहते हैं।" इस प्रकार प्रतिवस्तूपमा में वाक्यार्थोपमा की भाँति उपमा शाब्द नहीं, आर्थ होती है, यद्यपि दृष्टांत में भी उपमा आर्थ होती है; परन्तु वहाँ का साधारण धर्म वस्तु-प्रतिवस्तु भावापन्न नहीं होता, प्रत्युत विम्ब-प्रतिविम्ब भावापन्न होता है। वस्तु-प्रतिवस्तु भाव एवं विम्ब-प्रतिविम्ब भाव में अंतर यह होता है कि प्रथम रूप से युक्त धर्म मूलतः एक ही होते हैं, केवल शब्द का ही भेद होता है, जब कि दूसरे रूप से विशिष्ट धर्म सर्वथा भिन्न होते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि भिन्न होते हुए भी उनमें कुछ-न-कुछ समानता अवश्य होती है। जयरथ ने तो प्रतिवस्तूपमा और दृष्टांत का अंतर करते हुए यह भी कहा है कि जहाँ प्रतिवस्तूपमा में उपमान-वाक्यार्थ का प्रयोग इसलिये किया जाता है कि यह भी बताया जाय कि उपमेय के सदृश अन्यत्र और भी हैं, वहाँ दृष्टांत में प्राकरणिक अर्थ का विशदीकरण करने के लिये अप्राकरणिक वाक्यार्थ का प्रयोग किया जाता है। जहाँ तक प्रतिवस्तूपमा एवं अर्थान्तरन्यास का प्रश्न है, दोनों का अंतर इसलिये है कि प्रतिवस्तूपमा में जो दो वाक्य होते हैं, वहाँ सामान्य विशेष भाव संबंध नहीं होता, बल्कि दोनों ही विशेष वाक्य होते हैं; इसीलिये वहाँ सादृश्य होता है। अर्थान्तरन्यास में एक सामान्य वाक्य होगा, दूसरा उसी का विशेष (भेद)। इसलिये उन दोनों में भेद न होने के कारण सादृश्य संबंध हो ही नहीं सकता, वहाँ तो अभेद संबंध ही हो सकता है। इनके भी उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि ये भी प्रतिवस्तूपमा के पूर्वोक्त चार रूप मानते हैं और उसमें कोई आपत्ति नहीं खड़ी करते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्भट से पूर्ववर्ती आलंकारिक प्रतिवस्तूपमा को प्रायः उपमा-भेद के ही रूप में निरूपित करते रहे हैं। यहाँ तक कि उन लोगों को दृष्टांत एवं प्रतिवस्तूपमा का अंतर स्पष्ट न होने के कारण 'दृष्टांत' अलंकार का भी पृथक् से कोई निर्देश नहीं किया। यह उद्भट ही हैं, जिन्होंने पहले-पहल प्रतिवस्तूपमा को एक पृथक् अलंकार के रूप में उद्घोषित किया और साथ ही दृष्टांत की भी पृथक् परिभाषा दी। बाद के आलंकारिकों ने उद्भट की इस धारणा या स्थापना का स्वागत किया।

आक्षेप——

भरत ने तो नहीं, पर भामह ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है——कुछ 'विशेष' कथन की इच्छा वश (कहना चाह कर भी) इष्ट के कथन का जहाँ प्रतिषेध-सा कर दिया जाय, सज्जनों ने वहाँ आक्षेप अलंकार की स्थिति बताई है। वह आक्षेप भी दो प्रकार का होता है——वक्ष्यमाण विषय तथा उक्त विषय। अर्थात् वक्ता किसी भी विषय से संबद्ध कहना तो बहुत चाहता है; पर सोचता यह है कि जितना वह कहना चाहता है वह कह नहीं सकता। इस मनःस्थिति में दो बातें संभव हैं; पहली यह कि कुछ कहने की हौंस दिखावे और फिर अक्षमता का भाव प्रदर्शित करते हुए यह कह दे कि क्या कहूँ, रहने दो। अथवा दूसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि कहना चाहता है, कुछ आरंभ भी कर दिया; पर उसके निर्वाह में अपने को अक्षम समझ कर आगे कहने से इनकार कर दिया। निष्कर्ष यह कि या तो विना कुछ कहे ही अक्षमता प्रकट कर देना; वक्तव्य भविष्य के गर्भ ही में रह जाय, या थोड़ा-बहुत कहकर रुक जाय——जहाँ सारा वक्तव्य वक्ष्यमाण ही रह जाय, वहाँ वक्ष्यमाण विषयक और जहाँ उक्त थोड़ा कहकर रुका जाय, वहाँ 'उक्त विषयक' आक्षेप होता है।

दण्डी ने बड़ी अस्पष्ट परिभाषा दी। उन्होंने कहा कि आक्षेप प्रतिषेधोक्ति ही है और प्रतिषेध-क्रिया का तीनों कालों से (न केवल भविष्य एवं भूत से) संबंध हो सकता है; अतः काल-भेद से तीन भेद तो इसके स्पष्ट ही हैं। रही और भेदों की बात, तो वहाँ भी आक्षेप्य-वक्तव्य की प्रकृति का भेद होने से आक्षेप के कई भेद संभव हैं।

दण्डी के उदाहरणों के देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भामह के आक्षेप के स्वरूप से दण्डी के आक्षेप का स्वरूप कुछ भिन्न है। भामह जहाँ 'प्रतिषेध इव' कहते हैं, दण्डी वहाँ 'प्रतिषेधोक्ति' की ही बात कहते हैं। वर्त्तमान आक्षेप का एक उदाहरण लें——

कुतः कुवलयं कर्णे करोसि कलभाषिणी ।
किमपाङ्गमपर्याप्तमस्मिन् कर्मणिमन्यसे ।

कलभाषिणी ! कानों में नील कमल क्यों लगा रही हो? क्या कानों को सुशोभित करने में अपने वहाँ तक फैले हुए इन चक्षुओं को असमर्थ मानती हो ?

यहाँ हो रही तात्कालिक क्रिया का कवि प्रतिषेध कर रहा है। प्रतिषेध की तरह नहीं, आपाततः प्रतिषेध नहीं, बल्कि वास्तविक प्रतिषेध कर रहा है। इस प्रकार आक्षेप के स्वरूप में दण्डी एवं भामह के मत में स्पष्ट ही अन्तर है।

इस स्थिति में उद्भट ने भामह के ही लक्षण को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया है ; लेकिन इसके साथ-साथ उस पर कुछ गहराई से आगे बढ़कर भी सोचा है। इन्दुराज ने उद्भट के अभिप्राय की व्याख्या करते हुए यह प्रश्न खड़ा किया कि इष्ट का प्रतिषेध ही आक्षेप[1] है। इष्ट का अर्थ है, इच्छा कर्म। इच्छा-कर्म का प्रतिषेध आक्षेप का स्वरूप है और विभेद उक्ति क्रिया के कर्म को लेकर किया जा रहा है, वक्ष्यमाण विषय २—उक्त विषय—यह क्यों ? इस प्रश्न का तो उत्तर उद्भट ने प्रस्तुत ही किया। यह भी किया कि यहाँ अभीष्ट कथन का प्रतिषेध किस प्रकार वक्तव्य की अभिव्यक्ति में सहायक बन जाता है।

इस प्रकार भामह की उद्भट ने अवश्य प्रतिलिपि की, पर साथ ही यह भी है कि उनके आरब्ध विचारों को इन्होंने गहराई और यौक्तिक पृष्ठभूमि प्रदान कर एक स्पष्टता तो ला ही दी।

इन्हीं के समसामयिक वामनाचार्य ने आक्षेप का स्वरूप सर्वथा नया बताया। उन्होंने कहा कि उपमान पर आक्षेप करना—उसके महत्त्व को गिराना—आक्षेप का विषय है। दण्डी ने प्रस्तुत वक्तव्य या क्रिया के प्रतिषेध की बात कही थी, वामन ने उसकी जगह उपमान के निषेध क्या उसके अनादर की बात कहीं है। वह इस प्रकार कि जब उपमेय से ही अभिलाषक की इच्छाएँ तृप्त हो जाती हैं, तब उपमान तक जाने की आवश्यकता ही क्या है ; जैसे कोई कहे—हे सौम्य। यदि उसका मुख तुम्हें उपलब्ध है, तो पविणचंद्र के चक्कर में क्यों हो (पविणचंद्र भी तो उसी रूप में तुम्हें तृप्त कर सकेगा, जितना कि इसका मुख)। इस प्रकार यहाँ उपमान पर आक्षेप किया जा रहा है। यहाँ आक्षेप का स्वरूप यह बताया गया।

रुद्रट ने 'आक्षेप' का स्वरूप इन सबसे विलक्षण बताया। इन्होंने यह कहा—"किसी वस्तु की, जिसके संबंध में हमें अपनी अन्यथा धारणा व्यक्त करनी है—

---

१. विशेष मूल ग्रन्थ की टीका में देखिये।

लोक-प्रसिद्धि या लोक-विरोध यदि रोड़ा अटकाता है, तो हम उसकी उपेक्षा कर, उसका प्रतिषेध कर, जहाँ अपना मतव्य अन्य दृष्टांत द्वारा स्थापित करें, वहाँ 'आक्षेप-अलंकार' होता है।'' उदाहरण लें--''जनयति संतापमसौ चंद्रकला कोमलापि मे चित्रम्। अथवा--किमत्र चित्रं दहित हिमानी हि भूमिरुहः।'' अर्थात् चंद्र की कला कोमल होने पर भी संताप पैदा करती है--क्या आश्चर्य है ? अथवा क्या आश्चर्य करना--अरे, हिमसंतति कहने को कितनी ठंडी होती है; पर क्या वृक्षों को ध्वस्त नहीं कर देती ?

यहाँ लोक-प्रसिद्धि अभीष्ट-वक्तव्य में बाधा डालती है ; पर लेखक या कवि ने अपने वक्तव्य के समर्थन में अन्य दृष्टांत प्रस्तुत कर अपनी बात रख ही दी।

इस प्रकार रूद्रट की धारणा आक्षेप के स्वरूप के संबंध में एक अलग ही प्रकार की है। भेद भी इनके भिन्न आधार पर प्रतिष्ठित हैं।

कुंतक ने इस अलंकार (३।४०) की जो परिभाषा दी है, उससे लगता है कि उन्होंने पुनः भामह एवं उद्भट की परम्परा को हस्तावलंब प्रदान किया है।

उन्होंने कहा--'प्रस्तुत वस्तु के ही सौन्दर्य की अत्यधिक वृद्धि के लिये निषेधाभास रूप से आक्षेप (निषेध) आक्षेप कहलाता है।' स्पष्ट ही इस परिभाषा में भामह एवं उद्भट की भाँति आपाततः निषेध की बात कही है। [इन्होंने जो उदाहरण प्राकृत में दिया है, वह नितांत अस्पष्ट लिखा होने के कारण जब छप भी न पाया, तब समझ मे कहाँ से आयगा ?] उदाहरण के अभाव में मैं बहुत दृढ़ता के साथ यह नहीं कह सकता कि भामह एवं उद्भट से मिलती-जुलती ही इनकी धारणा है या नहीं।

भोजराज का कहना है--'जहाँ विधि या प्रतिषेध के द्वारा प्रतिषेधोक्ति हो, वहाँ आक्षेप नामक अलंकार होता है। यह प्रतिषेधोक्ति दो प्रकार की होती हैं, शुद्धा एवं मिश्रा। किसी-किसी ने रोध नाम के अलंकार की चर्चा की है, वह आक्षेप से पृथक् कुछ नहीं।'

इनके उदाहरणों में भी आपततः प्रतिषेध या प्रतिषेधाभास का बात लक्षित नहीं होती, प्रत्युत वास्तविक प्रतिषेध की ही बात स्पष्ट होती है ; इसलिये भामह एवं उद्भट की परम्परा से भी पृथक् ही जा पड़ते हैं।

मम्मट ने पता नहीं किन कारणों से सादृश्य-मूलक अलंकारों के बीच सादृश्य; निरपेक्ष 'आक्षेप-अलंकार' का विवेचन प्रारम्भ किया है। संभव है, इन पर उद्भट

---

१. वस्तु प्रसिद्धमिति यद्विरुद्धमितिवास्य वचनमाक्षिप्य। अन्यत्तथात्वसिद्ध्यै यत्र ब्रूयात्स आक्षेपः॥ ८।८९

द्वारा किये गये वर्गीकरण का प्रभाव हो। उद्भट ने भी 'आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना'—इत्यादि का जो वर्ग बनाया है और उसे 'परे' के मत्थे मढ़ा है, वह भी शायद भामह का प्रभाव है। दूसरा एक हलका कारण यह भी दिया जा सकता है कि दण्डी ने आक्षेप के जो भेद बताये हैं, और उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उनमें ऐसा स्पष्ट लक्षित होता है कि वहाँ उन्होंने उपमान के प्रतिषेध की बात कही है। इस प्रकार किसी पूर्ववर्ती आलंकारिक के मत से यदि एक बार 'आक्षेप' की सादृश्य-सापेक्षता प्रदर्शित कर दी गई, तो मम्मट ने उसे उन अलंकारों के बीच उसी संस्कार से परिगणित करा दिया हो। मम्मट ने दण्डी द्वारा प्रदर्शित 'आक्षेप' के तथाविध रूप को 'प्रतीप' अलंकार के एक भेद में लिया है। विचार करने पर यह दूसरा कारण ठीक नहीं जमता। मम्मट प्रायः भामह एवं उद्भट की ही परम्परा को अपने विचार द्वारा छानकर ग्रहण करते दिखाई पड़ते हैं। भामह एवं उद्भट वाली 'आक्षेप' की परिभाषाओं में प्रतिषेधोक्ति किसी-न-किसी विशेष वक्तव्य या अभिप्राय को संकेतित करती है।

मम्मट ने भामह एवं उद्भट की भाँति वही परिभाषा एवं वे ही भेद मान लिये हैं। इस प्रकार इस अलंकार के विषय में वे उद्भट के ही ऋणी हैं।

रुय्यक 'निषेधाभास' को ही आक्षेप मानने वालों में से एक हैं। हाँ, प्रकाशकार एवं उद्भट ने जहाँ दो ही भेद बताये थे, वहाँ इन्होंने दो भेद और बढ़ाये। उक्त विषय एवं वक्ष्यमाणा विषय तो उन्हीं लोगों ने किये थे, इन्होंने इन दोनों में से प्रत्येक के पुनः दो ही भेद किये। इन्होंने बताया कि उक्त विषय में वस्तु एवं वस्तु-कथन, दोनों का निषेध संभव है और वक्ष्यमाण में तो स्पष्ट ही सामान्यतः निषेध रहता है। यहाँ दो स्थितियाँ संभव हैं, पहली यह कि वह निषेध 'विशेष' का ही हो और दूसरा यह कि आंशिक रूप में कही गई बात का अन्य अंश में (जो वक्ष्यमाण है) निषेध हो। इस प्रकार सब चार भेद हुए।

- आक्षेप
  - उक्त विषय
    - वस्तुकथन-निषेध
    - वस्तु निषेध
  - वक्ष्यमाण विषय
    - वक्ष्यमाण निषेध
    - आंशिक निषेध

इस प्रकार इन चारों में इष्टअर्थ का निषेध है। वह निषेध अनुपपन्न होकर एक ओर तो अपनी असत्यता स्थिर करता है और दूसरी ओर वक्तव्य-गत वैशिष्टय का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार न तो यहाँ निषेध का विधान है

और न विहित का निषेध ही। प्रत्युत निषेध के द्वारा विध्यात्मक अभिप्राय का आक्षेप है। रुय्यक ने 'इष्ट निषेधाभाष' को तो आक्षेप कहा ही है, 'अनिष्ट-विध्याभास' को भी आक्षेप कहा है। कहने का मतलब यह कि जिस प्रकार 'इष्ट' के अभीष्ट होने के कारण उसका निषेध निषेधाभास में पर्यवसन्न होता है, उसी प्रकार अनिष्ट का विधान भी अनिष्ट होने के कारण विध्याभास ही होता है; इसलिये आक्षेप का यह प्रकार भी अभिनवरूप का माना जाना चाहिए ; लेकिन इस ओर भोजराज ने पहले ही इंगित कर दिया है।

हेमचंद्र ने निषेधाभास-रूप तो आक्षेप माना ही है, उपमान के आक्षेप को जो लोग प्रतीप मानते हैं, उनका खण्डन करते हुए यह बताया है कि वह भी आक्षेप का ही एक भेद है, पृथक् से उसे एक अलग अलंकार क्यों माना जाय ? चंद्रालोककार ने 'उपमानाक्षेप' का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है। अप्पय दीक्षित ने ही, चंद्रालोक में जिसे 'गूढ़ाक्षेप' के नाम से कहा गया है, कुवलयानंद में उसे 'विध्याभास' आक्षेप के रूप में बताया है। साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने भी रुय्यक वाले भेद को ही ज्यों-का-त्यों उतार दिया है। पण्डितराज ने सभी पूर्वोक्त मतों की समीक्षा की है। उन्होंने आक्षेप के स्वरूप के संबंध में सब पाँच मत रखे हैं---

(१) उपमान का कैमर्थ्यात्मक आक्षेप (वामन, दण्डी आदि)।
(२) प्रथमतः वर्णित वस्तु किसी अन्य पक्ष के आलंवन के कारण निषेध कर देना (जयदेव आदि)।
(३) निषेधाभासात्मक आक्षेप (भामह, उद्भट, मम्मट आदि)।
(४) अलंकार-सर्वस्वकार वाला मत।
(५) वास्तविक एवं अवास्तविक निषेध मात्र आक्षेपालंकार है (पण्डितराज)।

अन्तिम मत पंडितराज का मालूम होता है, जिसमें क्रमागत दोनों धाराओं का संगम है। व्यंग्य-सहित सभी निषेध आक्षेपालंकार हैं।

इस प्रकार भामह, उद्भट ने केवल निषेधाभास को जहाँ आक्षेप का स्वरूप माना था, वहाँ अन्य लोगों ने वास्तविक निषेध तथा विध्याभास तक को भी इसकी कुक्षि में परिगणित कर लिया।

अर्थान्तरन्यास---

भामह ने इसकी परिभाषा दी है---उपन्यसनमन्यस्य मदर्थस्येहिताद्दते। ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ।।२।७१।। अर्थात् प्राकरणिक अर्थ के अनुरूप जहाँ अन्य अर्थ का न्यास हो, वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है।

दण्डी का वक्तव्य यों है—किसी प्राकरणिक वस्तु का उपन्यास या विन्यास करके उस प्रस्तुत अर्थ के साधन, उपपादन में समर्थ अप्रस्तुत वस्तु के उपन्यास को ही अर्थान्तरन्यास नामक अलंकार मानना चाहिए। जैसा कि इनकी रुचि या प्रकृति है, सभी अलंकारों के अनगिनत भद करते रहते हैं, इस अलंकार क भी अनेक प्रभेद किये हैं।

उद्भट ने पूर्वाचार्यों द्वारा चर्चित वक्तव्य को थोड़ा और स्पष्ट करके उपस्थापित किया है और परवर्ती आलंकारिकों ने, जैसा कि अभी दिखाया जायगा, उनका अनुगमन भी किया है। इन्होंने कहा है—जहाँ समर्थक एवं समर्थ्य का किसी हेतुवाचक शब्द-गर्भित प्रयोग हो, वहाँ यह अलंकार होता है। [विशेष व्याख्या ग्रंथ में]। इन्होंने यह भी बताया है कि अर्थान्तरन्यास अप्रस्तुत प्रशंसा तथा दृष्टान्त से अन्य रीतियों में समान होते हुए भी भिन्न इसलिये है कि अर्थान्तरन्यास में अर्थान्तर के विन्यास द्वारा प्राकरणिक अर्थ का समर्थन होता है, जब कि उन दोनों में ऐसी स्थिति नहीं है। इस प्रकार पूर्वालंकारिकों ने न तो अर्थान्तरन्यास का स्वरूप ही इतना स्पष्ट किया था और न मिलते-जुलते अलंकारों से अंतर ही। इसके साथ तीसरी विशेषता इनकी यह है कि इंदुराज के व्याख्यान के अनुसार अर्थान्तरन्यास के चार और प्रभेद भी निकल आते हैं। [विवरण मूल में देखें]।

वामन ने किसी पक्ष से कोई नई बात नहीं कही। रुद्रट की परिभाषा में एक नई बात यह अवश्य मिलती है कि उन्होंने अपनी परिभाषा में 'सामान्य' एवं 'विशेष' का भी निवेश किया। इन्होंने कहा कि जहाँ कोई सामान्य या विशेष बात पहले कही गई और फिर उसी की सिद्धि के लिये किसी अन्य सधर्मी का विन्यास हो, वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है। इन्होंने भी अर्थान्तरन्यास के चार भेद किये, पर उद्भट से भिन्न ढंग पर।

इनका क्रम यों है

- सामान्य से विशेष का समर्थन
  - साधर्म्य-द्वारा
  - वैधर्म्य-द्वारा
- विशेष से सामान्य का समर्थन
  - साधर्म्य-द्वारा
  - वैधर्म्य-द्वारा

इनका ढंग उद्भट की अपेक्षा ज्यादा प्रचलित रहा। कुंतक ने कोई विशेष नई बात नहीं कही। जहाँ तक परिभाषा का संबंध है, भोज ने दण्डी की परिभाषा ही ज्यों की-त्यों उतार दी है। हाँ, एक नवीनता दण्डी से अधिक इनमें अवश्य है

कि भेद की दिशा दण्डी-निर्दिष्ट नहीं है, बल्कि रुद्रट-निर्दिष्ट साधर्म्य एवं वैधर्म्य-मूलक दिशा है ।

मम्मट इस अलंकार के स्वरूप एवं प्रभेद के विषय में, लगता है कि उद्भट से कहीं अधिक रुद्रट के ऋणी हैं । इन्होंने भी माना है कि सामान्य एवं विशेष का जहाँ विशेष एवं सामान्य वस्तुओं द्वारा साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के सहारे समर्थन किया जाय, वहाँ अर्थान्तरन्यास नामक अलंकार होता है । दृष्टांत में सामान्य का सामान्य से तथा विशेष का विशेष से समर्थन होता है । अनुमान से इसका यह अंतर है कि यहाँ 'व्याधि' एवं 'पक्षधर्मता' का साक्षात् एवं स्पष्ट कथन नहीं रहता । काव्यलिंग एवं अर्थान्तरन्यास में यह अंतर है कि पहले में कारण से कार्य का या कार्य से कारण का समर्थन होता है और यहाँ सामान्य से विशेष का । कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि हेतु तीन प्रकार का है––समर्थक, प्रतिपादक एवं ज्ञापक। पहला अर्थान्तरन्यास का, दूसरा काव्यलिंग का और तीसरा अनुमान का विषय है। प्रतिवस्तूपमा में सादृश्य रहता है, यहाँ समर्थ्य-समर्थक भाव रहता है।

उक्त परम्परा में रुय्यक की एक क्रांतिकारी दृष्टि यह है कि इन्होंने सामान्य विशेष का तो पारस्परिक समर्थन अर्थान्तरन्यास का विषय माना ही है, कार्य-कारण द्वारा भी पारस्परिक समर्थन को अर्थान्तरन्यास का ही विषय स्वीकार किया है । प्राक्तन आलंकारिकों ने कार्य-कारण भाव को अर्थान्तरन्यास का विषय कदाचित् नहीं ही स्वीकार किया था । यही कारण है कि जहाँ पहले के रुद्रट एवं मम्मट आदि आलंकारिक इसके ४ ही भेद मानते थे, वहाँ अब आठ भद हो गये । उद्भट ने 'हि' शब्द के प्रयोग से और अप्रयोग से इस अलंकार के जो दो भेद 'शाब्द' एवं 'आर्थ', किये थे, उसका रुय्यक ने यह कहकर खण्डन भी किया कि यह पद्धति हृदयहारिणी नहीं है। प्रश्न यहाँ यह है कि यदि कार्य-कारण द्वारा पारस्परिक समर्थन भी अर्थान्तरन्यास की परिधि में आ जाय, तब अर्थान्तर न्यास से काव्यलिंग का अंतर क्या होगा ? उत्तर में उन्होंने काव्यलिंग अलंकार का ही निरूपण करते हुए यह कहा कि––'वाक्यार्थगत्याच निवद्ध्यमानो हेतुत्वेनोपनिबद्धव्य:, नोपनिवद्धस्य हेतुत्वम् । अन्यथार्थान्तिर न्यासान्नास्य भेदः स्यात्'। अर्थात् 'काव्यलिंग में जो वाक्यार्थ उपन्यस्त होत है, उसमें हेतुता उद्रिक्त एवं उद्ग्रीव होती है, जबकि 'अर्थान्तरन्यास' वाले समर्थक वाक्यार्थ में स्थित हेतुता उतनी उद्रिक्त नहीं होती––काव्यलिंग का कारणता का प्रतिभास आरंभ में ही वाक्यार्थावगति के साथ-साथ हो जाता है। वहाँ वह इसी अभिताप को उद्ग्रीव रखकर उपन्यस्त रहता है ; पर अर्थान्तरन्यास में हेतु रूपता की जगह

'समर्थक' रूप पहले भासित होता है, कारणता ज्यादा सोचने पर प्रतीत होती है, हेमचंद्र ने रुद्रट एवं मम्मट वाली परंपरा का ही अनुगमन किया है।

पीयूषवर्ष, जयदेव एवं अप्पय दीक्षित ने अर्थान्तरन्यास के स्वरूप के विषय में कोई नई बात तो नहीं कही है, परंतु अर्थान्तरन्यास के साथ एक और अलंकार 'विकस्वर' की बात कही। पण्डितराज जगन्नाथ ने इन्हें दो अलंकार न मानकर दोनों को एक ही में समेट लेने की बात कही है।

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ, उद्भट, रुद्रट एवं मम्मट की परम्परा को अस्वीकार करते हुए सर्वस्वकार रुय्यक की परम्परा को समादर प्रदान किया है। कहने का मतलब यह कि इन्होंने भी माना है कि जहाँ सामान्य और विशेष का तथा कार्य एवं कारण का परस्पर समर्थ्य-समर्थक भाव हो, वहाँ अर्थान्तरन्यास नाम का अलंकार होता है और फिर साधर्म्य एवं वैधर्म्य का सहारा लेने के कारण वह आठ प्रकार का हो जाता है। सर्वस्वकार की अपेक्षा दर्पणकार के तर्क अपने इस नवीन-पक्ष के समर्थन में ज्यादा स्पष्ट हैं। उनका कहना है कि जो लोग कार्य-कारण-वाले स्थल को वाक्यार्थगत काव्यलिंग में गतार्थ करते हैं, उनका कहना ठीक नहीं है। कारण यह है कि हेतु या कारण तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञापक, निष्पादक एवं समर्थक। पहला अनुमान का, दूसरा काव्यलिंग का और तीसरा अर्थान्तर-न्यास का विषय है ; इसलिये कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध रहने पर भी अर्थान्तरन्यास काव्यलिंग से सर्वथा भिन्न है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने पूर्ववर्ती विभिन्न मौलिक विवेचनों पर पाण्डित्यपूर्ण विचार किया है। इन्होंने रुय्यक एवं विश्वनाथ की धारणाओं से अलग हटकर उद्भट, रुद्रट एवं मम्मट की परिभाषा और प्रभेद का ही समर्थन किया है। इन्होंने सीधे यही माना है कि जहाँ सामान्य एवं विशेष का पारस्परिक समर्थ्य-समर्थक-भाव सम्बन्ध हो, वहीं अर्थान्तरन्यास होता है। कार्य-कारण वाले स्थल की चर्चा न चलाकर अस्वीकृति ही व्यक्त की है। प्रसंगतः अर्थान्तरन्यास का 'अनुमान' एवं 'उदाहरण' नामक अलंकारों से स्पष्ट अंतर प्रदर्शित किया है। अलंकार-सर्वस्वकार एवं विश्वनाथ ने जो कार्य-कारण-भाव को भी अर्थान्तर का विषय स्वीकार किया, उसका पण्डितराज ने निराकरण ही किया है। साथ ही यह तो ऊपर बताया ही जा चुका है कि पीयूषवर्ष एवं अप्पय के 'विकस्वर' को ये अर्थान्तरन्यास से पृथक् कोई दूसरा अलंकार नहीं माना है। इन सब बातों के साथ उद्भट ने जो शाब्द एवं आर्थ के दो रूप माने थे, जिसका खण्डन रुय्यक ने किया था, पण्डितराज ने उसकी भी स्वीकृत रूप में चर्चा की है।

इस प्रकार उद्भट ने अर्थान्तरन्यास के स्वरूप एवं प्रभेद के सम्बन्ध में जो

कुछ भी विचार प्रस्तुत किये हैं, बीच में चाहे उनका विचार अविकल अस्वीकृत होता रहा हो, पर पण्डितराज तक उनके 'स्वरूप' तथा 'प्रभेद' विषयक दोनों ही विचारों का प्रवाह रुका नहीं।

व्यतिरेक--

भरत ने तो नहीं, परन्तु भामह ने अवश्य 'व्यतिरेक' की परिभाषा दी, कहा—

उपमानवतोऽर्थस्य मद्विशेषनिदर्शनम्।
व्यतिरेकं तमिच्छंति विशेषापाद नादतथा ॥२। ७५

अर्थात्--उपमान रखने वाले उपमेय रूप अर्थगत जब कोई विशेषता प्रदर्शित की जाती है, तब वहाँ व्यतिरेक का प्रयोग होता है। इस प्रयोग के मूल में स्थित कारण यह है कि वहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में विशेषता आपादित की जाती है।

दण्डी ने भी पदावली एक भिन्न प्रकार की नियोजित की है, परन्तु अंततः उससे भामह-निरूपित व्यतिरेक के स्वरूप में अंतर नहीं आता। उन्होंने बताया है कि जहाँ पर उपमान एवं उपमेय का सादृश्य इव आदि वाचक शब्द के प्रयुक्त होने से शब्दतः कथित हो, या न प्रयुक्त होने से अर्थतः प्रतीत हो, वहाँ पर यह अलंकार तब होता है, जब उपमान एवं उपमेय का परस्पर भेद-कथन हो [तत्र यद् भेद कथन व्यतिरेकः स कथ्येत]—।

भामह की अपेक्षा दण्डी की इस परिभाषा में स्पष्टता कम है। दूसरे दण्डी द्वारा प्रस्तुत किये गये उदाहरणों के देखने से यह प्रतीत होता है कि उनका जोर जितना अधिक उपमान एवं उपमेय के भेदकतत्त्व बता देने पर है, उतना उपमान की अपेक्षा उपमेय की अधिकता प्रतिपादित करने पर नहीं। परिभाषा ही उनकी इस प्रकार की है। माना दोनों ही गया है। जहाँ तक भेद का संबंध है, दण्डी की परिभाषा से ही पहले तो दो भेद सामने आ जाते हैं— वाच्यसादृश्य-मूलक एवं प्रतीयमानसादृश्य-मूलक। इनके अतिरिक्त भी दण्डी ने अनेक भेदों का उल्लेख किया है।

उद्भट ने इन दोनों पूर्वाचार्यों में भामह का ही अनुसरण किया है; पर उसमें और भी नये विचार जोड़े हैं। मानते तो वे यही हैं कि उपमान एवं उपमेय के बीच जो 'विशेष' का उपादान है, वहीं व्यतिरेक है; पर इस 'विशेष' का निमित्त कभी-कभी स्पष्ट रहता है और कभी-कभी तिरोहित। इस निमित्त के दर्शन एवं अदर्शन से उसके दो भेद हो जाते हैं। इनकी टीकाकार इंदुराज ने दण्डी द्वारा प्रदर्शित शब्द एवं अर्थ बाले भेदों को लेकर सब चार भेद स्थिर किये

हैं। इंदुराज ने जोड़े क्या—कहना चाहिए कि उन्हीं की 'यथेवादिसमन्वितः' वाली कारिका से उन भेदों की ओर स्पष्ट इंगित किया ही गया है। उद्भट ने एक और भेद की ओर संकेत दिया—एक और भेद यह है कि जहाँ दोनों के भेदक विशेषण श्लिष्टोक्तियोग्य हैं, और उन्हें एक ही बार कह देने से काम चल जाता हो, फिर भी पृथक्-पृथक् शब्दों से कहे गये हैं। इनके द्वारा बताये गये प्रभेदों को परवर्ती आलंकारिकों ने पर्याप्त समादर प्रदान किया है।

वामन ने भी भामह एवं उद्भट की ही परम्परा में उनसे भी कहीं ज्यादा स्पष्ट रूप में कहा—"उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः"—अर्थात् उपमान की अपेक्षा जहाँ उपमेय में गुणों का अतिरेक हो, वहाँ व्यतिरेक नाम का अलंकार होता है। इन्होंने सादृश्य-वाचक शब्द (इव) के शब्द एवं आर्थ रूप, दण्डी की भाँति चर्चा न करके कहा यह कि जिस धर्म या गुण के कारण उपमेय की अधिकता प्रतिपादित की जाती है, वह गुण शब्द भी हो सकता है और प्रतीयमान भी। इस प्रकार इनका एक अपना पृथक् ही रास्ता है।

रुद्रट ने 'व्यतिरेक' की दो पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ दी हैं।

पहली—उपमेय में जो गुण हो, उसका विरोधी दोष यदि उपमान में हो, तो वहाँ व्यतिरेक का व्यवहार करना चाहिये। ये गुण-दोष पृथक्-पृथक् या समुदित रूप में गृहीत होकर व्यतिरेक के तीन भेद कर देते हैं।

दूसरी—उपमान में जो गुण हों, उसका विरोधी दोष यदि उपमेय में प्रयुक्त किया गया हो, तो वहाँ भी उपर्युक्त ढंग से व्यतिरेक के तीन भेद हो जाते हैं। इस प्रकार इन्होंने दो प्रकार से व्यतिरेक के भेद स्थिर किये, जो सर्वथा विलक्षण हैं। पण्डितराज ने इनके दूसरे प्रभेद के उदाहरण की व्याख्या भी पहले लक्षण के अनुरूप करके, उसे अतिरिक्त भेद का उदाहरण मानने का विरोध किया है। और, इस प्रकार व्यतिरेक का एक ही रूप यह माना है कि वहाँ सदा उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुणाधिक्य ही व्यतिरेक का कारण होता है। रुद्रट जिसे उपमेय का दोष समझते हैं, विचार करने पर उस प्रसंग में वस्तुतः वह गुण ही कहा जाता है; जैसे—कोई तटस्थ मानिनी को मनाता हुआ कह रहा है कि यौवन के इस उपभोग-योग्य क्षण को इस प्रकार क्यों विनष्ट कर रही हो। चंद्रमा से यदि इसकी तुलना की जाय, तो यह सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि वह तो क्षीण हो-होकर पुनः पूर्ण हो जाया करता है; पर यौवन की पूर्णता क्षीण होकर पुनः नहीं लौटती।" रुद्रट ने शशि (उपमान) की अपेक्षा यौवन में यह

---

१. विशेष मूल व्याख्या में देखें।

दोष माना है कि उसकी क्षीण पूर्णता पुनः नहीं लौटती। पण्डितराज ने उन्हीं कारणों से शशी की अपेक्षा यौवन की पूर्णता के क्षणों को दुर्लभ बताकर उसे शशि की अपेक्षा ज्यादा महत्त्वपूर्ण बताया है। इस प्रकार उन्होंने रुद्रट की इस नवीन कल्पना को महत्त्व नहीं दिया है।

कुंतक ने कहा कि व्यतिरेक या व्यतिरेचन कहते हैं---पृथक्करण को। वह पृथक्करण उपमान से उपमेय का तथा उपमेय से उपमान का भी हो सकता है। पर इसका लक्ष्य होना चाहिये---उपमेय का उत्कर्ष। यह व्यतिरेक कहीं तो शाब्द होता है और कहीं प्रतीय मान। 'शाब्द' का अर्थ किया है---व्यतिरेक-समर्पण-समर्थ शब्द से अभिहित। प्रतीयमान का अर्थ किया गया है---वाक्यार्थ की सामर्थ्य से प्रतीत।

उपर्युक्त द्विविध व्यतिरेक से भिन्न एक और अतिरिक्त प्रकार की ओर कुंतक ने इंगित किया है। उनका कहना है कि वहाँ भी एक विशेष प्रकार का व्यतिरेक समझना चाहिये, जहाँ लोक-प्रसिद्ध सामान्य व्यापार से कुछ लोकोत्तर अतिशयवश किसी का पृथक्करण किया जाय। उदाहरण में उन्होंने काम के त्रैलोक्य विजय-व्यापार के शौक का वर्णन किया है और बताया है कि सामान्य लोगों के विजयास्त्र से काम के विजयोपकरण सुकुमार हैं, फिर भी वह विजयी है। यहाँ सामान्य, उपकरण, प्राप्य, विजय, व्यापार से काम के विजय-व्यापार में लोकोत्तरता लाते हुए उसे पृथक्कृत किया है।

इस उदाहरण में और लोग व्यतिरेक के प्रतीयमान रूप को देख सकते हैं। या इन्होंने ही ऊपर जब प्रतीयमान व्यतिरेक का स्वरूप तथा उदाहरण दिया है, और उसमें बताना चाहा है कि वहाँ व्यतिरेक वाच्य नहीं है ; पर उसकी द्योतक सामग्री है, तब उसी प्रकार इस उदाहरण की भी व्याख्या हो जाती है। फिर प्रश्न है कि इसे अतिरिक्त भेद के रूप में क्यों प्रस्तुत किया ? अन्य लोगों में से तो प्रतीयमान व्यतिरेक का आधार 'इवादि' या आधिक्यद्योतक धर्म का अप्रयोग माना। इनके प्रतीयमान का स्वरूप उक्त दोनों रूपों से भिन्न है, वह बहुत कुछ ध्वन्यमान या व्यज्यमान का समानार्थी जान पड़ता है। इसमें सबसे जबर्दस्त प्रमाण यह है कि स्वयं प्रतीयमान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ध्वनिकार की 'ध्वनि-परिभाषा' उद्धृत की है। निष्कर्ष यह कि इस भेद को कुंतक-सम्मत प्रतीयमान वाले भेद से पृथक् करके देखना कुछ ठीक नहीं जँचता।

भोजराज ने वैधर्म्य कथन या भेद को ही व्यतिरेक कहा है। पूर्वाचार्यों की भाँति भोज ने भी सादृश्यवाचक शब्द के प्रयुक्त होने-न-होने के आधार पर इसके शाब्द तथा प्रतीयमान दो भेद बताये हैं। और फिर ६ भेद कहे हैं। इन लोगों

की कुछ विलक्षण ही प्रभेद-विचारणा दिखाई पड़ती है। इन्होंने कुछ भेदों का यों कहा है—

(१) शब्दोपात्त सादृश्य के विद्यमान रहने पर स्वजातिव्यतिरेक—यहाँ एक सजातीय प्रतियोगी (विधर्मी) की ऐसी कल्पना कर ली जाती है, जो अपने सजातीय से भेद रखता है। उदाहरणार्थ—प्राकृतिक तम तथा यौवनोद्भूत तम में यह अंतर है कि इसे रत्नालोक से या सूर्य की रश्मियों से हराया नहीं जा सकता। यहाँ दो जाति के तम में व्यतिरेक दिखाया गया है। (२) प्रतीयमान सादृश्य में स्वव्यक्ति व्यतिरेक—यहाँ एक ही व्यक्ति को अवस्था-भेद से भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानकर एक अवस्था के उसी व्यक्ति से दूसरी अवस्था में जाने पर उसी में वैधर्म्य का कथन किया जाता है।

इसी प्रकार (३) शब्दोपात्त सादृश्य में एक व्यतिरेक (एक का ही वैधर्म्यकथन) (४) प्रतीयमान सादृश्य में एक व्यतिरेक (५) शब्दोपात्त सादृश्ये उभय व्यतिरेक। उपमान तथा उपमेय दोनों का वैधर्म्य कथन (६) प्रतीयमान सादृश्ये उभय व्यतिरेक (७) अभिधीयमान सादृश्य स्थल में उपमान तथा उपमेय उभयगत भेदक धर्म के सदृश होने पर) सदृश्य व्यतिरेक (८) प्रतीयमान सादृश्य सदृश्य व्यतिरेक (९) (१०) पूर्ववत् असदृश व्यतिरेक के दो भेद (११) (१२) सदृशासदृश व्यतिरेक के पूर्ववत् दो भेद।

इस प्रकार भोज ने इन विलक्षण भेदों की चर्चा की है।

मम्मट ने उपमान की अपेक्षा उपमेय का गुण-प्रयुक्त अतिरेक ही व्यतिरेक समझा है। दण्डी वाली परम्परा का आश्रयण इन्होंने भी नहीं किया। प्रभेदों के संबंध में विचार करते हुए इन्होंने व्यतिरेक के कुल २४ भेद स्वीकार किये हैं। उनका क्रम यों हैं—व्यतिरेक के दो निमित्त है—उपमेयगत उत्कर्ष का निमित्त तथा उपमानगत अपकर्ष का निमित्त। इन निमित्तों की उक्ति और अनुक्ति को लेकर पहले चार भेद किये गये। दोनों की उक्ति को लेकर एक तथा दोनों की अनुक्ति एवं एक-एक की अनुक्ति को लेकर तीन, कुल मिलाकर सब चार भेद किये गये। इन चारों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद किये गये हैं, कारण यह है कि चारों में से प्रत्येक 'साम्य' की स्थिति तीन रूपों में हो सकती है, कहीं तो साम्य शब्दतः (इन आदि पदों से) कहा गया रहा होगा। कहीं पर अर्थतः प्रतीत होगा और कहीं-कहीं व्यञ्जित होगा। इस प्रकार कुल बारह भेद किये गये। इन बारहों में से प्रत्येक शब्द की अश्लिष्ट एवं श्लिष्ट स्थिति में होंगे। इस प्रकार कुल २४ भेद हुए।

परंतु पण्डितराज ने इन भेदों की आलोचना की है और उनसे असहमति व्यक्त की है। यह आगे देखा जायगा।

रुद्रट से ही मिलती-जुलती कुछ धारणा रुय्यक की भी है। इनका भी कहना है कि व्यतिरेक एक ऐसा अलंकार है, जो भेद-प्रधान सादृश्यमूलक अलंकारों में परिगणित होता है। रुय्यक मानते हैं कि चाहे उपमान से उपमेय का आधिक्य हो, या उपमेय से उपमान का, दोनों हालत में व्यतिरेक अलंकार होता है। रुद्रट की पदावली भिन्न है; पर आशय दोनों का एक ही प्रतीत होता है। रुद्रट तो प्रकाशकार के पूर्ववर्ती हैं; पर परवर्ती रुय्यक ने इस प्रकार की बात कैसे कह दी, जब कि प्रकाशकार इस समझ का खंडन कर चुके हैं? प्रकाशकार ने भी 'क्षीणः क्षीणोऽपि···' इसी उदाहरण को अपनाया है और यहाँ भी उपमेय की ही अधिकता बताते हैं, जब कि रुय्यक यहाँ न्यूनगुण देखते हैं।

हेमचंद्र ने प्रकाशकार के कतिपय भेदों से असहमति भी व्यक्त की है। इन्होंने केवल आठ भेद स्वीकार किये हैं। हेतु की उक्ति तथा अनुक्तिवश प्रकाशकार की तरह चार भेद और प्रत्येक में साम्य की उक्ति एवं अनुक्तिवश दो भेद और इस प्रकार कुल आठ भेद हुए। प्रकाशकार ने अनुक्ति के दो भेद स्थिर किये हैं आक्षेपवश प्रतीत और व्यञ्जनावश—प्रतीत साम्य। हेमचंद्र इस भेद के विपक्ष में भी मौन नहीं हैं। ये आक्षेप ही से साम्य प्रतीति मान लेते हैं; पर आक्षेप में व्यञ्जना गतार्थ नहीं हैं। श्लेष व्यतिरेक को उन्होंने संकरालंकार का विषय माना है। कदाचित् वे इन स्थलों में श्लेष और व्यतिरेक का सांकर्य मानते हैं; परंतु विचार किया जाय, तो यह पहले देखना पड़ेगा कि दोनों की कोटियाँ समान हैं या असमान। यदि समान हैं, तो संकरालंकार का विषय है; पर यदि श्लेष व्यतिरेक का अंग है, तो सांकर्य का सवाल ही नहीं खड़ा होता।

चंद्रालोककार की परिभाषा है—जहाँ उपमान और उपमेय में कोई 'विशेष' या भेद स्थापित किया जाय, वहाँ व्यतिरेक होता है। इस प्रकार परिभाषा तो दण्डी, कुंतक की परम्परा में आती है; पर उदाहरण से (शैला इव उन्नतः संतः किंतु प्रकृति कोमलाः) यह स्पष्ट है कि वे उपमान की अपेक्षा उपमेय के वैशिष्ट्य को ही व्यतिरेक कहना चाहते हैं। कुवलयानंदकार ने परिभाषा तो चंद्रालोककार की ही ज्यों-की-त्यों उतार दी है; परंतु भेद के नाम पर सर्वथा नूतन विभाजन प्रस्तुत किया है—१ उपमेयाधिक्यपर्यवसायी व्यतिरेक; २ उपयन्यूनत्व पर्यवसायी व्यतिरेक; ३ अनुभयपर्यवसायी व्यतिरेक। वस्तुतः इन तीनों भेदों को यों ही नहीं उड़ाया जा सकता। इनके उदाहरणों के देखने से यह धारणा बँधती है कि

व्यतिरेक के ये भेद हो सकते हैं। पहले भेद के संबंध में तो कोई सवाल ही नहीं उठता। दूसरा भेद विवादास्पद है। रुय्यक ने न्यूनत्वपर्यवसायी का

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽपि वर्द्धते नित्यम्।
विरम प्रसीद सुंदरि यौवमनिवार्तै यातं तु ॥

यह उदाहरण प्रस्तुत किया है और कहा है कि उपमान चंद्र की अपेक्षा उपमेय यौवन की अपुनरावर्ती पूर्णता बताकर न्यूनता बताई है; पर अन्य आलंकारिक यह मानते हैं कि वियोगी वक्ता, वस्तुतः यौवन की अपुनरावर्ती पूर्णता बताकर उसकी दुर्लभता प्रतिपादित की है और इस प्रकार उपमेय की प्रशंसा ही की है; अतः न्यूनत्वपर्यवसायी व्यतिरेक नहीं हो सकता; परंतु, कुवलयानंदकार ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वहाँ क्या उत्तर दिया जाय?
उदाहरण है—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियायाः गुणैः—
त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्तास्तथा मामपि।
कांतापादतलाहतिस्तवमुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
सर्वं तुल्यमशोक! केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥

विरही अशोक को संबोधित करते हुए यह कह रहा है कि यदि अशोक नए-नए पल्लवों से अनुरक्त है, तो वह भी श्लाघनीय प्रिया के गुणों से अनुरक्त है। यदि अशोक पर भौंरे मँडराते हैं और स्मरकार्मुक से निकले हुए बाण उस तक भी पहुँचते रहते हैं। कांतापाद-प्रहार भी दोनों के विकास का समान साधन है—इस प्रकार दोनों समान हैं, अंतर केवल है, तो यह कि अशोक शोक-रहित है और वह शोक सहित।

यहाँ व्यतिरेक तो निश्चित है; पर सवाल यह है कि वक्ता विरही, जो उपमेय है—वह उपमान (अशोक) से अपनी कमी प्रदर्शित करना चाहता है या अधिकता? संदर्भ के देखने से यह सुस्पष्ट है विरही (उपमेय) अशोक (उपमान) से और तो सब बातों में बराबर है—कमी वह अपनी केवल एक बात में दिखाना चाहता है और वह यह है कि उपमान में शोक नहीं है और उसमें है। अब यदि कोई यह कहे कि यहाँ उपमान में शोक की कमी और उपमेय में शोक की अधिकता प्रदर्शित की गई है; इसलिये उपमेय में अधिकता हुई, तो फिर उसकी बुद्धि को कहा क्या जाय? इतना तो यहाँ स्पष्ट ही है कि शोक एक दोष है—उसकी कमी होनी ही अधिकता है और अधिकता कमी। निष्कर्ष यह है कि जो लोग न्यूनत्वपर्यवसायी व्यतिरेक का विरोध करते हैं, उन्हें इन पक्षों से सोचना चाहिये।

इसी प्रकार अनुभयपर्यवसायी व्यतिरेक भी कम विचारणीय नहीं है। कुवलया-नंदकार ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, पण्डितराज ने तो वहाँ गम्योपमा ही मानी है। उदाहरण है—

दृढ़तरनिबद्धमुष्टेः कोषनिषण्णस्य सहजमलिनस्य।
कृपणस्य च कृपाणस्य केवलमाकारतो भेदः॥

कृपण एवं कृपाण में सब समानताएँ ही समानताएँ हैं—अंतर है, तो केवल यह कि 'कृपण' के 'प्' में 'अ' है और 'कृपाण' के 'प्' में 'आकार'; अथवा दोनों में केवल आकृति का ही भेद है। वैसे दृढ़तरनिबद्धमुष्टिता, कोष में बैठे रहना तथा सहज मलिनता (स्वभाव आकार) तीनों में है। यहाँ पण्डितराज का कहना है कि कवि की प्रतिभा का संरंभ दोनों की समानता पर ही जोर देता है, इस समानता या सादृश्य में बाधा डालने वाले 'आकार' को वे नगण्य मानते हैं। कथञ्चित् यह सही भी हो सकता है। साथ ही इस प्रभेद के नाम 'अनुभवपर्यवसायी' पर यदि ध्यान दें, तो वैसे उदाहरण मिल जाते हैं। दण्डी के 'काव्यादर्श' से ही एक उदाहरण लें—

अभिन्नवेलौ गम्भीरावम्बुराशिर्भवानपि।
असावञ्जनसंकाशस्त्वं तु चामीकरद्युतिः।

हे राजन्! तुम और समुद्र दोनों ही (तीर और मर्यादा) वेला का अतिक्रमण नहीं करते। भेद तुम्हारे और समुद्र में इतना ही है कि समुद्र अञ्जन की तरह श्याम वर्ण है और तुम सोने की तरह पीताभ।

इस उदाहरण में उपमान या उपमेय में से किसी की न्यूनता या अधिकता लेखक नहीं दिखाना चाहता, वह केवल इतना ही चाहता है कि दोनों का भेद स्पष्ट हो जाय। यदि 'व्यतिरेक' का स्वरूप 'भेद' मात्र माना जाय, तो यह भेद भी यों ही टाल दिये जाने लायक नहीं है।

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ भी मानते हैं कि व्यतिरेक केवल उपमान से उपमेय का आधिक्य ही नहीं है, न्यूनता भी है और इसीलिये जहाँ केवल 'आधिक्य' रूप व्यतिरेक के २४ ही भेद स्वीकार किये हैं, वहाँ विश्वनाथ ने ४८ भेदों की चर्चा की है। 'न्यूनता' वाले व्यतिरेक के विपक्षियों का जवाब देते हुए इस भेद की सोदाहरण पुष्टि की है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने—जहाँ तक व्यतिरेक के स्वरूप का संबंध है—यह माना है कि वह न तो 'भेद' मात्र है, न 'न्यूनता' है; बल्कि उपमान की अपेक्षा उपमेयगत, गुण-विशेष के कारण उद्भूत 'उत्कर्ष' है। अर्थात् परम्परागत तीन धाराओं में से 'उपमेयगत-उत्कर्ष' वाली धारा को ही ये महत्त्व प्रदान करते हैं।

इस संदर्भ में पण्डितराज उन सबके उदाहरणों का खण्डन करते हैं, जो उपमान की अपेक्षा उपमेयगत अपकर्ष को भी व्यतिरेक मानते हैं। इनका तर्क यह है कि उपमान की अपेक्षा उपमेय की न्यूनता तो वास्तविकता है और आलंकारिक विच्छित्ति का उन्मेष वास्तविकता में कहाँ ? दूसरे 'रक्तस्तं...' के जिस उदाहरण की चर्चा ऊपर की गई है, वहाँ 'व्यतिरेक' है ही नहीं। वस्तुतः वहाँ तो ऊपर से चली आती हुई उपमा या सादृश्य का त्याग है और इसी सादृश्य के त्याग का ही यहाँ रसानुकूलता के कारण सौंदर्य है—कुछ व्यतिरेक नहीं। ध्वन्यालोककार ने भी गृहीत अलंकार के रसानुरोधी त्याग के उदाहरण-रूप में ही इसे प्रस्तुत किया है; परंतु भट्टप्रवर नागेश ने पण्डितराज के इस समर्थन से असहमति व्यक्त की है और उन्होंने व्यक्तिरेक स्वीकार किया है। मान लीजिये, इस उदाहरण में कोई गड़बड़ी भी हो, तो पण्डितराज ने स्वयं एक उदाहरण ऐसा दिया है, जो 'न्यूनत्वपर्यवसायी' व्यतिरेक का उदाहरण है—

जगत्त्रय त्राणधृत व्रतस्य क्षमातलं केवलमेव रक्षन् ।
कथं समारोहसि हन्त राजन् सहस्र नेत्रस्य तुलां द्विनेत्रः ।

तीनों लोकों की रक्षा करने वाले, हजार नेत्रों वाले देवेन्द्र का केवल भूलोक की रक्षा करने वाले तुम दो नेत्रों के आदमी भला क्या तुलना कर सकते हो ? इसी प्रकार 'अनुभय पर्यवसायी' के उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया हुआ कुवलयानंदकार के श्लोक का भी खण्डन किया है और उसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। दूसरी ओर 'उत्कर्ष' 'मात्र' को व्यतिरेक का स्वरूप मानने वाले का प्रकाशकार के २४ भेदों पर आक्षेप करते हुए यह कहा है कि श्लेषाश्रित तीन भेद 'अनुक्रान्हेतु' के जो कहे गये हैं, वे इसलिये संभव नहीं हैं कि 'हेतु' वाला अंश ही तो श्लेष का आश्रय हो सकता है और उसका जहाँ प्रयोग ही नहीं है, वहाँ उक्त तीन भेद किस प्रकार हो सकेंगे ?

इस प्रकार हम देखते हैं, व्यतिरेक के स्वरूप के संबंध में तीन धाराएँ प्रवाहित हुई हैं—(१) 'उत्कर्ष' को व्यतिरेक मानने वाली (२) 'भेद' मात्र को ही उसका स्वरूप बताने वाली तथा (३) 'उत्कर्ष एवं अपकर्ष' दोषों को मान्यता प्रदान करने वाली। उद्भट का संबंध इन तीनों में से 'उत्कर्ष' या 'विशेष' वाली धारा से ही है और इस धारा का स्वागत मम्मट तथा पण्डितराज जगन्नाथ-जैसे महान् प्रतिभाशील आलंकारिकों ने किया।

विभावना —

उद्भट ने दण्डी और भामह नाम के अपने दो पूर्ववर्ती आचार्यों में से भामह द्वारा निर्दिष्ट 'विभावना' का लक्षण ही स्वीकार किया है और उसे ज्यों-का-त्यों

रख दिया है, उन्होंने भामह के साथ अपनी सहमति व्यक्त करते हुए यह कहा है—

'कारण के न रहने पर भी यदि उसके फल की सत्ता देखी जाय, तो विभावना नाम का अलंकार मानना चाहिए, परन्तु यदि इस आपाततः प्रतीत विरोध का समाधान शीघ्र ही सुलभ हो।'

दण्डी ने दूसरे शब्दों में अपना वही आशय व्यक्त किया है। उनका कहना है, जहाँ वर्ण्यमान कार्य के प्रति प्रसिद्ध हेतु का तो अभाव बताया जाय, परन्तु अन्य स्वाभाविक कारण की उद्भावना की जाय, वहाँ विभावना नाम का अलंकार होता है।

जहाँ तक उदाहरणों की बात है, लगभग दोनों (भामह, दण्डी) के उदाहरण एक ही प्रकृति के हैं, पर दोनों में स्वरूप निर्वचन के विषय में अंतर यह है कि जहाँ भामह यह कहते हैं कि कारण के बिना ही कार्य का होना एक आपाततः प्रतीत विरोध है और विरोध का जहाँ समाधान सुलभ हो, वहाँ विभावना होती है, वहाँ दण्डी उसी आपाततः प्रतीत विरोध के लिये यह कहते हैं कि जहाँ प्रस्तुत कार्य के एक अन्य स्वाभाविक कारण की खोज की जाय। एक (भामह) विभावना का अर्थ प्रतीहारेंदुराज (उद्भट के टीकाकार) के अनुसार, विरुद्धाभासा भावना-उत्पादना = विभावना—मानना है और दूसरा प्रस्तुत कार्य के मूल में निहित स्वाभाविक कारण की विभावना या खोज निकालना—को महत्त्वपूर्ण समझता है। भामह का जोर 'विरोध की झलक देने वाले कार्य' पर है, दण्डी का जोर कार्य की तह में निहित स्वाभाविक कारण के ढूँढ निकालने पर है (यत्र स्वाभाविकं कारणान्तर विभाव्यम—सा विभावना)। परम्परा ने—आनेवाली पीढ़ी ने—भामह तथा उद्भट की परिभाषा को ही महत्त्व दिया है। विरोध का आभास देकर चमत्कृत करने वाली कार्योत्पत्ति ही विभावना का स्वरूप मानी गई। यही कारण है कि मेधावी उद्भट ने दण्डी के स्वरूप-निर्वचन की अवहेलना कर भामह की ही परिभाषा का ग्रहण किया। यहाँ तक इसके भेद-प्रभेद के संबंध में कुछ नहीं सोचा गया था।

वामन ने 'क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्ध तत्फल व्यक्तिर्विभावना' जो यह परिभाषा दी, उस पर भामह एवं दण्डी या उद्भट और दण्डी, दोनों का आंशिक प्रभाव है। यदि 'क्रिया प्रतिषेधे' भामह या उद्भट से उधार लिया है, 'तो' प्रसिद्ध दण्डी से। नवीनता यह है कि दण्डी ने जहाँ 'प्रसिद्ध' विशेषण का प्रयोग 'कारण' के साथ किया था (प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्य का होना) वहाँ वामन ने उसे 'कार्य' के साथ संबद्ध कर दिया (कारण के न रहने पर भी प्रसिद्ध कार्य का

होना) । उदाहरण में कोई वैशिष्ट्य नहीं और साथ ही भेद-प्रभेद की भी कोई चर्चा नहीं ।

रुद्रट से 'विभावना' के स्वरूप का एक दूसरा अध्याय आरंभ होता है। इनके पूर्व भामह और दण्डी तथा दोनों के मिश्रित प्रभाव की स्थिति चल रही थी। भेद या प्रकारान्तर की कोई चर्चा नहीं थी, रुद्रट में ये दोनों बातें नहीं हैं। वैसे 'विभावना' की पूर्वोक्त स्वरूप-कल्पना से इनके स्वरूप-निर्वचन का कोई संबंध ही नहीं है, सो तो नहीं; पर, अन्तर है। विभावना का पहला प्रकार जहाँ कहा गया है, वहाँ यह कहा है ।

वहाँ विभावना नामक अलंकार होता है, जहाँ उत्पद्यमान कार्य अपने प्रसिद्ध और निजी कारण के अभाव में भी उत्पन्न होता हुआ स्पष्टतः देखा जाता है ।[९।१६]

यह परिभाषा दण्डी की अपेक्षा निश्चय ही भामह और रुद्रट की परम्परा में है। कारण यह है कि इन्होंने भी 'उत्पत्ति' वाले अंश पर ज्यादा बल दिया है। उदाहरण भामह, दण्डी एवं उद्भट एवं वामन की प्रकृति का ही है।

इसके बाद रुद्रट विभावना के प्रकारान्तरों की चर्चा आरंभ करते हैं। प्रकारान्तर वहाँ है कि जहाँ किसी कारण से संबद्ध उत्पन्न होने वाला विकार अपने कारण (प्रसिद्ध) से निरपेक्ष रहकर ही व्यक्त हो गया हो, अपने कारण के विना ही प्रकट हो गया हो; जैसे—विना श्रम के ही सखि ! तुम्हारी गति में यह माधर्य कहाँ से आ गया ?

पहले भेद से इस भेद का अन्तर नमि साधु ने यह किया है कि पहले में किसी 'पदार्थ' की उत्पत्ति कारण-निरपेक्ष है और इस प्रकारान्तर में पदार्थ-गत 'विकार' की उत्पत्ति कारण-निरपेक्ष है।

विभावना का तीसरा भेद वहाँ है, जहाँ जिस रूप में, जिन विशेषताओं के साथ किसी दूसरे पदार्थ की प्रसिद्धि हो, और उसी अन्य पदार्थगत प्रसिद्ध विशेषताओं को हम किसी दूसरी वस्तु में वर्णन करने लगें; जैसे—अचैतन्य पैदा करने की विशेषता निद्रा की है, पर जब हम उसे लक्ष्मीगत वर्णित करते हैं, तो अन्यदीय विशेषता को अन्यत्र ही तो कहते हैं; अर्थात् यह कहना कि 'लक्ष्मी निद्रा नहीं है,' पर मनुष्य के पास जब वह आती है, तब उसका होशहवास जाता रहता है, अन्यदोष विशेषता का अन्यत्र ही तो वर्णन करना है।

कुन्तक ने वह परम्परागत स्वरूप ही स्वीकार किया है । हाँ, इन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, पण्डितराज जगन्नाथ ने उसे विभावना का उदाहरण नहीं माना है। उदाहरण है—

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्प व्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे ।।

पार्वती ने शैशव के बाद जिस अवस्था (यौवन) को प्राप्त किया, वह ऊपर से धारण न किये जाने पर भी अलंकार था, वह यद्यपि आसव नहीं है, पर दर्शक को मदहोश कर देने वाला था, वह पुष्प नहीं था, पर काम का अस्त्र था ।

पंडितराज पहले और तीसरे चरण में रूपक तथा दूसरे चरण में प्रतीयमान उत्प्रेक्षा स्वीकार करते हैं । उनका कहना है कि विभावना के लिये विरोध का आभास आवश्यक है और द्वितीय चरण में वह है नहीं । वस्तुतः वर्ण्यकार्य का प्रसिद्ध कारण तो यहाँ अवश्य निषिद्ध है, पर वास्तव कारण तो मौजूद है ; यदि वह अनुक्त होता, तो विरोधाभास होता, पर नहीं, यहाँ न हो सका, अतः इस उदाहरण में विभावना समझना भ्रम है ।

मम्मट ने उक्त विचार धारा में कुछ नया विचार नहीं जोड़ा है । रुय्यक ने विभावना का स्वरूप और निरुक्ति देते हुए यह बताया है कि यह एक विरोध-मूलक अलंकार है । विरोध भी यदि कार्य-कारण-भाव से संबद्ध हो, तभी विभावना समझनी चाहिये, अन्यथा नहीं । जहाँ तक निरुक्ति का संबंध है, विभावना का अर्थ है—विशिष्ट रूप में कार्य का भावन। यह विशेषता विशिष्ट रूप से कारण के अभाव वर्णन से आती है, अर्थात् यहाँ जिस कारण का अभाव वर्णित रहता है, वह कारण वस्तुतः अप्रस्तुत होता है । विरोधालंकार से विभावना का दूसरा अन्तर यह भी होता है कि विरोधाभास का विरोध समबल होता है, विरोध की दोनों कोटियाँ समान रूप से बलवती होती हैं, परन्तु विभावना में यह बात नहीं होती । यहाँ कार्य बाध्य होता है और कारण भाव-बाधक । इसी प्रकार विशे-षोक्ति में कार्याभाव से कारण की सत्ता ही बाधित होती है । इसीलिये विरोधा-भास से विशेषोक्ति का भी अन्तर होता है ।

हेमचंद्र ने विभावना को विरोध-अलंकार में ही अंतर्भूत कर रखा है । उन्होंने कहा है कि इस प्रकार के उक्ति-वैचित्र्य से तो अनंत भेद हो जायँगे ।

साहित्य-दर्पणकार ने भी माना है कि विना हेतु के ही यदि कार्योत्पत्ति कही गई है, तो वहाँ विभावना नाम का अलंकार मानना चाहिए ; पर जिस कारणा-न्तर से प्रस्तुत कार्योत्पत्ति होती है, वह कभी उक्त होता है और कभी अनुक्त । इस कारण विभावना दो प्रकार की होती है ।

अप्पय दीक्षित ने कुवलयानंद में भी विभावना के प्रथम रूप का लक्षण उपर्युक्त ढंग का ही किया है । मतभेद केवल प्रभेद के संबंध में है । इन्होंने विभा-

वना के कुल छः रूप स्वीकार किये हैं, जिसमें से पहले भेद के स्वरूप का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शेष पाँच का स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है—

(२) हेतु के पूर्ण न रहने पर भी जहाँ कार्य की उत्पत्ति हो जाय; जैसे—अतीक्ष्ण अस्त्र से ही मन्मथ की जगद् विजय।

(३) प्रतिबंधक के रहते हुए भी कार्य का हो जाना। (मंत्रौषधि से अभिज्ञ) नरेन्द्रों को भी यह खड्ग रूपी साँप डस रहा है।

(४) भिन्न कार्य के कारण से जहाँ एक भिन्न कार्य हो जाय; जैसे—शंख से वीणा का निनाद होना (ग्रीवा या कंठ से मधुर ध्वनि का उत्पन्न होना)।

(५) उलटे कारण से कार्य का होना; जैसे—कल्पतरु से ही यशःपयोधि का पैदा होना (जबकि स्वयं कल्पतरु सागर से ही उत्पन्न हुआ है)।

इनके ऊपर जमकर पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वयं विचार किया है; अतः अपनी प्रतिक्रिया उन्हीं के द्वारा हुई आलोचना के संदर्भ में स्पष्ट की जायगी। अप्पय दीक्षित के उपर्युक्त मत का खंडन करते हुए पण्डितराज ने कहा है कि जिस प्रकार उपमा एवं रूपक के समस्त प्रभेदों में व्याप्त होने वाला एक सामान्य रूप है, उसी प्रकार विभावना का कोई ऐसा सामान्य रूप दीक्षितजी ने नहीं बताया, जो उनके द्वारा स्वीकृत छहों प्रभेदों में व्याप्त होता। यदि पहले लक्षण को सामान्य लक्षण मान लिया जाय, तब उसे भेद में किस प्रकार गिना जा सकेगा? और न गिने जाने पर उनके द्वारा मान्य भेदों की संख्या छः तक किस प्रकार पहुँच सकेगी? यह कहना कि अतिशयोक्ति के प्रत्येक प्रभेद की ही भाँति अलग-अलग विभावना का प्रत्येक भेद उसका लक्षण है, ठीक नहीं। कारण यह है कि ये भेद ही भेद नहीं है और यह इसलिये कि इसके बीच का भेदक तत्त्व ही ठीक नहीं है। कारण का अपनी समग्रता में न होना—कारण का न होना ही तो है; इसलिये प्रथम भेद से दूसरे भेद का अन्तर क्या हुआ? इसी प्रकार 'प्रतिबंधक का अभाव' भी 'कारण' ही कहा जाता है; अतः प्रतिबंधक का होना—कारण का न होना ही है—इस प्रकार यह भेद भी पहले से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार आगे भी विचार करने पर अभेद ही जान पड़ेगा; इसलिये यह सब ढंग ठीक नहीं है। आगे पण्डितराज ने यह बताया है कि यदि इस प्रकार के भेद-निर्माण की बड़ी उत्कट लालसा ही हो, तो उसे यों करना चाहिए, पहले तो विभावना का सामान्य लक्षण यों बनाना चाहिये—'कारण के बिना कार्य का होना।' फिर इस सामान्य लक्षण लक्षित विभावना के दो भेद किये जाने चाहिए—शाब्दी एवं आर्थी। शाब्दी के तीन भेद इस प्रकार किये जायँ—(१) प्रतिबंधक हेतु—कारण के विभिन्न अवयवों का अभाव (२) प्रतिबंधक का होना। पहले के भी

दो भेद हैं––पहला तो वह रूप या धर्म, जिससे समन्वित होकर कोई कारण कारण कहा जा सकता है। दूसरा वह सबंध, जिससे संबद्ध होकर कारण कार्य को पैदा करता है । आर्थी के भी इसी प्रकार तीन भेद किये जा सकते हैं––सजातीय कार्य के कारण से प्रस्तुत कार्य का होना (२) प्रस्तुत कार्य से विरुद्ध कार्य के कारण से प्रस्तुत कार्य का होना (३) प्रस्तुत कार्य के कार्य से प्रस्तुत कार्य का होना ।

जो लोग इस विभावना के उक्त-निमित्ता तथा अनुक्त-निमित्ता नाम के दो भेद स्वीकार करते हैं, उसका उल्लेख बिना किसी विरोध के जब पण्डितराज करते हैं, तब उससे उनकी सहमति ही व्यक्त होती है ।

विभावना के सम्बन्ध में पंडितराज की जो एक और विशेषता उल्लेखनीय है, वह है––विभावना का स्वरूप-विश्लेषण । इस विषय में उन्होंने यह कहा है कि उसके लिये तीन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है––

(१) पहला यह कि विभावना में दो अंश हैं––कार्यजन्म तथा कारणाभाव। उन दोनों में से द्वितीय अंश के संबंध में यह कहना है कि उदाहरण में किसी विशेष कारण का उल्लेख होना चाहिए; केवल यह कहना कि पिशुन लोग बिना कारण के ही वैरी होते हैं, विभावना अलंकार का उदाहरण है, ठीक नहीं । ठीक न होने का कारण यह है कि इस उदाहरण में किसी विशेष कारण का उल्लेख नहीं है ।

(२) दूसरी बात इसी संशोधन के साथ यह भी जाननी चाहिये कि जिस विशेष कारण के अभाव का उल्लेख हो, वह प्रस्तुत कार्य को निगीर्ण करने वाले अप्रस्तुत कार्य का हो, यह ठीक नहीं । इसीलिये––"दुष्ट लोग अपराध के बिना ही सज्जनों को जलाते रहते हैं।" यहाँ प्रस्तुत कार्य-पीड़न को निगीर्ण करने वाला अप्रस्तुत कार्य है––जलाना । इस अप्रस्तुत कार्य का कारण है––अग्नि । अतः यहाँ यदि यह कहा गया होता कि दुष्ट लोग बिना आग के ही सज्जनों को जलाते हैं, तो विभावना होती ।

(३) तीसरी बात विभावना-स्वरूप के प्रथम अंश 'कार्य जन्म' से संबद्ध है और उस विषय में यही कहना है कि विभावना का कार्यांश सदा अतिशयोक्ति या रूपक से अनुप्राणित होना चाहिए। स्पष्ट रूप में कहा गया कार्य विभावना के लिये उपयोगी नहीं होगा ।

समासोक्ति––

अन्य अलंकारों की भाँति इस अलंकार के स्वरूप के विषय में भी दण्डी की अपेक्षा भामह के ही नजदीक उद्भट अधिक हैं । हाँ, यह अवश्य है कि जिस प्रकार 'विभावना' के स्वरूप में उद्भट ने भामह के लक्षण को

ज्यों-का-त्यों उतार लिया था, वह स्थिति इस अलंकार के विषय में नहीं है। अर्थ की दृष्टि से तो दोनों की परिभाषाओं में उतना अंतर नहीं है; पर शब्दतः दोनों भिन्न-भिन्न हैं। भामह ने कहा है--"जहाँ किसी वस्तु का अभिधा में वर्णन किया गया हो और उसी प्रसंग से समान विशेषण के बल से यदि कोई अप्रस्तुत अर्थ भी आभासित हो रहा हो, तो संक्षेप में (समासतः) इस प्रकार की उक्ति का विधान होने से इसे समासोक्ति कहा जा सकता है"। और इसी स्वर में उद्भट ने कहा है—"जहाँ प्रस्तुत अर्थ प्रदान करने वाले वाक्य से समान विशेषण के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ का भी कथन हो जाय, वहाँ समासोक्ति होती है। भामह की अपेक्षा इस परिभाषा की महत्ता इतनी ही है कि इसमें वही बात बहुत ही स्पष्ट और व्यवस्थित ढंग से कही गई है।

दण्डी की परिभाषा यों है--"किसी भी प्रस्तुत या अप्रस्तुत वक्तव्य को मन में रखकर उसके समानान्तर यदि दूसरा वक्तव्य किया जाय और उसी के द्वारा अपने मन के अभिप्राय को प्रकाशित किया जाय, तो ऐसे संक्षिप्त ढंग से दिये गये वक्तव्य को समासोक्ति कहते हैं। निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत या अप्रस्तुत में एक दूसरे के द्वारा जब एक दूसरे की अभिव्यक्ति की जाय, तो वहाँ पर समासोक्ति होती है। निश्चय ही यह परिभाषा भामह और उद्भट की अपेक्षा भिन्न ढंग की है। भामह और उद्भट तथा परवर्ती आचार्यों ने भी यही स्वीकार किया है कि जहाँ प्रस्तुत वर्ण्य से अप्रस्तुत की व्यंजना हो, वहीं समासोक्ति होती है।

दण्डी ने समासोक्ति के प्रभेदों की भी चर्चा की है। समासोक्ति के पहले तो दो भेद हैं—तुल्याकार विशेषणा और भिन्नाभिन्न विशेषणा। समासोक्ति में दण्डी भी स्वीकार करते हैं कि विशेष्यांश यहाँ श्लिष्ट नहीं होता। विशेषण मात्र ही श्लिष्ट होते हैं। यहाँ भी दो स्थितियाँ संभव हैं—प्रस्तुत और अप्रस्तुत के लिये गृहीत समस्त विशेषण यदि श्लिष्ट हैं, तब तो दोनों के लिये जो विशेषण प्रयुक्त होंगे, वे एक ही (श्लिष्ट) आकार के होने के कारण तुल्याकार होंगे; अतः वह समासोक्ति 'तुल्याकार विशेषणा' कही जायगी। दूसरी स्थिति वह होगी, जहाँ उभयार्थोपयोगी गृहीत विशेषणों में से कुछ श्लिष्ट होने से 'अभिन्नाकार' हों और कुछ श्लिष्ट न होने के कारण भिन्न-भिन्न शब्दों से कहे गये हों; अतः भिन्नाकार हों, ऐसे स्थलों को ध्यान में रखकर 'भिन्न-भिन्न विशेषणा' समासोक्ति कही गई है। एक तीसरे प्रभेद का भी उल्लेख करते हुए दण्डी ने यह बताया है कि 'अपूर्व समासोक्ति' भी एक समासोक्ति है। इसमें संसार-प्रसिद्ध पूर्व धर्म का तिरस्कार रहता है और अपूर्व धर्म का समारोप इसलिये किया जाता है; ताकि उसके द्वारा व्यज्यमान अभीप्सित अर्थ की समानता बिठाई जा सके।

दण्डी के सामान्य और विशेष रूप में कहे गये समासोक्ति के स्वरूपों में वे विशेषताएँ भी कह दी गई हैं, जो अप्रस्तुत प्रशंसा में भी संक्रान्त हो जाती हैं। निष्कर्ष यह कि यहाँ अतिव्याप्ति-दोष इन लक्षणों में है।

वामन ने 'प्रतिवस्तूपमा' का स्वरूप-विचार करने के बाद लिखा है—'अनुक्तौ समासोक्तिः'; अर्थात्––उपमेय का कथन होने पर उसके समान अन्य वस्तु का वर्णन प्रतिवस्तूपमा है, पर यदि जहाँ उपमेय की उक्ति अभिधा द्वारा न की गई हो, तो वहाँ 'समासोक्ति' होती है; अर्थात् उपमेय तो न कहा गया हो, पर उसी की ओर संकेत करने के लिये, जहाँ उसी के समान वस्तु का न्यास किया गया हो, वहाँ समासोक्ति होती है। इस परिभाषा की भी विचित्र स्थिति है। वामन ने तो इस परिभाषा में अप्रस्तुत प्रशंसा और समासोक्ति में कुछ अस्पष्ट भेद रखा भी था; परन्तु वामन ने तो दोनों को एक ही कर दिया। उद्भट ने उपमान या अप्रस्तुत की अनुक्ति कही है, जिसे आगे की परम्परा मान्यता भी प्रदान करती है; परन्तु वामन ने तो उपमेय की ही अनुक्ति बता दी हैं। हाँ, 'आक्षेप' अलंकार के प्रसंग में वामन ने 'आक्षेप' का जो दूसरा प्रभेद बताया है, वहाँ अवश्य 'समासोक्ति' से अभिन्न करके उसकी चर्चा प्रस्तुत की है; वहाँ उन्होंने यह कहा है––"उपमान की आक्षेप से प्रतीति भी आक्षेप है और जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह समासोक्ति का ही है। 'समासोक्ति' का जो लक्षण वामन ने प्रस्तुत किया है, उससे अप्रस्तुत प्रशंसा का भेद करते हुए उन्होंने खुद यह कहा है कि अप्रस्तुत प्रशंसा में भी यद्यपि अप्रस्तुत या उपमान से प्रस्तुत या उपमेय की ही प्रतीति होती है, फिर भी अंतर यह होता है कि यहाँ उपमेय की पूर्णतः न सही, पर लिंगतः (चिह्नवः) किञ्चित् उक्ति रहती है और समासोक्ति में किसी प्रकार नहीं रहती। उदाहरण उन्होंने यह दिया है––

लावण्यसिंधुर वरैव हि कांचनेयं यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवंते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतरी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्ड मृणालदण्डाः॥

वामन की ही भाँति रुद्रट भी 'उपमेय' को गम्य और उपमान को ही एकमात्र सविशेषण अभिधीयमान मानते हैं। तब इनके यहाँ भी वही सवाल खड़ा होता है, कि अप्रस्तुत प्रशंसा से समासोक्ति का आखिर अंतर है क्या? रुद्रट ने समासोक्ति के क्षेत्र में केवल एक समान विशेषण वाली ही बात मानी और अतीत (सर्वमान्य परम्परा) से संबद्ध की है—बाकी तो निराला ही है। [अप्रस्तुत प्रशंसा या] अन्योक्ति में माना है कि वहाँ विशेषण के समान न होने पर भी इतिवृत्त—सादृश्य-वश उपमेय की प्रतीति होती है।

कुंतक ने समासोक्ति का जो विचार किया है, उस अवसर पर उन्होंने भामह

की परिभाषा सोदाहरण प्रस्तुत की है और बताया है कि उसे स्वतंत्र अलंकार मानने का कोई कारण नहीं है। यहाँ श्लेष के चमत्कार से भिन्न कोई स्वतंत्र सौंदर्य नहीं है।

मम्मट ने उद्भट की ही भाँति यह स्वीकार किया है कि श्लिष्ट विशेषणों के माध्यम से यहाँ संक्षेप में अप्रस्तुत पक्ष की भी व्यंजना कर दी जाती है। इनके विवेचन में और कोई नई बात नहीं है।

रुय्यक ने विशेषणविच्छित्तिमूलक अलंकारों में समासोक्ति की गणना की है और उद्भट तथा मम्मट की ही परम्परा में वही बात इन्होंने भी कही है कि विशेषण-साम्यवश अप्रस्तुत को जहाँ व्यंजना हो, वहीं समासोक्ति है। रुय्यक इस परम्परा में कदाचित् पहले आलंकारिक हैं, जिन्होंने समासोक्ति पर गंभीर विवेचन और उसके भेद-प्रभेद की चर्चा आरंभ की। यहाँ की अर्थबोध-प्रक्रिया का आगे पण्डितराज के विवेचन के अवसर पर विचार किया जायगा, अतः उस पक्ष को छोड़कर यहाँ हम भेदों की ही बात करते हैं। इन्होंने समासोक्ति के तीन भेद किये— (१) श्लिष्ट विशेषणमूलक, (२) साधारण विशेषणमूलक (३) औपम्यगर्भित। साधारण विशेषणमूलक के दो भेद हुए––धर्मसमारोप तथा कार्यसमारोप। औपम्य-गर्भित विशेषणोत्थापित समासोक्ति के भी दो भेद होते हैं—उपमानुगुण समासमूलक तथा उपमा एवं रूपक सांकर्य के अनुरूप समासमूलक। इस प्रकार सब पाँच भेद हुए। फिर 'सर्वस्वकार' ने यह भी बताया है कि विशेषण-साम्य के तो ये पाँच भेद हुए ही—एक दृष्टि से इनके अतिरिक्त तीन भेद और भी हुए। कहीं तो शुद्ध कार्यं समारोप होता है (२) और कहीं विशेषणसाम्य तो (३) कहीं इन दोनों का सांकर्य। इनमें विशेषणसाम्य के पाँच भेदों के अतिरिक्त शेष दो भेद और हुए। अर्थात् कुल मिलाकर सब सात भेद हुए। पुनः लौकिक पर लौकिक, शास्त्रीय पर शास्त्रीय, लौकिक पर शास्त्रीय और शास्त्रीय पर लौकिक ये चार भेद उक्त प्रभेदों में से प्रत्येक का करने पर अनेक भेद हो जायँगे। पुनः वह समासोक्ति अर्थान्तर-न्यास के माध्यम से कभी समर्थ्यगत और कभी समर्थकगत भी हुआ करती है। इस प्रकार यह समासोक्ति अनन्त प्रपञ्च वाली है।

समासोक्ति के प्रसंग में एक नई बात की शुरुआत इन्होंने और भी की, और वह यह कि समासोक्ति में गम्यमान अप्रस्तुत परम्परया प्रस्तुनधर्मी से सम्बद्ध तो अवश्य हो जाता है; पर रूपक की भाँति सीधे आरोपित नहीं होता। इसी वक्तव्य का पण्डितराज जगन्नाथ ने आगे चलकर खण्डन किया है। रुय्यक की इस मान्यता का कि समासोक्ति में जो चमत्कार लक्षित होता है, उसका कारण रूप समारोप (अप्रस्तुत रूप का प्रस्तुत पर समारोप) नहीं, बल्कि 'व्यवहार समारोप'

(अप्रस्तुत व्यवहार का प्रस्तुत धर्मी पर आरोप) ही कारण है। कुवलयानंदकार ने तो अवश्य उपबृंहण किया है; पर पण्डितराज ने इसका भी खण्डन किया है।

हेमचंद्र ने भी इसी भामह, उद्भट एवं रुय्यक की भाँति यही स्वीकार किया है कि श्लिष्ट विशेषणों से उपमान की प्रतीति समासोक्ति है। चंद्रालोककार जयदेव भी इसी पक्ष के समर्थक हैं। उन्होंने श्लिष्ट विशेषण आदि का तो उल्लेख नहीं किया है; पर यह अवश्य स्वीकार किया है कि प्रस्तुत वर्ण्य से इस अलकार में अप्रस्तुत की भी परिस्फूर्ति हुआ करती है।

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ महापात्र ने समासोक्ति का स्वरूप यों बताया है—जहाँ पर समान कार्य, समान चिह्न तथा समान विशेषण के द्वारा प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का समारोप किया जाय, वहाँ समासोक्ति होती है। विशेषण साम्य भी तीन रूपों का दिखाई पड़ता है, या तो विशेषण श्लिष्ट हों, या साधारण हों अथवा औपम्य गर्भ हों। औपम्यगर्भता भी तीन प्रकार की सम्भव है—उपमा-गर्भ, रूपक-गर्भ और उभयसांकर्य-गर्भ।

व्यवहार समारोप की दृष्टि से भी इन्होंने चार भेदों की चर्चा की है—(१) लौकिक पर लौकिक व्यवहार का समारोप (२) शास्त्रीय वस्तु पर शास्त्रीय व्यवहार का समारोप (३) शास्त्रीय वस्तु पर लौकिक व्यवहार का समारोप और (४) लौकिक वस्तु पर शास्त्रीय व्यवहार का समारोप। लौकिक वस्तु भी रसादि के भेद से अनेक प्रकार की हो सकती है। शास्त्रीय वस्तु भी तर्क, आयुर्वेद, ज्योतिःशास्त्र आदि के भेद से विविध प्रकार की हो सकती है।

इस प्रकार स्वरूप एवं भेद के अतिरिक्त दो-एक तात्त्विक विवेचन भी इन्होंने प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ—एक देश विवर्ति रूपक और समासोक्ति में क्या अंतर किया जाय। उदाहरणार्थ एक श्लोक लें—

विकसितमुखीं रागासङ्गाद्गलत्तिमिरावृतिदिनकरकरस्पृष्टामैंद्रीं निरीक्ष्य दिशं पुरः।
जरठलवलीपाण्डुच्छायो भृशंकलुषान्तरः श्रयति हरति हन्त प्राचेतसीं तुहिनद्युतिः।

देखा कि प्राची दिशा का मुख विकसित हो उठा है, रागातिरेक के कारण तिमिर का आवरण स्वय खिसकता जा रहा है, अब तो दिनकर अपने कर से उसका स्पर्श भी करने लगा है, वह चंद्रमा पुराने पड़े लवली के पाण्डुर पत्तों के समान पीले पड़े और अन्तर को कलुष किये हुए प्राचेतसी (पश्चिम दिशा) की ओर मुड़ गया, ऐंद्री से अपरक्त हो गया।

यहाँ अनेक श्लिष्ट विशेषणों के कारण एक अप्रस्तुत अर्थ या व्यवहार व्यंजित हो रहा है। इस श्लोक में यदि 'तिमिरावृत्ति' की जगह 'तिमिरांशुक' कर दिया जाय और इस प्रकार श्लोक के एक देश में रूपण कर भी दिया जाय, तब भी

यहाँ समासोक्ति ही रहेगी, एक देश विवर्तिरूपक नहीं हो सकता। कारण यह है कि यहाँ की 'तिमिरांशुक' गत रूपण अपने मूलभूत आरोप के लिये जिस सादृश्य की अपेक्षा करती है, तदर्थ उसे अन्य की अपेक्षा नहीं है। तिमिर एवं अंशुक, दोनों ही आच्छादक हैं, अतः साम्य या सादृश्य का आधार उनके स्वरूप में यही है। इस स्वरूप-सापेक्ष, अन्य-निरपेक्ष सादृश्य से ही आरोप और रूपक की सिद्धि हो गई। इस प्रकार के किसी खंड में पड़े हुए रूपक से समासोक्ति का अस्तित्व मारा नहीं जा सकता। एक देश विवर्ति रूपक वहाँ होता है, जहाँ एक खंड का रूपक अपनी सिद्धि के लिये परसापेक्ष हो। परसापेक्ष तब होगा, जब सादृश्य अस्फुट हो; जैसे—

> यस्य रणान्तः पुरके करे कुर्वाणस्य मण्डलाग्रलताम्।
> रससम्मुखी अपि सहसा पराङ्मुखी भवति रिपुसेना ।।

अर्थात्—हाथ में खड्गलता लिये हुए जब किसी राजा ने रण-रूपी अंतःपुर में प्रवेश किया, तब रसावेश में आगे बढ़कर भी शत्रुसेना पराङ्मुख हो गई—यहाँ पर रणान्तःपुर में जो आरोप अथवा उसके कारण रूपक हैं, उसे अपनी सिद्धि के लिये सादृश्य की आवश्यकता है; पर रण और अन्तःपुर में कोई स्फुट समान धर्म नहीं दिखाई पड़ता, जिससे उन दोनों में सादृश्य लक्षित होता हो। समस्त प्रसंग पर ध्यान देने से यह देर से जान पड़ता है कि दोनों में समानता यह है कि रण में अन्तःपुर की ही तरह वह बड़े आनंद से विचरण करता है। यह सुख-पूर्वक संचार ही वह समान धर्म है, उभयनिष्ठ धर्म है, जिसके कारण दोनों में समानता लक्षित होती है और जिसके बल पर आरोप तथा रूपक की सिद्धि होती है; पर यदि कहीं सादृश्य स्फुट भी हो और तन्मूलक अनेक आरोप शाब्द हों और एक आर्थ हो, तो वहाँ रूपक ही मानना चाहिए, समासोक्ति नहीं। कारण यह है कि वहाँ रूपक का बोध ही इतना उग्र और उदग्र होता है कि समासोक्ति की संभावना ही मारी जाती है।

वस्तुतः औपम्यगर्भ-विशेषणमूलक समासोक्ति साहित्य-दर्पणकार को अभीष्ट नहीं है। उन्होंने सोदाहरण उपर्युक्त परकीय मत का खण्डन ही किया है। उनका कहना है कि जहाँ-जहाँ एक देशविवर्तिनी उपमा या एक देशविवर्ती रूपक को समासोक्ति के मूल में निहित माना गया है, पर्यालोचन करने पर उसे अंग नहीं, बल्कि प्रधान ही मानना चाहिए। इस प्रकार दर्पणकार ने कार्य्य, लिंग, श्लिष्ट विशेषण तथा साधारण विशेषण को प्रस्तुतार्थ सूचन में निमित्त मानकर पहले समासोक्ति के चार भेद माने हैं। पुनः उन चारों में से प्रत्येक के लौकिकादि उपर्युक्त चार भेद मानते हैं। इस प्रकार समासोक्ति के कुल १६ भेद होते हैं।

आगे दर्पणकार ने इतना और बताया है कि ध्वनित-उपमा और श्लेष से समासोक्ति का अंतर यह है कि समासोक्ति में केवल विशेषण मात्र में ही साम्य रहता है और उन दोनों में विशेष्य साम्य भी। अप्रस्तुत प्रशंसा से तो स्पष्ट ही भेद है कि समासोक्ति में अप्रस्तुत व्यंग्य होता है और अप्रस्तुत प्रशंसा में प्रस्तुत।

जहाँ तक अप्पय दीक्षित का सम्बन्ध है, उन्होंने स्वीकार किया है कि जहाँ श्लिष्ट विशेषण, साधारण विशेषण तथा सारूप्यवश प्रस्तुत अर्थ के साथ-साथ अप्रस्तुत अर्थ की भी प्रतीति हो, वहाँ समासोक्ति होती है।

विशेषण या सारूप्यवश जो अप्रस्तुत अर्थ होता है, वह प्रस्तुत विशेषण में आरोपित करने के लिये। कारण यह है कि यदि अप्रस्तुत अर्थ का प्रस्तुत से कोई सम्बन्ध न हो, तो कवि ऐसी असंबद्ध बात कहेगा ही क्यों? निष्कर्ष यह कि यह अप्रस्तुत व्यवहार का समारोप ही यहाँ की समस्त चारुता का मूल स्रोत है। रूपक की तरह समासोक्ति में भी आरोप होता है; पर प्रस्तुत रूप का नहीं, व्यवहार का समारोप होता है। रूप-समारोप वहीं होता है, जहाँ अप्रस्तुत वाचक पद का भी साथ ही प्रयोग हुआ हो। रूपक में ऐसा होता है और समासोक्ति में नहीं। यही कारण है कि रूपक के स्थल में रूप समारोप होता है और समासोक्ति में नहीं। 'मुखचन्द्र है' यह रूपक का उदाहरण है, यहाँ मुख पर चंद्र का आरोप होगा, पर 'रक्त चंद्र प्राची का मुँह चूम रहा है', इस समासोक्ति के उदाहरण में चंद्र पर जार का आरोप इसलिये नहीं होगा कि यहाँ 'जार' पद का प्रयोग नहीं है और इसीलिये रूपक से समासोक्ति भिन्न होगी।

कहा जा सकता है कि यदि समारोप के लिये 'आरोप्य' वाचक शब्द का प्रयोग अपेक्षित होता है, तो एक देशविवर्ती रूपक में आरोप्य वाचक शब्द के न प्रयुक्त होने पर भी क्यों समारोप हो जाता है? इसका उत्तर यों लीजिये, उदाहरण है—

"पयोद ने रात्रि में अपने विद्युन्नेत्र से अभिसारिका का मुख देखा, उसे लगा कि पानी की धारा के साथ कहीं चंद्र को भी तो उसने जमीन पर नहीं फेंक दिया? कदाचित् इसीलिये बादल रह-रहकर चिल्ला (गरज) पड़ता है।"

यहाँ एक देशविवर्ती रूपक है। यहाँ पयोद के साथ यद्यपि द्रष्टा पुरुष शब्द का प्रयोग नहीं है, फिर भी उसका आरोप होने का कारण 'विद्युन्नयन' में अप्रस्तुत 'नयन' शब्द की प्रधानता है। 'विद्युन्नयन' में उत्तर पद प्रधान (तत्पुरुष) समास है, अतः 'नयन' अपने साथ योग्य (अन्वयोपयोगी) संबंध रखने वाले 'द्रष्टा-पुरुष' का आक्षेपक (गमक) या उन्नायक होगा, अन्यथा कार्य ही न चलेगा। समासोक्ति में इस प्रकार रूप-समारोप का कोई कारण नहीं है। समासोक्ति में जो अप्रस्तुत

व्यवहार प्रतीत होता है, वह उक्त प्रयोग की भाँति (नयन के समान) (प्रस्तुत की अपेक्षा) प्रधान नहीं है, प्रत्युत अप्रधान है, अतः वह रूप-समारोप का हेतु नहीं हो सकता; इसलिये यही मानना संगत है कि विशेषण-द्वारा समर्पित अप्रस्तुत व्यवहार का प्रस्तुत विशेष्य पर किया गया समारोप ही समासोक्ति में चारुता का मूल हेतु है।

अब दूसरी बात यहाँ यह उपस्थित होती है कि जब एक ही विशेषण से (श्लिष्टता या अन्य कारण से) प्रस्तुत और अप्रस्तुत उभयविध व्यवहारों की प्रतीति हुई है और दोनों एक ही 'प्रस्तुत-विशेष्य' से अन्ततः संबद्ध हैं, तब दोनों की समकक्ष स्थिति हुई, इसीलिये यह कहना ठीक नहीं है कि अप्रस्तुत व्यवहार अपने अन्वय के लिये अप्रस्तुत विशेष्य का आक्षेप करेगा और इस प्रकार प्रस्तुत पर अप्रस्तुत रूप का समारोप भी हो सकेगा। लेकिन, इसी के साथ यह प्रश्न भी खड़ा होता है कि अप्रस्तुत व्यवहार को प्रकरण से सम्बद्ध करने के लिये कहीं-न-कहीं आरोपित करना होगा, वह कहाँ किया जाय। प्रस्तुत व्यवहार पर आरोप हो नहीं सकता, क्योंकि आरोप के लिए एक का प्रधान और दूसरे का अप्रधान होना आवश्यक है और यहाँ दोनों समप्रधान हैं। बचे प्रस्तुत और अप्रस्तुत व्यवहारी या विशेष्य। अप्रस्तुत विशेष्य की आक्षेपक सामग्री ही नहीं है और दूसरे हो भी, तो शब्दतः प्रस्तुत और अप्रस्तुत में प्रस्तुत ही बलवान् होता है, अतः प्रस्तुत विशेष्य में ही अप्रस्तुत व्यवहार का आरोप, जो पहले कहा गया है, ठीक है।

इस निष्कर्ष तक पहुँच जाने के बाद दीक्षितजी को अब यह आशंका होती है कि अन्य प्राचीन आलंकारिकों द्वारा उक्त समासोक्ति के स्वरूप से इनकी कहीं कोई असंगति तो नहीं है? उन्होंने विद्यानाथ का एक समासोक्ति-लक्षण प्रस्तुत किया—

विशेषणानां साम्येन यत्र प्रस्तुत वर्तिनाम्।
अप्रस्तुतस्य गम्यत्वं सा समासोक्तिरिष्यते ॥

अर्थात्—प्रस्तुतवर्ती विशेषणों की समतावश जहाँ अप्रस्तुत व्यंग्य होता हो, वहाँ समासोक्ति कही जानी चाहिए। इस लक्षण में समस्त अप्रस्तुत को व्यंग्य होने की बात कही गई है; परन्तु दीक्षितजी के उपर्युक्त विवेचन में केवल अप्रस्तुत व्यवहार की ही बात कही गई—अप्रस्तुत व्यवहारी या अप्रस्तुत-विशेष्य की कोई चर्चा ही नहीं की गई। समस्त अप्रस्तुत का अर्थ ही यह है—अप्रस्तुत व्यवहार और अप्रस्तुत व्यवहारी या धर्मी (विशेष्य)। फिर दीक्षितजी का विवेचन आलंकारिकों की परम्परागत धारणा से जो मेल नहीं खा रहा है, उसका उत्तर क्या है?

उत्तर देते हुए दीक्षितजी का यह कहना है कि यद्यपि श्लिष्ट या साधारण विशेषण की महिमा से पहले तो अप्रस्तुत व्यवहार मात्र की ही प्रतीति होती है; पर बाद में उस मूल अप्रस्तुत धर्मी का भी संबद्ध होने के कारण स्मरण हो आता है। इस प्रकार अप्रस्तुत धर्मी से संबद्ध रूप में ही प्रतीत होकर जब प्रस्तुत विशेष्य पर उसका आरोप होता है—व्यंग्य अप्रस्तुत से वाक्य अर्थ का उपस्करण कर दिया जाता है—तभी एक विशेष प्रकार के चमत्कार की उपलब्धि होती है। उदाहरण के लिये उन्होंने बताया है, जैसे कोई सामान्य वस्तु (स्वरूपतः) दृष्टिगोचर हो; पर बाद में उस महान् व्यक्ति का भी स्मरण हो आए, जिसकी वह वस्तु है—फिर उससे संबद्ध दृष्टि से उसी वस्तु को देखा जाय, तो एक विशेष प्रभावोत्पादकता उसमें आ जाती है। वही स्थिति यहाँ भी समझनी चाहिए; अतः विद्यानाथ का कहना ठीक ही है। समासोक्ति के उपर्युक्त उदाहरण को भी देखें, तो वहाँ (रक्त चंद्र प्राची के मुख को चूम रहा है) जो मुखचुम्बन जैसा अप्रस्तुत व्यवहार व्यंजित हो रहा है—वह जब तक जार-संबद्ध रूप में नहीं प्रतीत होगा, तब तक केवल व्यापार में कोई रसात्मकता तो होगी नहीं, और फिर नीरस व्यवहार का आरोप हो निरर्थक हो जायगा। इस प्रकार प्राचीनों की उक्ति कि समस्त अप्रस्तुत व्यंजित होता है—ठीक ही है; लेकिन जब सारूप्य निबंधना समासोक्ति में अप्रस्तुत वृत्तान्त का ही ज्ञान होता है और मात्र उतने का ही समारोप भी, तो उसी प्रकार अन्य स्थलों में भी वृत्तान्त समारोप वाली बात ही स्वीकार करनी चाहिए।

इस प्रकार निष्कर्ष यही हुआ कि यहाँ रूपक की भाँति अप्रस्तुत धर्मी का प्रस्तुत धर्मी पर रूप-समारोप नहीं होता, बल्कि अप्रस्तुत धर्मी से संबद्ध रूप ज्ञात अप्रस्तुत वृत्तान्त का प्रस्तुत धर्मी पर आरोप होता है। इस आरोप से वाच्य शुरू हो जाता है और फिर इससे चामत्कारिक प्रतीति सम्पन्न होती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने दीक्षितजी के उक्त विवेचन और निष्कर्ष से अपना मत-भेद प्रकट किया है। उन्होंने समासोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

"जहाँ प्रस्तुत धार्मिक प्रस्तुत व्यवहार साधारण विशेषण मात्र से उपस्थापित अप्रस्तुत धर्मिक व्यवहार से अभिन्न होकर प्रतीत हो, वहाँ समासोक्ति होती है।"

शब्दशक्ति मूलध्वनि में भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत द्विविध अर्थ होते हैं, फिर भी दोनों में अंतर यह है कि समासोक्ति में शब्दतः अप्रस्तुत धर्मी की प्रतीति होती है और यहाँ उस तरह नहीं होती। हाँ, श्लेष का एक ऐसा प्रभेद अवश्य होता है, जहाँ प्रकृत धर्मी में ही दो व्यवहार श्लेष के बल से कहे गये हों, जिसमें एक प्रस्तुत हो और

दूसरा अप्रस्तुत, उससे भी समासोक्ति का अंतर है और अंतर यह है कि समासोक्ति में प्रस्तुत व्यवहार का आश्रय भिन्न होता है और अप्रस्तुत व्यवहार का आश्रय भिन्न, जब कि उक्त विध श्लेष में दोनों प्रकार के व्यवहारों का आश्रय एक ही होता है।

पण्डितराज ने समासोक्ति स्थल में चामत्कारिक अर्थ-बोध की क्या शास्त्रीय प्रक्रिया हो सकती है--इस पर अनेक प्रकार के विचार प्रस्तुत किये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय, तो भामह, उद्भट से लेकर अन्यान्य प्राचीन आलंकारिकों के मतों का विवेचन-विश्लेषण करते हुए उन्होंने अप्पय दीक्षित के भी उपर्युक्त मत की आलोचना की है और अंततः अपना मत प्रस्तुत किया है।

भामह एवं उद्भट आदि के अनुसार पण्डितराज की समझ में समासोक्ति-स्थल की अर्थ-बोध-प्रक्रिया इस प्रकार होगी—

इतना तो स्पष्ट ही है कि समासोक्ति में दो प्रकार का अर्थ होता है--प्रस्तुत और अप्रस्तुत। सवाल यह है कि ये दोनों अर्थ परस्पर असम्बद्ध हैं या संबद्ध। यदि असंबद्ध हों, तो सहृदयों की अनुभूति से विसंवाद खड़ा होगा; अतः संबद्ध प्रतीति ही माननी चाहिए। यदि संवद्ध करने के लिये अप्रस्तुत अर्थ को प्रस्तुत व्यवहार से तटस्थ रखते हुए प्रस्तुत कर्ता के धर्म रूप से अन्वित कर दें—उस पर आरोपित कर दें—तब भी उक्त विसंवाद समाप्त नहीं होता। कहने का मतलब यह है कि सौंदर्य दोनों की अभिन्न प्रतीति में ही है। किसी भी प्रकार से उनमें ताटस्थ्य या भेद नहीं रहना चाहिए। जब तक उक्त उदाहरण में चंद्र को जार से और प्राची को परकीया नायिका से तदात्म करके न देखें, तब तक उस उक्ति का कोई सौंदर्य ही नहीं है; अतः यहाँ भामह एवं उद्भट आदि मानते यह हैं कि विशेषण-साम्यवश जो अप्रकृत वाक्यार्थ प्रतीत होता है, या जितना ही प्रतीत होता है, अपनी पूर्ति के लिए अपेक्षित अन्य अर्थों को भी आक्षेप द्वारा प्राप्त कर सम्पूर्णता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार परिपूर्ण शरीर वाला अप्रस्तुत अर्थ, जिसके अवयवों ने प्रस्तुतार्थ के अवयवों से तादात्म्य प्राप्त कर लिया है--प्रस्तुत अर्थ से अभेद प्राप्त करके प्रतीत होता है। इस प्रकार जहाँ तक प्राकरणिक कार्य में इस तदात्म अर्थ का उपयोग है 'परिणाम' की भाँति प्रस्तुत अर्थ की दृष्टि से उपयुक्त होता; पर रसात्मकता की दृष्टि से यहाँ अप्रस्तुत अर्थ की महत्ता होती है। इस प्रकार समासोक्ति में जो विभिन्न स्तर के अर्थ होते हैं, उनकी प्राप्ति में 'शक्ति' के साथ-साथ 'आक्षेप' का भी योग रहता है। चिरन्तन आलंकारिकों की, जिसमें उद्भट भी शामिल हैं, यही धारणा है।

पण्डितराज उद्भट आदि की उपर्युक्त धारणा का खण्डन करते हुए यह मानते

हैं कि 'वह चंद्र निशामुख चूम रहा है', इस वाक्य में आक्षेपक सामग्री है—चुम्बन-व्यापार। पर चुम्बन-व्यापार नायक-नायिका का ही यदि असाधारण व्यापार होता, तो इसी का आक्षेपक माना जाता ; पर यह व्यापार माता-पुत्र में भी वात्सल्यमूलक हो सकता है? दूसरा प्रश्न उन लोगों के सामने यह भी है कि मान लीजिये, नायक-नायिका आक्षिप्त भी कहीं हो गये, तो भी नायक और नायिका का चंद्र एवं निशा ही से क्यों अभेद किया जाय ? क्यों न चंद्र एवं निशा से तटस्थ रखकर चुम्बन क्रिया से ही उन्हें संबद्ध कर दिया जाय ? पर ऐसा करने से अभीष्ट रसात्मकता कहाँ से निष्पन्न हो सकेगी ? इसलिये मानना यही चाहिए ऐसे स्थलों में जो स्त्रीत्व या पुंस्त्व के बोधक प्रत्यय हैं, उन्हीं से प्रकृत्यर्थ रूप अधिकरण में नायिकात्व एवं नायकत्व की व्यंजना होती है। रहा अप्रस्तुत व्यवहार, वह भी श्लिष्ट विशेषणों की महिमा से व्यंग्य ही होता है। कारण अभिधा का तो प्रकरण से अप्रकृतार्थ समर्पण के प्रति नियंत्रण हो जायगा और नियंत्रित अभिधा क्या कर सकती है ? अतः शाब्दी व्यंजना ही मानना होगा। इस प्रकार समस्त अप्रस्तुत अर्थ-व्यंजना से ही प्राप्त अर्थ है। यह व्यंग्य अप्रस्तुत अर्थ चूँकि वाच्यार्थ का उपस्कारक है, अतः इसे गुणीभूत व्यंग्य का एक भेद माना जाय, तो वह कहीं ज्यादा अच्छा होगा।

अब आइए, अलंकार-सर्वस्वकार की अर्थबोध प्रक्रिया पर। उनका कहना हैं कि विशेषण साम्यवश प्रतीत हुआ अप्रस्तुत प्रस्तुत की ही असाधारण विशेषता के रूप में प्रतीत होता है और इस रूप में प्रतीत होने का कारण होना ही चाहिए—अप्रस्तुत व्यवहार का समारोप। रूप-समारोप की बात स्वीकार करने से तो फिर यह रूपक ही होगा। पंडितराज इस चीज को स्वीकार नहीं करते। वे इसे केवल वागाडम्बर मात्र ही समझते हैं। अलंकार-सर्वस्वकार के सामने पंडितराज का यह प्रश्न है, जिस अप्रस्तुत व्यवहार का वे प्रस्तुत वर्ण्य पर आरोप स्वीकार करते हैं—वह अप्रस्तुत व्यवहार अपने व्यवहारी या विशेष्य से संबद्ध होकर आरोपित होता है या असंबद्ध होकर? यदि पहली बात स्वीकार की जाय, तो जारगत अप्रकृत व्यवहार चंद्र (प्रकृत विशेष्य) पर आरोपित किया जायगा, और तब उससे यही निष्कर्ष निकलेगा—चंद्र एवं जार समान हैं ; जैसे—यदि यह कहा जाय कि मुख चंद्र की लीला धारण कर रहा है, तो उसका अर्थ यही तो होगा कि मुख चंद्र के समान है ; परंतु कवि समासोक्ति की श्लिष्ट विशेषण गर्भित उक्ति से प्रकृत और अप्रकृत में साम्य-प्रदर्शन नहीं करना चाहता, उलटे अभेद ही प्रदर्शित करना चाहता है ; इसलिये आद्य विकल्प निरर्थक है। रहा दूसरा विकल्प, वह तो और भी निरर्थक है ; क्योंकि नायक या नायिका से

असंबद्ध चुम्बन मात्र व्यापार से प्रकृत अर्थ में क्या सौंदर्य-वृद्धि हो सकती है ?

कुवलयानंदकार अप्पय दीक्षित ने अलंकार-सर्वस्वकार रुय्यक का ही अनुसरण करते हुए ऊपर जो कुछ कहा है, वह भी अमान्य है। दीक्षितजी ने ऊपर यह स्वीकार किया है कि समासोक्ति में रूपक की भाँति रूप-समारोप इस लिये नहीं होता कि यहाँ रूपक की भाँति अप्रस्तुत वाचक शब्द का प्रयोग नहीं है, पर यह तर्क निरा थोथा तर्क है। यदि आरोप के लिये सर्वत्र आरोप्य वाचक शब्द का प्रयोग ही आवश्यक होता, तो एक देश विवर्ति रूपक के उस अंश में, जहाँ आरोप्य वाचक शब्द का अभाव होता है, वहाँ कैसे आरोप होता है ? यह कहना कि वहाँ भले ही आरोप्य वाचक शब्द का प्रयोग न हो, पर अन्य आक्षेपक सामग्री विद्यमान रहती है, तो इस प्रकार की आक्षेपक तो नहीं, पर व्यंजक सामग्री समासोक्ति में भी उपलब्ध है। प्रकरण आदि को देखते हुए चुम्बनादि सामग्री से नायक एवं नायिका की प्रतीति संभव है। और आक्षेप की जगह गुणीभूत व्यंग्य के इस उदाहरण में व्यंजक का ही होना ठीक है। अत: निश्चय यह हुआ कि रूप समारोप यहाँ भी होकर रहेगा और होकर रहेगा ; इसलिये कि उसकी सामग्री यहाँ है; अत: दीक्षितजी का समस्त उपर्युक्त वक्तव्य अतर्क संगत है; अत: मानना यह चाहिये अप्रकृत व्यवहार से अभिन्न प्रकृत-व्यवहार अप्रकृत-विशेष्य से अभिन्न प्रकृत-विशेष्य में अन्वित होता है। सवाल अंततः यह रहता है कि फिर रूपक-स्थल की अर्थबोध-प्रक्रिया से समासोक्ति-स्थल की अर्थ-बोध-प्रक्रिया का अंतर क्या है ? अंतर यह है कि रूपक में चूँकि प्रकृत और अप्रकृत––दोनों ही अर्थों के बोधक शब्दों का प्रयोग यहाँ रहता है ; अत: पहले अलग-अलग दोनों वाक्यार्थोंकी प्रतीति होती है––पुन: विशिष्ट रूप में प्रतीत प्रकृत वाक्यार्थ विशिष्ट रूप से ही अतीत अप्रकृत वाक्यार्थ से तादात्म्यापन्न होकर महावाक्यार्थ रूप से बोध में होता है।

पण्डितराज उद्भट द्वारा एकदेश विवर्तिनी उपमा एवं रूपक के सांकर्य के स्वीकृत करने के बावजूद भी तन्मूलक समासोक्ति को न मानने में साहित्य-दर्पणकार के साथ हैं। सारूप्यमूलक अप्पय दीक्षित द्वारा उक्त समासोक्ति भेद को ये स्वीकार नहीं करते, वहाँ वे अप्रस्तुत प्रशंसा ही मानना ज्यादा संगत समझते हैं।

इस प्रकार समासोक्ति के संबंध में यदि भावी परम्परा भामह और उद्भट की ऋणी है, तो प्रभेद और विवेचन में रुय्यक की। पण्डितराज ने इन सबकी सूक्ष्मेक्षिका पूर्वक आलोचना की है और इसको सुचिंतित रूप प्रदान किया है।

अतिशयोक्ति

भामह ने अतिशयोक्ति की परिभाषा देते हुए यह कहा है कि निमित्त विशेष से जो लोकोत्तर वचन का विधान किया जाता है, वही अतिशयोक्ति अलंकार है। दण्डी का भी आशय भामह की इस उक्ति से कोई विशेष भिन्न नहीं है। अतिशयोक्ति के लिये लोकोतरता का समावेश इन्हें भी अभीष्ट है। वामन ने कुछ भिन्नता के साथ इसके स्वरूप के विषय में अपना मत यह दिया है कि उत्प्रेक्ष्यधर्म की 'यदि' शब्द प्रयोग पूर्वक कोई विचित्र कल्पना की जाय, तो वहाँ यह होती है। आगे चलकर किये जाने वाले अतिशयोक्ति के 'यद्यर्थातिशयोक्ति' नामक भेद का आधार शायद यही हो। रुद्रट ने 'अतिशयोक्ति' का तो नहीं, पर कतिपय अलंकारों के मूल में निहित 'अतिशय' का सामान्य लक्षण बताते हुए यह अवश्य कहा है कि जहाँ अर्थ और धर्म का नियत स्वरूप कहीं,कदाचित् प्रसिद्धि-वाध वश लोकातिक्रांत रूप से अन्यथा ही हो जाय, तो वहाँ यह अलंकार होता है। इस प्रकार इन सभी लोगों में 'लोकातिक्रांत कथन' की समानता उपलब्ध होती है।

रुद्रट के पूर्ववर्ती उद्भट ने भामह का अनुसरण करते हुए भी बहुत-कुछ नई बात कही है। भामह की उक्त परिभाषा को ज्यों-का-त्यों ग्रहण करने के बावजूद उन्होंने कहा है कि इस अतिशयोक्ति के चार भेद होते हैं--(१) अनेकता में एकता, (२) एकता में अनेकता, (३) अविद्यमान की विद्यमानता--संभावन तथा ४ पौर्वापर्य विपर्यय।

ध्वन्यालोककार एवं अभिनय गुप्त तक ने 'अतिशयोक्ति' अलंकार के स्वरूप में 'लोकातिक्रांत वचन' की वात कही है। निष्कर्ष यह कि परम्परा काफी दूर तक चलती रही।

कुंतक ने भी 'अतिशयोक्ति' के सामान्य स्वरूप की इसी मान्यता को आगे बढ़ाते हुए कहा कि 'जहाँ सृहृदयों को आह्लादित करने के अनुरूप वर्ण्य गत धर्मों में अतिशय पैदा किया जाय, वहाँ अतिशयोक्ति नामक अलंकार होता है। पुन: 'अतिशय' की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि इसके लिये दो चीजें अपेक्षित हैं—पहली है 'प्रकर्ष की काष्ठापन्न स्थिति' और दूसरी है—'प्रसिद्ध बोल चाल की पद्धति से आगे बढ़कर बात उपस्थित करना'। इसके साथ एक तीसरी शर्त उन्होंने यह बताई है कि इस विधान को आह्लादकारी भी होना चाहिए।

कुंतक के अनन्तर फिर मम्मट ने अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति के उस रूप को, जो लोकातिक्रांत कथन-रूपा है, अलंकार मात्र के मूल में व्याप्त स्वीकार किया है। इसके बाद अतिशयोक्ति के जो चार भेद स्वीकार किये हैं, वे यों हैं—

१. अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का निगरण पूर्वक अध्यवसान।

२. प्रस्तुत को उसकी जाति से ही पृथक् करके कहना।

३. यद्यर्थातिशयोक्ति तथा ४. पौर्वापर्यविपर्ययातिशयोक्ति।

इन चारो प्रभेदों में से मम्मट ने दूसरा प्रभेद कदाचित् वामन से, तीसरा और चौथा उद्भट से लिया है। पहले भेद का उन्नयन इन्होंने ही पहले-पहल किया या किसी दूसरे ने, कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता।

रुय्यक ने उत्प्रेक्षा के अनन्तर अतिशयोक्ति का विवेचन करते हुए यह बताया कि ये अलंकार अध्यवसायमूलक हैं। अध्यवसाय का अर्थ है, विषय निगरण पूर्वक विषयी से अभेद निश्चय। यह भी दो प्रकार का होता है—स्वारसिक और उत्पादित। पहला भ्रांतिमान में संभव है और दूसरा उत्प्रेक्षा में। उत्पादित अध्यवसाय भी दो प्रकार का होता है, सिद्ध और साध्य। साध्य वहाँ होता है, जहाँ इव, (जनु, मनु) आदि के प्रयोग से प्रतीत संभावना के कारण विषय निगीर्ण तो नहीं, पर लगता है जैसे विषयी ही हो, अर्थात् विषयी से निगीर्यमाण हो रहा हो। इस स्थिति में अध्यवसाय क्रिया की ही प्रधानता होती है। सिद्ध वहां अध्यवसाय होता है, जहाँ विषय का निगरण होने से अध्यवसित विषयी की ही प्रधानता हो—अतिशयोक्ति में यही होता है। वस्तुतः अध्यवसाय में तीन बातें संभव हैं—१. स्वरूप, २ विषय और ३. विषयी। इन तीनों में जब विषय निगीर्ण रहता है, तब अध्यवसित विषयी का और जब निगीर्यमाण रहता है तब अध्यवसान व्यापार का प्राधान्य रहता है। पहली स्थिति ही अतिशयोक्ति की है। अध्यवसाय में विषय की प्रधानता कभी संभव ही नहीं है।

इस अतिशयोक्ति के पाँच प्रकार संभव हैं—(१) भेद में अभेद, (२) अभेद में भेद, (३) संबंध में असंबंध, (४) असंबंध में संबध तथा (५) कार्य, कारण के पौर्वापर्य का विध्वंस।

रुय्यक जब यह कहते हैं कि इन पाँचों प्रभेदों में 'लोकातिक्रांतगोचरता है, तब लगता है कि अब भी अतिशयोक्ति स्वरूप-विषयक पूर्वाचार्यों की धारणा का इन लोगों पर प्रभाव शेष है। 'अतिशय' ही इन भेदों में प्रतिपाद्य है, जिसके लिये अभेदाध्यवसाय किया गया है। इन पाँच प्रभेदों में से पहले चार में अभेदाध्वसाय व्याप्त है, अध्यवसित का प्राधान्य है; पर पाँचवा भेद कुछ भिन्न पड़ जाता है, इसीलिये इस भेद की चर्चा रुय्यक ने अन्यत्र कार्यकारणमूलक अलंकारों के प्रसंग में भी स्वतन्त्र रूप से की है। इसीलिये कदाचित् हेमचंद्र ने अपने काव्यानुशासन में 'अतिशय' को ध्यान में रखकर पहले के चार ही भेदों का उल्लेख किया—कारण कार्यमूलक भेद का नहीं। साथ ही यह भी कहा है कि ऐसे स्थानों में अतिशयोक्ति

ही अनुप्राणक है, क्योंकि उसके बिना कोई अलंकार हो ही नहीं सकता। इसीलिये सामान्य, मीलित, एकावली, निदर्शना एवं विशेष आदि अलंकारों का अलग से निर्वचन न करना ही श्रेयस्कर है।

चंद्रलोककार ने कार्य-कारण-विपर्यय के तीन भेद बताये, अक्रमतिशयोक्ति अत्यंतातिशयोक्ति तथा चपलातिशयोक्ति। इसके अतिरिक्त तीन प्रभेदों की और चर्चा की, संबंधातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति एवं रूपकातिशयोक्ति। इन्होंने यथार्थातिशयोक्ति छोड़ दी।

साहित्य-दर्पणकार ने अतिशयोक्ति का स्वरूप बताते हुए यह कहा है कि 'अध्यवसाय की सिद्ध अवस्था में अतिशयोक्ति होती है।' अध्यवसाय का अर्थ है, विषय के निगरण से अभेद की प्रतीति। उत्प्रेक्षा में विषयी या उपमान से उपमेय की जो अभेद-प्रतीति संभावित होने के कारण साध्य कोटि की होती है, वही अतिशयोक्ति में आकर निश्चित होने के कारण सिद्ध हो जाती है। हाँ, इस प्रसंग में इतना अवश्य है कि अतिशयोक्ति में विषय का उपादान या प्रयोग नहीं होता। उत्प्रेक्षा में मात्र विषय की विषयी के रूप में संभावना किये जाने के कारण विषय का तिरस्करण होना ही अध्यवसाय (या अभेद प्रतीति) है। इस प्रकार अध्यवसाय उत्प्रेक्षा में भी है और अतिशयोक्ति में भी, पर दोनों जगह का अध्यवसाय भिन्न-भिन्न रूप का है। एक जगह विषय का निगरण है, अन्यत्र विषय का अधःकरण।

इस अतिशयोक्ति को उन्होंने पाँच प्रकार का बताया है—भेद में अभेद, अभेद में भेद, असंबंध में संबंध और संबंध में असंबंध तथा कार्य-कारण का पौर्वापर्य विपर्यय।

कुवलयानंदकार अप्पय दीक्षित ने अतिशयोक्ति के अनेक भेद किये हैं, रूपकातिशयोक्ति, सापह्नवातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, संबंधातिशयोक्ति, असंबंधातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, अत्यन्तातिशयोक्ति। इन्होंने पिछले तीन भेद तो कार्य-कारण से ही संबद्ध किये। शेष पाँच में सापह्नवातिशयोक्ति एक नई कल्पना है। अन्य चार पूर्वागत रूप हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अतिशयोक्ति का स्वरूप-निर्देश करते हुए बताया है कि उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण ही अतिशयोक्ति है। निगरण का अर्थ यह है कि उपमान एवं उपमेय इस प्रकार यहाँ अभिन्न प्रतीत हों कि उपमानगत असाधारण विशेषता से सम्पन्न होकर उपमेय बोधित होने लगे। अतिशयोक्ति की अर्थ-बोध-प्रक्रिया के संबंध में पण्डितराज ने तीन मतों का उल्लेख किया है—(१) उपमेय व्यक्ति की उपमानगत असाधारण विशेषता से सम्पन्न होकर प्रतीत होना, (२) उपमेय व्यक्ति की (उपमान एवं उपमेय) उभयगत असाधारण

विशेषताओं के साथ प्रतीत होना, (३) उपमेय व्यक्ति का केवल उपमेय गत असाधारण विशेषता से सम्पन्न होकर प्रतीत होना।

इस प्रसंग में पण्डितराज ने दूसरी विचारणीय बात यह कही है कि 'रूपकातिशयोक्ति' शब्द ही ठीक नहीं है। कारण यह है कि इसमें 'रूपक' विशेषण यह बोधित करता है कि रूपक के जो विशेष प्रभेद हैं, वे यहाँ भी संभव हैं। अर्थात् जैसे रूपक के दो भेद बताये हैं, ताद्रूप्य रूपक एवं अभेद रूपक, उसी प्रकार 'अतिशयोक्ति' के भी दो भेद हो सकते हैं, अभेदातिशयोक्ति और ताद्रूप्यतिशयोक्ति। पर यह संभावना मानकर 'अतिशयोक्ति' में 'रूपक' विशेष लगाना ठीक नहीं है, कारण यह है कि रूपक एवं अतिशयोक्ति-स्थल की प्रतीति एक दूसरी से इस प्रकार भिन्न हैं कि उन्हें एक दूसरे से संबद्ध किया ही नहीं जा सकता। रूपक में तो इतना ही प्रतीत होता है कि विषयी एवं विषय उपमान और उपमेय अभिन्न हैं, पर अतिशयोक्ति में तो इससे और आगे बढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि उपमानगत असाधारण विशेषता से उपमेय संवलित है। इसी प्रभेद को प्राचीन आचार्यों ने 'भेद में अभेद' नाम से कहा है। इसके अतिरिक्त पण्डितराज ने 'भेद में अभेद', 'संबंध में असंबंध' तथा 'असंबंध में संबंध के साथ-साथ पौर्वापर्यविपर्यय' के भी दो प्रभेदों की गणना की है।

कुछ लोगों का विचार है कि अतिशयोक्ति के जो दो रूप हैं—संबंध में असंबंध तथा असंबंध में संबंध—इन्हें अलग अलंकार नहीं मानना चाहिए। कारण यह है कि ये तो ऐसी विशेषताएँ हैं कि स्वभावोक्ति से भिन्न रूपक, दीपक, उपमा एवं अपह्नुति आदि सभी में संभव हैं। इतना तो स्पष्ट ही है कि बात को यथास्थित कह देने में कोई आलंकारिक चमत्कार नहीं उत्पन्न हो सकता; अतः कुछ-न-कुछ संबंध, असंबंध करना ही पड़ता है और जब सभी अलंकारों में इनकी अपेक्षा है, तो इन्हें पृथक् अलंकार मानने की कोई आवश्यकता नहीं। पौर्वापर्यविपर्ययात्मक अतिशयोक्ति में भी और क्या है, यही न कि जो जिस क्रम से संबद्ध है, उसको उस क्रम से असंबद्ध बताना, तो यह भी पृथक् भेद क्या हुआ? इस प्रकार केवल चार रूपों में ही प्रत्येक को अतिशयोक्ति कहना चाहिए।

दूसरों का वक्तव्य यह है कि अतिशयोक्ति तो वस्तुतः वही है, जहाँ विषय विषयी के द्वारा निगीर्ण हो। शेष भेदों को किसी एक समान विशेषता के अभाव में पृथक्-पृथक् अलंकार ही मानना चाहिए। वैसे कहने को यह कहा जा सकता है कि शेष भेदों में भी असंबंध के द्वारा संबंध का, संबंध के द्वारा असंबंध का, व्युत्क्रम के द्वारा क्रम का निगरण हुआ ही है; अतः उन सब में समान विशेषता की उपलब्धिवश एक ही मूल अलंकार का प्रभेद कहा जा सकता है; लेकिन इन

स्थलों के चमत्कार के मूल में निहित अर्थगत प्रतीति का जब विश्लेषण करना पड़ता है, तब यह स्पष्ट हो जाता है और अनुभव बताता है कि सजातीयों से सर्वथा भिन्न होकर नहीं, प्रत्युत अपने सजातियों में ही जब अलग-सी वह वस्तु प्रतीत हो—तभी चमत्कार होता है; अतः अन्य या भेद से अभेद के निगरण की बात अस्वीकार्य है। उन्हें पृथक्-पृथक् ही मानना ज्यादा संगत है।

पंडितराज कुवलयानंदकार की सापह्लवातिशयोक्ति का विरोध भी इसलिये स्वीकार करते हैं कि जिस पर्यस्तापह्नुति को यहाँ गर्भ में स्वीकार किया गया है, वह अपह्नुति के सामान्य लक्षण से ही अनाक्रान्त है; अतः तन्मूलक भेद स्वीकार्य नहीं है।

अतिशयोक्ति के इस विकास में एक अद्भुत वैलक्षण्य यह उपलब्ध होता है कि आरंभ में १०-११वीं शताब्दी तक अतिशयोक्ति का जो सामान्य रूप 'लोकोत्तर वचन' माना जाता रहा, उसका पण्डितराज ने उल्लेख तक नहीं किया। अथवा यह भी हो सकता है कि उसे अलंकार-सामान्य का मौलिक तत्त्व मानकर विशेष अलंकार का स्वरूप कहना उन्होंने उचित न समझा हो।

इस उपर्युक्त विवेचन से अतिशयोक्ति के स्वरूप और प्रभेद पर जो प्रकाश पड़ता है, उससे स्पष्ट है कि जहाँ पहले 'अतिशय' की परिभाषा 'लोकातिक्रांत-गोचर, लोकसीमातिवर्तिनी तथा अतिलोक' के रूप में की जाती थी, वहाँ रुय्यक, विश्वनाथ एवं जगन्नाथ उसी 'अतिशय' का स्वरूप 'अध्यवसाय' बताते हैं। रुय्यक की मध्यवर्ती स्थिति है। वे एक तरफ 'अतिशय' का अर्थ 'अध्यवसाय' भी कहते हैं और दूसरी ओर अतिशयोक्ति के पाँचों भेदों में 'लोकातिक्रान्तगोचरता' को ही अनुस्यूत बताते हैं (एषु पञ्चसु भेदेऽभेदादिवचनं लोकातिक्रांतगोचरम्)। वहीं पण्डित-राज अपने विवेचन में अनुस्यूत तत्त्व जब खोजते हैं, तब उन्हें कुछ मिलता ही नहीं।

प्रभेद के सम्बन्ध में सबसे पहले उद्भट ने ही प्रयत्न किया है, उसी के द्वारा स्वीकृत प्रभेदों का कुछ संशोधन, परिवर्द्धन के साथ आगे के आचार्यों ने भी कथन किया है।

उद्भट	मम्मट	रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ	जयदेव-अप्पय
(१) भेद में अभेद=उपमानद्वारा उपमेय का निगरण		१ भेद में अभेद	१ रूपकातिशयोक्ति
(२) अभेद में भेद=प्रस्तुत को जो भिन्न करके कहा जाता है		२ अभेद में भेद	२ भेदकातिशयोक्ति
×	×	३ संबंध में असंबंध	३ असंबंधातिशयोक्ति

उद्भट	मम्मट	रुय्यक, विश्वनाथ,	जयदेव-अप्पय
(३) अविद्यमान की विद्यमानता की संभावना	३ यद्यर्थाति-शयोक्ति	४ असंबंध में संबंध	४ संबंधातिशयोक्ति
४ कार्यकारण पौर्वापर्य विपर्यय	४ का० का० पौ० वि०	वही	५ अक्रम, ६ चपल, ७ अत्यंत तथा अप्पय ने ८ सापह्नवाभी

आवश्यक विवेचन —

अतिशयोक्ति-रूपकातिशयोक्ति में गौणी साध्यवसाना लक्षणा काम करती है जब कि रूपक में गौणी सारोपालक्षणा। उत्प्रेक्षा में अभेद की संभावना होती है और अतिशयोक्ति में निश्चय। दूसरे प्रभेद में किसी जाति की व्यक्ति को उस जाति से ही ऊपर उठाकर उत्कर्ष प्रदर्शित किया जाता है। तीसरे प्रभेद में अविद्यमान की विद्यमानता की सभावना पर कोई भिन्न वक्तव्य का साम्य प्रदर्शित किया जाता है। चौथे प्रभेद में कारण के द्वारा कार्य के सम्पादन-गत त्वराधिक्य प्रदर्शित करने के लिए विभिन्न रूप दिखाये गये हैं। सापह्नवातिशयोक्ति का तो पण्डितराज ने खंडन ही कर दिया है।

यथासंख्य—

भामह का अविकल अनुवाद उद्भट ने इस अलंकार के स्वरूप के विषय में भी किया है। भामह ने कहा है—"जहाँ अनेक असमानधर्मी पदार्थों का पहले जिस क्रम से उद्देश या नामकथन किया गया हो, उसी क्रम के अनुसार जब फिर उनसे संबद्ध पदार्थों का विधान किया जाय, तो वहाँ 'यथासंख्य' नाम का अलंकार होता है।" और यही बात उद्भट ने भी स्वीकार की है। दण्डी की यथासंख्य-परिभाषा शब्दतः अवश्य भिन्न है; पर अर्थतः ज्यादा भिन्न नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने भी यही कहा है कि पूर्व-उद्दिष्ट पदार्थों का यथाक्रम अनुद्देश ही यथासंख्य है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने इसे ही संख्यान, तथा क्रम संज्ञाओं से भी अभिहित किया है। दण्डी ने यह शर्त नहीं स्वीकार की है। उनके अनुसार पूर्वोद्दिष्ट पदार्थ और बाद में विहित संबद्ध-पदार्थ असमानधर्मा ही हों, आवश्यक नहीं—वे समानधर्मा भी हो सकते हैं। उद्भट के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने 'असमानधर्मा' विशेषण का विवेचन करते हुए यह कहा है कि इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि यदि 'असमानधर्म' भी हों, तो भी यथासंख्य हो सकता है और असंकीर्ण रूप से हो सकता है। जहाँ समानधर्मा पदार्थों का उद्देश और अनुद्देश या पूर्वनिर्देश और अनुनिर्देश

हो, वहाँ संभव है कोई और भी अलंकार हो ; अतः यथासंख्य की असंकीर्णता के ख्याल से ही इन आलंकारिकों ने 'असमानधर्मा' की शर्त लगा दी है। वैसे होने को 'समानधर्मा' भी कोई बाधक नहीं है। मेधावी ने इसी अलंकार को 'यथासंख्य' नाम से कहा है, भामह और उद्भट तथा अन्यान्य परवर्ती आलंकारिकों ने इसी नाम को स्वीकार किया है। वामन ने इसे 'क्रम' संज्ञा दी है। वामन की इसके साथ-साथ अपने पूर्ववर्ती भामह, उद्भट से एक यह भी विषमता है कि इन्होंने 'असमानधर्मा' के विलकुल विपरीत यह कहा है कि 'उपमेय एवं उपमान का क्रम संबंध ही क्रम है' अर्थात् उपमान और उपमेय का क्रम से संबंध प्रदर्शित करना ही 'क्रम' नामक अलंकार होता है। इसी प्रसंग में उद्भट को एक वहुत ही महत्त्वपूर्ण बात यह सूझी है कि केवल क्रम से कुछ पदार्थों का उद्देश और अनुनिर्देश कर देने मात्र से क्या चमत्कार होता है ? निष्कर्ष यह कि इस अलंकार में रमणीयता पैदा कर देने के लिए कवि को करना क्या चाहिए ? उद्भट का कहना यह है कि यदि अनेक पदार्थ पूर्व निर्दिष्ट हैं, तब तो दोहरे या तेहरे अनुनिर्देशों से ही चमत्कार बढ़ जाता है; पर यदि दो ही पूर्वनिर्दिष्ट पदार्थ हों, तो वहाँ कई बार एक से एक संवद्ध पदार्थों का अनुनिर्देश होना चाहिए। इस प्रकार सौंदर्योत्पादनार्थ निम्नलिखित शर्तें अवश्य अपनाई जानी चाहिए—

(१) प्रथम (उद्दिष्ट) श्रेणी में दो-तीन से अधिक पदार्थ हों।

(२) प्रथम श्रेणी में उद्दिष्ट वस्तुएँ इसी क्रम से अनुनिर्दिष्ट द्वितीय श्रेणी की वस्तुओं से संबद्ध हों।

(३) प्रथम के अतिरिक्त अन्य श्रेणियां एकाधिक भी हो सकती हैं। मान लीजिये, प्रथम श्रेणी में क, ख, ग, कहे गये हैं और द्वितीय श्रेणी में च, छ, ज, कहे गये हों, तृतीय श्रेणी में, ट, ठ, ड और चतुर्थ श्रेणी में त, थ, द, तो आवश्यक है कि प्रथम श्रेणी के 'क' से क्रमशः द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी के च, ट, एवं त से संवद्ध हों। इसी प्रकार शेष अन्य के भी हों।

(४) प्रथम श्रेणी में उद्दिष्ट पदार्थों की संख्या जितनी ही अधिक होगी, रम्यता उतनी ही अधिक बढ़ेगी।

रुद्रट ने भी उद्भट की ही बातें दुहराई हैं। कुंतक ने भामह-सम्मत यथासंख्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए यह कहा है कि इस अलंकार में किसी प्रकार का वाग्वैचित्र्य न होने से अलंकारोचित सौंदर्य यहां अनुभवगोचर नहीं होता; अतः इसे अलंकार नहीं कहना चाहिए। काव्य-प्रकाशकार मम्मट, रुय्यक, जयदेव, सभी ने इसे अलंकार माना है। रुय्यक ने इसके दो भेद भी बताये हैं—शाब्द

और आर्थ। परस्पर अन्वयी अर्थ यदि असमस्त होंगे, तब तो योग्यतावश शब्दतः अन्वित हो जायँगे ; पर यदि समासान्तर्गत होंगे, तो अर्थतः ही उनका संबंध हो सकेगा। समस्त स्थलों में क्रम-संबंध के तिरोहित रहने से वहाँ यथासंख्य की 'अर्थ' स्थिति है और असमस्त स्थलों की 'शाब्द'। परन्तु अलंकार-सर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने इस अलंकार का खण्डन करते हुए कहा है कि—

(१) अपक्रम नामक दोष का, जहाँ उद्दिष्ट पदार्थों के क्रम से अनुनिर्देश नहीं होना, अभाव ही तो यथासंख्य है ; अतः यह एक प्रकार का दोषाभाव ही कहा जा सकता है। कहा ही है—'क्रम हीनार्थमपक्रमम्—क्रम-हीनता ही अपक्रम है।'

(२) दोषाभाव और अलंकार दोनों एक नहीं हो सकते। कारण, अलंकार कवि प्रतिमात्मक विच्छित्ति-विशेष रूप माना गया है, जो दोषाभाव में संभव नहीं है। जयरथ का कहना है कि रुय्यक उद्भट के अनुगामी हैं ; इसलिये यथासंख्य की चर्चा उन्होंने कर दी है।

कुंतक एवं जयरथ की भाँति पण्डितराज ने भी इस अलंकार का सोदाहरण विवेचन करते हुए अंततः खण्डन ही किया है और जयरथ वाले तर्कों को अपनाया है। उन लोगों को, जो उद्भट का अनुगमन करते हैं और यथासंख्य स्वीकार करते हैं, पण्डितराज विप्रलब्ध समझते हैं।

यथासंख्य को यदि किसी वर्ग के अलंकारों के साथ रखा जा सकता है तो वह है—शृंखलामूलक अलंकार वर्ग, जिसमें एकावली तथा कारणमाला आदि आते हैं। इस अलंकार में सक्रम ; परन्तु व्यवहित ढंग से विन्यस्त पदार्थों को संबद्ध कराने वाला तत्त्व है—योग्यता।

प्रेयस्वत्—

भामह ने अलंकार की परिभाषा तो नहीं दी है ; पर उदाहरण दिया है, जो यों है—"विदुर ने कृष्ण से कहा—गोविंद ! तुम्हारे पधारने से जो आनंद आज मुझे हुआ है, वह फिर तभी होगा जब फिर आओगे।" इससे यह स्पष्ट होता है कि शायद भामह 'प्रीति के प्रकाशन' (आह्लाद के प्रकाशन) तक ही सीमित रखना चाहते हैं। दण्डी ने इसकी परिभाषा दी है और कहा है कि 'प्रियतर आख्यान या उक्ति ही' प्रेय अलंकार है। उदाहरण भामह का ही दिया है। विदुर की इस उक्ति के मूल में भगवान् के आगमन से उत्पन्न 'प्रसन्नता' है और ऐसी उक्ति को सुनने से भगवान् भी प्रसन्न हो गये। निष्कर्ष यह कि जहाँ वक्ता और श्रोता दोनों की प्रीति का प्रकाशन हो, वही आख्यान प्रियतर आख्यान

है—और वही 'प्रेय' अलंकार है। इस प्रकार दण्डी एवं भामह—दोनों ही ने प्रीत्यात्मक भावमूलक आख्यान में प्रेय-अलंकार को सीमित रखा है।

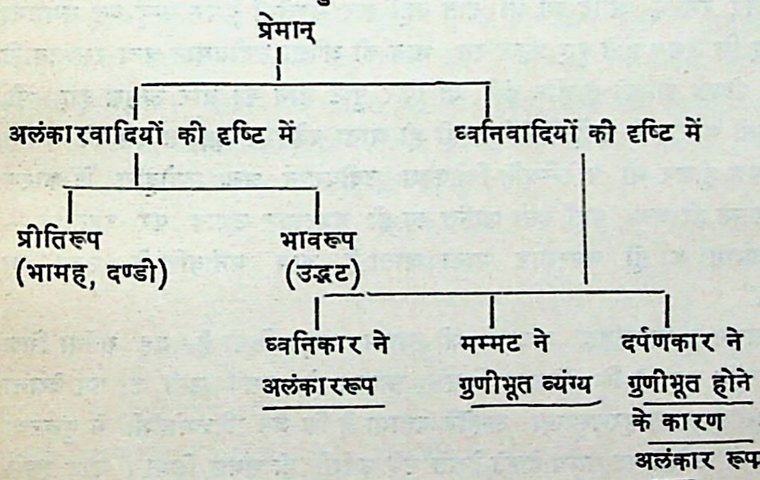
उद्भट की परिभाषा यों है—"जिस काव्य में रति आदि समस्त भावों की अनुभाव आदि के द्वारा सूचना दी गई हो, वहाँ प्रेयस्वद् अलंकार माना जाना चाहिए"। इसीलिये आनंदवर्द्धन ने भामह और उद्भट का 'प्रेयान्' अलंकार के सम्बन्ध में मतभेद प्रदर्शित करते हुए यह कहा है कि भामह के यहाँ गुरु, देव, नृपति, पुत्र विषयक 'प्रीति' ही का वर्णन प्रेयान् अलंकार है, जबकि उद्भट के यहाँ 'भाव' मात्र का वर्णन प्रेयान् अलंकार है। प्रीति या प्रेम समस्त भावों का उपलक्षण है। उद्भट के टीकाकार प्रतीहारेंदुराज ने इसे बड़े ही विस्तार से समझाया है। उन्होंने कहा है कि संचारी, स्थायी एवं सात्त्विक—पचासों भावों का सूचन विभाव, अनुभाव, संचारी एवं स्ववाचक शब्द से होता है। इस प्रकार समस्त भाव काव्य को उद्भट ने लक्षण द्वारा 'प्रेयस्वत्' कहा है। यहाँ भाव अलंकार हैं और काव्य अलंकार्य। वामन इस पर मौन ही हैं। रुद्रट भी अमुखर हैं। कुंतक ने 'प्रेयस्वत्' का खण्डन ही किया है। उन्होंने कहा है कि प्रेयस्वत् यदि 'प्रियतराख्यान' है, तो वह वर्ण्य या अलंकार्य है, अलंकार नहीं। यदि वह अलंकार होगा, तो अलंकार्य क्या होगा? एक ही चीज अलंकार और अलंकार्य दोनों हो, यह कभी संभव नहीं है। निष्कर्ष यह कि इसे अलंकार कहना युक्तियुक्त नहीं है। मम्मट भी इसे अलंकार मानने के पक्ष में नहीं दिखाई देते। गुणीभूतव्यंग्य के निरूपण के अवसर पर इतना उन्होंने अवश्य कहा है कि रसवत् प्रेम आदि का अलंकार रूप में उल्लेख यदि किसी ने किया, तो उसकी दृष्टि से ग्रंथ में एक उल्लेखनीय अभाव ही होगा; अतः उसी अभाव की पूर्ति के निमित्त यहाँ इनकी चर्चा कर दी जा रही है। रुय्यक, मम्मट आदि ध्वनि के प्रभाव में रहनेवालों ने ध्वनिकार की भाँति प्रेयस्वत् नहीं माना है, जहाँ 'भाव' किसी वाक्य-प्रतिपाद्य अन्य अर्थ का अग हो। अलंकारवादियों में भी दो तरह के मत उपलब्ध होते हैं—एक तो भामह और दण्डी का, जहाँ केवल 'प्रियतराख्यान' या 'प्रीति' मात्र को ही प्रेम कहा जाता था, वहाँ उद्भट ने 'भाव' मात्र को, चाहे वह स्वयं प्रधान हो या प्रधान का अंग हो—प्रेयस्वत् अलंकार स्वीकार किया। मम्मट ने वस्तुतः प्रेयस्वत् को गुणीभूतव्यंग्य का ही एक प्रकार स्वीकार किया है। ध्वन्यालोककार ने तो स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि जहाँ वाक्य-प्रतिपाद्य अन्य अर्थ हो और उसी के अंग रूप में 'भाव' का विधान हो, वहाँ प्रेयस्वत् अलंकार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। चंद्रालोककार ने 'प्रेय' को अलंकारवादी उद्भट की भाँति मात्र इतना ही लिखा है कि 'भाव' मूलक ही प्रेय' अलंकार है। ध्वनि-

वादियों की भाँति यह कुछ नहीं कहा कि भाव को किसी अन्य प्रधान अर्थ का अंग होना ही चाहिए।

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने जैसे ध्वनिकार और प्रकाशकार का समन्वय करते हुए लिखा है कि जब भाव गुणीभूत हो जाते हैं, तब वे अलंकार कहे जाते हैं।

संक्षेप में इस 'प्रेय' अलंकार का यही विकास-क्रम है और उसके विकास में उद्भट का इतना ही योग है कि जहाँ भामह, दण्डी आदि प्राक्तन आलंकारिकों ने इसे 'प्रीति' तक ही सीमित रखा था, वहाँ उद्भट ने 'भाव' सामान्य तक उसके रूप को व्यापक बना दिया। बाद के ध्वनिवादी आचार्यों ने उसमें इतना ही और जोड़ा कि यदि 'भाव' का अंग रूप में विधान हो—तभी अलंकार कहना चाहिए, अन्यथा अंगी रूप में यदि उसकी स्थिति हो, तो कदापि नहीं। काव्य-प्रकाश-कार ने 'अलंकार' कहकर उसे 'अधम कोटि' का काव्य न मानते हुए गुणीभूत व्यंग्य के रूप में 'मध्य काव्य' ही मानना ज्यादा संगत समझा है। दर्पणकार ने जैसे समन्वय कर दिया।

चित्र यों हुआ



समाहित—

प्रेम, रसवत् एवं ऊर्जस्वी की भाँति भामह ने 'समाहित' की भी परिभाषा नहीं दी है, केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किया है; उसका आशय यों है—"कुपित परशुराम को प्रसन्न करने के लिये जब जा रही थी, उसी अवसर पर रास्ते में

नारद मिल गये।'' इस उदाहरण से निष्कर्ष यह निकलता है कि इस आलंकारिक उक्ति में 'आकस्मिक समाधान या सहायता' की बात रहती है। इसीलिये परवर्ती आलंकारिकों ने इसे 'समाधि' अलंकार के अन्तर्गत लिया है। नारद का बीच में मिल जाना इसी बात का द्योतक है कि समस्या के समाधान में नारद से अच्छी सहायता मिली।

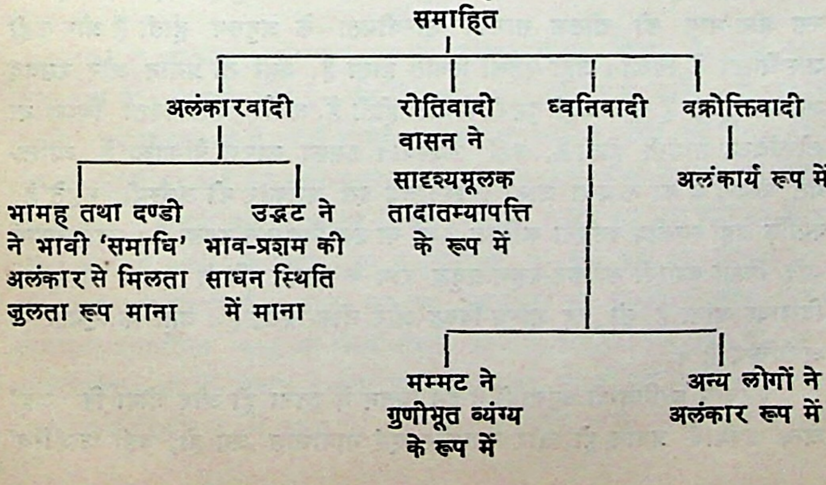
दण्डी ने इस निष्कृष्ट आशय को और अधिक स्पष्टता दे दी है। इन्होंने स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा है--''कोई काम आरम्भ कर दिया गया हो--दैवात् उसका साधन यदि आ टपके--तो वहीं समाहित नाम का अलंकार होता है। उदाहरणस्वरूप उन्होंने कहा है--''माननिराकरण के लिये ज्योंही उसके पैरों पर मैं गिरने ही वाला था कि सहसा (कामोद्दीपक) बादल गरज उठा।''

उद्भट ने 'समाहित' का भी स्वरूप भामह और दंडी से भिन्न बताया और यही रूप आगे चलकर मान्य भी हुआ। उन्होंने बताया है कि रस, भाव रसाभास एवं भावाभास का प्रशय हो, वहाँ समाहित नामक अलंकार होता है। यद्यपि जहाँ तक का प्रशम होगा, वहीं अन्य का समुदाय भी होगा और उसको लेकर कुछ लोग रसवद् आदि की भी बात वहाँ कर सकते हैं ; पर उन्हें यह समझना चाहिए कि प्रशम होते हुए प्रकृत रस, भाव की अपेक्षा उदीयमान अन्य रसभावादि या तो पोषक सामग्री से हीन होंगे, या फिर पुष्ट होने की ओर उन्मुख हुए भी, तो किसी कारण से उन्हें तिरोहित ही हो जाना पड़ेगा। प्रकान्त रस की वासना काष्ठापन्न होकर भी परिस्थिति-विशेषवश उदीयमान अन्य मनोवृत्ति के कारण जहाँ शान्त हो जाय, वहाँ इसी शान्ति का ही चमत्कार उभाड़ पर रहता है--अतः 'प्रशम' का ही चमत्कार माना जाता है, अन्य मनोवृत्ति के उदय का नहीं।''

वामन ने 'समाहित' सम्बन्धी जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह सर्वथा भिन्न है। उन्होंने कहा है कि जिसका जिससे सादृश्य हो, उसमें उसी का रूप देखना समाहित है। उदाहरणस्वरूप उन्होंने बताया है कि जैसे 'विक्रमोर्वशी' में पुरूरवा ने लता में उर्वशी का साम्य देखते-देखते उसे उर्वशी ही समझ लिया। रुद्रट इसके विषय में मौन ही हैं। कुंतक ने प्रेयस्वद् आदि की भाँति समाहित के भी संबंध में यही कहा है कि इसको भी अलंकार्य रूप होने से अलंकारात्मक स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं। काव्य-प्रकाशकार ने ध्वनिकार का अनुगमन कर उद्भट से उतना अन्तर बताया है कि 'प्रशम' रस का नहीं, भाव का ही मानना चाहिये, दूसरे यह कि यही भाव-प्रशम जहाँ अन्य अर्थ का अंग

होगा, तभी वह 'समाहित' के नाम से कहा जायगा। साथ ही तीसरा अन्तर यह भी माना है कि इसे अलंकार या चित्रकाव्य कहने की अपेक्षा गुणीभूत व्यंग्य मानना ही संगत है। रुय्यक ने उद्भट और ध्वनिकारानुयायियों का मतभेद दिखाते हुए यही कहा है कि उद्भट भाव-प्रशम को समाहित वहाँ कहेंगे, जहाँ वही वाक्यार्थ हो—प्रधान हो। और 'उदात्त' अलंकार वहाँ कहेंगे, जहाँ वह किसी अन्य प्रधान अर्थ का अंग हो। चंद्रालोककार ने किसी मतमतांतर का निर्देश न करते हुए यह माना है कि और लोग 'समाहित' की एक अलंकार के रूप में ही चर्चा करते हैं। दर्पणकार भी अंगभूत 'भाव-प्रशम' को एक अलंकार के रूप में ही मानते हैं। अप्पय दीक्षित ने इस विषय में अपना मत ध्वनिवादियों के पक्ष में ही दिया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने तो 'गुणीभूतव्यंजन' का स्वतंत्र रूप से विचार ही नहीं किया। अलंकारों के प्रकरण में उसकी चर्चा की ही नहीं। भावशांति ध्वनि का विचार करते हुए इतना अवश्य बताया है कि 'भावशान्ति' संज्ञा ही ठीक नहीं है। इसे 'भाव ही कहना चाहिए, हाँ 'भाव' की उदीयमान, संधीयमान, शवलीयमान आदि स्थितियों की दृष्टि से पारस्परिक पार्थक्य स्थापनार्थ 'विलीयमान' विशेषण भले दे, पर विशेषण रूप में 'शान्ति' को न रखकर 'भाव' को ही रखना चाहिए ; अन्यथा जिस शब्द में 'शान्ति' तो ध्वन्यमान हो, पर 'भाव' वाच्य कर दिया गया हो, वहाँ प्रधान या विशेष्य के अनुरोध से (भाव) शांति को ध्वनित मानना पड़ेगा, जब कि सहृदय आलंकारिक वहाँ उसकी ध्वन्यमान स्थिति स्वीकार करना उपयुक्त नहीं समझेंगे। 'समाहित' के स्वरूप एवं विकास की यही धारणा है।

चित्र यों है—



ऊर्जस्वी (ऊर्जस्वि)——

भामह ने इसकी भी परिभाषा नहीं प्रस्तुत की है——केवल उदाहरण से ही इसके स्वरूप के स्पष्टीकरण की बात कही है। "पार्थ-वध के लिये धनुर्मुक्त वाण निष्फल होकर जब कर्ण के पास पुनः प्रयोगात्मक संधि की भावना से आया' तब कर्ण ने शल्य को संबोधित करते हुए कहा कि कर्ण दुबारा बाण नहीं चढ़ाता; और ऐसा कह कर उसने वाण रूप में परिणत साँप को लौटा दिया।" (इसके मूल में महाभारत की एक कथा है)। निःसंदेह इस उक्ति में ऊर्जस्विता है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि स्वाभिमानी आख्यान या उक्ति में ऊर्जस्वी-अलंकार माना जाना चाहिए।

दण्डी ने भी इसी प्रकार की गर्वोक्ति और स्वाभिमानितापूर्ण उक्ति ही उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की है, परिभाषा प्रस्तुत ही नहीं की। उदाहरण का भाव यों है——"किसी वीर ने अपने रणविमुख और भयभीत अपकारी को अभय करते हुए कहा कि इसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं। रण से विमुख——चाहे वह कैसा भी शत्रु क्यों न हों——के ऊपर वह प्रहार नहीं कर सकता।"

उद्भट ने ऊर्जस्वी का स्वरूप भामह एवं दण्डी की उपेक्षा बिलकुल बदल दिया। उन्होंने इसका स्वरूप बताते हुए कहा कि काम एवं क्रोध आदि व्यक्तिगत कारणों से उत्पन्न अनौचित्य का जब रस एवं भावद्योतक सामग्री में सन्निवेश कर दिया जाता है, तब इस प्रकार की अनुचित सामग्री से संवलित रसभावमयी रचना में 'ऊर्जस्वी' अलंकार का व्यवहार किया जाता है।

प्रतीहारेन्दुराज ने इनके अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा कि कहीं तो रस और भाव की द्योतक सामग्री शास्त्रीयता के अनुरूप होती है और कहीं शास्त्रीयता के विरुद्ध। जहाँ पहली स्थिति होती है, वहाँ तो प्रेयान और रसवद् अलंकार होता है और जहाँ दूसरी स्थिति होती है, अर्थात् शास्त्रीयता विरुद्ध या लोकविरुद्ध सामग्री होती है, वहाँ ऊर्जस्वी। इसका कारण है काव्य में व्यक्तिगत राग-द्वेष का न बचा जाना। इसीलिये इस अलंकार को ऊर्जस्वी कहते हैं; क्योंकि यहाँ स्वकीय कल्पना कल्पित ऊर्जा या बल विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ यदि किसी कुमारी का कर-ग्रहण प्रवृद्ध राग के कारण किसी काव्य में हठात् दिखाया जाता है, तो वह शास्त्र-विरुद्ध और लोक-विरुद्ध है। वहाँ के श्रृंगार में अनौचित्य है।

परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने इस चिंतन में इतना ही और जोड़ा कि जहाँ अन्य वाक्यार्थं प्रधान हो, और रसाभास एवं भावाभास अंग हो, वहीं 'ऊर्जस्वि'

नामक अलंकार होता है। इसके साथ महज एक ही बात ज्ञातव्य यह है कि जहाँ कतिपय प्रकाशकार आदि इसे गुणीभूत व्यंग्य कहना चाहेंगे, वहाँ अन्य ध्वनि-वादी अलंकार कहेंगे। कुछ एक यह भी कह सकते हैं कि समासोक्ति आदि गुणी-भूत व्यंग्य के भेदों की भाँति यह भी एक अलंकार है।

उदात्त--

भामह ने उदात्त की परिभाषा प्रस्तुत नहीं की है। कदाचित् भामह की यह धारणा हो कि 'उदात्त' शब्द ही अपने अर्थ द्वारा अपना स्वरूप स्पष्ट कर सकता है, अतः अलग से इसकी परिभाषा ही करनी अनावश्यक है। 'उदात्त' संभवतः भावना के परिष्कृत रूप से संबंध रखता हो। भामह ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उससे भी यही स्पष्ट होता है। उदाहरण यों है—"गुरु के वाक्य या आदेश का अनुरोध मानने वाले राम प्राप्त राज्य को भी छोड़कर वन को चले गये।" इससे राम की भावना की सात्त्विकता और औदात्त्य लक्षित होते हैं। भामह ने 'उदात्त' के स्वरूप के संबंध में एक अन्य आलंकारिकों के वर्ग का मत भी प्रस्तुत किया है और बताया है– "नानारत्न आदि से युक्त वस्तु-चित्रण ही उदात्त अलंकार है।" अर्थात् किसी वस्तु का समृद्ध-वर्णन 'उदात्त' अलंकार के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है। उदाहरण भी इसी प्रकार का प्रस्तुत किया गया है। उसमें नंद के गृह का काष्ठापन्न समृद्धि-सूचक वर्णन है।

दण्डी ने भामह द्वारा वर्णित दोनों मतों को आत्मसात् करते हुए यह बताया है कि मनीषियों ने उदात्त अलंकार वहाँ स्वीकार किया है, जहाँ आशय या विभूति के अनूनम महत्त्व का वर्णन किया हो। उदाहरण भी भामह की ही प्रकृति के हैं।

उद्भट ने भी उदात्त अलंकार का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह बहुत भिन्न नहीं है। उन्होंने कहा है—किसी वस्तु का समृद्धियुक्त वर्णन तो उदात्त है ही; उदात्त वह भी है, जहाँ किसी महात्मा का रसमय चरित भी निबद्ध हो। रसमय कहने का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि वहाँ रसवदलंकार की स्थिति हो जायगी। वस्तुतः प्रतीहारेंदुराज ने इसे स्पष्ट करते हुए यह बताया है कि 'रस' ही यदि वाक्य में प्रधान रूप से प्रतिपाद्य हो, तो वहाँ तो रसवदलंकार की स्थिति हो सकती है; परंतु जब वह रसमयता या रसात्मक वर्णन किसी वर्ण्यमान प्रधानीभूत वस्तु का शोभाधायक होने के कारण अंग हो, तो वहाँ उदात्तालंकार की ही स्थिति माननी चाहिए। उद्भट की ही यह परिभाषा, पर-वर्ती आलंकारिकों को भी मान्य हुई। वामन ने इसकी कोई चर्चा प्रस्तुत नहीं

की। रुद्रट भी मौन ही हैं। कुंतक ने ऊर्जस्वि एवं समाहित आदि की ही भाँति इस अलंकार के संबंध में भी यही धारणा व्यक्त की है, इसे भी वर्ण्य या अलंकार के अंतर्गत ही परिगणित करना चाहिए--वर्णन-प्रणाली के अंतर्गत नहीं। उदात्त अलंकार के दो रूप हैं—(१) समृद्धिमान् वस्तु का वर्णन, (२) महापुरुषों के रसमय चरित का अंग-रूप में वर्णन। पहला इसलिये अलंकार नहीं है कि वस्तु या समृद्धियुक्त वस्तु तो वर्ण्य ही है, फिर वहाँ अलंकरण किस चीज का ? इसी प्रकार दूसरे रूप को अलंकार इसलिये नहीं कहा जा सकता कि वह अंग रूप में वर्ण्य रसमय महच्चरित्र यदि प्रधान वर्ण्य वस्तु का अंग है, तो अवयवी के अंग की ही भाँति हुआ--अलंकरण क्या? और यदि असंबद्ध रहा, तो असंबद्ध को अलंकार—अपना शोभाधायक—कैसे कहा जा सकेगा? निष्कर्ष यह कि दोनों ही रूपों में इसे अलंकार नहीं कहा जा सकता।

प्रकाशकार मम्मट ने कुंतक की इन आशंकाओं का कोई समाधान न देकर भी इसकी अलंकार रूप में चर्चा की है और उद्भट की ही द्विविध परिभाषाओं को अंगीकार किया है। वामन (झलकीकार) ने 'उदात्त' की व्युत्पत्ति देते हुए कहा है—'उत्कर्षेणादीयते गृह्यतेस्म इत्युदात्तम्' उत्कर्षपूर्वक गृह्यमाण किये जाने के कारण ही वर्ण्य वस्तु 'उदात्त' कही जाती है। अतिशय का तत्त्व आ जाने के कारण ही प्रकाशकार ने 'अत्युक्ति' नामक अलंकार की स्थिति अस्वीकार की है। यहाँ वर्ण्यमान वस्तु में जिस प्रकार की समृद्धि का असंबंध है, उस प्रकार की समृद्धि से संबंध दिखाया जाता है ; अतः संबंधातिशयोक्ति यहाँ अनुप्राणक तत्त्व के रूप में स्थित हो सकती है। पर्याय अलंकार के द्वितीय प्रभेद तथा 'सार' अलंकार में वस्तु की समृद्धि वर्णित होती है, पर पर्याय में जहाँ समृद्धि संबंध का उत्तरोत्तर आतिशय्य वर्णित होता है, वहाँ 'उदात्त' में समृद्धि संबंध ही दिखाया जाता है। 'सार' में भी उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है, यहाँ उस प्रकार का उत्कर्ष वर्णन नहीं होता।

रुय्यक ने भी उद्भट प्रस्तावित उदात्त के दोनों रूपों को स्वीकार किया है। उनका विशेष वक्तव्य यह है कि यद्यपि वस्तु वर्णन स्वभावोक्ति और भाविक में भी होता है; पर वहाँ वस्तु का यथावत् वर्णन होता है। यहाँ असंभाव्य विभूतियुक्त वस्तु का वर्णन होता है; अतः कवि कल्पित ऐश्वर्य का संबंध होने से 'उदात्त' इसकी संज्ञा भी दी गई है। दूसरे भेद को उदात्त कहने का कारण यह स्पष्ट है कि इसमें महान् चरित का उदात्त रूप अंकित रहता है। परवर्ती सभी आलंकारिकों ने (जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय, पण्डितराज जगन्नाथ) इन द्विविध रूपों की चर्चा की है।

इस प्रकार उद्भट से पूर्ववर्ती भामह और दण्डी ने जहाँ आशय (भावना) एवं विभूति के औदात्त्य-वर्णन को उदात्त कहा था, वहाँ उद्भट ने किञ्चित् रूपांतरण के साथ जो कुछ बताया वह परवर्ती आलंकारिकों द्वारा समाहृत हुआ। पंडितराज जगन्नाथ ने इस अलंकार को उल्लेखनीय नहीं समझा है और कुंतक ने तो स्पष्ट ही खंडन किया। कुंतक के जो तर्क हैं, वे थोड़े सारवान् होते हुए भी विचारणीय हैं। जहाँ तक उदात्त के प्रथम भेद की बात है, वहाँ वर्ण्य वस्तु को समृद्धिशाली ढंग से वर्णित करके सौंदर्य उत्पादन तो किया ही गया, अतः असंभाव्य समृद्धि के योग द्वारा जब कवि-कल्पना का योग है, तो चमत्कार का सद्भाव है ही और इस प्रकार के चमत्कार का कोई न कोई अलंकार ही तो कारण होगा। वही अलंकार है——उदात्त। दूसरे भेद के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि यदि वह अंग भूत वर्णन स्वरूपाधायक अंग न होकर शोभाधायक अंग है, तो निश्चय ही वह अलंकारता का प्रयोजक है।

रसवत् ——

भामह के अनुसार रसवद् अलंकार वहाँ होता है, जहाँ स्पष्टतः श्रृंगार आदि रस दर्शित हों। व्याख्याकारों ने बताया है कि भामह 'रसवत् अलंकार' के लिये यह आवश्यक मानते हैं कि रस का नाटकीय ढंग से जहाँ सहसा अनावरण हो, वहीं इसे मानना चाहिए। उदाहरण के रूप में कुमारसंभव का वह अंश उद्धृत किया है, जहाँ ब्रह्मचारी के रूप में आये हुए शंकर के सहसा स्वरूपोद्घाटन से पार्वती में श्रृंगार का संचार हो उठा।

दण्डी ने रसवद् अलंकार की बात कहते हुए यह बताया है कि प्रेमस्वद् अलंकार में जो प्रीति या रति रहती है, वह विवागदि से अपरिपुष्ट रहती है, वही जब विभावादि सामग्री से सम्यक् परिपुष्ट हो जाती है, तब श्रृंगार रस का रूप धारण कर लेती है। या इसी प्रकार कोई भी स्थायी भाव परिपुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो सकता है और तब उस रस-प्रकाशक काव्य में रसवद् अलंकार कहा जाना चाहिए। स्वरूप-निरूपण के अनंतर शांत के अतिरिक्त शेष आठ रसों का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसी प्रसंग में दण्डी ने एक सफाई और दी है और वह यह है कि 'काव्यादर्श' ही में पहले एक स्थल पर 'मधुर रसवत्' कहा गया है अर्थात् रसतत्त्व माधुर्य गुण हैं और यहाँ उसी रसवत्त्व को अलंकार कह रहे हैं, इन पूर्वा पर उक्तियों में जो भासमान विरोध है, उसका परिहार क्या है। परिहार करते हुए उन्होंने कहा है——पहली उक्ति में रसवत्त्व की प्रतीति में ग्राम्यता-दोष के अभाव की बात कही गई है; अर्थात् वहाँ ग्राम्यत्व दोष के अभाव

से संवलित रसानुरूप अलंकार में सद्भाव की दृष्टि से जितनी रसवत्ता आ सकती है, उतनी के लिए अपेक्षित सामग्री को माधुर्य गुण माना गया है और उस से समन्वित या प्रकाशित होने वाली रसमयता को मधुर रस कहा गया है ; अर्थात् वहाँ माधुर्य सापेक्ष रसवत्ता का आख्यान है और यहाँ रस के समस्त वास्तविक रूप का विवेचन है। दूसरी बात दण्डी ने यह भी बता दी कि रस की स्थिति रसवद् अलंकार के लिये अपेक्षित है, चाहे वह नाटकीय ढंग से सहसा अनावृत हो, या न हो।

उद्भट ने भामह की भाँति इतना तो अवश्य स्वीकार किया कि जहाँ स्पष्ट अर्थात् विभावादि परिपुष्ट रूप में रस की प्रतीति हो, वहाँ रसवद् अलंकार की स्थिति मानी जानी चाहिए। कदाचित् इन आलंकारिकों में उद्भट ही पहले आचार्य हैं, जिन्होंने इतनी स्पष्टतापूर्वक आठ रसों के साथ 'शांत' रस का भी नाम लिया है। उद्भट ने यह स्पष्ट बताया कि जहाँ शृंगार आदि रस स्पष्ट, परिपुष्ट एवं प्रधान रूप से स्थित हों, वहाँ रसवदलंकार की स्थिति और जहाँ तथाविध रस की अंग रूप में स्थिति हो, वहाँ उदात्त अलंकार की स्थिति मानी जानी चाहिए।

वामन और रुद्रट के मौन के बाद इस संबंध में जमकर विचार प्रस्तुत किया ध्वनिप्रस्थापक परमाचार्य आनंदवर्द्धन ने। आनंदवर्द्धन के समक्ष यह प्रश्न था कि रस, रसवदलंकार तथा अलंकार का पृथक् क्षेत्र है या नहीं ? और है, वो किस प्रकार है? अलंकारवादी प्राक्तन आचार्यों ने इस संबंध में बड़ी अस्पष्टता रखी है। उन लोगों ने रस और रसवदलंकार का क्षेत्र संकीर्ण क्या एक ही माना है। उसका कारण संभवतः यह था कि अलंकारवादियों के यहाँ अलंकार्य था—शब्दार्थ। अतः 'रस' जहाँ स्वयं दूसरों के अंग रूप में उपन्यस्त हो, वहाँ तो 'उदात्त' अलंकार की और जहाँ प्रधान हो, वहाँ प्रधान रहकर भी अंततः शब्दार्थात्मक अलंकार्य काव्य का अलंकरण ही करेगा, उस स्थल को 'रसवदलंकार' का क्षेत्र मानना चाहिये। इस प्रकार अलंकारवादियों ने रसवदलंकार तथा (उदात्त) अलंकार का क्षेत्र पृथक् किया था। जहाँ रस का प्रधान और आनुषंगिक प्रयोग न हो, वहाँ अवशिष्ट अलंकारों की स्थिति स्वीकार करनी होगी। आनंदवर्द्धन ने इस प्रकार के किये गये विषय-विभाजन का विरोध किया और कहा कि जहाँ रस प्रधान है, वहाँ वहीं अलंकार्य है (शब्द एवं अर्थ अलंकार्य नही है) और जो स्वयं अलंकार्य है, वह अलंकार नहीं हो सकता, स्वयं साधन और स्वयं साध्य एक ही वस्तु किस प्रकार हो सकती है ? ऐसे स्थलों में अलंकार्य 'रस' के उपमा आदि अलंकार हो सकते हैं, अतः यहाँ रसवदलंकार का नहीं, बल्कि 'रसध्वनि' का व्यवहार होना चाहिए। रसवदलंकार तो वहाँ कहना ठीक

है, जहाँ उस रस की अपेक्षा काव्यीय वाक्य का प्रतिपाद्य अर्थ कुछ भिन्न ही हो और 'रस' उसको परिष्कृत और सुशोभित कर रहा हो। आनंदवर्द्धन ने ऐसे 'रस' को अलंकार कहा और 'लोचन' कार अभिनव गुप्त ने उसका समर्थन किया।

कुछ लोगों का यह भी विचार है कि जहाँ चेतन पदार्थ का वृत्तान्त वर्णित होगा, वहीं रसात्मक चित्तवृत्ति की संभावना है, वहीं रसमयता संभव है ; अतः ऐसे स्थलों में रसवदलंकार की स्थिति माननी चाहिए और जहाँ अचेतन पदार्थों की वृत्तान्त योजना हो, वहाँ अवशिष्ट अन्य उपमा आदि अलंकार माने जायँ। पर इस मत में कई त्रुटियाँ हैं—पहली तो यह कि जहाँ किसी भी प्रकार से चेतन-संबंध के फलस्वरूप रसमयता का उद्रेक होगा, वहाँ रसवदलंकार होगा, और जहाँ रसमयता का स्पर्श नहीं होगा, अर्थात् नीरसता होगी, वहाँ उपमा आदि होंगे, ऐसा मान लेने से नीरस उक्तियों को भी काव्य मानना होगा, जो किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। दूसरे यह कि काव्य में चेतन, अचेतन किसी भी प्रकार का वस्तु-वर्णन हो, पाठक की चित्तवृत्ति को तो जगायेगा ही और ऐसा होने से सर्वत्र रसमयता ही होगी, फिर उपमा आदि अलंकारों का क्षेत्र ही समाप्त हो जायगा ; अतः ध्वनिकार का मत है कि उनके द्वारा निर्धारित पूर्व विषय-विभाजन या क्षेत्र विभाजन ही समुपयुक्त है।

कुंतक ने भी 'रसवदलंकार' पर बड़ा लम्बा, नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों का जाल बिछाया है और अपने ढंग से उसका अर्थ किया है।

उनका कहना कि काव्य में वर्ण्यमान वस्तु चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इस प्रकार द्विविध वस्तुओं का जो रूप अलंकार्य होता है, वह भी स्वभाव-प्राधान्य एवं रस-प्राधान्य के कारण दो प्रकार का होता है। कोई वस्तु स्वभावतः सुन्दर होती है और कोई रसमयता के आवरण से सुन्दर लगती है। मतलब यह है कि वस्तु का स्वरूप दो प्रकार का हुआ—स्वभाव-प्रधान और रस-प्रधान। यही दोनों रूप अलंकार्य है। इसीलिए जहाँ स्वभाविक सौंदर्य वर्णित होता है, वहाँ स्वभावोक्ति को कुंतक अलकार न कहकर आलंकार्य ही कहते हैं और जो लोग स्वभावोक्ति को आलंकार मानते हैं उनका खंडन करते हैं। इसी प्रकार वस्तु का रसात्मक रूप जहाँ वर्णित होता है, वहाँ जो लोग रसवद-लंकार की बात करते हैं, कुंतक उनसे भी अपना मतभेद प्रकट करते हैं। वे मानते हैं कि जिस प्रकार सत्कवियों के काव्यीय वाक्यों में अन्यत्र स्पष्ट प्रतीत होता है कि इतना अंश अलंकरण है और इतना अलंकारी, उसी प्रकार रसवदलंकार के स्थलों में साफ नहीं जान पड़ता कि क्या अलंकार है और क्या अलंकारी ? इस-

लिए भी यहाँ कोई अलंकार नहीं माना जा सकता। यदि भामह आदि आचार्यों के अनुसार शृंगार अलंकार है, तो उन्हें यह भी बताना पड़ेगा कि उससे भिन्न वहाँ है क्या—जो अलंकारी होगा? और यदि वही (शृंगार) अलंकार्य है तो उससे भिन्न क्या है, जो अलंकार कहा जा सकेगा? न केवल अलंकारवादियों की धारणा की आयुक्तियुक्तता प्रदर्शित की है प्रत्युत ध्वनिवादी आनंदवर्द्धन के विचारों की भी असारता प्रदर्शित की है; किन्तु यहाँ जो तर्क दिया गया है, वह आयास साध्य है और हृदयङ्गम नहीं होता। ध्वनिकार के खडन में 'रसवत्' शब्द को पकड़कर जो बुद्धिवैभव प्रदर्शित किया गया है उससे ध्वनिकार के अभिप्राय का खण्डन नहीं होता। अस्तु। कुंतक ने जो 'रसवदलंकार' का अर्थ स्वीकार किया है वह यों है—"इस तत्त्व के विधान से, सहृदयों को आह्लाद मग्न करने में समर्थ जो अलंकार **रस के समान** हो जाता है, वह अलंकार रसवत् (रस के समान) कहा जा सकता है। इसके अनन्तर सरस समासोक्तियाँ प्रस्तुत की हैं और बताया है कि वहाँ के आरोपमूलक अलंकार रसमयता उत्पन्न करने के कारण रसवत् हैं लगभग रस के ही जैसे हैं। बात घुमाकर कही गई है; पर ध्वन्यालोककार भी तो यहाँ रसवदलंकार कहेंगे। वस्तुतः ध्वनिकार का प्रभाव इनके अचेतन पर इतना अधिक है कि वे चेतन से निरोध तो करते हैं; पर अचेतन में तथ्य वही उभड़ता है, जो ध्वनिकार को सम्मत है।

काव्य-प्रकाशकार 'रसवत्' को अलंकार कहना उचित नहीं समझते। उनका तर्क यह है कि अलंकार वही कहा जाता है जो अंगाश्रित हो कर अंगी की शोभा वृद्धि करता है। 'रसवत्' अंगी की शोभा तो अवश्य बढ़ाता है; पर वह शब्द एवं वाच्य अर्थ-रूप अंग का आश्रित नहीं है; इसलिए उसे अलंकार न कहकर गुणी-भूत व्यंग्य का ही एक भेद मानना ज्यादा युक्ति-संगत है।

हेमचंद्र ने इस विषय पर कोई विचार ही नहीं किया। रुय्यक ने अलंकार-वादियों और ध्वनिवादियों का मत मात्र प्रस्तुत किया है। विमर्शिनीकार ने काव्य-प्रकाशकार के मत को प्रस्तुत किया है।

साहित्य-दर्पणकार ने भी इस विषय में तीन मत प्रस्तुत किये हैं, जो यों हैं—

(१) अलंकार वे ही कहे जा सकते हैं, जो वाच्य और वाचक को अलंकृत करते हुए रस की शोभा-वृद्धि करते हों। रसवत् तो स्वयं वाच्य एवं वाचक के उपकार्य हैं; अतः इन्हें अलंकार कहना युक्ति-संगत नहीं है।

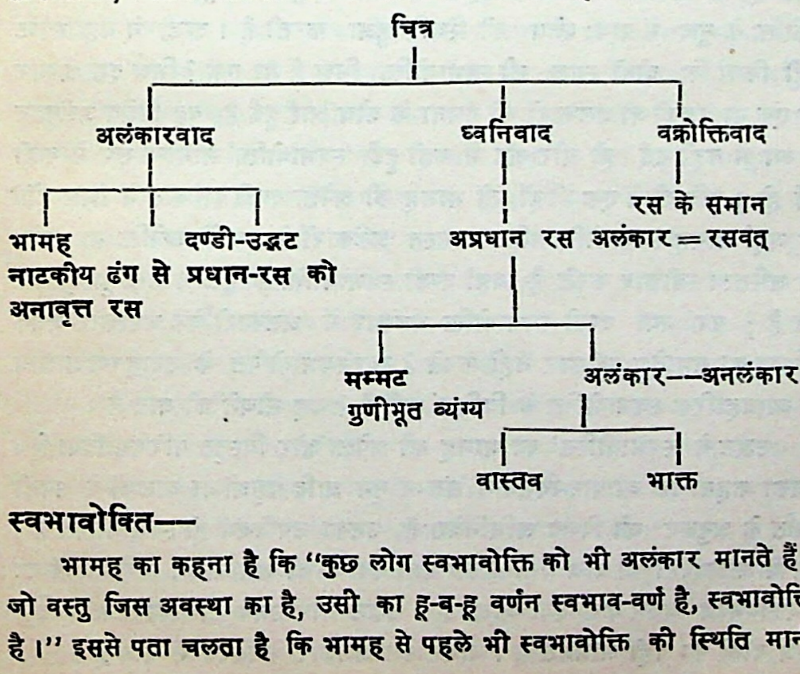
(२) दूसरे लोगों का यह कहना है कि यदि एक रस अंग-रूप में रहकर प्रधानीभूत रसान्तर का उपस्करण करता हो, तो उसे लाक्षणिक रूप में अलंकार कह सकते हैं। लक्षण का बीज यह है कि अलंकार और रसवदलंकार

में इतनी ही समानता है कि दोनों रसोपस्कारक हैं। लाक्षणिक प्रयोग इसलिये करना है कि प्राचीनों ने इसे भी अलंकार रूप से कहा है और कहा है, तो न अभिधात्मक रूप से, लाक्षणिक रूप से ही सही, उसे क्यों न अलंकार कहा जाय ?

(३) अभियुक्तों का विचार तो यह है कि जहाँ एक रस अंग है और दूसरा अंगी, वहाँ दोनों के व्यंजक शब्द एवं अर्थ तो होंगे ही। अंगभूत रस यद्यपि स्वकीय व्यञ्जक शब्दार्थ से उपकृत है, व्यञ्जित है, तथापि व्यञ्जित होकर प्रधानीभूत रस के व्यंजक शब्दार्थ का उपस्कार करते हुए (अंग-द्वारा) उससे व्यंग्य होने वाले प्रधान रस की शोभा बढ़ा सकता है। इस प्रकार अंग द्वारा अंगी की शोभा-वृद्धि करने के कारण इसे वस्तुतः अलंकार कहा जा सकता है, लाक्षणिक और भाक्त व्यवहार की आवश्यकता ही नहीं।

(४) एक चौथा दल ऐसा भी है, जो यह कहता है अलंकारता के लिये एक मात्र यही नियम है कि वह रसोपस्कारक हो, वह शर्त 'रसवत्' के साथ है ही, अतः वास्तविक अलंकार तो वही है, शेष उपमा आदि निरर्थक हैं।

इस प्रकार रसवत् अलंकार के संबंध में आलंकारिकों के ये ही प्रमुख विचार हैं और इन विचारों में भी जो मनीषियों का समादरणीय मत है, वह है संख्या तीन वाला, जिसमें रसवदलंकार का समर्थन किया गया है।



स्वभावोक्ति—

भामह का कहना है कि "कुछ लोग स्वभावोक्ति को भी अलंकार मानते हैं। जो वस्तु जिस अवस्था का है, उसी का हू-ब-हू वर्णन स्वभाव-वर्ण है, स्वभावोक्ति है।" इससे पता चलता है कि भामह से पहले भी स्वभावोक्ति की स्थिति मानी

है और उसे स्वभाव-वर्णन समझा जाता है। बालक हो या पशु हो, जो भी हो, वह जिस मुद्रा, क्रिया या अवस्था में हो, हू-ब-हू प्रत्यक्षायमाण रूप प्रस्तुत कर देना ही समासोक्ति है। भामह के मत से इसके मूल में भी 'वक्रता' अपेक्षित है।

दण्डी ने द्वितीय परिच्छेद में अलंकारों की गणना करते-कराते यह कहा है कि 'स्वाभावाख्यान' भी एक अलंकार है। आगे इस अलंकार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि इसमें (स्थावर एवं जंगम) पदार्थों की नाना अवस्थाओं का इस प्रकार संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया जाता है, लगता है, जैसे कोई एक से एक छोटी-छोटी विशेषताओं का जैसे साक्षात्कार ही करा रहा हो। इस अलंकार को स्वभावोक्ति या जाति भी कहते हैं।

स्वभाव-जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य-चारों का अंकित किया जा सकता है, अतः वर्ण्य वस्तु की दृष्टि से यह स्वभावोक्ति चार प्रकार की हुई। यह स्वभावोक्ति न केवल शास्त्रकारों द्वारा ही समादृत है, प्रत्युत कविगण भी इसका प्रचुर प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं।

दण्डी ने इसी द्वितीय परिच्छेद के अन्त में यह भी कहा है कि वाङ्मय स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति दो भागों में विभक्त हैं। अर्थात् काव्य में या तो स्वाभाविक वर्णन होता है, या कल्पना मिश्रित। पहली स्वभावोक्ति है और दूसरी वक्रोक्ति। इस वक्रोक्ति के मूल में प्रायः श्लेष की स्थिति हुआ करती है। दण्डी ने यह स्पष्ट नहीं किया कि दोनों स्थल की स्वभावोक्ति भिन्न हैं या एक? भिन्न इस प्रकार कि एक या पहली जो अलंकारों की गणना के बीच आई हुई है, वह विशेष अलंकार के रूप में कही गई हो और अंत में कही हुई 'स्वभावोक्ति' सामान्य रूप में कही गई हो। यदि दोनों एक ही हों, तो भामह की अपेक्षा दण्डी इस बात में भिन्न होंगे कि जहाँ भामह स्वभावोक्ति सहित समस्त अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति या वक्रता का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, वहाँ दण्डी स्वभावोक्ति के मूल से उसे पृथक् कर देते हैं; पर क्या दण्डी स्वभावोक्ति अलंकार में अलंकारोचित-चमत्कार-जनक वैचित्र्य का समावेश स्वीकार नहीं करते? क्या स्वभावोक्ति के उदाहरण शास्त्रीय या व्यावहारिक स्वभावोक्ति से विचित्र नहीं है? यह सोचने की बात है।

उद्भट ने 'स्वभावोक्ति' का भामह की अपेक्षा और विस्तृत परिचय दिया है। उनका कहना कि व्यापार-विशेष में संलग्न मृग आदि पशुओं या बालकों के अपनी जाति के अनुरूप जो विशेष अभिनिवेश हैं, उनका उपनिबंध ही स्वभावोक्ति है। इसकी अलंकारता का बीज यही है कि यहाँ पदार्थों की असाधारण विशेषताओं का प्रत्यक्षायमाण वर्णन कर दिया जाता है। उद्भट और उनके टीकाकार प्रतीहारेंदु-राज, दोनों का यही अभिमत है। वामन इस अलंकार के विषय में मौन हैं।

रुद्रट ने स्वभावोक्ति को ही 'जाति' नाम से पुकारा है। और बताया है कि जिस पदार्थ का जैसा संस्थान, अवस्थान, क्रिया आदि हों, वैसा ही वर्णन करना 'जाति' अलंकार के अंतर्गत है। नमिसाधु ने वर्णगत स्वाभाविक चित्रण की बात देखकर यह प्रश्न उठाया है कि फिर 'जाति' का 'वास्तव' से क्या अंतर है? क्योंकि 'वास्तव' मूलक अलंकारों में ही 'जाति' की गणना की गई है। अत: 'वास्तव' से 'जाति' का कुछ अंतर तो होना ही चाहिये। अंतर बताते हुए यह कहा है कि जैसे 'वृक्ष' और 'पीपल' में 'सामान्य' तथा 'विशेष' का अंतर है, वही बात 'वास्तव' और 'जाति' में भी है। 'वास्तव' शब्द का अर्थ है, वस्तुस्वरूप कथन, और वह तत्त्व सहोक्ति आदि 'वास्तव' मूलक समस्त अलंकार प्रभेदों में है। पर 'जाति' से तो जैसे वर्ण्य वस्तु का प्रत्यक्ष दर्शन-सा करा दिया जाता है, मात्र सामान्यत: स्वरूप कथन ही नहीं होता।

वक्रोक्तिकार कुंतक ने इसे अलंकार कहना नापसंद इसलिये किया है कि वस्तु का स्वभाव-वर्णन तो वर्ण्य रूप से प्रस्तुत होने के कारण 'अलंकार्य' कहा जा सकता है न कि अलंकार।

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने 'स्वभावोक्ति' का विरोध करने वाले आलंकारिकों का खण्डन करते हुए बताया है कि कुछ लोग यह समझते हैं कि स्वभावोक्ति में वस्तु का स्वभाव मात्र अंकित किया जाता है और वास्तव स्वभाव मात्र का अंकन चमत्कारिक हो नहीं सकता। बिना चमत्कार के अलंकार का सद्भाव नहीं हो सकता, अत: स्वभावोक्ति जैसा कोई अलंकार नहीं; पर ऐसा समझने वालों की समझ में स्वभावोक्ति की विशेषता ठीक से आई नहीं। उन्होंने उसी विशेषता का विश्लेषण करते हुए यह कहा है प्रत्येक वस्तु के दो रूप हुआ करते हैं, एक सामान्य रूप, जो परोक्ष ज्ञान में प्रतीत हुआ करता है, दूसरा विशेषरूप, जो प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हुआ करता है। जिस प्रकार चित्रकार अपनी प्रतिभा से वास्तविक पदार्थ की अशेष विशेषताओं का भीतर साक्षात्कार कर लेता है, फिर उसे मनुष्य के सामान्य चित्र में भर देता है, उसी प्रकार जब कवि वर्ण्य वस्तु की असाधारण निखिल सूक्ष्म ब्यौरों का अंतश्चक्षु से साक्षात्कार करके उसे शब्दों में पूर्णत: बाँध देने का प्रयास किया जाता है, वस्तु का प्रत्यक्षायमाण रूप प्रस्तुत कर दिया जाता है, तभी चमत्कारकारी चित्र के प्रस्तुत किये जाने से वहाँ एक विशेष अलंकार 'स्वभावोक्ति' नाम से माना जाता है। काव्य प्रकाश और उसके टीकाकार झलकीकर वामन ने भी यही कहा है कि वस्तु के साधारण स्वभाव-वर्णन में नितांत स्फुटता होने के कारण कोई चमत्कार नहीं होता। वस्तु का असाधारण स्वभाव भी यद्यपि लोक-सिद्ध होता है, तथापि उसके

चित्रण और दर्शन के लिए एक विशेष प्रतिभा अपेक्षित होती है। अतः वह लौकिक होते हुए भी शब्द द्वारा सुने जाने पर कुछ अलौकिक की भाँति जान पड़ता है; इसलिए वहाँ 'अलंकार' की स्थिति मानी जाती है। अलकार-सर्वस्वकार रुय्यक का भी यही स्वर है। उन्होंने भी यही कहा है यहाँ वस्तु का स्वभाव-वर्णन मात्र अलंकार नहीं है। ऐसा होने पर तो समस्त काव्य ही अलंकार हो जायगा। भला वह कौन-सा काव्य होगा, जहाँ किसी-न-किसी वस्तु का स्वभाव-वर्णन न हो। इसीलिए स्वाभावोक्ति की परिभाषा करते हुए यह कहा जाता है उसमें कवित्व मात्र गम्य या ग्राह्य सूक्ष्मता का अंकन होता है। वस्तु का जैसा-का-तैसा समस्त असाधारण वैशिष्ट्य शब्दों में बाँध दिया जाता है। और यह सामान्य प्रतिभा का काम नहीं है। हेमचंद्र ने भी 'जाति' नाम से इस अलंकार का उल्लेख करते हुए लगभग ये ही तर्क प्रस्तुत किये हैं। चंद्रालोककार जयदेव, साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ तथा अप्पय आदि भी स्वभावोक्ति अलंकार को मानने वालों में ही हैं।

इस प्रकार इस अलंकार के लिए निम्नलिखित शर्तें आवश्यक हैं—

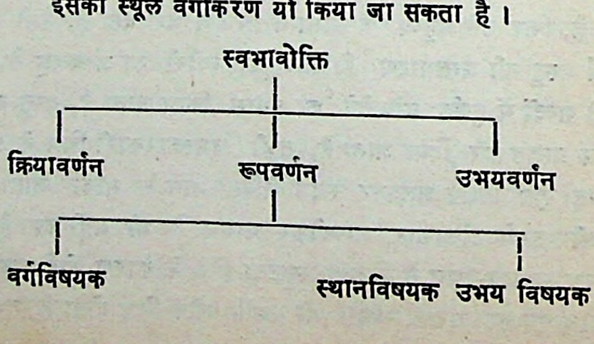
(१) किसी वस्तु (चेतन या जड़, पशु या मानव-शिशु) का हू-ब-हू उपस्थापन हो।

(२) उपस्थापन में अवयवों का सम्यक् संश्लेष हो।

(३) संश्लिष्ट उपस्थापन में वस्तु की सभी असाधारण विशेषताएँ जैसे उभड़ कर आ गई हों।

(४) उस उपस्थापन में कवि-प्रतिभा का आकर्षक संस्पर्श हो। पढ़ने से जो सूक्ष्म ब्योरे पाठक की प्रातिभ चक्षुओं के समक्ष आवें, उनसे वह अंदाज लगा सके कि कवि की ग्राहिका प्रतिभा में कितनी सूक्ष्म विशेषताओं के पकड़ने की क्षमता है।

इसका स्थूल वर्गीकरण यों किया जा सकता है।



उत्प्रेक्षा

भामह के अनुसार यहाँ "उपमान एवं उपमेय के बीच विद्यमान रहती हुई भी समानता विवक्षित नहीं रहती। पर साथ ही औपम्य की गंध अवश्य रहती है। यहाँ अप्रकृत या उपमान गत गुण या क्रिया के संबंध से [उपमेय की उपमान रूप में] उत्प्रेक्षा की जाती है और ऐसा करने के लिये यह सहज ही संभव है कि कुछ 'अतिशय' का सहारा लेना पड़े।"

दण्डी के शब्द तो अवश्य भिन्न हैं; परन्तु अर्थतः कोई ज्यादा अंतर नहीं पड़ता। उन्होंने कहा है कि "जहाँ वर्ण्य चेतन या अचेतन की वास्तविक गुण एवं क्रियाएँ अन्यथा संभावित हों, वहाँ उत्प्रेक्षा नामक अलंकार होता है।" यहाँ 'वृत्ति' का अर्थ यदि गुण और क्रिया ही लिया जाय तब तो स्वरूपोत्प्रेक्षा छूट जायगी। यहाँ दण्डी ने जो उदाहरण भी दिये हैं, उनको देखने से ऐसा लगता है कि वे चेतन और अचेतन के स्वाभाविक या अन्य कारणवश उत्पन्न (गुण एवं) क्रिया की ही अन्यथा संभावना की है। संभव है, ऐसा सीमित रूप ही उन्हें अभीष्ट रहा है।

दूसरी बात जिसे दण्डी ने उत्प्रेक्षा के प्रसंग में कहनी चाही है, वह यह है कि 'लिम्पतीवतमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः'—में जो लोग 'इव' शब्द का प्रयोग सुनकर यह भ्रम पैदा करते हैं कि यहाँ उपमा अलंकार है वे गलत हैं। वस्तुतः यहाँ उत्प्रेक्षा ही है। भाष्यकार पतञ्जलि एवं कैयट ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि उपमान सदा 'सिद्ध' हुआ करता है और तिङन्तक्रिया कभी सिद्ध होती नहीं, वह तो सदा 'साध्य' होती है और उपमान 'साध्य' नहीं होता; अतः यदि इसमें उपमा अलंकार माना जायगा, तो वह 'भाष्य' विरुद्ध भी है। कैयट का तर्क अधिक सीधा है। वे मानते हैं कि तिङन्त क्रिया के साथ प्रयुक्त शब्द कभी भी 'उपमा' वाचक नहीं होता, वह 'संभावना' का ही बोधक होता है; अतः यहाँ उपमा की बात ही करनी बेकार है। दूसरा तर्क स्वयं दण्डी ने यह भी दिया है कि यदि यहाँ उपमा होती, तो औपम्य के लिए समान धर्म की भी अपेक्षा होती; पर यहाँ समान धर्म क्या है? भला लेपन क्रिया और तम में क्या साधर्म्य है? और यदि 'लेपन' ही समान धर्म स्वीकार कर लिया जाय, तो धर्मी कौन होगा, जिसकी उपमा की जाय? धर्म एवं धर्मी एक ही वस्तु तो नहीं हो सकती। रहा यह कि 'लिम्पति' क्रिया में 'ति' का अर्थ कर्ता भी है और यही कर्त्ता यदि उपमान मान लिया जाय और लेपन क्रिया धर्म, तो समस्या सुलझ सकती है? नहीं। कारण यह है कि नियमतः उपमान और

उपमेय को साक्षात् संबद्ध होना चाहिए। स्थिति यह है कि वैयाकरणों के सिद्धांत के अनुसार 'तिङन्त' में 'व्यापार' (लेपन) ही प्रधान होता है--शेष अर्थ उसीसे साक्षात् संबद्ध होते हैं। फिर 'लेपन' क्रिया से सम्बन्ध-स्थापन में व्यग्र रहनेवाला ('तिप्' प्रत्ययार्थ) कर्ता अन्य उपमेय से भला अपना सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित कर सकेगा ? न केवल वैयाकरणों की बोध प्रक्रिया के अनुसार बल्कि नैयायिकों की प्रक्रिया से भी यहाँ उपमा के अनुरूप अर्थबोध संभव नहीं है। हिंदी की प्रकृति से वे सब विचार उतने आवश्यक नहीं हैं, अतः दण्डी की इस नीरस-चर्चा से तटस्थ होकर हम आगे बढ़ते हैं।

ऊपर जो भामह और दण्डी की परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं—उनमें से उद्भट ने भामह की परिभाषा का ही अनुगमन किया है। इतना अंतर अवश्य है कि जहाँ भामह ने औपम्यगंध की बात कही है, उद्भट उस स्पष्ट और ज्ञान तथ्य की अपेक्षा इतनी दूसरी बात करते हैं और वह यह कि वह उत्प्रेक्षा इव आदि पदों से बोध्य होती है। शेष तीन बातें—

(१) साम्यरूप की अविवक्षा हो।

(२) अप्रकृत के गुण एवं क्रिया का सम्बन्ध निमित्त हो तथा

(३) 'अतिशय' तत्त्व विद्यमान हो।

इन तीन बातों के अतिरिक्त उद्भट ने चौथी बात यह बताई है कि उत्प्रेक्ष्यमाण धर्म कभी भावात्मक और कभी अभावात्मक भी होता है। पाँचवीं बात यह है कि यद्यपि 'इव' उपमा-बोधक के रूप में प्रसिद्ध है, फिर भी स्थिति विशेष में वह 'संभावना' का भी बोधक हो सकता है। इस प्रकार उत्प्रेक्षा कभी वाच्य भी हो सकती है और कभी (वाचक 'इव' आदि शब्दों के प्रयोग के अभाव में) प्रतीयमान भी हो सकती है। इस प्रकार उद्भट ने प्रभेदों की भी नींव डाल दी है।

इनके टीकाकार प्रतीहारेंदुराज ने इनके मंतव्यों को और अधिक स्पष्ट करने की कोशिश की है। [इस कोशिश को अनुवाद वाले मूल ग्रंथ में देखना चाहिए।]

वामन ने कहा है—'अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा'—अर्थात् 'जो वस्तु जैसी नहीं है उसमें लोकोत्तरता का समावेश करने के लिये उसका कुछ अन्य रूप में ही अध्यवसान उत्प्रेक्षा है। अध्यवसान उत्प्रेक्षा है, अध्यारोप या लक्षणा नहीं। यहाँ जो अन्यथा स्थित वस्तु का अन्यथा ही वर्णन किया जाता, वह इसलिये नहीं कि यहाँ वर्णन करनेवाला भ्रांत है, परंतु इसलिये कि यहाँ कुछ 'आतिशय्य' प्रदर्शित किया जाय। वामन ने रूपक और वक्रोक्ति से अंतर दिखाने के लिये ही कहा है 'अन्यथाध्यवसान' ही उत्प्रेक्षा है, न कि अध्यारोप-

सापेक्ष रूपक या सादृश्यमूलक सारोपालक्षराग-सापेक्ष वक्रोक्ति। अन्यथाध्यवसान अन्यथा संभावनात्मकबोध ही जान पड़ता है। उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति के क्षेत्र में वामन ने 'अध्यवसान' या 'अध्यवसाय' शब्द का पहला प्रयोग किया है, जिसे आगे के रुय्यक, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने विशेष रूप में ग्रहण किया है।

रुद्रट ने कहा है—"अत्यधिक समानतावश जहाँ उपमान और उपमेय की एकता बताई जाय तथा उपमेय में अप्रकृत या उपमान के गुणों का समारोप किया जाय, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है; जैसे,—चम्पक तरु के शिखर पर स्थित लाल पुष्पों का गुच्छ ऐसा लगता है, मानों वहाँ ऊँचे चढ़कर पथिकों को जलाने की इच्छा से अग्नि ही बैठी हो।

उत्प्रेक्षा के दूसरे प्रभेद का स्वरूप यों है—"जहाँ उपमेयगत अन्य उपमेय उपमान सम्बद्ध अन्य उपमान के रूप में संभावित हो।" जैसे—"इस नायिका के मुख में मृगनाभि से पत्रलेखा बनाई गई है। उसे देखकर ऐसा लगता है, मानो शशि के भ्रम से उसका लाञ्छन ही उतर आया हो।" यहाँ उपमेय (मुख) गत उपमेय (नाभिपत्रलता) की उपमान (चंद्र) संबद्ध उपमान (लाञ्छन) से अभेद संभावित किया गया है।

उत्प्रेक्षा का तीसरा रूप यों बताया है—"जहाँ किसी विशिष्ट वस्तु पर वस्तुतः अविद्यमान पर युक्तिपूर्वक संभाव्य कोई भिन्न समान वस्तु आरोपित हो, वहाँ यह अलंकार होता है; जैसे—यह कहना कि घनीभूत कुंकुमराग-सी संध्या को देखकर ऐसा लगता है, मानो वह सूर्य के रथ पर लगी हुई पताका ही हो, जो यह सूचित करती है कि सूर्य उदयाचलतट—निहित है।" यहाँ पताका है नहीं, पर युक्तिपूर्वक उसकी कल्पना की गई है और अभेद स्थापित कर लिया गया है।

यद्यपि रुद्रट ने यहाँ तीन भेदों का उल्लेख किया है, पर वह भेद उत्प्रेक्षा के उदाहरणों का भेद है—परिभाषा में कोई ऐसा उदाहरण—निरपेक्ष अंतर नहीं है। यदि उदाहरणों को ध्यान में रखकर अंतर किया जायगा, तो असंख्य भेद किये जा सकते हैं। इसीलिये इन भेदों को परवर्ती आलंकारिकों ने कोई मान्यता भी प्रदान नहीं की।

कुंतक ने उत्प्रेक्षा-स्वरूप का विमर्श करते हुए कहा है—"स्वाभाविक रूप से वर्णनार्थ प्रस्तुत विषय की अपेक्षा भिन्न अर्थ की जहाँ योजना की जाय, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है! भिन्न अर्थ की योजना के दो-तीन कारण होते हैं—सम्भावनोत्थ अनुमान तथा सादृश्य या उभयमिश्रित। सादृश्य भी दो प्रकार का होता है—वास्तव और काल्पनिक। वास्तव सादृश्य उपमा का विषय होता है और काल्पनिक उत्प्रेक्षा का। उत्प्रेक्षा के उपर्युक्त जो तीन रूप बताये गये हैं, उनसे वक्ता का

लक्ष्य यह प्रकाशित करना होता है कि वर्णनीय वस्तु में कुछ उत्कर्ष आरोपित हो जाय। वर्णनीयगत आतिशय्य का प्रतिपादन करने के लिये जिस उत्प्रेक्षा का विधान किया जाता है, उसका बोधक कभी 'इव' आदि शब्द का विधान होता है और कभी नहीं होता। जहाँ नहीं प्रयुक्त होता, वहाँ वाच्यार्थ की सामर्थ्य से उसका निश्चय होता है। कुंतक ने 'उत्प्रेक्षा' के एक चौथे भेद की चर्चा की है। कहा है कि क्रिया-रहित वस्तु में भी उसके स्वाभाविक सौंदर्य के अनुरूप द्रष्टा की तथाविध प्रतीति के कारण क्रिया की कल्पना की जाय और उसी क्रिया को लेकर निष्क्रिय को भी कर्ता संभावित किया जाय। उदाहरणार्थ—घोर तम के प्रसरण के कारण यह कल्पना करनी, मानों तम सारे संसार पर अंधकार के लेप चढ़ाता जा रहा हो। इस प्रकार कुंतक ने उत्प्रेक्षा का सामान्यस्वरूप यह बताया है—"वर्ण्य-भिन्न अर्थ की योजना" और फिर इसके चार भेद किये गये हैं—(१) सम्भावनानुमानमूलक (२) काल्पनिक सादृश्यमूलक (३) उभयमिश्र (४) निष्क्रियगत कल्पित क्रिया निमित्तकर्तृता का अर्पण।

कुंतक की परिभाषा और वर्गीकरण न तो पूर्व वर्णित परम्परा का विकास ज्ञात पड़ता है और न परवर्ती आलंकारिकों द्वारा समादृत ही। न तो स्वरूप-निर्वचन ही प्रामाणिक है और न वर्गीकरण ही व्यवस्थित। दण्डी और भामह ने स्वरूप-विवेचन की जो परम्परा आरंभ की थी, उद्भट ने उसको व्यवस्थित रूप दिया। वामन ने भी जिस अध्यवसान की बात आरंभ की—उसका समादर परवर्ती परम्परा में लक्षित होता है—यद्यपि वह अंत तक मान्य नहीं हुआ। पण्डितराज ने उसका खण्डन किया है। उद्भट वाली परम्परा का आगे और संस्कार किया गया। मम्मट ने इसी परम्परा का जो व्यवस्थित और युक्तिसंगत रूप प्रस्तुत किया, वह आगे के लोगों द्वारा मान्य हुआ।

मम्मट ने उत्प्रेक्षा का स्वरूप यों बताया—"उपमेय की उपमान के रूप में संभावना ही उत्प्रेक्षा है।" प्रकाशकार के टीकाकारों ने इनका गम्भीर आशय स्पष्ट किया है। उन लोगों का कहना है कि सादृश्यमूलक अलंकारों के बीच उत्प्रेक्षा का स्थान 'व्यंग्यसाधर्म्य' वाले अलंकारों के बीच प्रथम और प्रमुख है। उत्प्रेक्षा में तीन खंड हैं—उत्+प्र+ईक्षा = उत्कट रूप में प्रकृष्ट अर्थात् उपमान की ईक्षा अर्थात् संभावना=जहाँ उपमेय की उद्भट रूप में उपमान से तादात्म्य की संभावना हो, वहाँ उत्प्रेक्षा नामक अलंकार होता है। 'संभावना' एक प्रकार का संशयात्मक ज्ञान है, पर संशयात्मक अथवा संदेहात्मक ज्ञान और संभावनात्मक ज्ञान में अन्तर होता है। संशयात्मक ज्ञान में जिन अनेक प्रकार की प्रतीतियाँ रहती हैं, वे सभी समकोटिक होती हैं—तुल्यबल होती हैं।

'संभावना' में जिसकी संभावना होती है उसकी कोटि प्रवल या उत्कट होती है निष्कर्ष यह कि जिस ज्ञान में हों तो एकाधिक कोटियाँ, परन्तु एक कोटि उनमें उत्कट होती है। इस प्रकार यह 'उत्कटैककोटिक संदेह' या संभावना भी दो प्रकार की होती है--आहार्य (कल्पित) और अनाहार्य (वास्तविक)। उत्प्रेक्षा अलंकार का विषय कल्पित संभावना ही है, वास्तविक संभावना नहीं। यह 'संभावना' भी यदि अरमणीय होगी, तो अलंकार का विषय नहीं हो सकती इसके लिये 'संभावना' को रमणीय और सादृश्य के आधार पर उत्थित होना चाहिए। कुछ टीकाकारों ने यह भी लिखा है कि जिस उपमान से उपमेय के तादात्म्य की संभावना की जाती है, वह उपमान दो प्रकार का होता है—वास्तविक और काल्पनिक। वास्तव अर्थात् परम्परा प्राप्त या परम्परा सिद्ध उपमान उपमा का विषय है और कल्पित उपमान उत्प्रेक्षा का; परन्तु ऐसी बात नहीं है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि जिस उपमान के आगे 'इव' शब्द का प्रयोग होता है, वह काल्पनिक उपमान होता है, पर जिसके साथ 'मन्ये, शङ्के, ध्रुवं, प्रायः...' जैसे शब्दों का प्रयोग होता है, वह उपमान परम्परा-सिद्ध भी हो सकता है। दूसरी बात यह भी कही जाती है कि जब समापिका क्रिया के साथ 'इव' का प्रयोग होता है, तब 'सादृश्य' का नहीं, बल्कि 'संभावना' का बोधक होता है, पर क्रिया, भिन्न सिद्धार्थक शब्दों के साथ प्रयुक्त होने पर वह 'सादृश्य' का ही बोधक होता है। इस परवर्ती नियम का अपवाद वहाँ होता है, जहाँ 'सम्भावनोपयुक्त' विशेषणों का प्रयोग हो। इस प्रकार के बहुमूल्य विचार प्रस्तुत किये गये हैं। भेदों के विषय में इन्होंने कुछ नहीं कहा।

हेमचन्द्र की इस परम्परा में यह विशेषता है कि जहाँ पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट आदि उपमान से उपमेय की तादात्म्य या ऐकरूप्य विषयक संभावना को ही उत्प्रेक्षा कहते हैं-- अभेद की संभावना को ही उत्प्रेक्षा कहते हैं--वहाँ इन्होंने 'भेद संभावना' को स्पष्ट रूप में उत्प्रेक्षा कहा है। इन दोनों धाराओं का समन्वय पण्डितराज जगन्नाथ की परिभाषा में स्पष्ट ही हुआ है। हेमचन्द्र ने कहा है-- "जहाँ अविद्यमान धर्म की संभावना की जाय और इस संभावना का 'इव' आदि शब्दों से द्योतन किया जाय, वहां उत्प्रेक्षा होती है। संभाव्यमान धर्म भावात्मक और अभावात्मक दोनों प्रकार का हो सकता है। भावात्मक धर्म, गुण भी हो सकते हैं और क्रिया भी। इसी प्रकार अभावात्मक धर्म गुण और क्रिया दोनों के अभाव-स्वरूप हो सकते हैं।

वामन का उत्प्रेक्षा-स्वरूप-विषयक चिंतन पुनः रुय्यक की कृति में सिर उठाता हुआ दिखाई पड़ता है। रुय्यक ने उत्प्रेक्षा का स्वरूप लिखा है—"अध्यवसाय

में व्यापार की जहाँ प्रधानता होती है, वहाँ उत्प्रेक्षा नामक अलंकार होता है।' इनके टीकाकार नमिसाधु ने इनका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि ज्ञान एक दृष्टि से दो प्रकार का होता है--निश्चयात्मक और अनिश्चयात्मक। अनिश्चयात्मक ज्ञान भी दो प्रकार का होता है--संदेहात्मक और तर्कात्मक। पहले में दोनों पक्षों का समान रूप से उल्लेख होता है और दूसरे में एकतर पक्ष का ही। लगता है जैसे इसके पक्ष के अनुकूल सामग्री न मिलने से उसका बाध हो रहा है। इस प्रकार 'संदेह' एवं 'निश्चय' के अन्तराल में एक तर्कात्मक या संभावनात्मक ज्ञान है, यह मानना ही होगा। इस प्रकार वस्तुतः उत्प्रेक्षा जब संभावनामूलक मान ली गई है, तो दूसरे लोग इसे 'अध्यवसाय' मूलक कैसे कहते हैं। दूसरी बात यह कि 'अध्यवसाय' में दो बातें होनी ही चाहिये, विषय या उपमेय का निगरण और उपमान का निश्चय। उत्प्रेक्षा में न तो उपमेय का निगरण ही होता है और न उपमान का निश्चय ही, फिर जो रुय्यक ने इसकी परिभाषा की वह कहाँ तक ठीक है? उत्प्रेक्षा में उपर्युक्त ढंग से अध्यवसाय है ही नहीं, जब कि रुय्यक उत्प्रेक्षा के लिये अध्यवसाय आवश्यक मानते हैं। इसका उत्तर देते हुये उन्होंने कहा है—

'अध्यवसाय' दो प्रकार का होता है, स्वारसिक और उत्पादित। स्वारसिक अध्यवसाय वहाँ होता है, जहाँ विषय का स्वरूप बोध न होने के कारण उसे विषयी रूप में समझा जाय, जैसे--रस्सी का अज्ञान होने से ही उसे साँप समझा जाता है। 'उत्पादित' वह है जहाँ विषय का ज्ञान है, पर एक विशेष चामत्कारिक प्रयोजन से उसे विषयी रूप ही समझा जाता है। पहले प्रकार का अध्यवसाय 'भ्रांतिमान्' अलंकार का विषय है और दूसर प्रकार का उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति का। इसीलिये 'उत्पादित-अध्यवसाय' को दो प्रकार का माना गया है, सिद्ध और साध्य। सिद्ध उत्पादित अध्यवसाय 'अतिशयोक्ति' का और साध्य-उत्पादित-अध्यवसाय 'उत्प्रेक्षा' का विषय माना जाता है। यह उत्पादित-अध्यवसाय 'सिद्ध' वहाँ माना जाता है, जहाँ 'विषय' वाचक शब्द का प्रयोग ही नहीं हो पाता और वह इसलिये कि विषयी (उपमान) द्वारा वह निगीर्ण होता है। अतः ऐसे स्थल में अध्यवसित (विषयी) की प्रधानता होती है। उत्पादित अध्यवसाय 'साध्य' वहाँ होता है, जहाँ 'इव' आदि शब्दों के प्रयोग से (अथवा संदर्भ-सामर्थ्यवश उत्पन्न प्रतीति से) संभावनात्मक ज्ञान हो। इस प्रकार के ज्ञान-स्थलों में विषय या उपमेय, लगता है जैसे विषयी से निगीर्यमाण हो रहा है, विषयी के स्वरूप का ही होता जा रहा है, अतः यहाँ अध्यवसान व्यापार की प्रधानता होती है। इसीलिये रुय्यक का कहना ठीक ही है कि जहाँ अध्यवसान व्यापार की प्रधानता हो, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। नमिसाधु ने तो इसी प्रसंग में यह भी कहा कि 'यदेव चाध्यव-

सायस्य साध्यत्वं तदेन संभावनात्मकत्वम्' अर्थात्, अध्यवसाय की साध्यता और संभावनात्मकता एक ही है, अतः प्रकाशकारादि के मत से इनका मत कुछ भी भिन्न नहीं है। 'संभावना' भी क्या है, यही न, कि उसमें एक पक्ष शिथिल और दूसरा पक्ष दृढ़ होता है। अध्यवसाय में भी लगभग यही बात होती है, अतः दोनों चीजें समकक्ष ही होती हैं। अध्यवसाय में भी विषय का पक्ष शिथिल और विषयी का पक्ष दृढ़ होता है। स्वयं रुय्यक ने भी 'अध्यवसाय' की 'सिद्ध' और 'साध्य' रूपता पर विचार करते हुए यह बताया है—"तदेवमप्रकृतगुणक्रियाभिसंबंधात् अप्रकृतत्वेन प्रकृतस्य संभावनमुत्प्रेक्षा"; अर्थात्—उपमानगत गुण एवं क्रिया का (उपमेय में) संबंध कर देने से प्रकृत की अप्रकृत रूप में की गई संभावना—उत्प्रेक्षा है।

वह उत्प्रेक्षा दो प्रकार की होगी—वाच्य और प्रतीयमान। यदि 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग है, तो वाच्य समझना चाहिए और यदि नहीं है—तो 'प्रतीयमान'। दूसरी दृष्टि से वह चार प्रकार की भी है। चार प्रकार की इस तरह कि अध्यवसेय अप्रकृत जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य—चार प्रकार का होता है। प्रत्येक के रूप में की गई संभावना गुण एवं क्रिया जैसे दो निमित्तों के सहारे उत्थित होती है; अतः सब आठ प्रभेद हुए। अध्यवसेय भावात्मक एवं अभावात्मक—दोनों प्रकार का हो सकता है; अतः सब सोलह भेद हुए। इनमें भी कभी निमित्त का प्रयोग हो सकता है और कभी नहीं—अतः सब ३२ प्रभेद हुए। इनमें भी प्रत्येक के हेतु, फल एवं स्वरूप विषयक उत्प्रेक्षा के कारण कुल ९६ भेद हुए। इनमें से द्रव्योत्प्रेक्षा में प्रायः 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' ही होती है; अतः हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा से उन्हें भिन्न कर देना चाहिए। वाच्य-उत्प्रेक्षा की भाँति प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा में भी नामतः यद्यपि उतने ही प्रभेद संभव हैं, तथापि निमित्त के अनुपादान वाली बात वहाँ संभव नहीं है। अतः 'वाच्या' की अपेक्षा प्रतीयमाना में कम भेद होंगे। प्रायः स्वरूपोत्प्रेक्षा भी यहाँ नहीं होती; इसलिये प्रतीयमाना के यथासंभव कम भेद ही होंगे। इस प्रकार और तरह के भी इसके रूप-रूपान्तर संभव हैं। सबका उल्लेख संभव नहीं।

जयदेव (चंद्रालोककार) ने अपह्नुति से उत्प्रेक्षा का अंतर स्वीकार करते हुए कहा है कि जहाँ 'उपमेय-निषेध' न करते हुये हेतु आदि की तर्कना की जाय, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है और यह वाच्या तथा प्रतीमाना दो प्रकार की हो सकती है। कुवलयानंदकार अप्पय दीक्षित ने भी 'अध्यवसाय' की बात कहीं नहीं की है। 'संभावना' को ही उत्प्रेक्षा का स्वरूप मानते हुए उन्होंने बताया है कि इस उत्प्रेक्षा के छः भेद होते हैं—स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा एवं फलोत्प्रेक्षा।

स्वरूपोत्प्रेक्षा के दो भेद हैं——उक्तविषया और अनुक्त विषया। इसी प्रकार हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रक्षा में से प्रत्येक दो-दो प्रकार के होते हैं——सिद्ध विषया और असिद्ध विषया। स्वरूपोत्प्रेक्षा में कभी विषय या उपमेय उक्त होता है और कभी अनुक्त। इसी प्रकार जो हेतु या फल उत्प्रेक्षित रहते हैं, वे कभी सिद्ध होते हैं और कभी असिद्ध होते हैं। प्रसंगतः भेद-पूर्वक और अभेद-पूर्वक उत्प्रेक्षा की बात भी कही है पर वह दूसरों के मत के रूप में कही गई है।

रुय्यक की 'अध्यवसाय'मूलकतावाली बात पुनः साहित्यदर्पणकार ने कही है और रुय्यक द्वारा किये हुए भेदों को भी व्यवस्थित रूप दिया है। अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा का अंतर बताते हुए अतिशयोक्ति-निरूपण के अवसर पर इन्होंने यह स्वीकार किया है कि उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय व्यापार की और अतिशयोक्ति में अध्यवसित की प्रधानता रहती है; पर 'उत्प्रेक्षा' के स्वरूप-निर्वचन के प्रसंग में इन्होंने कहीं भी ऐसा नहीं किया है।

उत्प्रेक्षा का स्वरूप मम्मट की भाँति इन्होंने यही माना है——'उपमेय की उपमान के रूप में संभावना ही उत्प्रेक्षा है।' भेद के संबंध रुय्यक के ढंग से ही पहले ३२ भेद किये हैं। आगे जो संकेत रुय्यक की ओर से वर्गीकरण के संबंध में दिये गये हैं, उसी का यहाँ स्पष्टीकरण हुआ है। इन ३२ भेदों में १६ वाच्योत्प्रेक्षा के भेद हैं और १६ प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के। वाच्योत्प्रेक्षा के १६ भेदों में द्रव्योत्प्रेक्षा के चार भेदों के निकाल देने पर जाति, गुण एवं क्रिया के १२ भेद बचते हैं। इन १२ में से प्रत्येक के स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा एवं फलोत्प्रेक्षा——३-३ भेद होते हैं और इस प्रकार सब ३६ भेद हुए। द्रव्योत्प्रेक्षा के कुल चार भेद हुए। इस प्रकार वाच्योत्प्रेक्षा के सब ४० भेद हुए। ३६ में से १२ भेदस्वरूपोत्प्रेक्षा के हैं। जिन्हें द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा के ४ भेदों में मिलाने से कुल १६ भेद होते हैं। इन १६ के निमित्त कभी उक्त होंगे और कभी अनुक्त; अतः सब ३२ भेद हुए। इस प्रकार वाच्यस्वरूपोत्प्रेक्षा के कुल ३२ भेद हुए। वाच्यफलोत्प्रेक्षा के १२ और हेतुफलोत्प्रेक्षा के १२। सब मिलाकर ५६ भेद वाच्योत्प्रेक्षा के इस ढंग से हुए। इन ५६ के निमित्त की उक्ति और अनुक्ति से ११२ भेद हुए।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा में स्वरूपोत्प्रेक्षा होती ही नहीं, अतः हेतु और फलगत उत्प्रेक्षाएँ ही होंगी। उक्त क्रम से हेतूत्प्रेक्षा के १६ और फलोत्प्रेक्षा के १६ अर्थात् कुल मिलाकर ३२ प्रभेद हुए। निमित्त की उक्ति और अनुक्ति वश ६४ भेद होते हैं। इस प्रकार वाच्योत्प्रेक्षा के ११२ और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के ६४——सब मिलाकर १७६ भेद हुए।

पण्डितराज जगन्नाथ ने उन लोगों का खण्डन किया है, जिन लोगों ने

अध्यवसायमूलक उत्प्रेक्षा को स्वीकार किया है। उनके तर्क दो हैं---पहला तो यह कि विषयी के द्वारा विषय का निगरण ही अध्यवसाय है और इस प्रकार की स्थिति उत्प्रेक्षा में संभव नहीं। साध्य-अध्यवसाय, जैसा कि रुय्यक आदि ने कल्पना की है, उसके मानने में कोई अतिरिक्त प्रमाण नहीं। केवल उनके कहने से एक नये भेद की कल्पना कर ली जाय, अनावश्यक है। दूसरी बात यह है कि अध्यवसाय लक्षणा का एक भेद ही तो है। उत्प्रेक्षा के विधेय-अंश में लक्षण संभव नहीं है। इसीलिये पण्डितराज ने जो उत्प्रेक्षा का लक्षण किया है, वह 'संभावना' को ही उत्प्रेक्षा बताता है।

दूसरी विशेष बात पण्डितराज की उल्लेखनीय यह है कि इन्होंने जो उत्प्रेक्षा-लक्षण प्रस्तुत किया है, उसमें धर्मोत्प्रेक्षा और धर्मी-उत्प्रेक्षा---दोनों का ध्यान रखा गया है। उन्होंने बताया है कि उपमान से भिन्न रूप में ज्ञात उपमेय की उपमान से अभेद-संभावना, तो उत्प्रेक्षा है ही, उत्प्रेक्षा उस धर्म की भी उस आधार में संभावना है, जहाँ पहले से उसी धर्म का उसी आधार में अभाव ज्ञात रहा हो। जहाँ तक ऐसी संभावनाओं के निमित्त की बात है, पहले के लिये यह आवश्यक है उपमेय में उपमान के समान धर्म हों। दूसरे धर्म की संभावना के लिये यह आवश्यक है---कि उस धर्म से संबद्ध कोई अन्य धर्म या क्रिया उस आधार में मौजूद हो। उदाहरणार्थ---यदि मुख की चंद्र-रूप में संभावना करनी हो, तो यह तभी संभव है, जब उपमान के से कुछ धर्म उपमेय में भी हों; ताकि इन समानधर्मों के कारण, उत्पन्न सादृश्यवश एकता की संभावना की जा सके। दूसरे का उदाहरण यों है—सीता के पैरों से च्युत नूपुर मौन पड़ा हुआ है। इस मौन के कारण नूपुर में दुःख की संभावना की जा सकती है। कारण उत्प्रेक्ष्य दुःख का सहस्थायी मौन कार्य नूपुर में है; अतः कार्य को देखकर कारण की संभावना की जा सकती है।

स्वरूप विवेचन के अनंतर उन्होंने वर्गीकरण पर भी विचार प्रस्तुत किया है। उत्प्रेक्षा जहाँ प्रतिपादक शब्द और संभावनोत्थापक सामग्री सहित हो, वहाँ वाच्या और जहाँ केवल संभावनोत्थापक सामग्री मात्र ही हो, वहाँ प्रतीयमाना होती है; पर जहाँ केवल प्रतिपादक शब्द ही हो, वहाँ उत्प्रेक्षा-लंकार नहीं हो सकता। इन दोनों में से प्रत्येक के स्वरूप, हेतु एवं फल-गत तीन-तीन भेद हुए। उनमें भी प्रत्येक विषयी जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य रूप हो सकते हैं। उनकी संभावना अभेद और भेद--दोनों रूपों में हो सकती है। जात्यादि कभी-कभी पृथक् और कभी-कभी समुच्चित भी रह सकते हैं। निमित्त भी कभी उपात्त और कभी अनुपात्त हो सकता है। उपात्त निमित्त भी

कभी निष्पन्न और कभी निष्पाद्य हो सकता है। विषय भी जाति आदि में यथा-संभव बदलते रह सकते हैं। इस प्रकार अनगिनत प्रभेद संभव हैं।

अगली बात पंडितराज ने यह कही है कि जो लोग सर्वत्र स्वारसिक प्रतीति की भी उपेक्षा करके धर्मोत्प्रेक्षा की ही बात करते हैं, वे लोग गलत हैं। प्रतीति के आधार पर जहाँ संभव हो, वहाँ धर्मी और जहाँ संभव हो वहाँ धर्म-उत्प्रेक्षा मानी जानी चाहिए।

इस प्रकार भामह और दण्डी की उत्प्रेक्षा विषयक अस्पष्ट धारणा को उद्भट ने जो स्पष्टता प्रदान की, उसमें की एकाधिक बातें परवर्ती आलंकारिकों द्वारा स्वीकृत हुई हों। उत्प्रेक्षा के स्वरूप के विषय में जो संभावनामूलक या अध्यवसाय मूलक—दो पक्ष हैं, उनमें से एक भी उद्भट में उतने स्पष्ट नहीं हैं, फिर भी झुकाव जिस 'संभावना' की ओर है (जिसकी प्रदत्त उदाहरणों से पुष्टि होती है) वही आगे समादृत हुआ।

पर्यायोक्ति

भामह ने इसका स्वरूप यों बताया है—"पर्यायोक्त भावों और विचारों की अभिव्यक्ति की सीधी-सादी प्रकाशन-सरणि न होकर घुमावदार विनम्र पद्धति है। उदाहरण रूप में उन्होंने कहा है—"कृष्ण ने शिशुपाल से कहा—हम लोग उस अन्न का भक्षण नहीं करते, जिसमें से स्वाध्यायपरायण ब्राह्मणों ने पहले खा नहीं लिया है—चाहे घर हो या बाहर।" कृष्ण ने विष-मिश्रित भोजन के नियंत्रण पर सीधे अस्वीकारोक्ति न देकर इस प्रकार विनम्र-पद्धति में उसे व्यक्त किया और विषभक्षण से अपने को बचाया।" इस प्रकार भामह के उदाहरण से पर्यायोक्त का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

यही बात दण्डी ने भी शब्दान्तर से कही है। उन्होंने कहा कि "अभीष्ट वक्तव्य को सीधे न कह कर उसी का प्रकारान्तर से जहाँ कथन किया जाता है—वहाँ पर्यायोक्त होता है।' उदाहरण द्वारा भी अपने अभिप्राय को वहाँ प्रच्छन्न ढंग से व्यक्त किया गया है।

इन लोगों के मन में या वक्तव्य में जो अस्पष्टता थी, उसे उद्भट ने बहुत ही स्पष्ट कर दिया। भामह के 'अन्येन प्रकारेण अभिधान' तथा दण्डी के 'प्रकारान्तरेणाख्या' का अर्थ है 'अभिधा व्यापार से वक्तव्य का समर्पण न करना—बल्कि इस ढंग से कहना जिससे वह द्योतित हो, अभिहित न हो। उद्भट ने स्वयं कहा है—"वाच्यवाचकवृत्ति-निरपेक्ष अर्थात् अभिधा-निरपेक्ष ढंग से अन्तरित शब्द-व्यापार द्वारा जहाँ अभिप्रेत अर्थ का अभिधान किया जाय—वहीं पर्यायोक्त नामक

अलंकार होता है।'' अभिप्राय यह कि वक्तव्य का प्रकाशन शब्द की अभिधात्मक सामर्थ्य से नहीं, प्रत्युत वाच्यार्थ की सामर्थ्य से जहाँ हो—वहाँ यह अलंकार होता है। शब्द के द्वारा पहले-पहल (आकाङ्क्षा, योग्यता और सन्निधि सापेक्ष) जो अर्थ प्रतीत होता है—उससे सीधे वक्ता का अभिप्राय यहाँ प्रकाशित नहीं होता, बल्कि इस अर्थ पर भी यदि ध्यान दिया जाय—प्रकरण आदि के संदर्भ में उसका प्रतिपाद्य सोचा जाय—तब मूल अभिप्राय प्रकट होता है। ऊपर के ही उदाहरणों को लिया जा सकता है।

उद्भट के भी अभिप्राय को और अधिक स्पष्टता दी, उन ध्वनिवादियों ने, जिन्होंने 'व्यंजना शक्ति' की उद्भावना और पुष्टि की। उद्भट ने यह तो कह ही दिया था कि अभिधावृत्ति से नहीं, **अवगमात्मक ढंग से** यहाँ प्रतिपाद्य का प्रकाशन किया जाता है। पर वह अवगमात्मक ढंग क्या है?—इसे ध्वनिवादियों ने स्पष्ट किया। ध्वन्यालोककारने उसे ही व्यञ्जनात्मक ढंग कहा है।

रुद्रट ने तो इस अलंकार की चर्चा नहीं की, पर कुंतक ने यह अवश्य बताया कि जो बात दूसरे वाक्य से सीधे ढंग से कही जा सकती है—वही काव्यात्मक सौंदर्य उत्पन्न करने की दृष्टि से यदि उस सरल ढंग के वाक्य से न कही जाकर वक्र ढंग के वाक्य द्वारा कह दी जाय—तो वहाँ 'पर्यायोक्त' नाम का अलंकार होता है। इसी के साथ कुंतक ने एक प्रश्न यह उपस्थित किया है कि फिर 'पर्याय वक्रता' और पर्यायोक्त में क्या अंतर है? बताया है कि 'पर्याय वक्रता' का संबंध केवल काव्योपयोगी एक पद से है जबकि 'पर्यायोक्त' का पूरे एक वाक्य से है।

अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में 'पर्यायोक्त' की अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने कहा है—'पर्यायेण प्रकारान्तरेण अवगमात्मना व्यंग्येनोपलक्षित सद् यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयते'। उद्भट के द्वारा कहे हुये 'अवगमात्मना' की व्याख्या और स्पष्टीकरण इस प्रकार अभिनव गुप्त ने किया।

जहाँ भामह एवं दण्डी केवल इतना ही कहते थे कि 'अन्य प्रकार से कहना' 'प्रकारान्तर से कहना' ही पर्याय से कहना है और यही पर्यायोक्त है—उसे अभिनव गुप्त ने पर्याप्त नहीं समझा। कारण यह कि मान लीजिये—'राम' कहना है। उसी अर्थ को 'राम' शब्द द्वारा न कहकर क्या 'दाशरथी'—जैसे अन्य प्रकार द्वारा कह दिये जाने पर पर्यायोक्त हो जायगा?—कभी नहीं होगा, यद्यपि वह अन्य प्रकार से कहा हुआ है। इसीलिये अभिनव को यह कहना पड़ा कि वाच्य (राम) अर्थ के पर्यायवाची शब्द का प्रयोग मात्र कर देने से पर्यायोक्त नहीं होता—वाच्य अर्थ को ही प्रकारान्तर (पर्यायवाचीशब्द) से कह देने से पर्यायोक्त नहीं

हो सकता। वहाँ वस्तुतः व्यंग्य अर्थ को प्रकारान्तर से अभिहित कर दिया जाता है। व्यंग्य अर्थ को अभिहित करने के लिये पर्यायवाची शब्द काम नहीं करेंगे—बल्कि व्यञ्जक शब्द क्षम होंगे। अर्थात् अभीप्सित अर्थ को जहाँ पर्यायवाची शब्द से न कहकर व्यंजक शब्द से कहा जाय—वहाँ पर्यायोक्त होता है। यही ढंग उद्भट का अवगमात्मक ढंग है। यहाँ वाच्य एवं व्यंग्य वस्तु या मूल वक्तव्य एक ही होता है—पर दोनों का ढंग अलग-अलग होता है। उसी को वाच्य रूप में दूसरे ढंग से कहा जाता है—वही व्यंग्य रूप में दूसरे ढंग से व्यञ्जनाविषय होता है। एक ही वस्तु व्यंग्य और वाच्य दोनों रूपों में भिन्न-भिन्न ढंग से ही हो सकती है।

काव्यप्रकाशकार मम्मट का भी यही आशय है, केवल शब्द-प्रयोग मात्र अभिनव से भिन्न है। मम्मट का यही कहना है कि इस अलंकार में जिस आकार से कोई वस्तु व्यंग्य होती है उससे भिन्न आकार से वही वाच्य होती है। प्रकार भेद से एक ही वस्तु वाच्य भी हो सकती है और व्यंग्य भी। दोनों का अंतर इतना ही है कि जहाँ अभिनव गुप्त 'पर्याय+उक्त' में से 'पर्याय' का अर्थ 'व्यंग्य' लेते हैं—वहाँ मम्मट 'भङ्ग्यन्तर' लेते हैं। मम्मट को अपने लक्षण में ऊपर से 'व्यंग्य' अर्थ जोड़ना पड़ता है, अभिनव को नहीं। 'व्यंग्य' अर्थ लेने से 'प्रकारान्तर' वाली बात अपने आप आकर ही रहेगी—क्योंकि 'पर्याय'=व्यंग्य 'उक्त' या अभिहित 'प्रकारान्तर' से ही हो सकता है। इसीलिये पण्डितराज ने इस माने में अभिनव गुप्त की प्रशंसा करते हुये भी लक्षण में 'प्रकारान्तर' शब्द के ग्रहण की आलोचना की है। मम्मट ने वाच्य एवं व्यंग्य रूपों में एक ही पदार्थ का ग्रहण किस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप में होता है—इसे समझाते हुये कहा है कि जैसे निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञान का विषय एक ही होता है—पर दोनों का ग्रहण भिन्न-भिन्न रूप में होता है वही स्थिति यहाँ भी है। निर्विकल्पक में जाति, गुण और व्यक्ति की न तो पृथक्-पृथक् प्रतीत होती है और न तो उनका संबंध बोध ही होता है—पर वही व्यक्ति सविकल्पक ज्ञान का विषय होकर जाति, गुण से समन्वित और संस्पष्ट रूप में प्रतीत होता है। हेमचंद्र ने भी अपने 'काव्यानुशासन' तथा उसकी स्वनिर्मित टीका में काव्यप्रकाशकार के तर्कों और विवेचनों को प्रस्तुत किया है। इसीके साथ इतना उन्होंने अवश्य बताया है कि पर्यायोक्त और अन्योक्ति में अंतर यह है कि जहाँ पर्यायोक्त में व्यंग्य अर्थ का भङ्ग्यन्तर से अभिधान किया जाता है वहाँ अन्योक्ति में अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत (व्यंग्य) का संकेत दिया जाता है।

अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक के सामने भी पर्यायोक्त का यह लक्षण कि

'गम्य' (व्यंग्य) का भी भङ्ग्यन्तर से अभिधान किया जाय—एक प्रश्न ही उपस्थित करता है। प्रश्न यह है कि जो गम्य होगा वही वाच्य कैसे? उत्तर है—भंग्यंतर से। पर भंग्यंतर का अर्थ अभिनव गुप्त और मम्मट भट्ट ने जहाँ 'प्रकारान्तर' से किया था वहाँ रुय्यक 'प्रकारान्तर' से अभिधान का अर्थ 'कार्य द्वारा अभिधान' करते हैं। यदि कारण गम्य हो, तो उसका कार्य कह देना चाहिये। और इस प्रकरणानुसार कारण का आक्षेप हो ही जायगा—अभिधीयमान कार्य अपनी सिद्धि के लिये कारण का आक्षेप कर ही लेगा। इस प्रकार व्यंग्य अर्थ भी वाच्यायमान हो जाता है। इसी आशय से यहाँ यह बात कही गई है कि पर्यायोक्त में जो व्यंग्य होता है वही वाच्य भी। अन्यथा जो वाच्य है वही व्यंग्य हो कैसे सकता है? काव्य प्रकाश आदि प्राचीन आलंकारिकों के कहने का आशय भी वस्तुतः देखा जाय तो वहाँ भी वस्तुतः जो 'धर्मी' है—वही वाच्य रहता है और जो वाच्य है वह व्यंग्य हो नहीं सकता—फिर भी जब व्यंग्य कहा जाता है तब वह वाच्य रूप से प्रतीत होनेवाले धर्म की अपेक्षा व्यंग्य रूप में प्रतीत होनेवाले 'धर्म' मात्र को लेकर—अथवा व्यंग्य धर्म से समन्वित होने के कारण उस वाच्य धर्मी को भी व्यंग्य कहा जा सकता है। साहित्यदर्पणकार ने अभिनव गुप्त और मम्मट की अपेक्षा रुय्यक का ही रास्ता पकड़ा है और कहा है कि जहाँ कार्य्य द्वारा कारण का अभिव्यंजन किया जाय, वहाँ पर्यायोक्त होता है। हाँ, एक प्रश्न यह अवश्य खड़ा हो सकता है कि फिर अप्रस्तुत प्रशंसा के उस भेद से जहाँ कार्य्य द्वारा कारण की व्यंजना की जाती है, पर्यायोक्त का अंतर क्या होगा? अंतर यह होगा कि जहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना होती है यहाँ पर्यायोक्त में दोनों प्रस्तुत ही होते हैं।

अप्पय दीक्षित ने परम्परागत लक्षण ही स्वीकार किया है और कहा है कि जहाँ व्यंग्य अर्थ ही प्रकारान्तर से वाच्य कर दिया जाय, अर्थात् व्यंग्य अर्थ को ही जहाँ किसी आकर्षक ढंग से वाच्य रूप में वर्णित किया जाय, वही पर्यायोक्त होता है। इसके साथ ही साथ दीक्षित जी ने सर्वस्वकार और लोचनकार की भी आलोचना की है, पर इस प्रसंग में उसकी चर्चा अनावश्यक है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इनके वक्तव्यों की बड़ी खरी आलोचना की है और बताया है कि उनका विवेचन भ्रामक और आलोचना अशक्त प्रतिभा का परिणाम है। दीक्षितजी ने इसका एक दूसरा भेद भी माना है।

इस अलंकार में व्यंग्यार्थ वाच्योपस्कारक होता है और अप्रस्तुत प्रशंसा में वाच्य अर्थ व्यंग्य पर्यवसायी होता है—व्यंग्यार्थ साधक होता है, अतः ध्वनिकारानुयायी आलंकारिकों ने इसे भी वाच्यसिद्ध्यंगगुणीभूत व्यंग्य ही स्वीकार किया है।

विमर्शिनीकार ने जो पर्यायोक्त में लक्षणा-शक्ति की बात चलाई है, वह अनवबोध का शुद्ध उज्जृम्भण है। उनकी बात परम्परा विरुद्ध और युक्ति-विरुद्ध भी है। लक्षणा के लिये 'बाध' की आवश्यकता है—पर्यायोक्त में प्रतीत होनेवाले अन्य अर्थ की प्रतीति 'बाध' पूर्वक नहीं होती।

इसके साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि ध्वनिकार से प्राचीन भामह, उद्भट आदि आलंकारिकों ने यद्यपि अपने ग्रन्थों में कहीं भी गुणीभूत व्यंग्य शब्द का प्रयोग नहीं किया है, पर इससे यह निष्कर्ष निकालना कि वे लोग इस चीज को अस्वीकार करते हैं—ठीक नहीं। कारण यह है कि उन लोगों ने जब समासोक्ति, व्याजस्तुति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अनेक गुणीभूत व्यंग्य के प्रभेदों का निरूपण किया है और साथ ही यह भी कहा है कि व्यंग्य का समस्त प्रपञ्च पर्यायोक्त की ही कुक्षि में समा जाता है, तब यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि वे लोग व्यंग्य अर्थ नहीं मानते। दूसरी बात यह कि जो अर्थ अनुभव सिद्ध है, उसका अपलाप कोई बच्चा भी जब नहीं कर सकता, तो भामह, उद्भट आदि विद्वान् आलंकारिक कैसे कर सकते हैं।

जहाँ तक भेदोपभेद की बात है, अप्पय दीक्षित ने जहाँ इसके दो भेद बताये थे, वहाँ पण्डितराज ने तीन भेद बताये हैं। दीक्षितजी के प्रथम भेद की तो ऊपर विवेचना की ही जा चुकी है। दूसरा यों हैं—'जहाँ किसी बहाने अपना अभीष्ट साधन किया जाय' वहाँ इसका दूसरा भेद होता है। जैसे, दो को मिलाने या मिलने देने की कामना से स्थल को एकांत कर देने के लिये कोई यह कहे कि 'ठीक है, आप लोग यहाँ रहें—मैं जरा आम्रलता देखने जा रही हूँ'। पण्डितराज का कहना है कि कहीं वाच्य कारण से व्यंग्य कार्य, कहीं वाच्य कार्य से व्यंग्य कारण और कहीं एक संबंधी से अपर सम्बन्धी का व्यञ्जन—इस प्रकार यह तीन प्रकार का हो सकता है।

इस प्रकार पर्यायोक्त के इस स्वरूप-विकास-क्रम में उद्भट ने 'अवगमात्मना' शब्द का प्रयोग करके अलंकारवादियों और ध्वनिवादियों के बीच एक संध्यात्मक कड़ी जोड़ दी है।

श्लिष्ट (या श्लेष)

भामह, दण्डी, उद्भट—तीनों ने ही 'श्लिष्ट' संज्ञा का ही प्रयोग किया है। संभवतः वामन ने ही पहले 'श्लेष' शब्द का प्रयोग किया है। भामह ने इसका स्वरूप यों बताया है—'श्लिष्ट' नामक अलंकार वहाँ होता है जहाँ उपमान से उपमेय की गुण, क्रिया तथा नाम की दृष्टि से एकता स्थापित की जाती है। यह

परिभाषा, मानता हूँ कि 'रूपक' में संक्रांत हो सकती है, परंतु रूपक से श्लिष्ट का यह स्पष्ट ही अंतर है कि श्लिष्ट में उपमान और उपमेय के गुणों का श्लिष्ट (युगपत्) प्रयोग होता है ताकि उसके उभयोपयोगी दो अर्थ—एक ही शब्द से निकल आवें। रूपक में यह आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ—यदि यह कहा जाय कि "हाथी-रूपी मेघ मदरूपी जल वर्षा रहे हैं।" तो यहाँ 'श्लिष्ट' नहीं, रूपक माना जायगा। क्योंकि हाथी (उपमेय) और 'मेघ' (उपमान) के गुण एक ही श्लिष्ट शब्द से न कहा जाकर भिन्न-भिन्न शब्दों से कहा जा रहा है।

एक ही अर्थ और शब्दगत दोहरे अभिप्रायों के कारण इस अलंकार के अनेक भेद हो जाते हैं। श्लिष्ट अलंकार सहोक्तिमूलक, औपम्यमूलक और हेतुमूलक-तीन प्रकार का माना जाता है। जो उदाहरण इन्होंने प्रस्तुत किये हैं उनमें सबमें उपमान और उपमेय हैं और कहीं समान विशेषणों से तथा कहीं समान हेतुओं से उन्हें एक कहा गया है। परवर्ती आलंकारिकों ने इन त्रिविध श्लिष्टों को सादृश्य-मूलक अलंकारों के अन्तर्गत कर लिया है।

दण्डी की 'श्लिष्ट' विषयक परिभाषा और उसके वर्गीकरण भिन्न हैं। इन्होंने न केवल 'श्लिष्ट' की परिभाषा की, प्रत्युत स्वभावोक्ति से भिन्न अलंकारों के मूल में रहनेवाली वक्रोक्ति की भी आत्मा के रूप में 'श्लेष' की चर्चा की है। "श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्"—सभी प्रकार की वक्रोक्तियों में प्रायः श्लेष ही श्री का निषेचक होता है।

'श्लिष्ट' का स्वरूप इन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया है। श्लिष्ट वह वचन है जो 'अनेकार्थक' और 'एक रूपान्वित' हो। अनेक अर्थों के बोधक शब्दों की आनुपूर्वी जहाँ एक ही प्रकार की होती है वहाँ यह अलंकार होता है। इसके दो भेद होते हैं—भिन्नपद और अभिन्नपद। भामह की भाँति दण्डी ने उपमान और उपमेय की शर्त नहीं लगाई है। दूसरे इनका वर्गीकरण भी उनसे भिन्न पद्धति पर है। भिन्न पद को ही परवर्ती आलंकारिकों ने 'सभंगश्लेष' तथा अभिन्न पद को 'अभङ्गश्लेष' कहा है। दण्डी ने यह भी बताया है कि यह श्लेष उपमा, रूपक, आक्षेप, व्यतिरेक आदि अलंकारों में अंग रूप से प्रयुक्त होता रहता है। अंग रूप में प्रयुक्त श्लेष के प्रसंग में उसके कई रूप दण्डी ने बताये हैं। अभिन्नक्रिय श्लेष, अविरुद्धक्रियश्लेष, विरुद्ध क्रियश्लेष, सनियम श्लेष, नियमाक्षेपरूपोक्ति श्लेष, अविरोधीश्लेष तथा विरोधी श्लेष आदि। फिर इन सबके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

उद्भट ने इस अलंकार के निरूपण-प्रसंग में भामह का अनुसरण बिलकुल नहीं किया। उनकी अपेक्षा दण्डी के विचारों को बहुत दूर तक समादर उन्होंने प्रदान किया। दण्डी द्वारा 'भिन्न-पद' और 'अभिन्न पद' श्लेषों को ही ध्यान में रखकर

इन्होंने श्लेष की परिभाषा प्रस्तुत की है। प्रतीहारेंदुराज की सहायता से श्लेष विषयक इनके विचारों को स्पष्ट किया जाय तो यही कहा जा सकता है कि उद्भट यह मानते हैं कि अर्थ-भेद से शब्द-भेद होता है। जिन शब्दों से दो दो अर्थ प्रतीत होते हैं वहाँ दो अर्थों के अनुरूप दो शब्द भी मानने होंगे। यह दूसरी बात है कि उन दोनों शब्दों की आनुपूर्वी एक ही हो, फलतः उनका स्थान प्रयत्न सभी एक ही हों—अतः अभिन्न प्रयत्न से उच्चार्य होने के कारण वे एक ही जान पड़ें। एक के उच्चरित हो जाने से ही दूसरे के अनुच्चरित होने पर भी उसे वहाँ श्लिष्ट मान लिया जाता है। ऐसे को दण्डी के शब्दों में अभिन्न श्लिष्ट, तथा परवर्ती आलंकारिकों के शब्दों में 'अभङ्गश्लेष' कहा जाता है। कुछ द्व्यर्थक शब्द ऐसे होते हैं जहाँ उनके बोधक दो पृथक् पृथक् शब्दों में एकरूपता जान भर पड़ती है, वस्तुतः वे एकरूप होते नहीं। वे दोनों शब्द अपनी आनुपूर्वी भी भिन्न रखते हैं, भिन्न प्रयत्नोच्चार्य भी होते हैं। अतः यहाँ की स्थिति भिन्न होती है, जैसे:—'अपारिजात' शब्द है—यहाँ दो अर्थ हैं। पारिजातविहीन तथा अरिजातविहीन। पहले के लिये अ+पारिजात—दो भिन्न शब्द हैं और दूसरे के लिये 'अप+अरिजात' दो भिन्न शब्द हैं। पर 'अपारिजात' में दोनों एकरूप हैं। निष्कर्ष यह कि यहाँ 'भिन्न पद श्लेष' है—सभङ्ग श्लेष है। अभिन्न अथवा अभङ्ग में ऐसा नहीं होता—वहाँ का उदाहरण है—शिलीमुख, जिसके दो अर्थ हैं भ्रमर और वाण। पर इन दोनों अर्थों के बोधक 'शिलीमुख' और 'शिलीमुख' की आनुपूर्वी भिन्न-भिन्न नहीं है।

'श्लिष्ट' के संबंध में उभद्‌ट का दूसरा प्रश्न यह है कि जहाँ-जहाँ श्लेष अलंकार होगा—वहाँ-वहाँ कोई न कोई भिन्न अलंकार अवश्य होगा अतः श्लेष और अलंकारान्तर दोनों की एकत्र स्थिति में किसकी प्रधानता मानी जाय और किस की न मानी जाय? उद्भट का कहना यह है कि जब अलंकारान्तर की श्लेष-भिन्न स्थलों में स्वतंत्र स्थिति है और श्लेष की कही स्वतंत्र स्थिति है ही नहीं—इस स्थिति में यही मानना युक्तिसंगत है कि श्लेष निरवकाश होने से अलंकारान्तर का बाधक होगा और ऐसी स्थितियों में अपनी ही प्रधानता रखेगा, अलंकारान्तर अप्रमुख रहेंगे।

वामन पर कुछ भामह का प्रभाव लक्षित होता है—तभी तो रूपक की परिभाषा करने के अनंतर उन्होंने यह कहा है कि रूपक से श्लेष का भेद दिखाने के लिये सम्प्रति 'श्लेष' का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है। उन्होने भामह से ही मिलती जुलती बात कही है। तंत्र [अनेकोपकारकारि सकृदुच्चारणं तंत्रम्] से प्रयोग होने पर [उपमान और उपमेय के] धर्मों में वह तत्त्वारोप

श्लेष कहलाता है। उपमान और उपमेय के गुण, क्रिया एवं शब्द रूप धर्मों को श्लिष्ट शब्द से जहाँ कहा जाय--वहाँ यह अलंकार होता है। स्पष्ट है कि भामह की कितनी प्रतिध्वनि इन शब्दों में है।

रुद्रट ने शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष की अलग-अलग चर्चा की है। शब्दालंकारों के निर्वचन के प्रसंग में यमक के अनन्तर शब्द-श्लेष का स्वरूप उन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया है--"जहाँ ऐसे अनेक वाक्य एक ही प्रयत्न से एक ही साथ कह दिये जायँ जिनमें सुप्रयोजित, कष्टकल्पना-रहित नानाविध पदों का एकीभाव या संधि विद्यमान हो (४/१) अर्थात् जहाँ अनेक वाक्य अर्थतः भिन्नार्थक होने पर भी आनुपूर्वी या वर्णविन्यास-क्रम की दृष्टि से एक ही हों या एक ही से जान पड़ें, फलतः उन्हें अलग-अलग प्रयोग करने की आवश्यकता ही न हो और एक ही उच्चारण से (आनुपूर्वीगत अभेद-वश) अनुच्चरित भी साथ ही उच्चरित समझ लिये जायँ। वहाँ यह अलंकार होता है।"

इस प्रकार श्लेष की परिभाषा प्रस्तुत करते हुये संभवतः इन्होंने ही सबसे पूर्व इस शब्द-श्लेष के आठ भेदों--वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति एवं वचन--की चर्चा की है।

इस संदर्भ में इनकी दूसरी नवीनता यह है कि जहाँ परवर्ती आलंकारिकों ने स्वतंत्र एक 'अर्थ-श्लेष' की कल्पना की, वहाँ रुद्रट ने अनेक अर्थालंकारों के मूल में निहित रहनेवाले एक सामान्य आधारभूत तत्त्व के रूप में 'श्लेष' की पृथक् भी चर्चा की है। कहा है--जहाँ अनेकार्थक पदों से निर्मित एक वाक्य अनेकविध अर्थ प्रदान करे वहाँ-वहाँ इस सामान्य 'श्लेष' तत्त्व को स्थिर समझना चाहिए। शब्दश्लेष से अर्थश्लेष के उनके टीकाकार नमिसाधु ने यह अंतर बताया है कि 'शब्द-श्लेष में जहाँ अनेकार्थक अनेक वाक्यों का साथ ही विधान होता है--वहाँ इसमें अनेकार्थक एक ही वाक्य का विधान होता है। वहाँ शब्द-श्लेष होता है और यहाँ अर्थश्लेष होता है।" परंतु ये भेदक तत्त्व बहुत स्पष्ट और विचार-सह नहीं हैं।

कुंतक श्लेष के संबंध में क्या धारणा रखते हैं, यह उपलब्ध प्रति से स्पष्ट नहीं होता। स्पष्ट न होने का कारण यह है कि श्लेष के संबंध में उदाहरण तो उन्होंने अवश्य प्रस्तुत किये हैं, पर विवेचनांश द्वारा ज्ञेय उनका मत इसलिये स्पष्ट नहीं है कि वहाँ का पाठ ही त्रुटित है। उन्होंने जो विभिन्न उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनसे पता चलता है कि भामह द्वारा उनके विवेचन के अवसर पर जो भेद प्रस्तुत किये गये हैं उन्हीं को ध्यान में रखकर वे उदाहरण दिये गये है। परंतु जब श्लेष का इतना समृद्ध विवेचन पहले किया जा चुका था, तब भी

इतनी प्रशस्त मेधा का यह आलंकारिक उससे सर्वथा अछूता विवेचन क्यों प्रस्तुत कर रहा है? यह एक विचारणीय बात है।

सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज ने दो विभिन्न स्थलों पर श्लेष की चर्चा की है। पहले स्थल पर उद्भटादि आलंकारिकों की परम्परा-सम्मत परिभाषा प्रस्तुत की है और कहा है कि द्वयर्थक शब्दों का जहाँ 'तंत्र'-पूर्वक प्रयोग होता है। उन्होंने इसके छः भेद स्वीकार किये हैं—प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति, वचन तथा पद एवं भाषागत। लिंगगत श्लेष को भोजराज ने प्रकृतिगत श्लेष से भिन्न नहीं माना—इसलिये अन्य लोगों की भाँति इनमें आठ भेद नहीं हो सके। प्रत्यय श्लेष के दो रूप बताये हैं—सोद्भेद एवं निरुद्भेद। जहाँ प्रत्ययों की विरूपता का पता लग जाय वहाँ सोद्भेद और जहाँ न लगे वहाँ निरुद्भेद समझना चाहिए। इसी प्रकार विभक्ति श्लेष भी भिन्न जातीय और अभिन्न जातीय होता है। भिन्न जातीय अर्थात् सुप् एवं तिङ् जातीय और अभिन्न जातीय—अर्थात् या तो केवल सुप् जातीय या केवल तिङ् जातीय। वचनश्लेष के भी दो भेद, सोद्भेद एवं निरुद्भेद तथा वर्ण-श्लेष को पदश्लेष के ही अंतर्गत स्वीकार किया है। इस प्रकार सभंग शब्द श्लेष के मूलतः छः भेद भोजराज ने स्वीकार किये हैं।

दूसरे स्थल पर पुनः श्लेष का विचार करते हुये इन्होंने कहा है कि श्लेष वहाँ होता है जहाँ एक पद से अनेक विध अर्थ कहे जायँ। इनके पहले तो तीन भेद हैं—पदगत, क्रियागत एवं कारकगत। इन तीनों में से प्रत्येक के भिन्न पद तथा अभिन्न पद भेद होंगे—फलतः सब छः भेद हो सकते हैं। इन पर न केवल उद्भट एवं रुद्रट का ही प्रभाव है—बल्कि दण्डी का भिन्नक्रिया भेद भी दिखाई देता है—अतः दण्डी का प्रभाव माना जा सकता है और कोई विशेष बात नहीं है।

रुय्यक ने भी श्लेष के प्रसंग में कुछ अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। एक तो उन्होंने स्वरूप के संबंध में अपना विचार परम्परा से विरोधी न होते हुए भी अधिक व्यावर्तक और स्पष्ट दिया है। श्लेष की परिभाषा प्रस्तुत करते समय उनके समक्ष इससे मिलते-जुलते अलंकार एवं ध्वनि प्रभेद भी थे, अतः जो परिभाषा प्रस्तुत की—वह इन सबको व्यावृत्त करती हुई अपने लक्ष्य के स्वरूप का विश्लेषण करती है। इन्होंने बताया कि 'विशेष्य के भी साम्य में या विशेषण तथा विशेष्य दोनों के बोधक पदों के प्रयोग में ही श्लेष होता है''—समासोक्ति में भी दो अर्थ होते हैं—पर वहाँ विशेषणवाचक पदों में ही अनेकार्थकता होती है—विशेष्य में नहीं। समासोक्ति में विशेष्य श्लिष्ट नहीं होता—अतः साम्य का भी सवाल नहीं खड़ा होता। श्लेष में विशेष्य भी श्लिष्ट होता है। रुय्यक ने इस

प्रसंग में यह भी वताया है कि श्लेष में केवल प्राकरणिक-प्राकरणिक का ही नहीं अप्राकरणिक-अप्राकरणिक का भी श्लेष होता है। और यही नहीं प्राकरणिक-अप्राकरणिक का भी श्लेष होता है। पहले दोनों प्रकारों में तो विशेषण एवं विशेष्य—दोनों श्लिष्ट रहते हैं और दोनों में इसीलिये साम्य भी रहता है। पर तीसरे में केवल विशेषण-साम्य ही रहता है—विशेष्य एक ही रहता है और वह प्राकरणिक तथा एकार्थक होता है। यदि यहाँ विशेष्य में भी दो अर्थ होते और एक प्राकरणिक तथा दूसरा अप्राकरणिक होता—तो शब्दशक्तिमूलध्वनि में और श्लेष में अंतर ही न होता। इसीलिये तीसरे प्रभेद में केवल विशेषणों के ही श्लिष्ट होने की बात कही गई है। कहा जा सकता है कि फिर समासोक्ति में और इसमें क्या भेद होगा—क्योंकि उभयत्र विशेषण श्लिष्ट हैं—तो इस विषय में यह समझना चाहिए कि समासोक्ति में दोनों विशेष्यों (प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक) का शब्दतः प्रयोग नहीं होता—श्लेष में होता है, पृथक्-पृथक् होता है—इसीलिये शब्दशक्तिमूलध्वनि और श्लेष में भी भेद हो जाता है। ध्वनि में प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक विशेष्य का पृथक्-पृथक् नहीं वल्कि श्लिष्ट प्रयोग रहता है—और समासोक्ति के इस भेद में अलग-अलग। इसीलिये पृथक्-पृथक् शब्दों से बोधित होने के कारण दोनों 'वाच्य' हो जाते हैं। यदि एक ही श्लिष्ट पद से दोनों अर्थों की प्रतीति होती तो प्रकरणवशात् पहला और प्राकरणिक अर्थ ही वाच्य होता दूसरा व्यंजनालभ्य ही हो सकता और इस स्थिति 'उभय वाच्य—सापेक्ष' श्लेष कभी संभव ही न होता, अतः इन तीनों भेदों में से पहले दो को ध्यान में रखकर 'विशेष्य का भी साम्य हो' कहा गया है और तीसरे भेद को ध्यान में रखकर ''दोनों का प्रयोग हो' (प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक विशेष्य का) कहा गया है।

इसी प्रकार विभाजन के संबंध में रुय्यक का कहना है कि संभग श्लेष शब्द-श्लेष है क्योंकि वहाँ भिन्न प्रयत्नोच्चार्य भिन्न-भिन्न शब्दों का श्लेष है। अभंग श्लेष अभिन्न प्रयत्नोच्चार्य होने से एक शब्दात्मक ही होता है, उसमें दो अर्थों का मुख्यतः श्लेष है। अतः पहला शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार है। जो लोग आधाराधेय भाव का निर्णायक अन्वय-व्यतिरेक को मानते हैं, वे ठीक नहीं है। वस्तुतः आश्रयाश्रयिभाव पर ही यह भेद निर्भर करता है। एक तीसरा प्रकार भी संभव है, जहाँ दोनों का मिश्रण हो। अर्थश्लेष का वह प्रकार जैसा काव्य-प्रकाशकार ने कहा है—रुय्यक को मान्य नहीं—उस पर वस्तुतः वे मौन हैं।

हाँ, उद्भट की उस स्थापना के, जिसमें उन्होंने श्लेष और अलंकारान्तर के एकत्र सद्भाव की स्थिति में श्लेष की प्रतिष्ठा और अलंकारान्तर की प्रतिभा (झलक—

अपाततः स्थिति) मानी है––विरोध में रुय्यक का विभिन्न तर्कों के आधार पर यही मानना है कि इन स्थितियों में श्लेष की ही प्रतिभा तथा अलंकारान्तर की प्रतिष्ठा है।

काव्यप्रकाशकार ने भी शब्दश्लेष एवं अर्थश्लेष पृथक्-पृथक् स्वीकार किये हैं। शब्दश्लेष के लक्षण और भेद उद्भट एवं रुद्रट के ही अनुरूप हैं। शब्दश्लेष की परिभाषा उद्भट की भाँति उन्होंने यह स्वीकार की है कि अर्थ-भेद से भिन्न-भिन्न शब्द जहाँ आनुपूर्वी की एकतावश सहोच्चरित होते हों––वहाँ शब्दों के श्लिष्ट होने से श्लेष शब्दालंकार होता है। इस श्लेष के स्वरूप के संबंध में और सविस्तर विचार करते हुये इनके टीकाकारों ने उन्हें और भी स्पष्ट किया है। जहाँ तक भेद की बात है, यह माना है कि वह पहले ८ प्रकार का वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति, वचनगत बताया गया है। इन आठों भेदों को लगता है, प्रकाशकार भिन्न पद या सभङ्ग श्लेष का उदाहरण स्वीकार करते हैं। इसके आगे उन्होंने यह बताया है कि प्रकृति एवं प्रत्यय की सर्वत्र एक रूपता के कारण एक नवम भेद भी हो सकता है––अभङ्ग श्लेष।

इस प्रकरण में प्रकाशकार ने तीन बातें विचारणीय रूप में रखी है–– (१) पहला यह कि अलंकारान्तर एवं श्लेष के एकत्र सद्भाव में किसकी प्रतिष्ठा और किसको प्रतिभा मानो जाय? (२) क्या सभङ्ग श्लेष शब्दश्लेष है और अभङ्गश्लेष अर्थश्लेष? (३) क्या सभङ्ग और अभंग दोनों को अर्थश्लेष कहना चाहिए?

पहला मत उद्भट का मत है––जिसका आशय पहले ही स्पष्ट किया गया है। उसके विरोध में मम्मट का यह कहना है कि उद्भट की यह समझ ही गलत है कि श्लेष का कोई सावकाश स्थल होता ही नहीं। ऐसे उदाहरण प्रचुरता के साथ उपलब्ध होते हैं––जहाँ श्लेष के अतिरिक्त दूसरा कोई अलंकार नहीं होता। अतः निरवकाश होने के कारण उसे जो अलंकारान्तर का बाधक माना जाता है, वह ठीक नहीं। उचित तो यह है कि अन्य अलंकारों का अंग बनकर यदि श्लेष आता है––तो श्लेष को ही बाध्य और उसी की प्रतिभा माननी चाहिए तथा अंगीरूप से स्थित अलंकारान्तर की प्रतिष्ठा स्वीकार की जानी चाहिए। विरोध, व्यतिरेक, शब्दसाम्य पर आधारित उपमा आदि श्लेष-मूलक सभी अलंकारों में श्लेष अंग होता है और अन्य अलंकार अंगी।

दूसरे प्रश्न के उपस्थापकों का आशय यह है कि सभङ्ग श्लेष में वस्तुतः दो भिन्न आकार के शब्द जतु (लाक्षा) और काष्ठ की भाँति इस प्रकार मिले रहते हैं कि लगता है जैसे एक ही शब्द हो। अतः यहाँ शब्दों का श्लेष होने से शब्दा-

लंकार है। अभंग श्लेष में शब्द तो एक ही होता है, पर उसमें अर्थ दो रहते हैं, अतः दो अर्थों का श्लेष होने से अर्थश्लेष मानना चाहिए।

इसके विपक्ष में मम्मट का यह कहना है कि कौन-सा अलंकार शब्दगत है इसका निर्णय रुय्यक की भाँति इस आधार पर देखना चाहिए कि कौन शब्दाश्रित है और कौन अर्थाश्रित? नहीं, बल्कि इस आधार पर देखना चाहिए कि किस प्रकार की विच्छित्ति-विशेष का शब्द एवं अर्थ में से किसके साथ अन्वय-व्यतिरेक है? आज तक आलंकारिकों ने ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, दोष आदि विभिन्न काव्यीय तत्त्वों का शब्द-गत या अर्थगत होना अन्वय-व्यतिरेक पर ही निर्भर माना है--अतः उसी दृष्टि से श्लेष के भी शब्दगत और अर्थगत होने का विचार करना चाहिए। और यदि आश्रयाश्रयिभाव को छोड़कर अन्वय-व्यतिरेक का सहारा लिया जाय--तब यही मानना पड़ेगा कि चाहे सभंगश्लेष हो या अभंगश्लेष--दोनों शब्दश्लेष ही हैं। कारण, दोनों स्थलों में शब्द का पर्याय-परिवर्तन संभव नहीं है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने रुय्यक का ही पक्ष लेते हुये तर्क दिया है कि अन्वय-व्यतिरेक का सहारा कार्यकारण-भाव का निर्णय करने के लिये स्वीकार किया जाता है--कौन अलंकार अर्थगत और कौन शब्दगत--इसका निर्णय करने के लिये नहीं। आधाराधेय भाव का निर्णय करने के लिये अन्वय-व्यतिरेक की सरणि को अपनाना एक उपहासास्पद चीज है। यदि एक ही वस्तु के अनेक आधार हो सकते हों--तो वहाँ अन्वय-व्यतिरेक का सहारा लिया भी नहीं जा सकता। इसके लिये तो लोक-व्यवहार ही प्रमाण है। लोक में जिसका जो आधार देखा जाता हो--उसे ही मानना चाहिए।

हाँ, यहाँ यह अवश्य सोचा जा सकता है कि विशेष प्रकार की आलंकारिक विच्छित्ति का उपजीव्य या निमित्त क्या है? जो निमित्त हो--उसी की दृष्टि से उस अलंकार को कहना चाहिए। तो निश्चय ही सभंग और अभंग श्लेष की आलंकारिक विच्छित्ति का निमित्त या उपजीव्य अन्वय-व्यतिरेक-वश शब्द को ही मानना पड़ेगा। अतः इन दोनों को ही शब्दालंकार कहना कहीं अधिक उपयुक्त है।

तीसरा प्रश्न यह है कि यदि रुय्यक आदि कुछ लोग सभंग और अभंग दोनों को इसलिये अर्थालंकार मानते हैं कि उनका चमत्कार-बोध अर्थ-बोध सापेक्ष है अर्थात् जब तक अर्थबोध न होगा, तब तक चमत्कार बोध होगा ही नहीं और चमत्कार-बोध नहीं होगा तो पता किस प्रकार लग सकेगा, यहाँ कौन अलंकार है? निष्कर्ष यह कि अर्थनिमित्तक ही यह अलंकार ज्ञात होकर व्यवहार-योग्य बन पाता है-- अतः इसे अर्थालंकार ही कहना चाहिए। परंतु इस तर्क से यदि सभंग और अभंग

जैसे अलंकारों को अर्थालंकार कहा जाय--तब तो किसी भी अलंकार को अर्थालंकार कहा जायगा--अनुप्रास भी अर्थालंकार हो जायगा। कारण, वह अनुप्रास है--इसका बोध रसानुरूप वर्ण-विन्यास-बोध-सापेक्ष है—अतः वह रसालंकार या अर्थालंकार तो नहीं हो सकता।

इस प्रकार प्रकाशकार ने सभंग और अभंग दोनों को शब्दालंकार ही स्वीकार किया है और अर्थालंकार वहाँ माना है जहाँ पर्याय—परिवृत्ति के बावजूद भी दो अर्थ निकल सकें और एक चमत्कृति अनुभूत हो।

हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में कहा है--''अर्थभेद-वश भिन्न-भिन्न बोधक शब्दों की आनुपूर्वी-गत एकता के कारण जहाँ भङ्ग या अभङ्ग पूर्वक युगपत् उच्चारण हो—वहाँ श्लेष होता है।'' दण्डी और उद्भट के द्वारा श्लेष के जो भिन्न पद तथा अभिन्न पद रूप के श्लेष कहे गये हैं--उसी को हेमचन्द्र ने भी भङ्गपूर्वक या सभङ्ग और अभङ्ग पूर्वक या अभङ्ग कहा है। रुद्रट का वह विभाजन भी हेमचन्द्र ने स्वीकार किया है—जहाँ कि इस सभङ्ग और अभङ्ग श्लेष को वर्ण-गत, पद-गत, लिंग-गत, भाषा-गत, प्रकृति-गत, प्रत्यय-गत, वचन-गत एवं विभक्ति-गत स्वीकार किया है। श्लेष शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए इन्होंने वह भी स्वीकार किया है कि--''श्लिष्यन्ति शब्दा अत्रेति श्लेषः''--जहाँ शब्दों का श्लेष हो—वहीं श्लेष है।

मम्मट की भाँति हेमचन्द्र भी शब्दशक्तिमूलध्वनि से श्लेष का अन्तर बताये हुए यह स्वीकार करते हैं कि श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य और प्रकरणोपयोगी ही होते हैं जबकि शब्दशक्तिमूलध्वनि में एक वाच्य (प्राकरणिक) और एक व्यंग्य (अप्राकरणिक) हुआ करता है। मम्मट की भाँति हेमचन्द्र भी सभङ्ग और अभङ्ग दोनों को शब्द-श्लेष ही मानते हैं, साथ ही साथ यह भी बताते हैं कि यदि श्लेष और अलंकारान्तर का सहावस्थान हो—तो श्लेष ही की प्रतिभा और अलंकारान्तर की प्रतिष्ठा माननी न्यायसंगत है।

अर्थालंकारों के प्रसंग में 'अर्थश्लेष' की भी प्रकाशकार की ही भाँति चर्चा की है और बताया है कि जहाँ पदों के एकार्थक होने पर भी वाक्य अनेकार्थक हो वहाँ अर्थश्लेष होता है।

चन्द्रालोककार जयदेव ने वामन आदि की भाँति 'श्लेष' नामक गुण की भी परिभाषा दी है और श्लेष अलंकार की भी। इन्होंने भी शब्द श्लेष और अर्थश्लेष—दोनों स्वीकार किये हैं—परन्तु शब्दश्लेष के दो परम्पराभिन्न भेद ही हैं। वे हैं--खण्डश्लेष और भंगश्लेष। खण्डश्लेष वहाँ होता है जहाँ समस्त-पद के दो अर्थ नहीं--बल्कि पद के एक 'खण्ड' से ही दो अर्थ निकलें--जैसे, वाहिनीपति।

यहाँ 'दाहिनी' खण्ड के ही दो अर्थ हैं। भंगश्लेष वहाँ होता है--जहाँ समस्त पद के दो अर्थ हों, जैसे--अजरामरता। इसके समस्त पद से दो अर्थ निकलते हैं--अजरता एवं अमरता तथा अज एवं राम में अनुरक्त। अभंगश्लेष का उल्लेख ही नहीं है। अर्थश्लेष में शब्दाश्रित नहीं--अर्थाश्रित अनेकार्थता मानते हैं।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ महापात्र ने कहा है कि जहाँ श्लिष्ट पदों से अनेकार्थ का अभिधान हो--वहाँ श्लेष अलंकार होता है। फिर वही पुराने क्रम के अनुसार वर्ण-पद आदि-गत आठ भेद बताये हैं। सभङ्ग-अभङ्ग तथा उभयरूप की दृष्टि से पुनः तीन भेद कहे हैं। सभङ्ग श्लेष एवं अभङ्ग श्लेष को शब्दालंकार, अभङ्ग-श्लेष की अर्थालंकारता का खण्डन, तथा अर्थश्लेष की स्थापना पर भी परम्परानुसार विचार किया है। साथ ही प्रकाशकार की भाँति यह भी माना है कि श्लेष और अलंकारान्तर के एकत्र सद्भाव होने पर प्रतिष्ठा अलंकारान्तर की ही होती है।

कुवलयानंदकार अप्पय दीक्षित ने रुय्यक की भाँति यह स्वीकार किया है कि नानार्थक शब्दों की योजना ही श्लेष है और वह तीन प्रकार का होता है--वर्ण्य-विषयक, अवर्ण्यविषयक एवं उभयविषयक। परन्तु अप्पय दीक्षित ने इन प्राचीनों से अपना एक विशिष्ट मतभेद यह व्यक्त किया है कि उन्हें प्राचीन लोगों का शब्द-शक्तिमूलध्वनि जैसा भेद मानना स्वीकरणीय नहीं है। और यदि माना भी जाय अथवा प्राचीनों की मान्यता का अभिप्राय समझा भी जाय तो इतना ही समझना चाहिए कि जिस प्राकरणिक और अप्राकरणिक--उभयविध अर्थों से संकलित शब्द-शक्ति-मूलध्वनि के स्थल में इन दोनों अर्थों के बीच उपमा व्यंग्य होती है--उसी 'उपमा' को ध्यान में रखकर ऐसे स्थलों में ध्वनि का व्यवहार किया जाना चाहिए। ऐसा नहीं कि अप्राकरणिक अर्थ को भी ध्वनि की परिधि में लिया जाय। सचमुच ऐसे स्थलों में वस्तु या अप्राकरणिक अर्थ को भी ध्वनि का विषय माना जाय या नहीं--यह एक विवादग्रस्त विषय रहा है। ध्वन्यालोककार के शब्द भी इस विषय में बहुत स्पष्ट नहीं हैं। परन्तु रुय्यक ने उसी ध्वन्यालोककार की कारिका को उद्धृत करके यह प्रमाणित किया है यहाँ वस्तु को भी व्यंग्य या ध्वनित स्वीकार करना चाहिए। अप्पय दीक्षित इससे सहमत नहीं है। उनका कहना है कि इन स्थलों में जब दोनों ही प्राकरणिक और अप्राकरणिक--अर्थों में अभिधा का ही प्रसार है--तो एक को वाच्य और दूसरे को व्यंग्य क्यों स्वीकार किया जाय ? इतना अवश्य है कि पहले प्राकरणिक अर्थ अवश्य प्रतीत होगा और बाद में अप्राकरणिक। पर मात्र इतने से एक को वाच्य और दूसरे को व्यंग्य कहना कहाँ तक युक्ति-संगत है। अगर श्लेष से थोड़ा अन्तर दिखाना है--तो इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ऐसे स्थलों में 'गूढ़-श्लेष' मान लिया जाय।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्पय दीक्षित के इस मंतव्य का खण्डन किया है और कहा है कि यदि प्राचीनों से दीक्षित जी का आशय मम्मट से है तो निश्चय ही मम्मट की शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की परिभाषा का आशय दीक्षित जी नहीं समझ सके हैं। मम्मट ने निश्चय ही ऐसे स्थलों के अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्य माना है। मम्मट ने कहा है कि अनेकार्थक शब्दों की वाचकता का संयोगादि के कारण नियंत्रण हो जाने पर जो अवाच्य (अप्राकरणिक) अर्थ की प्रतीति होती है--तदर्थ व्यंजना व्यापार ही मानना होगा। अप्राकरणिक अर्थ की ओर उन्मुख हुई अभिधा के ही तो नियंत्रण की बात कही गई है। दोनों अर्थों के बीच की प्रयुज्यमान उपमा के विषय में तो अभिधा उन्मुख ही नहीं होगी--फिर नियंत्रण का प्रश्न ही कहाँ उठता है? नियंत्रण का प्रश्न तो उसी अप्राकरणिक अर्थ के सम्बन्ध में हो सकता है--फिर जब वहाँ अभिधा का नियंत्रण ही है--तो उसकी प्रतीति व्यंजना ही से तो संभव है। अतः दीक्षित जी अपनी इच्छा-वश जो भी मानें--पर उसे मम्मट जैसे प्राचीन आलंकारिकों का मत कहना सर्वथा असंगत है।

दीक्षित जी ने श्लेष के पुनः सभंग और अभंग--दो भेद वर्णित किये हैं और कहा है कि यद्यपि रुय्यक पहले को शब्दालंकार और दूसरे को अर्थालंकार मानते हैं, मम्मट दोनों को अर्थालंकार मानते हैं--पर जहाँ तक उनका मत है, ये दोनों अर्थालंकार हैं। मम्मट ने यद्यपि इस पक्ष के विपक्ष में तर्क दिया है--फिर भी इस पक्ष को दीक्षित जी ने स्वीकार किया है और कहा है कि 'चित्र-मीमांसा' में इसका प्रतिपादन किया जायगा। चित्र-मीमांसा में इस अलंकार की चर्चा ही नहीं आ पाई है। इस प्रकार इस स्थापना के विषय में उनके तर्क ज्ञात नहीं हुये।

पण्डितराज ने श्लेष का स्वरूप यों बताया है--एकानुपूर्वीक शब्द से जहाँ अनेक अर्थों का बोध हो--वहाँ श्लेष होता है। इसके पहले तो तीन भेद संभव है--सभंग, अभंग एवं शुद्ध (अर्थश्लेष)। इन तीनों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद संभव हैं १--प्रकृतार्थ विषयक २--अप्रकृतार्थ विषयक ३--उभय विषयक। पहले दो भेदों में तो विशेष्य चाहे श्लिष्ट हो या अश्लिष्ट--कोई बंधन नहीं, परंतु तीसरे के लिये नियम है कि वहाँ विशेष्यांश में 'श्लेष' नहीं ही हो--अन्यथा शब्दशक्तिमूलध्वनि से भेद न हो सकेगा। यदि केवल प्राकरणिक विशेष्य का प्रयोग रहा--तो वहाँ समासोक्ति हो जायगी--अतः यहाँ तो प्राकरणिक और अप्राकरणिक--दोनों का पृथक्-पृथक् प्रयोग होना ही चाहिए। पण्डितराज ने इस स्वरूप-निर्णय और वर्गीकरण के अनंतर अनेक प्रकार के विचार प्रस्तुत करते हुये

यह बताया है कि जहाँ श्लेष एवं अलंकारान्तर का एकत्र सद्भाव हो--वहाँ कुछ लोग श्लेष की, कुछ लोग श्लेष और अलंकारान्तर-सांकर्य की तथा कुछ लोग अलंकारान्तर की ही स्थिति स्वीकार करते हैं। पण्डितराज अंतिम मत में ही आस्था रखते हैं। दूसरा विचार कि शब्दशक्तिमूलध्वनि का विषय अप्रकृतार्थ होता ही नहीं--दीक्षित जी द्वारा उठाये हुए इस प्रश्न का भरपूर खंडन किया है और उसकी व्यंग्यता का समर्थन किया है। तीसरी बात यह उठाई गई है कि ऐसे स्थलों में जहाँ शब्दशक्तिमूलध्वनि का व्यवहार किया जाता है--वहाँ 'उपमा' के बदले 'अभेद' की व्यंजना क्यों स्वीकार न की जाय? क्यों न 'समासोक्ति' की भाँति दोनों अर्थों में अभेद ही माना जाय और साथ ही क्यों न इसे समासोक्ति की भाँति 'अपरांग व्यंग्य' ही माना जाय? क्यों इसे 'ध्वनि' कहा जाय? संक्षेप में श्लेष के संबंध में ही पण्डितराज के ये ही विचार हैं।

इस प्रकार उद्भट द्वारा स्थापित सभंग और अभंग की प्रक्रिया का तो समर्थन आद्योपांत रहा--पर श्लेष की अलंकारान्तर की अपेक्षा 'प्रतिष्ठा' वाली बात मान्य न हो सकी।

अपह्नुति

भामह ने अपह्नुति अलंकार के लिये दो बातें आवश्यक मानी हैं--पहली यह कि इसमें औपम्य या सादृश्य अन्तर्निहित हो और दूसरी यह कि वास्तविक अर्थ का अपह्नव (छिपाव) हो। इस प्रसंग में दूसरी बात जो भामह ने कही है वह है इस संज्ञा का रहस्योद्घाटन। छिपाव या अपह्नव के कारण ही इसे अपह्नुत कहा है। जैसे, यह मद-मुखर भृंगावली का शब्द नहीं है; प्रत्युत चढ़ाई जाती हुई कंदर्प की धनुष की ध्वनि है। यहाँ वास्तविकता का अपह्नव है और अपह्नुत तथा आरोपित में साम्य भी छिपा हुआ है।

दण्डी ने भामह की दो आवश्यक शर्तों में से दूसरी तो स्वीकार की है—पर पहली का स्पष्ट उद्घोष नहीं किया है। इसके पहले इनकी 'अपह्नुति' में दो अंश दूसरे हैं--पहला धर्म का अपह्नव या किसी का अपह्नव और दूसरा धर्मान्तर का आरोप। यदि दूसरे अंश मात्र का कथन किया गया होता तो रूपक और अतिशयोक्ति में भी यह लक्षण जा सकता था। यदि केवल पूर्वार्द्ध कहा गया होता--तो 'आक्षेप' से इसका अंतर नहीं होता। दण्डी ने अपह्नुति का इस प्रकार सामान्य लक्षण प्रस्तुत करके उसके दो भेदों की चर्चा की है—विषयापह्नुति एवं स्वरूपापह्नुति। विषयापह्नुति का अर्थ यह समझा गया है जहाँ आरोप एवं अपह्नव के 'विषय' नियत हों। जैसे, यह कहना कि दूसरों के लिये ठंडी चंद्रिका मेरे लिये

आग हो गई है। यहाँ आरोप का विषय है--'औष्ण्य' और अपह्नव का 'शैत्य' और दोनों कह दिये गये हैं। स्वरूपापह्नुति में स्पष्ट ही स्वरूप का अपलाप किया गया है। अर्थात् जहाँ वर्ण्य-वस्तु के स्वरूप का निषेध किया जाय और धर्मान्तर का आरोप किया जाय--वहाँ यह अलंकार होता है। इन्होंने 'उपमापह्नुति' जैसे भेदों की भी कल्पना की है और उपमा अलंकार के विवेचन के प्रसंग में उसका निरूपण भी किया है।

उद्भट ने इस अलंकार का स्वरूप भामह का बताया हुआ ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है और उसमें उन्हीं पूर्वोक्त (भामह-निर्दिष्ट) दो आवश्यक शर्तों का उल्लेख किया गया है।

वामन ने कहा है कि "जहाँ आरोप के लिये तुल्य वाक्यार्थ के विधान से अन्य वाक्यार्थ का अपह्नव किया जाय"—वहाँ यह अलंकार होता है। यद्यपि यहाँ शब्दान्तर का विधान है—फिर भी तात्पर्य उपर्युक्त लोगों से बहुत भिन्न नहीं दिखाई देता।

रुद्रट ने भी इसका सादृश्य-मूलक होना आवश्यक समझा है। कहा ही है कि "जहाँ दो वस्तुओं में अत्यधिक साम्य होने के कारण वास्तव और विद्यमान उपमेय को असत् कह दिया जाय और उपमान को ही सत् कह दिया जाय--वहाँ यह अलंकार होता है।" उत्प्रेक्षा में उपमेय का निषेध संभाव्य और यहाँ निश्चय होता है। दूसरे यह भी है कि उत्प्रेक्षा में संभाव्य निषेध भी अन्यरूप से कहा गया रहता है। कुन्तक ने इस विषय में कोई नई बात नहीं कही है। माना है कि 'अन्यरूप का आरोप करने के लिये जहाँ वर्ण्य वस्तु का अपह्नव किया जाय--वहाँ यह अलंकार होता है। भोजराज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में परम्परागत स्वरूप अंगीकार करते हुये कहा है कि इसके दो भेद हैं--औपम्यवती तथा अनौपम्या। प्रथम के दो भेद हैं—वाच्य औपम्यवती एवं प्रतीयमान औपम्यवती। अनौपम्या के भी पहले दो भेद किये गये हैं--अभिधीयमान अपह्नोतव्य वस्तु तथा प्रतीयमान अपह्नोतव्य वस्तु। पहले और दूसरे भेदों में से प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—पूर्वा और अपूर्वा। वाच्य औपम्यवती में समान धर्म वाच्य रहता है और प्रतीयमान औपम्यवती में प्रतीयमान। इन्होंने अपह्नुति का जो सामान्य-लक्षण किया है उसकी परिधि में सादृश्यमूलक और असादृश्य मूलक दोनों प्रकार के अपह्नव की बात कही गई है। अर्थात् निह्नुत एवं आरोप्य में साम्य हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। जहाँ होगा—उसका विवेचन पहले प्रस्तुत किया गया। जहाँ औपम्य नहीं रहता--वहाँ अपह्नोतव्य वस्तु कभी अभिधीयमान रहेगी और प्रतीयमान। अपह्नोतव्य वस्तु का कारण

यदि पहले कहा गया––तो 'पूर्वा' और यदि बाद में कहा गया तो अपूर्वा। आगे के आलंकारिकों ने इसे बहुत कुछ 'व्याजोक्ति' के पास रखा है। शायद इसीलिये 'अपह्नुति' को सादृश्यमूलक अलंकार माननेवालों ने 'अनौपम्या' भेद को स्वीकार नहीं किया।

मम्मट ने इसे सादृश्यमूलक मानने के ही कारण कहा कि जहाँ उपमेय की असत्यता प्रतिपादन पूर्वक उपमान की सत्यता बताई जाय। इनके टीकाकारों ने अपह्नुति के दो भेद बताये हैं––शाब्दी एवं आर्थी। जहाँ शब्दतः उपमेय का निषेध किया जाय-वहाँ शाब्दी और जहाँ अर्थतः उसकी अवगति हो वहाँ आर्थी कही जाती है, आर्थी की निषेध-भंगिमा अनेक प्रकार से प्रदर्शित की जा सकती है—अतः इसके विभिन्न भेद हो सकते हैं—पर प्रकाशकार ने ऐसे भेदों का कोई उल्लेख नहीं किया है।

रुय्यक इसे सादृश्यमूलक अलंकार के ही अंतर्गत रखते हुये आरोपार्थं विषय का अपह्नव स्वीकार करते हैं। भेद के संबंध में उन्होंने तीन रूप बताये हैं––आरोप-पूर्वक अपह्नव एवं अपह्नव-पूर्वक आरोप तथा निषेध का व्याज, छल आदि शब्दों से प्रतिपादन करना। वस्तुतः इन्हें पहले दो भेद करना चाहिए था––शाब्द एवं आर्थ फिर शाब्द के दो भेद––आरोप-पूर्वक अपह्नव और अपह्नव-पूर्वक आरोप। यहाँ और कोई नई बात नहीं कही है।

हेमचंद्र ने जो इसमें नई बात जोड़ी है, वह यह कि अपह्नव प्राकरणिक से भी प्राकरणिक का हो सकता है, अप्राकरणिक से तो होता ही है। इस प्रकार पहला भेद सर्वथा नूतन है। प्राकरणिक से अप्राकरणिक के तिरोधान का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है––वह भोजराज की भाँति सादृश्य मूलक नहीं है। किसी प्राकरणिक कार्य के दो हेतु हो सकते हैं और दोनों प्राकरणिक हो सकते हैं पर सामाजिकता-वश उन दोनों में से उचित जान पड़नेवाले असत्यकारण का प्रस्तुत कार्य से संबंध बताया जाय––और वास्तव कारण का अनुचित होने के कारण निषेध कर दिया जाय। परंतु इस भेद को परवर्ती आचार्यों ने एक तो 'व्याजोक्ति' के अंतर्गत ले लिया है दूसरे इनमें प्राकरणिक से अप्राकरणिक के निषेध की जो बात कही जा रही है––वहाँ विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि उन दोनों में अपेक्षाकृत एक प्राकरणिकतर है। और इस स्थिति में अंततः अप्राकरणिक से ही प्राकरणिक के निषेध की बात हुई।

चंद्रालोककार जयदेव ने कहा है कि "अतथ्य का आरोप करने के लिये जहाँ तथ्य का अपह्नव किया जाय, वहाँ अपह्नुति होती है। इन्होंने विभाजन के क्षेत्र में नई संज्ञाएँ आविष्कृत कीं—पर्यस्तापह्नुति, भ्रांतापह्नुति, छेकापह्नुति, कैतवा-

पह्नुति। इन भेदों में पर्यस्तापह्नुति का तो पण्डितराज ने खण्डन किया है। उनका तर्क यह है कि अपह्नुति की सामान्य परिभाषा यह है कि जहां उपमेय का निषेध हो और उस पर उपमान का आरोप। इस भेद में उपमान का ही निषेध इसलिये किया जाता है ताकि उपमेय से उसकी एकरूपता बताई जाय—अर्थात् यहाँ का क्रम उलटा ही है। कदाचित् इसीलिये इसे 'पर्यस्तापह्नुति' कहा भी है। पर्यस्तापह्नुति शब्द ही यह बताता है कि अपह्नुति का स्वरूप तो यही है कि उपमेय-निषेध पूर्वक उपमान का आरोप किया जाय—अतः इस सामान्य रूप का अतिक्रमण करने से अपह्नुति का यह भेद तो नहीं हो सकता। हाँ, एक स्वतंत्र अलंकार कहा जा सकता है। यह कहना कि जयदेव ने अपह्नुति की सामान्य परिभाषा दूसरी दी है, उन्होंने कहा है कि अतथ्य के आरोप के लिये तथ्य का अपलाप। तथ्य उपमान का भी अपलाप हो सकता है और उपमेय का भी। अतः जयदेव के सामान्य लक्षण की ही परिधि में 'पर्यस्पापह्नुति' का समावेश हुआ। लेकिन तब भी यह सवाल खड़ा होता है कि आखिर इस अपह्नुति में 'पर्यस्तता' क्या है? उलटा होना ही तो? यदि यह उलटा है--तो सीधी अपह्नुति उपमेय के निषेध की ही हुई। इस प्रकार पंडितराज का आक्षेप कुछ सशक्त अवश्य है। कैतवापह्नुति पूर्वोक्त आचार्यों की 'आर्थी अपह्नुति' ही है। भ्रांतापह्नुति भी कुछ विचित्र ही है उसमें अतथ्य का खण्डन और तथ्य का निवेदन होता है। यह भेद भी सामान्य लक्षण से अनाक्रांत हैं, छेकापह्नुति तो किसी प्रकार समर्थनीय है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ महापात्र ने पूर्वाचार्यों द्वारा विवेचित अपह्नुति के विभिन्न भेदों को ध्यान में रखकर अपना एतद्विषक विवेचन आरंभ किया है। इन्होंने यदि एक तरफ रुय्यक की भाँति शाब्द एवं आर्थ अपह्नुति में के प्रथम के आरोप-पूर्वक अपह्नव तथा अपह्नव-पूर्वक आरोप में दो भेद किये हैं तो दूसरी ओर आर्थ अपह्नुति को भी 'निषेध' की विविध भंगियों में स्वीकार किया है। इसी के साथ उनके सामने जयदेव या अन्य के भी उदाहरण हैं, जहाँ निह्नुत एवं आरोप्य में सादृश्य की आवश्यकता नहीं है—जैसा कि भोजराज आदि ने कहा है। अपह्नुति के इस सादृश्य-निरपेक्ष रूप में केवल इतना ही आवश्यक है कि यहाँ कोई गोपनीय अर्थ यदि श्लेष-गर्भित उक्ति से निवेदित भी हो जाय तो अन्यथा व्याख्या द्वारा तथ्य छिपाया जाय। कहीं उक्त गोपनीय अर्थ का श्लेष के कारण नहीं, बल्कि सादृश्य के कारण भी अन्यथा व्याख्या की जा सकती है और तथ्य को छिपाया जा सकता है। व्याजोक्ति से इससे इतना ही इस दूसरे रूप में अंतर आता है कि यहाँ उक्ति-प्रत्युक्ति के रूप में निषेध

कहा जाता है, और व्याजोक्ति में प्रश्न–निरपेक्ष निषेध रहता है। वक्तव्य का निषेध वक्रोक्ति में भी रहता है, परंतु वक्रोक्ति में दूसरे द्वारा स्वकीय उक्ति की अन्यथा व्याख्या रहती है, जबकि यहाँ स्वयं वक्ता द्वारा ही निषेध का कथन होता है। इस अलंकार का ठीक उलटा 'निश्चय' नामक एक सर्वथा भिन्न अलंकार की कल्पना विश्वनाथ ने की है। उसमें अप्रकृत का निषेध करके प्रकृत की स्थापना की जाती है।

अप्पय दीक्षित ने चंद्रालोककार की अपेक्षा भी कई एक-आध भिन्न भेदों की भी कल्पना की है--शुद्धापह्नुति, हेत्वपह्नुति, पर्यस्तापह्नुति, भ्रांतापह्नुति, छेकापह्नुति, कैतवापह्नुति। हेत्वपह्नुति ही एक नई चीज है, और तो वे ही हैं। इसके संबंध में और कोई विशेष बात नहीं है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे सादृश्य-मूलक ही स्वीकार किया है और उसके लिये (१) उपमेय-निषेध तथा (२) उपमानारोप, दो आवश्यक शर्तें स्वीकार की हैं। इन्होंने पूर्वाचार्यों द्वारा विवेचित भेदों को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया है। कहा है कि यह निरवयवा एवं सावयवा तो होती है, कहीं अपह्नवपूर्वक और कहीं आरोप-पूर्वक भी होती है। उपमेय-निषेध एवं उपमानारोप में एक शाब्द और दूसरा आर्थ होता है, कहीं दोनों शाब्द और कहीं दोनों आर्थ होते हैं, कहीं दोनों विधेय और कहीं दोनों उद्देश्य होते हैं, इस प्रकार यद्यपि भेद अनेक हैं--पर उनमें परस्पर कोई ऐसा वैचित्र्य नहीं है, जिसका सविस्तर उल्लेख किया जा सके। पर्यस्तापह्नुति-संबंधी उनके विचारों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। पण्डितराज इसे 'दृढारोप रूपक' मानते हैं।

इस प्रकार भामहानुसारी उद्भट की अपह्नुति-विषयक धारणा का अंततः पंडितराज ने समर्थन ही किया है। वे ही पूर्वोल्लिखित दो शर्तें उन्होंने स्वीकार की हैं। असादृश्यमूलक रूप का पण्डितराज ने समादर नहीं किया और न भेद-प्रपञ्चों को मान्यता ही दी।

विशेषोक्ति

भामह ने इसका स्वरूप यों बताया है--"जहाँ किसी वस्तु का एक भाग विनष्ट हो गया हो, पर उसकी विशेषता का प्रदर्शन करने के लिये अन्य गुण की सम्यक् स्थिति हो--वहाँ विशेषोक्ति का व्यवहार होता है।" जैसे, "कुसुमायुध अकेले तीनों लोक को परास्त कर देता है। शंभु ने उसका शरीर तो नष्ट कर दिया, पर बल या शक्ति का नाश नहीं किया।" यहाँ कामदेव का शरीर तो विनष्ट हुआ वर्णित है, पर 'शक्ति' जैसे अन्य गुण की स्थिति कही गई है--जिससे

काम का लोकविजयी होना समर्थित किया गया है। कामगत इस 'विशेष' की उक्ति होने से इसे विशेषोक्ति कहा गया है।

दण्डी ने कहा है कि जहाँ किसी वस्तु की विशेषता प्रर्दशित करने के लिये गुण, जाति एवं क्रिया आदि का अभाव वर्णित किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है'' अथवा यह कहा जा सकता है कि जहाँ किसी वस्तु की महत्ता प्रदर्शित करने के लिये (अपेक्षित) गुण, जाति एवं क्रिया आदि की भी अनपेक्षा कही गई हो--वहाँ यह अलंकार होता है। इसी आधार पर इसका वर्गीकरण करते हुए दण्डी ने कुल पाँच भेदों की चर्चा की है--गुण, जाति, क्रिया, द्रव्य एवं हेतु विशेषोक्ति। पहले चार में जाति आदि का अभाव कहा गया रहता है। हेतुविशेषोक्ति में इन-इन तत्वों के अभाव-कथन के साथ-साथ प्रतिपाद्य वस्तुगत वैशिष्ट्य के प्रदर्शनार्थ किसी हेतु का भी अभिधान होता है।

भामह और दण्डी जिस अभिप्राय को बहुत स्पष्ट नहीं कर सके थे, उद्भट ने व्यवस्थित और स्पष्ट किया। इसका परिणाम यह हुआ कि आगे के आचार्यों ने उद्भट को पर्याप्त मान्यता प्रदान की। उन्होंने विशेषोक्ति का स्वरूप बताते हुये यह कहा--''कारणों की समग्रता के बावजूद यदि कार्य की अनुत्पत्ति कही गई हो और यह इसलिये कि इस विचित्र प्रतिपादन भंगी से गुछ विशेष प्रतिपाद्य हो तो वहाँ विशेषोक्ति होती है।'' जहाँ तक इस अलंकार के अवान्तर भेदों का संबंध है कहा जा सकता है कि विशेषोक्ति के दो प्रकार हैं--कारण की समग्रता के बावजूद कार्य के न होने में कोई न कोई कारण होगा—वह कारण यदि शब्दतः कह दिया गया हो–तो पहला भेद और यदि अर्थतः प्रतीत हो तो दूसरा भेद होगा।

वामन ने 'विशेषोक्ति' का कुछ और ही रूप स्पष्ट किया। उनका कहना है कि ''एक गुण की न्यूनता की कल्पना करने पर शेष गुणों से जो साम्य है उसकी दृढ़ता में विशेषोक्ति अलंकार होता है।'' जैसे, निद्रा बिना कमल के आश्रयण के ही लक्ष्मी है। यहाँ निद्रा और लक्ष्मी दोनों में निद्रा लक्ष्मी से एक ही गुण में कम हैं और वह है—कमल का सहारा न लेना। शेष गुणों की दृष्टि से दोनों समान हैं। दोनों ही आदमी को बेखबर बना देती हैं।

रुद्रट ने इस अलंकार की चर्चा नहीं की है, हाँ रुद्रट के 'व्याघात' का रूप बहुत कुछ विशेषोक्ति से मिलता-जुलता है।

भोजराज ने भी उद्भट एवं वामन के अनुसार नहीं, बल्कि दण्डी की भाँति यह स्वीकार किया है कि ''जहाँ कुछ वैशिष्ट्य प्रदर्शन के लिये गुण, जाति एवं क्रिया का अभाव वर्णित किया जाय, वहाँ विशेषोक्ति होती है।'' 'वैशिष्ट्य' के

मूल में निहित कारण वाच्य भी हो सकता है और प्रतीयमान भी। भोजराज ने कहीं-कहीं के लिये तो यह भी स्वीकार किया है कि जाति आदि का अभाव न दिखाई पड़ने पर भी यह विशेषोक्ति होती है।

उद्भट की परम्परा हमें स्पष्ट रूप से फिर काव्यप्रकाशकार में उपलब्ध होती है। इन्होंने स्पष्ट ही उद्भट के स्वर में कहा है, 'अखण्ड कारण के बावजूद भी जब फल की उत्पत्ति न हो तो वहाँ विशेषोक्ति समझी जानी चाहिए।' मम्मट ने अपनी कृति काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में एक स्थल पर यह कहा है कि यह अलंकार कहीं अस्फुट भी रह सकता है। निश्चय ही अस्फुट से उनका अभिप्राय यह है कि यदि साक्षात् उक्त परिभाषा के अनुरूप उक्ति हो, तो वहाँ विशेषोक्ति को 'स्फुट' समझना चाहिए और यदि किसी प्रकार उसी बात को घुमावदार ढंग से कहा गया, तो वहाँ 'अस्फुट' समझना चाहिए।

मम्मट ने उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता के साथ एक तीसरा भेद अचिन्त्यनिमित्ता भी माना है।

रुय्यक ने स्वरूप तो उद्भट एवं मम्मटोक्त ही स्वीकार किया है, पर विभाजन करते समय यह कहा है कि इसके दो ही भेद हैं, उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता। अनुक्तनिमित्ता के ही अंतर्गत चिंत्यनिमित्ता और अचिंत्यनिमित्ता दो अवान्तर भेद स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार मम्मट जहाँ 'अचिन्त्य निमित्ता' नामक स्वतंत्र भेद स्वीकार करते हैं, वहाँ इन्होंने 'अनुक्त निमित्ता' के ही अंतंगत उसे स्वीकार कर लिया है। हेमचंद्र ने इसका रुद्रट की भाँति कोई उल्लेख नहीं किया। जयदेव (चंद्रालोककार) ने कोई विशेष वक्तव्य बात नहीं लिखी है। रुय्यक की भाँति विश्वनाथ महापात्र भी स्वरूप और वर्गीकरण की बात करते हैं। नई बात इतनी ही कही है कि विभावना में कारण के न रहने से भी कार्य की उत्पत्ति और विशेषोक्ति में समग्र कारण के रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति कही जाती है। दोनों ही अलंकार विरोधमूलक अलंकार हैं। कुवलयानंदकार ने तो केवल स्वरूपनिर्वचन सोदाहरण प्रस्तुत किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने थोड़ा संशोधन के साथ विशेषोक्ति का स्वरूप प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा है—"प्रसिद्ध कारणों के बावजूद भी कार्य का न होना" विशेषोक्ति है। इस अलंकार में पण्डितराज ने प्राचीन मतमतांतरों के आशय का स्पष्टीकरण एवं आलोचन भी प्रस्तुत किया है। विभाजन के संबंध में रुय्यक तथा मम्मट का जो क्रम है उसे तो स्पष्ट किया ही है, यह भी बताया है कि कुछ लोग इस अलंकार में कारण की स्थिति को और दूसरे लोग कार्य की अनुत्पत्ति को ही वाच्य मानते हैं।

विरोध

भामह ने इसका स्वरूप यों बताया है— "विद्वानों ने 'विरोध' अलंकार की स्थिति वहाँ स्वीकार की है जहाँ एक ही वस्तु की क्रिया और गुण में कोई विरोध प्रदर्शित किया गया हो अथवा कुछ वैशिष्ट्य का प्रदर्शन करने के निमित्त किसी विरोधी क्रिया का कथन किया गया हो।"

दण्डी ने विरोध का स्वरूप यह बताया है—"कुछ वैशिष्ट्य का प्रदर्शन करने के निमित्त जहाँ विरोधी पदार्थों का संसर्ग-दर्शन हो—वहाँ विरोध अलंकार होता है। वस्तुतः विरोध दो प्रकार का होता है—एक काल्पनिक औ दूसरा आपाततः प्रतीयमान अर्थात् अवास्तविक। पहला विरोध तो दोष माना जाता है दूसरा विरोध अलंकार। यहाँ वर्ण्य-वस्तु-गत उत्कर्ष सिद्ध करने के लिए विरोधी पदार्थों का एकत्र अवस्थान वर्णित किया जाता है। उदाहरणों के देखने से स्पष्ट होता है कि एक ही आधार में आपाततः प्रतीत विरोध से सम्पन्न गुण एवं क्रिया आदि का वर्णन वर्ण्य के वैशिष्ट्य का प्रदर्शन करने के लिए किया गया है। परन्तु एक ही आधार में स्थित दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं के गुण एवं क्रिया का विरोध प्रतिष्ठित है। जैसे, शरद में हंसों की मुखरता और मयूरों का मौन। ऐसे उदाहरणों में एक ही वस्तु में विरोधी क्रियाएँ नहीं हैं"—बल्कि एक ही आधार में दो भिन्न वस्तुओं की क्रियाओं में विरोध है। परवर्ती उदाहरण जिन्हें आलंकारिकों ने प्रस्तुत किये हैं—वे कुछ और ढंग के हैं।

उद्भट ने भामहोक्त विरोध के स्वरूप का ज्यों का त्यों उल्लेख कर दिया है। प्रतीहारेंदुराज की दृष्टि से यदि उनका आशय व्यक्त किया जाय तो कहा जा सकता है कि जहाँ कवि के द्वारा किसी विशेषता का प्रदर्शन करने के लिये गुण, क्रिया एवं द्रव्य के विरुद्ध सजातीय या विजातीय पदार्थ का वर्णन किया जाय—वहाँ विरोध नामक अलंकार होता है। प्रतीहारेंदुराज ने इसके चार प्रकारों का उल्लेख किया है—(१) द्रव्य–विरोध (२) गुण-क्रिया-विरोध, (३) गुण-द्रव्य-विरोध एवं (४) क्रिया-द्रव्य-विरोध।

वामन ने इन लोगों की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्टता लाने की कोशिश की है उन्होंने बताया है कि 'विरुद्ध न होते हुये भी विरुद्ध अर्थ-सा प्रतीत होना विरुद्धाभासता है।' 'विरोध' संज्ञा को 'विरोधाभास' अर्थ तक शब्दतः कहने का प्रथम साहस इनका है। पर वामन के उदाहरणों को देखने से यह जान पड़ता है कि वे परवर्ती आलंकारिकों की 'असंगति' के उदाहरण है। वामन ने 'विरोध' से पृथक् असंगति की चर्चा की भी नहीं।

रुद्रट ने कहा है—जहाँ परस्पर सर्वथा विरुद्ध पदार्थों—द्रव्यादिकों—की एक ही आधार में और एक ही साथ स्थिति वर्णित हो—वहाँ 'विरोध' नामक अलंकार होता है, उनमें सजातीय और विजातीय का विरोध होता है। सजातीय विरोध के चार भेद होते हैं—द्रव्य-विरोध, गुण-विरोध, क्रिया-विरोध और जाति-विरोध। विजातीय के पाँच भेद यों हैं—द्रव्य-गुण का विरोध (२) द्रव्य-क्रिया का विरोध (३) गुण-क्रिया का विरोध (४) गुण-जाति का विरोध (५) क्रिया-जाति का विरोध। द्रव्य और जाति का विरोध (छठाँ) इसलिये संभव नहीं है कि जाति नियमतः द्रव्याश्रित होती ही है। इसके चार भेद और हैं, इस प्रकार कुल मिलाकर विरोधाभास के १३ भेद होते हैं, अन्य चार भेद इस प्रकार संभव हैं। एक ही आधार में दो सजातीय विरोधी पदार्थ हैं—उनमें से किसी एक को अवश्य होना चाहिए—पर स्थिति यह है कि दोनों ही नहीं हैं। सजातीय पदार्थ द्रव्य, गुण, जाति एवं क्रिया चार प्रकार के हो सकते हैं। पूर्वोक्त चार सजातीय विरोधाभास से इस सजातीय विरोधाभास का अंतर यह है कि वहाँ दोनों विरोधी वस्तुओं का सद्भाव रहता है और यहाँ अभाव रहता है।

एक उदाहरण लें—

मन्दभाग्या का हृदय न तो कठिन ही है और न मृदु ही। कारण यह है कि यदि कठिन होता तो विरहानल से संतप्त होकर भी दृढ़ रहता और यदि मृदु होता तो लाख की तरह पिघल कर विलीन हो गया होता।

यहाँ हृदय-रूप एक आधार में काठिन्य एवं मार्दव—इन दो गुणों में से एक को अवश्य होना चाहिए, पर दोनों का अभाव है। अतः यहाँ गुणाश्रित विरोध है।

भोजराज ने 'विरोध' का स्वरूप भिन्न ढंग का बताया है—पर व्याख्याकारों ने उसे ठीक कर लिया है। उन्होंने 'विरोध' का स्वरूप बताया है—"पदार्थों की पारस्परिक असंगति ही 'विरोध' है।" असंगति का अर्थ है, असंबंध या एक साथ न रहना। निष्कर्ष यह कि जिन दो वस्तुओं का एकत्र न रहना निश्चित हो, उनकी एकत्र स्थिति यदि कही जाय, तो वही विरोध है। वह विरोध भी दो प्रकार का होता है, प्रतिष्ठित और प्रतिभानमात्र (प्ररूढ़ और अप्ररूढ़)। पहला तो दोष है और दूसरा (आपाततः प्रतीत होने वाला) अलंकार, और वह भी दो प्रकार का होता है—१. श्लेष-सापेक्ष, २. श्लेष-निरपेक्ष। श्लेष-निरपेक्ष भी तीन प्रकार का होता है—(१) एक साथ न रहनेवालों का भी प्रायः सहस्थिति देख लेने के कारण उनमें नियतरूप से सहस्थिति की कल्पना कर लेना। (२) किसी एक ही धर्मी में अचिन्त्य प्रभाववश विरोधी धर्मों की

सहस्थिति (३) आरोपित विरोधवश समानता की प्रतीति। यह समस्त प्रकार का विरोध दो प्रकार का होता है—अभिधीयमान और प्रतीयमान। इन्होंने असंगति, प्रत्यनीक, विषम और अधिक को विरोध के अंतर्गत ही स्वीकार किया है। फिर यह विरोध शुद्ध और ग्रथित दो प्रकार का माना गया है।

मम्मट ने 'विरोध' को 'विरोधाभास' शब्द से कहा है और बताया है कि वस्तुतः विरोध न होने पर भी जहाँ ऐसा कथन किया जाय कि उससे विरोध-सा झलकने लगे, वहाँ 'विरोधाभास' नामक अलंकार होता है। इस अलंकार में भिन्न-भिन्न आधारों में प्रतीत होनेवाले धर्मों का एक ही आधार में संबंध दिखाया जाता है। इसका ठीक उल्टा अलंकार है—असंगति। असंगति में एक आधार में रहनेवाले दो धर्मों को विभिन्न आधारों में वर्णन कर दिया जाता है। विभावना और विशेषोक्ति में कार्यकारण का विरोध रहता है। विरोधाभास और असंगति में कार्य-कारण का विरोध नहीं रहता।

इस अलंकार के मम्मट ने दस भेद स्वीकार किये हैं—

१. द्रव्य का द्रव्य से, २. द्रव्य का गुण से, ३. द्रव्य का जाति से, ४. द्रव्य का क्रिया से, ५. गुण का गुण से, ६. गुण का जाति से, ७. गुण का क्रिया से, ८. जाति का जाति से, ९. जाति का क्रिया से, १०. क्रिया का क्रिया से विरोध।

हेमचन्द्र ने 'विरोध' शब्द का ही प्रयोग किया है, परन्तु उसे 'विरोधाभास' से भिन्न नहीं माना है, बल्कि 'विरोधाभास' ही कहा है। मम्मट की भाँति हेमचंद्र ने भी दस भेद माने हैं। परन्तु उनसे आगे बढ़कर भोजराज की भाँति व्याघात, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, अधिक, व्याघात एवं अतद्गुण को पृथक् अलंकार मानने से इन्कार किया है।

रुय्यक ने भी 'विरोध' अलंकार ही नाम दिया है। स्वरूप एवं दश प्रभेद तो मम्मट एवं हेमचंद्र की भाँति इन्होंने भी कहा है। विभावना, असंगति आदि को 'विरोध' के अंतर्गत नहीं प्रत्युत विरोध-मूलक स्वीकार किया है। रुय्यक ने इसी प्रकार इस प्रसंग में यह कहा है कि औद्भट संप्रदाय के लोग मानते हैं कि जहाँ श्लेषमूलक विरोध हो वहाँ श्लेष की ही मुख्यरूप में स्थिति माननी चाहिए। दूसरे लोग दोनों का सांकर्य स्वीकार करते हैं।

चंद्रालोककार ने 'विरोध' एवं 'विरोधाभास' नाम के दो भिन्न अलंकार माने हैं। 'विरोध' वहाँ होता है जहाँ श्लेष-निरपेक्ष विरोध का प्रदर्शन हो और 'विरोधाभास' जहाँ श्लेष के सहारे विरोध का आभास मात्र खड़ा किया जाय। वस्तुतः इनके द्वारा दिये गये उदाहरणों में उभयत्र 'विरोधाभास' ही है। उनको पृथक्-पृथक् मानना संगत नहीं है।

साहित्य-दर्पणकार ने नाम 'विरोध' ही रखा है--पर परिभाषा और भेद मम्मट का-सा ही है। इस विषय में नई बात इतनी ही बताई है कि विभावना में कार्य और विशेषोक्ति में कारण बाध्य होता है। विरोधाभास में दोनों विरोधी वस्तुएँ एक दूसरे की बाधिका होती हैं। फलतः दोनों ही बाध्य होते हैं।

अप्पय दीक्षित ने कोई नई बात नहीं की है, केवल परम्परा-सम्मत स्वरूप मात्र प्रस्तुत किया है। भेदों की भी कोई चर्चा नहीं की है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अन्य अलंकारों की भाँति इस पर भी सविस्तर विचार किया है। स्वरूप और प्रभेद के संबंध में लगभग वे ही पुरानी बातें हैं। इतना अवश्य कहा है कि द्रव्यादि के सजातीय और विजातीय विरोध को लेकर जो दश भेद किये गये हैं—वे सौंदर्य-भेद उत्पन्न न करने के कारण उतने ग्राह्य नहीं है--जितने कि शुद्ध और श्लेषमूलक जैसे दो भेद। विरोध-सूचक शब्दों के रहने पर इसे शाब्द और न रहने पर आर्थ कहा जा सकता है। दो तीन बातें इसी प्रसंग में उन्होंने और उपादेय बताई हैं। एक तो यह कि प्राचीन आलंकारिक मानते हैं कि इस अलंकार में दो स्तर के अर्थ रहते हैं—पहले स्तर के अर्थ को लेकर विरोध का आभास मिलता है और दूसरे अर्थ को लेकर वह निवृत्त हो जाता है। फिर भी इस अलंकार में चमत्कार का कारण वही विरोधाभास ही है। नव्य आलंकारिकों का कहना है कि एक ही शब्द से दोनों स्तरों के अर्थों की प्रतीति होने के कारण उनमें अभिन्नता भी हो जाती है। फलतः अविरोधी अर्थ के दूसरे स्तर में भी पहले स्तर का अर्थ सटा रहता है और इस सटाव के कारण उसमें निहित विरोध भी निवृत्त नहीं होता, बल्कि उसकी प्रतीति होती ही है। इस प्रकार अंत तक बने हुए इस "विरोध" तत्त्व के कारण यहाँ का चमत्कार प्रतीत होता है। दूसरी स्मरणीय बात यह बताई है कि 'मुख चंद्र' है क्या यहाँ 'विरोध' का आभास नहीं है? और है तो इसे 'रूपक' क्यों कहा जाता है। इसका उत्तर यह है कि जब साम्य का अतिरेक दिखाना लक्ष्य हो तो यहाँ रूपक है, पर जब वर्ण्य-गत अद्भुतता प्रतिपाद्य हो तो विरोधाभास। तीसरी बात यह है कि विरोध और विरोधाभास पृथक् अलंकार नहीं हैं--इसका खंडन ऊपर किया ही गया है।

तुल्ययोगिता

भामह ने इसका स्वरूप यों बताया है, 'तुल्य कार्य--क्रिया के योग से जहाँ न्यून की भी महान् से गुण-गत समता प्रदर्शित करनी अभीष्ट हो, वहाँ यह अलंकार होता है।' जैसे, यह कहना कि हे राजन्! तुम शेषनाग और हिमगिरि

तीनों ही महान्, गुरु एवं स्थिर हो। तुम तीनों ही मर्यादा में रहकर प्रकम्पित धरा का धारण-पोषण करते हो।

दण्डी ने कहा है—'जहाँ प्रस्तुत वस्तु के साथ, विवक्षित गुण की दृष्टि से विख्यात किसी अन्य अप्रस्तुत वस्तु की समता प्रस्तुत की स्तुति या निंदा के ख्याल से वर्णित की जाय, वहाँ यह अलंकार होता है।' इस प्रकार भामह और दण्डो की परिभाषाओं में दृष्टिगोचर होता हुआ वैषम्य केवल ऊपरी ही है। उदाहरण दोनों के मिलते-जुलते-से हैं। साम्य दिखाने को निंदा के प्रसंग से भी होता है और स्तवन के भी—उससे कोई खास अंतर नहीं आता। निंदा एवं स्तुति की दृष्टि से इसके दो भेद हो सकते हैं।

वामन ने भी लगभग वही परिभाषा दुहराई है, 'विशिष्ट या अधिक गुण वाले उपमान के साथ न्यून गुण वाले उपमेय की समता दिखाने के लिये दोनों की एक काल और एक साथ होनेवाली क्रिया के साथ संबंध प्रदर्शित करना तुल्ययोगिता है।' भामह और दण्डी से वामन की यह विशेषता रही कि जहाँ वे लोग 'साम्य' पर बल देते थे वहाँ वामन ने 'संबंध' पर बल दिया है और यही परवर्ती आलंकारिकों ने स्वीकार भी किया है, अन्यथा उपमा और तुल्ययोगिता में अंतर क्या होगा ?

उद्भट ने परवर्ती आलंकारिकों के लिये अपनी परिभाषा द्वारा इसकी दूसरी विशेषता का उद्घाटन किया है। उन्होंने कहा कि "जहाँ उपमा का बोधक शब्द न हो और जहाँ या तो केवल अप्रस्तुतों की पारस्परिक समता प्रयुक्त हो अथवा केवल प्रस्तुतों की समता का प्रदर्शन हो वहाँ यह अलंकार होता है।" इन्होंने यह तो स्पष्ट किया कि यहाँ या तो अप्रस्तुतगत या प्रस्तुतगत ही साम्य वर्णित रहता है, पर वामन ने जिस विशेषता का उल्लेख किया था, उसे छोड़ दिया।

रुद्रट ने इस अलंकार की कोई चर्चा प्रस्तुत नहीं की। कुंतक ने तो स्पष्ट ही कहा है कि तुल्ययोगिता स्पष्ट रूप से उपमा ही होती है। उदाहरण प्रस्तुत करने के बाद तो यह भी लिखा है कि भामहादि के जो तुल्ययोगिता के लक्षण हैं, उनका स्फुट रूप से उपमा में अंतर्भाव है।

भोजराज पर दण्डी का प्रभाव पर्याप्त है। जिस प्रकार भामह के लक्षण को उद्भट ने अविकल रूप में प्रस्तुत कर दिया था, उसी प्रकार दण्डी के लक्षण को भोजराज ने। दण्डी की भाँति इन्होंने माना है कि उपमान और उपमेय के बीच तुल्यगुण का विधान कभी स्तुति और कभी निंदा के निमित्त किया जाता है। यह तुल्यगुण कभी अभिधीयमान होता है और कभी प्रतीयमान, दण्डी के अतिरिक्त इन्होंने एक दूसरे मत के अनुसार भी तुल्ययोगिता का स्वरूप प्रस्तुत किया है

और कहा है, 'सुख हेतु और दुःखहेतु वस्तुओं की भी यदि स्तुति एवं निंदा के निमित्त साम्य वर्णित किया जाय, तो वहाँ तुल्ययोगिता नामक अलंकार होता है।'

मम्मट ने उद्भट की ही परंपरा में यह स्वीकार किया है—"तुल्ययोगिता वहाँ होती है, जहाँ या तो केवल अप्राकरणिकों का या केवल प्राकरणिकों का समानधर्म एक ही बार उपात्त हो," इनके टीकाकारों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुये यह कहा है—'तुल्यश्चासौ योग: संबंधश्च अन्वयश्च तुल्ययोग: एकधर्मान्वय: इत्यर्थ: सोऽस्ति येषां ते तुल्योगिन: तेषां भावस्तुल्ययोगिता' अर्थात् तुल्ययोग या एक धर्म का संबंध जहाँ अनेक (प्राकरणिक या अप्राकरणिक) से हो, वहाँ तुल्ययोगिता होती है। इस प्रकार इसके दो भेद हो सकते हैं। इनके टीकाकारों ने दीपक और तुल्ययोगिता का अंतर बताते हुये कहा है, दीपक में प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों का एक साथ एक धर्म से संबंध बताया जाता है और तुल्ययोगिता में अलग-अलग।

रुय्यक ने यही स्वरूप मानते हुए उसके चार भेद बताए, पहला प्राकरणिक का एकधर्मसंबंध एवं दूसरा अप्राकरणिक का। धर्म गुण एवं क्रिया दो रूपों का संभव है, अत: प्रत्येक के दो-दो भेद संभव हैं, फलत: चार भेद हो जायँगे। हेमचंद्र ने 'दीपक' के अंतर्गत ही इसकी गणना की है और पृथक्रूप से उसकी कत्तई चर्चा नहीं की है। चंद्रालोककार ने कोई नई बात नहीं की। साहित्यदर्पणकार ने तो नहीं, परंतु अप्पय दीक्षित ने तुल्ययोगिता के इस क्रमागत रूप की अपेक्षा एक और प्रभेद की बात कही है। बताया है कि तुल्ययोगिता वह भी है जहाँ शत्रु और मित्र के लिये तुल्य व्यवहार वर्णित हो [पर श्लेष के सहारे]। जैसे, 'यह कहना कि शत्रु एवं मित्र दोनों के लिये राजा ने 'पराभूति' प्रदान की।' पराभूति का अर्थ है, उत्कृष्ट विभूति और पराभव।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी यही स्वीकार किया है कि यहाँ प्रकृत एवं अप्रकृत का पृथक्-पृथक् एक ही समान धर्म से संबंध हुआ करता है। यहाँ औपम्य गम्यमान हुआ करता है, वाच्य नहीं, यद्यपि उपमा एवं रूपक में भी एक ही धर्म का संबंध होता है, पर उपमा या रूपक में प्रकृत एवं अप्रकृत का साथ ही होता है और तुल्ययोगिता में अलग-अलग। फिर भी जहाँ प्रकृत और प्रकृत में ही औपम्य प्रदर्शित किया गया हो वहाँ क्या होगा? अथवा दीपक से उपमा का भेद क्या होगा? तो यही समझना चाहिए कि जहाँ 'धर्म-संबंध' पर बल दिया गया हो, वहाँ दीपक और तुल्ययोगिता और जहाँ धर्म-संबंध के कारण 'सादृश्य' पर चमत्कार का समस्त उत्तरदायित्व निहित हो, वहाँ उपमा [या रूपक] समझना चाहिए। इस संदर्भ में उद्भट की परिभाषा सर्वसम्मत हुई।

अप्रस्तुतप्रशंसा

भामह ने इसकी परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा है कि अधिकारच्युत अर्थात् अप्राकरणिक अन्य वस्तु की जहाँ स्तुति की जाय—वहाँ 'अप्रस्तुत प्रशंसा' होती है। इस प्रकार यह अलंकार उस समासोक्ति से सर्वथा भिन्न है जहाँ प्रस्तुत या प्राकरणिक का वर्णन होता है और उससे अप्रस्तुत की ओर इंगित किया जाता है।

दण्डी की धारणा इस अलंकार के विषय में भामह से भिन्न है। दण्डी ने समासोक्ति की परिभाषा देते हुए यह बताया है कि अप्रस्तुत (वाच्य) से जहाँ प्रस्तुत का संकेत किया जाय—वहाँ यह होती है। भामह ने अप्रस्तुत प्रशंसा की ही यह परिभाषा बताई है। अतः समासोक्ति से इसे पृथक् करने के लिये इन्होंने यह बताया है कि अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत की स्तुति प्रस्तुत की निंदा के लिये की जाती है। इस मत में 'प्रशंसा' शब्द केवल 'वर्णन' के अर्थ में नहीं, प्रत्युत स्तवन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

उद्भट ने भामह का ही अनुकरण करते हुए उसमें थोड़ी स्पष्टता और ला दी है। भामह ने इतना ही कहा था कि "अप्राकरणिक की जहाँ स्तुति की जाय" पर उद्भट ने उसमें इतना और जोड़ दिया "वह स्तुति प्राकरणिक अर्थ में ही पर्यवसित हो"—अन्यथा सर्वथा अप्राकरणिक होने से तो उन्मत्तों का प्रलाप-मात्र रहेगा। इन्होंने भी 'प्रशंसा' का अर्थ वर्णन ही लिया है।

वामन ने भी दण्डी की ही भाँति समासोक्ति का स्वरूप बताया था और कहा था—'उपमेय की सर्वथा अनुक्ति रहने पर समासोक्ति होती है और 'यदि आंशिक उक्ति रहे—तो वहाँ 'अप्रस्तुत प्रशंसा होती है।' आंशिक उक्ति से वामन का अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत का गमक या द्योतक कोई 'कार्य' या 'चिह्न' स्पष्ट कहा गया हो—[समासोक्ति यह बात नहीं कहती]। दण्डी की भाँति 'वामन' ने भी 'अप्रस्तुत प्रशंसा' में 'प्रशंसा' का अर्थ वर्णन मात्र न लेकर 'प्रशंसा' ही लिया है।

रुद्रट ने इसे 'अन्योक्ति' शब्द से कहा है—"विशेषणों के समान न रहते हुए भी इतिवृत्त मात्र की समानतावश जहाँ उपमान द्वारा अनुक्त उपमेय का बोध हो जाय"—वहाँ यह अलंकार होता है।

कुंतक ने कहा है—"जहाँ साम्य का सहारा लेकर अथवा कार्यकारण भाव आदि अन्य संबंधों का सहारा लेकर प्रस्तुत के सौंदर्य को प्रकाशित करने वाला अप्रस्तुतपरक वर्णन किया गया हो—वहाँ यह अलंकार होता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं में से भामह और उद्भट की परिभाषा की परम्परा में ही यह परिभाषा आती है। दूसरे उन लोगों की परिभाषाओं से इसकी यह भी विशेषता है कि इसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि अप्रस्तुत अर्थ किन-किन संबंधों से संबद्ध प्रस्तुत अर्थ को झलकाने में क्षम होता है। प्रस्तुत अर्थ—दो प्रकार का हो सकता है—पहला तो वामन के अन्तर्गत प्रयुक्त पदों द्वारा भी सिद्ध हो सकता है—दूसरा समस्त वाक्य में व्यापक प्रभाववाला प्रधान रूप से विद्यमान।

इस प्रकार कुंतक के द्वारा प्रस्तुत किये गये इस विवेचन के माध्यम से आगे आनेवाले आलंकारिकों द्वारा प्रस्तुत विभाजन और वर्गीकरण की पृष्ठभूमि भी तैयार होने लगती है।

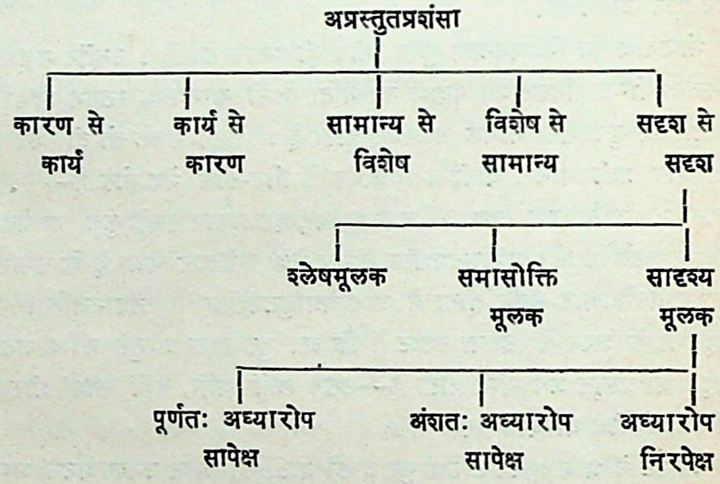
भोजराज का विवेचन-क्रम कुछ और ही प्रकार का है। उन्होंने कहा है—"अ-स्तवनयोग्य (निंदनीय) पदार्थ का यदि किसी कारणवश स्तवन किया जाय तो वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नामक अलंकार होता है। इसके पहले तो दो भेद हैं—वाच्य और प्रतीयमान। दोनों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—१. धर्मबाधया, २. अर्थबाधया तथा ३. कामबाधया, इस प्रकार इसके कुल छह भेद हैं। इन्होंने समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा में यह भेद स्वीकार किया है कि समासोक्ति में उपमानोपमेयभाव संबंध होता है और अप्रस्तुतप्रशंसा में निंदा-स्तुति। परन्तु उदाहरणों के देखने से इतना स्पष्ट है कि अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना की गई है। जो प्रस्तुत अर्थ व्यंग्य होता है—उससे कहीं 'धर्म', कहीं 'काम' और कहीं 'अर्थ' का विरोध या बाध पड़ता है।

मम्मट ने भामह, उद्भट तथा कुंतक की बातों को लेकर उनका मनन, अध्ययन कर यह कहा है कि—अप्राकरणिक अर्थ के कहने से जहाँ प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना हो—वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नाम का अलंकार होता है। अर्थात् जहाँ अप्रस्तुत वृतांत प्रस्तुतवृत्तांत का आक्षेपक हो—वहाँ यह अलंकार होता है। आक्षेप संबद्ध अर्थ का ही किया जा सकता है। अतः यह संबंध कितने प्रकार का हो सकता है—इस पर काव्यप्रकाशकार का कहना है कि वे संबंध हैं—१. कार्य-कारणभाव, २. सामान्य-विशेषभाव तथा, ३. सादृश्य। इन तीन संबंधों पर अप्रस्तुतप्रशंसाके पाँच भेद किये जा सकते हैं—(१) अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण का आक्षेप, (२) अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य का आक्षेप, (३) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का तथा (४) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप एवं (५) सदृश अप्रस्तुत से सदृश प्रस्तुत का आक्षेप।

सदृश अप्रस्तुत से सदृश प्रस्तुत की व्यंजना भी तीन प्रकार से की जा सकती

है—(१) श्लेष (२) समासोक्ति तथा (३) सादृश्यमात्र के सहारे। कुछ लोगों की यह आशंका हो सकती है कि समासोक्ति तो अप्रस्तुतप्रशंसा का विरोधी रूप है—फिर उसका सहारा यहाँ किस प्रकार हो सकता है ? इस स्थिति में यह समझना चाहिए कि जहाँ विशेष्य भी श्लिष्ट हो—वहाँ 'श्लेष' का सहारा है और जहाँ विशेषण मात्र में श्लेष कहीं हो—वहाँ समासोक्ति। अर्थात् समासोक्ति का मात्र 'विशेषण श्लेष' के अर्थ में लाक्षणिक प्रयोग है।

सादृश्यमात्र-सापेक्ष के भी तीन रूप संभव हैं—(१) वाच्य में पूर्णतः प्रतीयमान अर्थ का अध्यारोप, (२) कहीं अध्यारोप-निरपेक्ष, (३) कहीं आंशिक-अध्यारोप। सब भेद इस प्रकार हुए—



हेमचंद्र ने रुद्रट की भाँति इसे 'अन्योक्ति' शब्द से कहा है। इन्होंने प्रकाशकार के ही अनुरूप 'स्वरूप' और 'प्रभेद' बताये हैं—अंतर इतना ही है कि जहाँ प्रकाशकार ने 'तुल्य से तुल्य का आक्षेप' के तीन भेद किये हैं—वहाँ इन्होंने दो ही भेद माने हैं और 'समासोक्ति' शब्द को नापसंद कर दिया है, इनके दो भेद हैं—(१) श्लिष्ट विशेषणता, (२) सादृश्य मात्र। 'विशेष्य श्लिष्टता' के न मानने के पक्ष में इनका तर्क यह है कि उसके बिना तो अन्योक्ति संभव ही नहीं है—वह अन्योक्ति का प्रयोजक है—अतः उसे भेद के भीतर परिगणित नहीं करना चाहिए। सादृश्यमूलक के जो तीन भेद प्रकाशकार ने कहे हैं—उन्हें 'टीका' में दूसरे शब्दों से इन्होंने स्मरण किया है—(१) वाच्य अर्थ का पूर्णतः विवक्षित होना (अनध्यारोप), (२) (अंशतः अध्यारोप को ही) विवक्षित एवं अविवक्षित होना (३) तथा (पूर्णतः अध्यारोप को) अविवक्षित होना।

रुय्यक ने भी इसी ढंग से मम्मट के ही अनुरूप 'स्वरूप' और 'प्रभेदों' की चर्चा की है। मम्मट एवं हेमचन्द्र से भिन्नता इतनी ही है कि जहाँ उन लोगों में से मम्मट ने 'सदृश से सदृश प्रतीति' या 'सारूप्य मूलक' अप्रस्तुत प्रशंसा के पाँचवे भेद का मम्मट ने तीन भेद और हेमचंद्र ने दो भेद किया था—वहाँ इन्होंने भी दो भिन्न प्रकार से भेद बताये—वे भेद हैं—साधर्म्यमूलक तथा वैधर्म्यमूलक। जैसे, संसार के काम न आनेवाला कोई महात्मा वृक्ष, वायु को ध्यान में रखकर यह कहे कि वृक्ष का जीवन धन्य है—जो अपना फल, फूल निःस्वार्थ संसार की सेवा में लगाता है तो इससे जो अर्थ व्यंग्य होगा—उसमें तो अप्रस्तुत वाच्य (महात्मा और वृक्ष) में साधर्म्य नहीं है। अतिरिक्त भेदों में श्लेष-मूलकता की चर्चा करते हुए यह कहा है इस अलंकर में जहाँ श्लेष की सहायता ली जाती है—वहाँ 'श्लेष' से इतना अंतर होता है कि श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य होते हैं और यहाँ एक वाच्य तथा दूसरा अवाच्य होता है। सादृश्यमूलक के तीन भेदों की जिस प्रकार हेमचंद्र ने शब्दान्तर से (विवक्षित, अविवक्षित तथा विवक्षिताविवक्षित) स्मरण किया है, उसी प्रकार रुय्यक भी दूसरे शब्दों में उसकी चर्चा करते हैं—(१) संभव (वाच्यार्थ), (२) असंभव तथा (३) संभवासंभव।

तीसरी बात रुय्यक ने जो इस प्रसंग में विचारार्थ प्रस्तुत की है—वह यह है कि पर्यायोक्त तथा अप्रस्तुतप्रशंसा का 'कार्य से कारण व्यंग्य' वाले स्थल में अंतर क्या होगा? वस्तुतः दोनों का स्पष्ट अंतर यह है कि पर्यायोक्त में वाच्य अर्थ ही सुंदर होता और व्यंग्य अर्थ असुंदर होने से प्रमुख नहीं होता जबकि अप्रस्तुत-प्रशंसा में व्यंग्य अर्थ ही प्रमुख और सुंदर होता है। रुय्यक के सामने पर्यायोक्त का स्वरूप भिन्न मान लेने से (कार्य द्वारा प्रस्तुत को व्यंजित करना) यह समस्या खड़ी होती है कि प्रकृत अलंकार से उसका भेदक क्या हो? इस विषय में इनकी धारणा यह है कि जहाँ कार्य से कारण की व्यंजना की जायगी वहाँ कार्य की दो स्थितियाँ संभव हैं—कार्य प्रस्तुत होगा या अप्रस्तुत। तो जहाँ कारण की भाँति कार्य अप्रस्तुत और कारण प्रस्तुत हो—वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा मानी जानी चाहिए।

चंद्रालोककार जयदेव ने इस विचार-परम्परा में कुछ भी नया नहीं जोड़ा है। साहित्यदर्पणकार के एतद्विषयक विवेचन पर मम्मट, हेमचंद्र और रुय्यक-तीनों का प्रभाव है। उन्होंने यदि एक ओर मम्मट के पाँच भेद स्वीकार किये और अंतिम पांचवें प्रभेद के पहले दो भेद—श्लेषमूलक तथा सादृश्यमूलक करके हेमचंद्र का प्रभाव ग्रहण किया, हेमचंद्र की ही भाँति साधर्म्यमूलक और वैधर्म्य-मूलक की भी चर्चा की, तो दूसरी ओर रुय्यक की भाँति 'वाच्य' के 'संभव', 'असंभव'

एवं 'संभवासंभव' जैसे रूप स्थिर किये। पर हेमचंद्र की तरह इन्होंने 'विशेष्य-गत श्लेष' को इसका प्रभेद होने से अस्वीकार नहीं किया। इन्होंने श्लेष-मूलक के दो भेद किये—समासोक्ति की तरह विशेषण मात्र-गत श्लेष और 'श्लेष' की तरह विशेष्य-गत श्लेष—जैसे दो भेद स्वीकार किये। इनके टीकाकारों ने कुल मिलाकर २१ भेद स्वीकार किये हैं।

अप्पय दीक्षित ने कुवलयानंद में परम्परागत स्वरूप और मुख्य पाँच भेदों की चर्चा करते हुये यह कहा कि जो पुरातन आलंकारिकों की यह धारणा है कि अप्रस्तुत और प्रस्तुत के पाँच ही प्रकार के संबन्ध हो सकते हैं—यह ठीक नहीं—संबंध और भी प्रकार के संभव हैं। जैसे, उन्होंने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—

'तापत्रयौषधवरस्य तव स्मितस्य निःश्वासमंदमरुता निवुसीकृतस्य।
एते कडङ्करचया इव विप्रकीर्णा जैवातृकस्य किरणा जगति भ्रमंति॥'

अर्थात् चंद्रमा की किरणें जो संसार में फैली हुई हैं, मानों भगवान् के स्मित रूपी धान्य विशेष की उन्हीं के निःश्वास द्वारा उड़ाई हुई भूसी है। यहाँ धान्य एवं भूसी में कार्य-कारण-भाव-संबंध या सामान्य-विशेष-भाव-संबंध या सारूप्य जैसी कोई चीज तो है नहीं, अतः 'सहोत्पत्ति' जैसे किसी संबंधान्तर की ही कल्पना करनी पड़ेगी। पर अपनी प्रतिक्रिया तो यह है कि क्या यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है भी? मेरी बुद्धि में तो कम से कम यह चीज नहीं आती। इसी प्रकार एक और भी उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह भी विचारसह नहीं जान पड़ता।

पण्डितराज जगन्नाथ ने परम्परागत धारणा के ही अनुरूप पंचविध अप्रस्तुत-प्रशंसा को ध्यान में रखकर यह बताया है कि जहाँ अप्रस्तुत व्यवहार के माध्यम से प्रस्तुत व्यवहार की व्यंजना की जाय, वहां अप्रस्तुतप्रशंसा नामक अलंकार होता है। पुरातन कई स्थापनाओं की इन्होंने इस प्रसंग में आलोचना की है। वे यों हैं—(१) पहली बात तो उन लोगों के विरोध में कही है जिन्होंने 'अप्रस्तुत प्रशंसा' में 'प्रशंसा' का अर्थ 'स्तवन' किया है। कारण यह कि जिन लोगों ने ऐसा माना है उसके मत से 'उस ताल वृक्ष को धिक्कार है जिसकी छाया भी परोप-कारिणी नहीं है'। इस अप्रस्तुतप्रशंसा में व्यज्यमान अर्थ की प्रशंसा है ही कहाँ? (२) दूसरी बात है प्रकाशकार के समासोक्तिमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा की, पर यहाँ तो स्वयं ही स्वीकार कर लिया है कि समासोक्ति का अर्थ यदि विशेषण-गत श्लेष मात्र ही हो, तो कोई आपत्ति नहीं। (३) तीसरी बात यह कि सादृश्यमूलक अप्रस्तुत प्रशंसा के कई प्रकार के भेद संभव हैं। नितांत अप्रस्तुत से प्रस्तुत की

व्यंजना तो एक हैं ही, एक वह भी है जहाँ दोनों (व्यंजक एवं व्यंग्य) वृत्तांत प्रस्तुत ही हों। पर वहाँ इस अलंकार की व्याप्ति मानने के लिये यह कहना पड़ेगा कि दोनों के प्रस्तुत होते हुये भी मुख्य अभिप्रेत अर्थ ही 'प्रस्तुत' होगा, अवशिष्ट प्रस्तुत अर्थ मुख्य रूप से अभिप्रेत न होने के कारण 'अप्रस्तुत' ही होगा। इसलिये जहाँ दोनों अर्थ प्रस्तुत न हों, वहाँ अप्पय दीक्षित की भाँति प्रस्तुतांकुर नाम का एक दूसरा अलंकार मानना अनावश्यक है। इस प्रकार जहाँ वाच्यार्थ अत्यंत अप्रस्तुत है, वहाँ नियमतः ध्वनि की-सी ही स्थिति हो, यह आवश्यक नहीं ; हाँ, जहाँ दोनों ही प्रस्तुत हैं, वहाँ ध्वनि की निर्बाध स्थिति हो सकती है। इस प्रकार सादृश्यमूलक के ये दो प्रकार हो सकते हैं। शेष चार तो गुणीभूतव्यंग्य के ही प्रभेद हैं। (४) चौथी बात यह कही है कि मान लिया कहीं सरोवर का वर्णन वाच्य हो और सादृश्यवश राजपरक अर्थ व्यंग्य हो और व्यंग्य अर्थ अप्रस्तुत हो तो वहाँ कौन-सा अलंकार होगा ? प्रस्तुत के व्यंग्य न होने से अप्रस्तुतप्रशंसा होगी नहीं, विशेषणसाम्य के अभाव में समासोक्ति होगी नहीं। पंडितराज ने ऐसी जगह भी अप्रस्तुतप्रशंसा ही मानी है और अप्रस्तुत-प्रशंसा का अर्थ यह किया है कि वाच्य या व्यंग्य अप्रस्तुत के द्वारा जहाँ प्रस्तुत (वाच्य या व्यंग्य) का वर्णन हो, वहाँ भी अप्रस्तुतप्रशंसा ही होती है।

व्याजस्तुति

भामह ने इस अलंकार का स्वरूप यों बताया है —"बहुत दूर एवं ऊँचे गुणों द्वारा स्तवन के बहाने से कुछ साम्य प्रदर्शित करने की इच्छा रखनेवाला कवि जहाँ निन्दा के द्वारा भी स्तुति ही करता हो—वहाँ व्याजस्तुति होती है।" जैसे, "राम ने सात तालों को एक ही वाण से गिरा दिया और परशुराम ने क्रौंच को विदीर्ण कर दिया—क्या आपने उन लोगों की तुलना में शतांश भी किया ?" यहाँ वर्ण्य राजा को अति उत्कृष्ट गुणवाले दिव्य पुरुषों की तुलना में रख देना वस्तुतः उसे ऊँचा ही उठाना है। भले ही उसपर शतांश भी न होने का आक्षेप किया गया हो।

दण्डी ने स्पष्ट कहा है—"जहाँ ऐसा प्रतीत हो कि वक्ता ऊपर-ऊपर से तो निंदा कर रहा हो पर झुकाव उसके द्वारा स्तवन की ही ओर हो और इसीलिए जहाँ दोष भी ऊपर-ऊपर से ही जान पड़े—ध्यान देने पर वे गुण के ही नजदीक जान पड़ें—वहाँ यह अलंकार होता है।" भामह की अपेक्षा इनकी परिभाषा और इनका उदाहरण अधिक स्पष्ट है। इन्होंने कहा है—"हे राजन् ! तुम्हें इस बात का अभिमान नहीं होना चाहिए कि तुमने समस्त धरित्री को

अधीनस्थ कर लिया है। कारण, इसे तो परशुराम जैसे तपस्वी ने भी अधीनस्थ कर लिया था।" इसमें ऊपर-ऊपर निंदा का स्वर है पर वास्तविकता यह है कि परशुराम की कोटि में रखकर राजा का स्तवन ही किया है।

वामन ने बताया है--"कर सकने लायक विशिष्ट कर्म के न करने से वस्तुतः स्तुति के लिए जो निंदा करता है--वह व्याजस्तुति है।" इनका उदाहरण अपनी परिभाषा के अनुरूप है और उसका वही आशय है जो भामह द्वारा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

उद्भट ने उसी आशय को भिन्न शब्दों द्वारा व्यक्त किया है--"शब्दशक्ति के स्वभाववश जहाँ निंदा की तरह आभासित मात्र हो--पर वस्तुतः वहाँ स्तुति ही अभीष्ट हो--वहाँ व्याजस्तुति नाम का अलंकार होता है। इसे व्याजस्तुति इसलिये कहते हैं कि यहाँ निंदा के बहाने स्तुति की जाती है।

रुद्रट एवं कुंतक ने कदाचित् इस पर कोई विचार नहीं किया। भोजराज ने उस 'लेश' नामक अलंकार से, जिसमें दोष को गुण और गुण को दोष रूप कर दिया जाता है, 'व्याजस्तुति' को भिन्न नहीं माना है। इसी 'लेश' भेद के रूप में व्याजस्तुति के दो रूपों--शुद्ध एवं मिश्र का उल्लेख किया है। शुद्ध में शुद्ध निंदापरक पदों से ही स्तुति की व्यंजना होती है और मिश्र में कतिपय स्तुतिपरक पदों का भी मिश्रण होता है।

मम्मट ने 'व्याजस्तुति' का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया है और केवल स्तुति द्वारा निंदा ही नहीं, प्रत्युत निंदा द्वारा की गई स्तुति को भी व्याजस्तुति का रूप मानते हैं। इनके टीकाकारों ने अर्थ बताते हुये कहा है कि व्याजस्तुति का अर्थ 'व्याजरूपा स्तुति' या 'व्याज द्वारा स्तुति'। जहाँ स्वयंस्तुति ही बहाना हो निंदा का अर्थात् निंदापर्यंवसायिनी स्तुति हो अथवा निंदा के व्याज से स्तुति की गई हो--स्तुतिपर्यवसायिनी निंदा हो वहाँ यह अलंकार होता है। अप्रस्तुत-प्रशंसा से इसका अंतर यह है कि यहाँ एक तो वाच्य एवं वाच्य-बोध्य का स्तुतिनिंदात्मक संबंध होता है न कि अप्रस्तुतप्रशंसा की भाँति कार्यकरणादि रूप। दूसरे व्याजस्तुति में वाच्य अर्थ के अप्रतिष्ठित होने से निर्बाध प्रतीत न होने से अन्य अर्थ को 'ध्वनित' या 'व्यंग्य' नहीं किया जा सकता। इसलिये इसे ध्वनि का भी उदाहरण नहीं माना जा सकता।

हेमचन्द्र, रुय्यक, जयदेव, विश्वनाथ महापात्र तथा अप्पय दीक्षित सभी ने प्रकाशकार द्वारा विवेचित रूप ही स्वीकार किया है और भेद को छोड़कर कोई भी नया विवेचन नहीं दिया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी मम्मटवाली परिभाषा को ही मान्यता प्रदान की

है। इस प्रसंग में उन्होंने दो तीन बातें ध्यान देने योग्य बताई हैं। पहली यह कि व्याजस्तुति दो प्रकार की होती है--(१) शुद्ध एवं (२)अलंकारान्तर मिश्र। अन्य अलंकार, जिनसे व्याजस्तुति मिश्रित हो सकती है--अर्थान्तिरन्यास, अप्रस्तुतप्रशंसा जैसे कई भेद हो सकते हैं। दूसरी बात जो इस प्रसंग में कही गई है--यह है कि वाच्यकोटि के अर्थ द्वारा जिसकी निंदा या स्तुति की जा रही हो--यदि उसी की स्तुति या निंदा गम्यमान होती हो--तभी व्याजस्तुति होगी--अन्यथा गुणीभूत-व्यंग्य का कोई प्रकार हो सकता है--पर व्याजस्तुति नहीं हो सकती। इसोलिये अप्पय दीक्षित ने जो कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिसमें वाच्यकोटि के अर्थ से निंदा दूसरे व्यक्ति की है और व्यंग्यकोटि के अर्थ से स्तवन दूसरे व्यक्ति का--ठीक नहीं है। इसीलिये अप्पय दीक्षित ने जो यों भेद करना चाहा है--पंडितराज ने उसे 'आलंकारिक समय'-विरुद्ध कहकर खण्डित कर दिया है। अप्पय ने भेद यों माने हैं--

(१) अन्य की निंदा का अन्य की स्तुति में पर्यवसान।
(२) अन्य की स्तुति का अन्य की निंदा में पर्यवसान।
(३) अन्य की निंदा का अन्य की निंदा में पर्यवसान।

आलंकारिकों की मान्यता यह है कि जिसकी निंदा की गई हो उसी की स्तुति में या जिसकी स्तुति की गई हो उसी की निंदा में पर्यवसान होने से व्याजस्तुति होती है। विमर्शिनीकार जयरथ का यह वक्तव्य कि व्याजस्तुति के ये दो रूप नहीं हैं-बल्कि दो प्रकार की पृथक्-पृथक् व्याजस्तुति है, यदि दोनों को एक ही का भेद माना जाय--तो उभय-व्याप्त सामान्य विशेषता क्या होगी?--जयरथ का यह प्रश्न है। अंतिम बात इससे संबद्ध यह है कि 'गम्य' अर्थ इस अलंकार में प्रायः 'लक्ष्य' कोटि का ही होता है--व्यंग्य कोटि का नहीं।

ससंदेह

भामह ने 'ससंदेह' के लिये तीन शर्तें स्थिर की हैं--(१) पहली यह कि उपमान से उपमेय की एकता बताई जाय। (२) दूसरी यह कि ऐसा भेदक तत्त्व कहा जाय जो उपमेय से उपमान को अलग कर दे। (३) तीसरी यह कि इन संदिग्ध उक्तियों से उपमेय का स्तवन हो सके। जैसे, राजा को देखकर किसी की उक्ति है--"क्या यह चंद्र है? नहीं, ऐसा हो नहीं सकता; कारण यह कि वह दिन में प्रकाशमान नहीं होता। तब क्या यह कुसुमायुध है--मगर वह भी तो फूल की धनुष लेता है--इसकी धनुष तो फूल की है नहीं।" यहाँ उक्त तीनों शर्तें घट जाती हैं।

दण्डी ने इसे पृथक् अलंकार के रूप में प्रस्तुत न करके उपमा के 'संशयोपमा' नामक भेद के रूप में उल्लिखित किया है। इन्होंने न तो अभेदोक्ति की शर्त कही है और न भेदक हेतु की। इन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है--उससे महज इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि उपमान और उपमेय के बीच संदेहात्मक स्थिति भर रख दी जाय। वामन ने इसका उल्लेख एक पृथक् अलंकार के रूप में किया है--पर 'उपमानोपमेयसंशय' मात्र ही इसके लिये आवश्यक माना है।

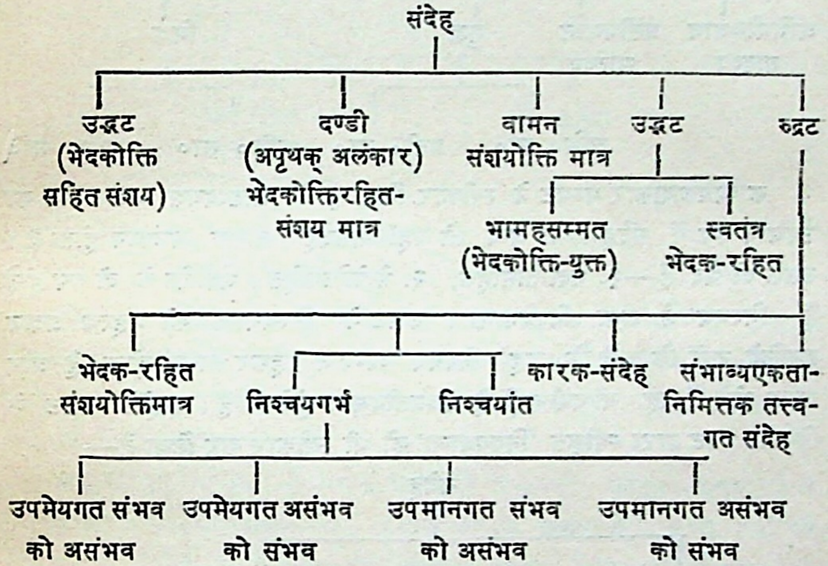
उद्भट ने भामह की उक्त परिभाषा ही ज्यों की त्यों तीनों शर्तों के साथ प्रस्तुत कर दी है। लेकिन उससे भिन्न एक और ससंदेह के भेद की वात कही है। स्वरूप यों बताया है--"जहाँ संदेह के न रहने पर भी इसलिये संदेह प्रस्तुत किया जाय--ताकि उससे कोई और अलंकार ध्वनित हो (उपमा ध्वनित हो) और उसके कारण सौंदर्य की प्रतीति हो, वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे--गरुड़ पर आरूढ़ भगवान् कृष्ण के वपु को देखकर यह शङ्का उपस्थित की जाती है--क्या यह सुमेरु पर नीला मेघ छाया हुआ है या प्रलयानल पर उससे उठा हुआ धूआँ ?" यहाँ केवल दो उपमानों से उपमेय की समता को ध्वनन करके एक विशेष सौंदर्य की प्रतीति कराना ही लक्ष्य है। इस प्रकार पहले भेद में भेदक हेतु का उल्लेख होता है--पर यहाँ नहीं होता। इस तरह दो भेद पहले-पहल उद्भट ने बताये। इन दोनों में से पहले पर तो भामह का स्पष्ट ही प्रभाव है। हो सकता है दूसरे पर दण्डी और वामन की कुछ छाया हो--क्योंकि उन लोगों ने भी अपने उदाहरणों में भेदक हेतुओं को नहीं रखा है।

रुद्रट ने इसकी 'संशय' नाम से पृथक् रूप में चर्चा की है--संशय की सामान्य परिभाषा यों दी है--"जहाँ द्रष्टा या ज्ञाता को सादृश्यवश एक ही विषय (उपमेय) में अनेक प्रकार की वस्तुओं का संदेह हो--वहाँ यह अलंकार होता है।" इस परिभाषा को दण्डी और वामन की परम्परा में ही रखा जा सकता है।

दूसरा प्रकार यों है, 'जहाँ उपमेय में जो वस्तु संभव नहीं है, उसका वहाँ अस्तित्व स्थापित किया जाय अथवा जो वस्तु हो उसका अभाव वर्णित किया जाय।' इसी प्रकार उपमान में जो असंभव हो उसे विद्यमान और जो विद्यमान हो उसे अविद्यमान बताया जाय, तो वहाँ पर **निश्चयगर्भित संशय** कहना चाहिए। और जहाँ अंत-अंत में निश्चयात्मक ढंग से निर्णय प्रस्तुत कर दिया जाय, वहाँ **'निश्चयान्त'** संशय कहा जाना चाहिए। संदेह का ही रुद्रट ने एक और प्रकार

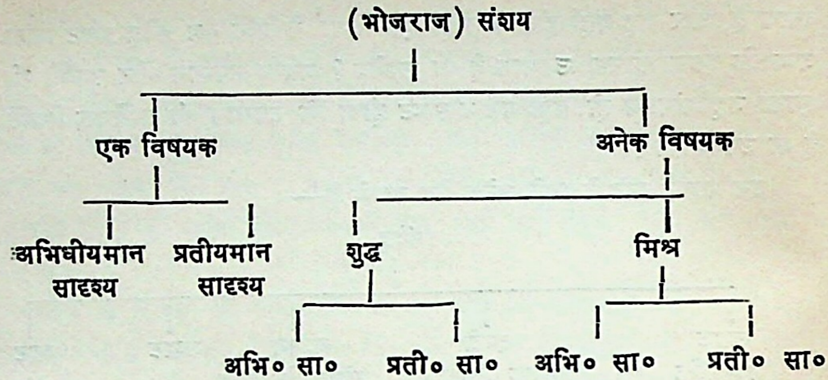
बताया है, और वह वहाँ होता है जहाँ एक क्रिया के प्रति यह संदेह प्रकट किया जाय कि इसका कारक उपमान है या उपमेय ? अथवा उपमान और उपमेय की एकता जहाँ संभाव्य हो, वहाँ यह न स्पष्ट होना कि उपमान की तात्त्विक स्थिति है या उपमेय की ?

इस प्रकार रुद्रट ने इसके अनेक भेद बताये हैं---

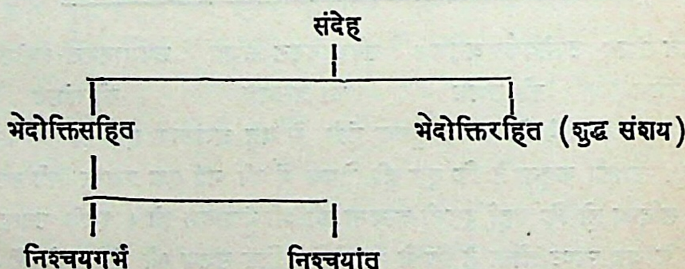


कुंतक ने कहा है कि उत्प्रेक्षामूलक होने से यह अलंकार एक ही प्रकार का होता है। उनका कहना है कि एक ही विषय में की गई एक प्रकार की कल्पना इसलिये संदिग्ध हो कि वहाँ दूसरी कल्पना की भी गुंजाइश हो। इनके उदाहरणों के देखने से यह स्पष्ट होता है कि ये भेदकोक्तिरहित संशय को ही मानते हैं।

भोजराज ने कहा है, 'दो वस्तुओं में अत्यधिक समानता होने के कारण जहाँ द्रष्टा का चित्त दोलायित हो, उसे 'संशय कहा जाता है।' उन्होंने संशय के दो भेद किये---(१) एक विषय में अनेक वस्तुओं का संशय, (२) अनेक वस्तुओं में एक ही वस्तु का संशय। पहले के दो भेद हैं, अभिधीयमान सादृश्य तथा प्रतीयमान सादृश्य और दूसरे के भी दो भेद हैं, शुद्ध और मिश्र। इनमें भी प्रत्येक के अभिधीय-मान सादृश्य तथा प्रतीयमान सादृश्य। 'वितर्क' भी इसी संशय में ही अंतर्भूत है। वितर्क और संशय में अंतर यह है कि वितर्क में निर्णय आसन्न होता है और 'संशय' में वितर्क। संशयग्रस्त व्यक्ति ही वितर्क द्वारा संशय खोता हुआ तत्त्वोप-लब्धि करता है।



काव्यप्रकाशकार मम्मट ने स्वीकार किया है कि सादृश्यवश जब उपमेय का उपमान रूप में संदेह किया जाय तो वहाँ 'ससंदेह' नामक अलंकार होता है। उसके दो भेद हैं——१. भेदोक्तिसहित, २. भेदोक्तिरहित। भेदोक्ति के दो रूप होते हैं——निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त। उद्भट ने 'निश्चयान्त' को महत्त्व प्रदान इसलिये नहीं किया है कि वहाँ 'निश्चय' व्यंग्य न रहकर वाच्य होता है और वाच्य होने में वह सौन्दर्य नहीं है जो प्रतीयमान होने में है। इन्होंने उद्भट के विपरीत रुद्रट द्वारा स्वीकृत 'निश्चयान्त' को भी स्वीकार कर लिया है—



हेमचंद्र ने अपनी मूल कृति तथा स्वोपज्ञ टीका में ससंदेह पर भिन्न-भिन्न रूपों में विचार किया है। जहाँ वर्ण्य-गत उत्कर्ष की सिद्धि के लिये संदिग्ध बात कही जाय वहाँ ससंदेह अलंकार माना गया है। मूल कृति में इन्होंने अलंकारान्तरगर्भित संशय के दो रूप बताये हैं—भेदोक्तिरहित एवं भेदोक्तिसहित। रुद्रट एवं मम्मट से भिन्न ढंग पर इन्होंने भेदोक्तिरहित में भी दो भेद कर दिये हैं—अनिर्णयान्त तथा निर्णयान्त। संभव है—भेदोक्तिसहित में भी ये दोनों भेद मानते हों——पर उदाहरण वैसा प्रस्तुत नहीं किया है।

स्वोपज्ञ टीका में पहले तीन भेद किये हैं——१. शुद्ध, २. संकीर्ण एवं ३. गूढ़। इन तीनों में संदेह ही प्रतिपाद्य रहता है। वही संदेह कहीं उत्पाद्य और कहीं 'जन्य'

भी हो सकता है। इन तीनों प्रकार के संदेहों में पहला रस भावतदाभास अलंकार में अंतर्भूत माना जाता है। उत्पाद्य संदेह दोष रूप ही होता है--क्योंकि वैसा संदेह उत्कर्षाभिधायक नहीं होता। रहा 'जन्य' संदेह या संदेहाभास, वही ससंदेह अलंकार का विषय होता है।

- संदेह
  - भे० रहित
    - निर्णयांत
    - अनिर्णयांत
  - भे० सहित

रुय्यक ने 'संदेह' संज्ञा ही दी है और बताया है कि 'उपमेय' की संदिह्यमानता ही 'संदेह' है। उपमान एवं उपमेय गत कवि-प्रतिभा-प्रसूत संदेह ही संदेहालंकार का विषय है। वह संदेह तीन प्रकार का होता है, १. शुद्धः २. निश्चय-गर्भ एवं ३. निश्चयान्त।

सादृश्य का प्रयोजक साधारण धर्म यहाँ अनुगामी, वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न एवं बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न--तीन प्रकार का हो सकता है। परंतु इसीलिये सादृश्यमूलक संदेह के समान-धर्म-निमित्तक तथा अनेक-धर्मनिमित्तक दो भेद नहीं करना चाहिये प्रत्युत सादृश्यमूलक, एक ही रूप मानना संगत है। इसके साथ-साथ जयरथ ने यह भी कहा है कि रुय्यक स्वयं 'संदेह' को अध्यवसाय-मूलक मानते हैं। दूसरे लोग उत्प्रेक्षामूलक भी कहते हैं। अध्यवसायाश्रित 'संदेह' के जयरथ ने तीन भेद बताये हैं--स्वरूपगत, हेतुगत, एवं फलगत।

जयदेव ने उपमान एवं उपमेय के अनिर्णय को 'संदेह' बताया है। इनकी इस विषय में कोई नई देन नहीं है।

साहित्यदर्पणकार ने रुय्यक का ही अनुसरण किया है। उन्होंने भी कोई नई बात नहीं जोड़ी। अप्पय दीक्षित ने भी कोई नई चर्चा नहीं छेड़ी।

पण्डितराज जगन्नाथ ने ससंदेह का स्वरूप अत्यंत व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है, जो यों है--"वह रमणीय ज्ञान ससंदेहालंकार है--जहां सादृश्यमूलक समकक्ष परस्पर विरोधिनी नाना कोटियां विद्यमान हों।' माला रूपक में भी नाना कोटियां रहती हैं, पर वहाँ पारस्परिक विरोध नहीं रहता। उत्प्रेक्षा में

परस्पर विरोधी नाना कोटियाँ रहती हैं, पर वे समकक्ष नहीं होतीं। इस संदेह को साथ ही साथ सादृश्यवश ही उत्पन्न होना चाहिए।

इसके तीन-शुद्ध, निश्चयगर्भ एवं निश्चयांत—भेद होते हैं। यह संशय न केवल आरोपमूलक ही होता है, प्रत्युत अध्यवसानमूलक भी। अन्य लोगों ने तो अध्यवसानमूलक भी इसे माना है, पर पंडितराज इस पक्ष में नहीं हैं।

यह संशय आहार्य (कल्पित) और अनाहार्य (वास्तविक)—दोनों प्रकार का हो सकता है। यदि कवि परकीय संशय का उल्लेख करता है तो वह वास्तविक भी हो सकता है, पर यदि स्वकीय हो तो कल्पित ही होगा। कुछ उदाहरण ऐसे भी दिखाये हैं, जहाँ परकीय संशय भी काल्पनिक हैं।

अगली बात उन्होंने संशय के संबंध में यह भी बताई है कि यह 'संशय' रूपक की भांति 'परम्परित' भी हो सकता है।

इस प्रकार संशय या ससंदेह की बहुरूपी विवेचना की गई है। भामहानुयायी उद्भट ने जिन दो भेदों का उल्लेख किया है, भेदकोक्तिसहित और भेदकोक्ति रहित—वे आगे के आचार्यों द्वारा भी मान्य रहे। यह बात दूसरी है कि अन्य अवान्तर भेदों की भी बाद में सृष्टिहोती रही।

परिवृत्ति—

भामह ने इसकी परिभाषा यों दी है, "अन्यवस्तु के दान या त्याग से जहाँ किसी विशिष्ट वस्तु की उपलब्धि की जाय और इसका समर्थन अर्थान्तरन्यास से किया जाय—वहाँ परिवृत्ति नाम का अलंकार होता है। जैसे—"याचकों को धन देकर उसने यशोधन का ग्रहण किया। ठीक ही है उदारचेता विश्वबंधुओं का यही अस्खलित व्रत है।"

दण्डी ने भी यह स्वीकार किया है कि अर्थ का पारस्परिक विनिमय ही परिवृत्ति में होता है, पर ऐसी शर्त नहीं कही है कि गृहीत होनेवाली वस्तु विशिष्ट ही हो। यद्यपि इन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उसमें ग्रहण विशिष्ट वस्तु का ही है। वामन ने कहा है कि यहाँ परिवर्तन (लेन-देन) तो अवश्य आवश्यक है, चाहे ली दी जाने वाली वस्तु समस्तरीय हो या विषमस्तरीय-सदृश हो या विसदृश।

उद्भट ने भी बताया है कि किसी एक वस्तु का दूसरी वस्तु से परिवर्तन ही परिवृत्ति है। परिवर्तन में समान, न्यून और विशिष्ट तीनों प्रकार की वस्तु हो सकती है। यदि सम और न्यून वस्तु ग्रहण की जाती है, तो वह परिवृत्ति 'अर्थस्वभाव' है। यहाँ अर्थ का मतलब है उपादेय और अनर्थ का 'अनुपादेय'।

उद्भट ने इसकी गणना वास्तवमूलक अलंकारों में की है और बताया है, कि दो वस्तुओं का जहाँ साथ ही त्याग और बदले में ग्रहण हो, अथवा दान और ग्रहण न होने पर भी उसकी प्रसिद्धि वश औपचारिक स्थिति हो, वहाँ यह अलंकार होता है।

कुंतक एक तो 'परिवृत्ति' को उपमा से पृथक् नहीं कहना चाहते दूसरे उसे तो वे अलंकार भी कहना उचित नहीं समझते। कारण, एक को देना और दूसरे को लेना, इसमें क्या अलंकार है? यहाँ तो दोनों वर्ण्य होने से प्रमुख हुये, फिर कौन अलंकार और कौन अलंकार्य?

भोजराज ने इसका स्वरूप यों बताया है, "दो वस्तुओं के व्यत्यय तथा पारस्परिक विनिमय, दोनों को परिवृत्ति अलंकार के अंतर्गत रखा जाता है।" इसी आधार पर इसके तीन भेद बनाये गये हैं, १—व्यत्ययवती २—विनिमयात्मिका तथा ३—उभयवती। अर्थात् एक स्थान में स्थित वस्तु को दूसरे स्थान में पहुँचा देने से, पारस्परिक दान और आदान से तथा दोनों के मिश्रण से। इन तीनों में से भी प्रत्येक के मुख्य तथा अमुख्य-भेद से कुल छः भेद हो जाते हैं।

मुख्या व्यत्ययवती का उदाहरण लें—"कुमुदवन की श्री कमलवन पर, उलूकों का मोद चक्रवाक पर तथा चंद्र का उदय सूर्य पर जा रहा है, अपनी अपनी लिखनी है।" यहाँ एक वस्तु का अन्यत्र जाना वर्णित है। शेष के उदाहरण स्पष्ट हैं। 'व्यत्यय' को परवर्ती आलंकारिकों ने 'पर्याय' के अंतर्गत वर्णित किया है।

भोजराज की अपेक्षा हेमचंद्र ने तो उनकी बात और स्पष्ट रूप से कह दी है। हेमचंद्र ने एक तो 'परिवृत्ति' को 'परावृत्ति' नाम से बोधित किया है, दूसरे उसका स्वरूप बताया है कि 'न केवल **'विनिमय'** ही परावृत्ति है बल्कि **'पर्याय'** भी परिवृत्ति है।" भोजराज के 'व्यत्यय' की जगह इन्होंने स्पष्ट ही 'पर्याय' शब्द का प्रयोग किया है। 'पर्याय' का अर्थ बताते हुए कहा है कि एक वस्तु का क्रमशः अनेक जगह रहना या अनेक वस्तुओं का क्रमशः एक जगह रहना दोनों ही 'पर्याय' हैं। अनुरूप उदाहरण भी प्रस्तुत किया गया है।

रुय्यक ने स्पष्ट रूप से 'पर्याय' को एक पृथक् अलंकार माना और मम्मट ने भी पहले ही मान लिया है कि 'पर्याय' तथा 'परिवृत्ति' भिन्न-भिन्न अलंकार हैं। मम्मट ने माना है कि समान से समान का तथा असमान से असमान का विनिमय-परिवृत्ति है। दूसरे के भी दो भेद हैं, कहीं उत्तम से न्यून का और कहीं न्यून से उत्तम का। इस प्रकार कुल तीन भेद हुये। रुय्यक ने वर्गीकरण के विषय में भी मम्मट का ही अनुकरण किया है। चंद्रालोक कार भी इसी धारा में हैं। साहित्य-

दर्पणकार तथा अप्पय दीक्षित भी इसी क्रम में हैं। पंडितराज ने 'असम' के दो भेदों की भाँति सम के भी दो भेद माने हैं--

- परिवृत्ति
  - सम से सम
    - उत्तम से उत्तम
    - न्यून से न्यून
  - असम से असम
    - उत्तम से न्यून
    - न्यून से उत्तम

पण्डितराज जगन्नाथ ने इस वर्गीकरण के साथ यह भी स्वीकार किया है कि यहाँ के विनिमय में कवि कल्पना का योग अवश्य अपेक्षित है, उसे वास्तव नहीं होना चाहिए।

अनन्वय--

भामह, दण्डी, उद्भट तथा वामन सभी इस बात से सहमत हैं कि अनन्वय में एक ही वस्तु (वर्ण्य) उपमेय तथा उपमान दोनों होती है। भामह की तरह उद्भट भी इस प्रकार की उक्ति का प्रयोजन एक ही मानते हैं और वह यह है कि वर्ण्य की समानता अन्यत्र न हो। दण्डी ने इस अलंकार का स्वतंत्र रूप में उल्लेख नहीं किया है। वामन ने भामह एवं उद्भट की भाँति इस प्रकार की उक्ति का प्रयोजन तो नहीं बताया--पर 'स्वरूप' के संबंध में वे एकमत हैं। प्रतीहारेंदुराज ने उद्भट के आशय को स्पष्ट करते हुये यह बताया है कि एक ही वस्तु में सादृश्य दिखाने का आशय केवल इतना है कि उसके समान दूसरी वस्तु दुनियाँ में नहीं है। अन्यथा एक ही वस्तु में 'सादृश्य' वास्तविक दृष्टि से तो संभव ही नहीं है। रुद्रट ने इस अलंकार का नाम ही नहीं लिया। कुंतक ने भामह के ही मत का उल्लेख करते हुये यह बताया है कि यह एक उपमा का ही प्रकार है--केवल नाम-भेद भर है, स्वरूपभेद नहीं। पर ऐसी बात उपर्युक्त विवेचन के आलोक में मान्य है नहीं। भोजराज ने भामह और उद्भट की भाँति 'निरुपमानता' के उद्देश्य से ही इस अलंकार का प्रयोग होता है—यह बताया है।

मम्मट ने इसका स्वरूप यों बताया है—"एक ही वाक्य में यदि एक ही वर्ण्य वस्तु को उपमान और उपमेय—दोनों रूपों में रखा गया है--तो वहाँ अनन्वय नामक अलंकार होता है।" यद्यपि रशनोपमा नामक अलंकार में भी

एक ही वस्तु उपमेय और उपमान रूप में वर्णित रहती है--पर वहाँ उद्देश्य विधेय भाव के भेद से वाक्य भेद होता है--यहाँ एक ही वाक्य में सब कुछ रहता है। अनन्वय शब्द की उत्पत्ति देते हुये मम्मट ने कहा है--अन्वय का अभाव ही अनन्वय है। अन्वय अर्थात् संबंध या सादृश्यात्मक संबंध वहीं संभव हैं जहाँ उपमान एवं उपमेय पृथक्-पृथक् हों--जहाँ उपमान और उपमेय एक ही वस्तु हो--वहाँ परस्पर सम्बन्ध कैसा ? सम्बन्ध के लिये दो का होना आवश्यक है। एक ही वस्तु में कैसा सम्बन्ध ? संबंध के लिये उपमान और उपमेय का भेद अनन्वय में भी दिखाई पड़ता है--पर यह काल्पनिक है, वास्तव नहीं। कमलाकर भट्ट (टीकाकार) ने अनन्वय के दो भेद किये हैं--श्रौत एवं आर्थ। श्रौत वहाँ होता है जहाँ 'इव' का प्रयोग हो और आर्थ वहां जहाँ इसका प्रयोग न हो। पर यह विभाजन ठीक नहीं है। यदि वहाँ साम्य ही प्रतिपाद्य होता--तो यह विभाजन समुचित होता, पर यहाँ वह बात है नहीं। साहित्य दर्पणकार ने 'लाटानुप्रास' से अनन्वय का अन्तर बताते हुये यह कहा है कि अनन्वय में आनुपूर्वीकी एकता अनियत हैं पर 'लाट' में नियत। प्रकाश के टीकाकार ने इस विषय में अपना मतभेद व्यक्त किया है। उभयत्र आनुपूर्वी की एकता मानते हुये भी उन्होंने चमत्कार बीज के भेद से दोनों अलंकारों को पृथक्-पृथक् माना है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने 'अनन्वय' के संबंध में अवश्य कुछ बहुमूल्य विचार प्रस्तुत किये हैं। हेमचंद्र, रुय्यक, जयदेव, अप्पय तथा अन्य विद्वानों ने कोई विशेषता नहीं दिखाई है। पंडितराज की परिभाषा इस प्रकार है--"अनन्वय वह सादृश्य है, जिसमें एक ही (वर्ण्य) विषय उपमान और उपमेय दोनों हों, साथ ही वह सादृश्य वस्तुतः वर्ण्य की अनुपमता द्योतित करने में पर्यवसित हो।" यद्यपि वर्ण्य की अनुपमता कल्पितोपमा में भी होती है, पर वहाँ उपमान और उपमेय भिन्न-भिन्न होते हैं।

पण्डितराज ने यद्यपि इसका स्वतंत्र विवेचन किया है, परन्तु उपमा-निरूपण के अवसर पर उसे एक प्रकार की उपमा ही बतायी है। इसलिये अनन्वय के भेद पर विचार करते हुये उपमा की ही भाँति इसके भी 'पूर्ण' एवं 'लुप्त'--दो भेद बताये हैं। 'पूर्णा' अनन्वय के पूर्णोपमा की भाँति छः भेद होते हैं, पर 'लुप्त' अनन्वय के यथासंभव कुछ ही भेद हो सकते हैं।

रत्नाकर ने 'अनन्वय' के निम्नलिखित तीन भेद कहे हैं--

(१) उपमेय की ही उपमान के रूप में कल्पना करके उपमेय से साधर्म्य का आपाततः प्रतिपादन करना।

(२) एक ही उपमेय के भिन्न-भिन्न भागों में उपमान तथा उपमेय की कल्पना।

(३) उपमेय के ही बिंब तथा प्रतिबिंब में उपमानोपमेय भाव की कल्पना।

इन तीनों को ही उन्होंने इसलिये 'अनन्वय' कहा है कि तीनों ही में वर्ण्य की अनुपमता ध्वनित होती है। परन्तु ये भेद ठीक नहीं हैं। कारण अनुपमता का ध्वनन-मात्र ही अनन्वय का स्वरूप नहीं है, अन्यथा 'कल्पितोपमा' तथा 'यद्यर्थातिशयोक्ति' दोनों भी अनन्वय हो जाते! वस्तुत: जिन दो में उपमानता और उपमेयता, की कल्पना की जाती है, उनको एक ही होना चाहिए। पर वह बात पिछले दो भेदों में नहीं है। दूसरी बात यह है कि उपमेय और उपमान भाव जिन दो में दिखाया जाता है, अनुपमता उन्हीं में से जो उपमेय हो, उसमें होनी चाहिए। यहाँ उनमें न होकर उनके आश्रय में होती है। इसीलिये अलंकार सर्वस्वकार की तरह यहाँ अनन्वय ध्वनि की बात भी नहीं कही जा सकती।

इस प्रकार अनन्वय के स्वरूप में जिन दो शर्तों का उल्लेख भामह तथा उद्भट ने किया है, उसी की अंततः मान्यता बनी रही।

उपमेयोपमा —

भामह, दण्डी, वामन एवं उद्भट तथा रुद्रट—इन सभी आलंकारिकों ने एक ही अभिप्राय (इसके स्वरूप के विषय में) व्यक्त किया है। इतना अवश्य है कि दण्डी तथा रुद्रट ने इसे 'उपमा' के एक भेद के रूप में कहा है जब कि भामह, वामन तथा उद्भट ने एक स्वतंत्र अलंकार के रूप में। दण्डी ने इसे 'अन्योन्योपमा' के नाम से कहा है और यह बताया है कि इसमें उपमान से उपमेय की तथा उपमेय से उपमान की परस्पर समता दिखाई जाती है! इस समता के प्रदर्शन का फल यह होता है कि दोनों का उत्कर्ष सिद्ध हो। भामह ने भी एक ही वर्ण्य की बारी-बारी से उपमेयता तथा उपमानता स्वीकार की है। वामन ने इसी बात को कहा है कि क्रम से यदि एक ही वस्तु उपमेय और उपमान भी बनती है तो उपमेयोपमा, पर यदि एक ही वस्तु उपमान और उपमेय दोनों हों तो वहाँ अनन्वय होता है। इस परम्परा में दण्डी ने इस प्रकार की उक्ति का प्रयोजन यह बताया था कि इस प्रकार की उक्ति से दोनों का उत्कर्ष सिद्ध होता है। पर उद्भट एवं रुद्रट इस धारणा से सहमत नहीं हैं। उद्भट ने पहले-पहल इस प्रयोजन का खण्डन करते हुये कहा कि वस्तुतः इस प्रकार की उक्ति का प्रयोजन यह होता है कि इन दोनों की तुलना में कोई तीसरा पक्ष उपस्थित नहीं किया जा सकता। अपनी बराबरी में तो ये ही हो सकते हैं। किसी प्रकार दण्डी के प्रयोजन से भी इसे अविरुद्ध कहा

जा सकता है । कारण, तीसरा कोई इनकी तुलना में नहीं आता--का अर्थ यही तो हुआ कि ये दोनों अपना सानी तीसरा नहीं रखते। अर्थात् दोनों ही उत्कृष्ट हैं। परन्तु वस्तुत: उत्कर्ष का पर्यवसान तो वर्ण्य-गत (उपमेयगत) ही में होना चाहिए। उद्भट इस पक्ष के ज्यादा नजदीक हैं। इसीलिये रुद्रट ने इनका पक्ष लेते हुए 'उभयोपमा' नाम से इस अलंकार का प्रयोजन वही स्वीकार किया है कि कोई तीसरी वस्तु इनके समान नहीं हैं। दण्डी की भाँति इन्होंने उपमा के एक भेद के रूप में ही इसे रखा है। दण्डी ने 'अन्योन्योपमा' कहा है और इन्होंने 'उभयोपमा'। वामन ने उन लोगों का खण्डन किया है जो इसे 'परिवृत्ति' संज्ञा देना चाहते हैं! कुंतक ने 'उपमेयोपमा' को उपमा से इसलिए पृथक् नहीं माना है कि उपमा से भिन्न न तो उसका स्वरूप है और न अतिरिक्त स्थिति। पर क्यों भिन्न स्वरूप नहीं है, क्यों भिन्न स्थिति नहीं है--इसका कोई कारण नहीं दिया। 'भोज' ने भी इस अलंकार की चर्चा 'उभयोपमा' संज्ञा से ही की है। प्रकाशकार मम्मट ने इसकी 'उपमेयोपमा' नाम से एक पृथक् अलंकार के रूप में चर्चा की है। इन्होंने इस अलंकार के प्रयोजन पर भी विचार किया है और कहा है कि जिस प्रकार 'अनन्वय' का फल है दूसरी सदृश वस्तु का अभाव, उसी प्रकार उपमेयोपमा का फल है तीसरी सदृश वस्तु का अभाव। गृहीत उपमेय के समान उपमान और उस उपमान के वही उपमेय। इन दोनों की पारस्परिक तुलना में तीसरी वस्तु का सृष्टि में सर्वथा अभाव प्रतिपादित करना इस अलंकार का प्रमुख प्रयोजन है। इनके टीकाकारों ने इस अलंकार की व्युत्पत्ति पर भी विचार करते हुए कहा है कि इसकी संज्ञा उपमेयोपमा इसलिये है कि इसमें उपमेय से भी उपमा दी गई रहती है। उपमेय से उपमा 'प्रतीप' में भी दी जाती है, परन्तु वहाँ केवल उपमेय से ही उपमा दी जाती है और उसका लक्ष्य तीसरी समान वस्तु का अभाव प्रतिपादन भी नहीं रहता जब कि उपमेयोपमा में उपमेय से तो उपमा दी ही जाती है उपमान से भी उपमा दी जाती है। 'उपमा' में केवल उपमान से ही उपमा दी जाती है, उपमेय से नहीं। इन दोनों के एक वाचकानुप्रवेश संकर से पृथक् इस अलंकार को मानना होगा। कारण यह है कि 'संकर' की स्थिति में उपमा एवं प्रतीप के योग से यद्यपि उपमान से उपमेय की और उपमेय से उपमान की तुलना होगी, परन्तु तृतीय समान वस्तु का व्यवच्छेद नहीं होगा।

हेमचंद्र ने उपमा के प्रसंग में 'उपमेयोपमा' की चर्चा भर ही की—कोई नया विवेचन नहीं दिया। रुय्यक ने भी परम्परागत धारणा को मान्यता प्रदान की है। नवीनता के नाम पर महज उन्होंने इतना ही कहा है कि इस के दो

भेद होते हैं--धर्म के 'साधारण' रूप से तथा 'वस्तु प्रतिवस्तुभाव' रूप से निर्दिष्ट होने के कारण। साहित्य दर्पणकार ने तो नहीं, परन्तु कुवलयानन्दकार अप्पय ने इस अलंकार के प्रयोजन पक्ष से विचार करते हुये यह अवश्य कहा है कि जब किसी एक धर्म से उपमान का उपमेय से सादृश्य प्रदर्शित कर दिया गया तो उपमेय से उपमान का सादृश्य भी स्वतः (बिना शब्दतः कहे) सिद्ध है--फिर क्या कारण है कि उसे दुबारा शब्द से कहा जाता है ? उसका अर्थ यही है कि दुबारा कहने से यह बात दृढ़ होती है कि यदि प्रकृत उपमेय के समान सृष्टि में कोई दूसरी वस्तु समान है—तो वही उपमान और उस उपमान से इस सृष्टि में कोई समान वस्तु है--तो वही उपमेय। इस प्रकार इनसे यही प्रयोजन सिद्ध होता है कि इनके समान दुनियाँ में कुछ है--तो ये ही दोनों परस्पर न कि तीसरी वस्तु।

पण्डितराज जगन्नाथ इसे उपमा का एक भेद मानते हैं--इसीलिये इसे 'सादृश्य' रूप ही मानते हैं। इसीलिये इसका स्वरूप बताते हुये उन्होंने कहा है—"उपमेयोपमा उस सादृश्य को कहते हैं, जो परस्पर उपमानोपमेय भाव को प्राप्त दो अर्थों के बीच हुआ करता है और जिसका फल तृतीय सदृश वस्तु का अभाव बताना होता है"। इसके साथ ही एक बात का ध्यान और भी रखना चाहिए और वह यह है कि जिस धर्म से उपमान से उपमेय का सादृश्य हो, उसी धर्म से उपमेय से उपमान का भी सादृश्य निरूपित करना चाहिए--अथवा जिस प्रयोजन की अभिव्यक्ति के लिये यह उक्ति कही जाती है--वह प्रयोजन ही सिद्ध नहीं हो सकेगा।

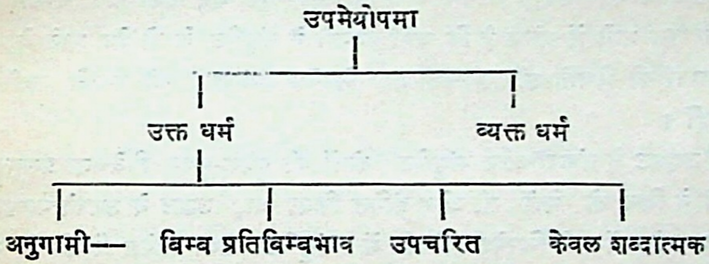
जहाँ तक इस अलंकार के वर्गीकरण का संबंध है, वह दो प्रकार का है--उक्तधर्मा तथा व्यक्तधर्मा। उक्तधर्मा उपमेयोपमा भी कई प्रकार की संभव है। धर्म अनुगामी, बिम्बप्रतिबिम्बभाव युक्त, उपचरित, केवल शब्दात्मक—जैसे अनेक प्रकार के हो सकते हैं। यह धर्म कहीं 'व्यक्त' और कहीं उक्त हुआ करता है। इसी प्रकार पूर्णा, लुप्ता आदि भेद भी संभव हैं—जिन्हें स्वयं समझा जा सकता है।

चित्र मीमांसा में अप्पय दीक्षित ने इसका जो स्वरूप बताया है—वह भ्रामक है। उन्होंने बताया है—"वह उपमा उपमेयोपमा है, जो परस्पर उपमान एवं उपमेय भाव से युक्त दो अर्थों के बीच हो, जो एक धर्मनिमित्तक ही हो, जो या तो अभिधा बोध्य हो या व्यंजना"। इस परिभाषा में 'उपमा' को उपमेयोपमा होने के लिये तीन शर्तें बताई गई हैं। और तीनों शर्तें सार्थक हैं। पर इसमें उपमेयोपमा के लिये अपेक्षित एक चौथी शर्त का उल्लेख नहीं है। चौथी है—तृतीय सदृशवस्तु का अभाव प्रतिपादित करना। ऐसे स्थल भी संभव हैं--जहाँ उक्त तीनों शर्तें घट

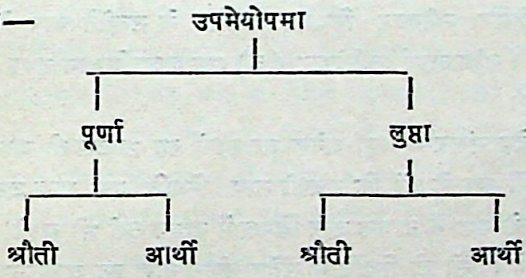
जायँ---पर मुख्य प्रयोजन न बन पाये, फलतः वहाँ उपमेयोपमा हो ही न। निष्कर्ष यह कि प्रयोजनोक्ति से रहित उपमेयोपमा की परिभाषा किसी तरह मान्य नहीं हो सकती। इस प्रकार इन सभी शर्तों को ध्यान में रखकर यदि विभिन्न आचार्यों की परिभाषाओं की परीक्षा की जाय---तब तो बहुत सी परिभाषाएँ अग्राह्य हो जायँगी।

इस प्रकार उपमेयोपमा के संबंध में पण्डितराज ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उद्भट का इस अलंकार के विकास में प्रयोजन-निरूपण के क्षेत्र में अपने पूर्ववर्ती आलंकारिकों की अपेक्षा अवश्य ही अधिक उपयोग है।

इसका भेद-चित्र इस प्रकार हुआ।



दूसरी दृष्टि से—



संकर---

भामह ने 'संकर' नाम से किसी अलंकार का निर्देश नहीं किया है। उन्होंने प्रत्येक अलंकार का पृथक्-पृथक् स्वरूप कह लेने के बाद यह बताया है कि 'संसृष्टि' एक उत्तम विभूषण है। वहाँ अनेक अलंकारों का योग होता है। अनेक अलंकारों से गुथी वह अलंकृति 'रत्नमाला' की भाँति जान पड़ती है। इसी प्रकार दण्डी ने बताया है कि नाना अलंकारों का संसर्ग 'संसृष्टि' के लिये अपेक्षित है। इन्होंने इस (१) संसृष्टि के दो भेद बताये हैं—पहले में अलंकारों का परस्पर सापेक्ष या गुणप्रधान भाव से स्थिति, अंगांगिभावपूर्वक स्थिति हो (२)

दूसरा भेद वह जहाँ अलंकारों की समकक्ष स्थिति हो। परवर्ती आलंकारिकों ने पहले की 'संकर' और दूसरे को 'संसृष्टि' संज्ञा दी है।

वामन ने भी 'संकर' की चर्चा नहीं की। 'संसृष्टि' का स्वरूप बताते हुए इन्होंने यह अवश्य कहा कि अलंकारों का मिश्रण ही संसृष्टि है। अथवा एक अलंकार का जो दूसरे अलंकार के प्रति कार्य-कारण-भाव संबंध है, यही 'संसृष्टि है। इन्होंने अलंकारों की सापेक्ष-स्थिति को ही 'संसृष्टि' कहा और इस के दो भेद बताये—उपमा रूपक तथा उत्प्रेक्षावयव। इस प्रकार वामन ने भामह और दण्डी—दोनों से अपनी पृथक् स्थिति रखी। भामह ने उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षा-वयव का संसृष्टि के भेद के रूप में नहीं, वल्कि स्वतंत्र रूप में स्वरूप परिचय प्रस्तुत किया है, जबकि वामन ने तीनों को एक कर दिया है। दण्डी से भी इनका इस माने में अंतर है कि जहाँ दण्डी ने संसृष्टि के दो भेद माने थे, सापेक्ष अलंकारों की स्थिति और समकक्ष या निरपेक्ष अलंकारों की स्थिति, वहाँ वामन ने नहीं।

उद्भट ने संकर' और 'संसृष्टि' दोनों की पृथक्-पृथक् विवेचना प्रस्तुत की। दण्डी ने जिन दो भेदों की ओर इंगित किया था, उद्भट ने उनको पकड़ा और अनेक अलंकारों की निरपेक्ष स्थिति में 'संसृष्टि' तथा सापेक्ष स्थिति में 'संकर' नाम का अलंकार स्वीकार किया। 'संकर' के उन्होंने चार भेद वताये, (१) संदेह संकर, (२) शब्दार्थ वर्त्यलंकार, (३) एक शब्दाभिधान तथा (४) अनुग्राह्या-नुग्राहक भाव।

(१) संदेह संकर—जहाँ अनेक अलंकारों का उल्लेख तो जान पड़ता हो, पर वे ऐसे विरोधी रूप के हों, कि सबकी साथ स्थिति एक साथ असंभव हो। उनमें से किसी एक के पक्ष में साधक और विपक्ष में वाधक तर्क भी न हो, तो सभी संदिग्ध स्थिति के होंगे। ऐसी ही स्थिति में संदेह-संकर नाम का अलंकार होता है।

(२) शब्दार्थवर्ती अलंकार—यदि एक ही वाक्य में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों की ही स्थिति हो, तो वहाँ यह भेद माना जाता है।

(३) एक शब्दाभिधान—जहाँ एक ही वाक्यांश में या वाक्य के एक खण्ड में अनेक अलंकारों की स्थिति हो, वहाँ यह भेद होता है। परवर्ती आलंकारिकों ने २–३ को एक ही अलंकार के अंतर्गत माना है।

(४) अनुग्राह्यानुग्राहक संकर—जहाँ अनेक अलंकारों में से प्रत्येक अपनी विच्छित्ति-साधना में परमुखापेक्षी हो, वहाँ पर यह भेद होता है।

प्रतीहारेंदुराज ने इसको समझाते हुए कहा है कि इस प्रकार यह चतुर्विध संकर नाना अलंकारों की स्थिति में विकल्प, व्यवस्था, समुच्चय एवं अंगांगिभाव

का सहारा लेने से बन पाते हैं। निष्कर्ष यह कि चार भेद करने में आधार ये चार हैं [विशेष मूल व्याख्या में देखें]।

'रुद्रट' ने बताया है कि वास्तव, औपम्य, अतिशय एवं श्लेष नामक इन चारों अलंकारों के शुद्ध भेद तो कहे ही गये, 'संकीर्ण' दृष्टि से देखा जाय, तो भी अनेक भेद दिखाई पड़ेंगे। जहाँ तक इनकी संज्ञा का संबंध है, जिसका-जिसका संकर हो, उसके नाम पर नामकरण किया जा सकता है।

स्थूल रूप से उन्होंने दण्डी, एवं उद्भट को ध्यान में रखते हुये कहा है कि यह सांकर्य दो दृष्टांतों से समझाया जा सकता है, तिल एवं तण्डुल की भाँति मिल जाने पर भी स्पष्ट निरपेक्ष स्थिति रखने वाले (२) तथा दुग्ध एवं जल की भाँति मिलकर अव्यक्त स्थिति रखने वाले। परवर्ती आलंकारिकों ने पहले दृष्टांत से मिलने वाले अलंकारों को 'संसृष्टि' और दूसरे ढंग से मिलने वालों अलंकारों को 'संकर' नाम दिया है। पहले में अलंकारों की निरपेक्ष और दूसरे में सापेक्ष स्थिति होती है।

कुंतक ने तो नहीं, पर भोजराज ने 'संकर' संज्ञा का उल्लेख न करते हुये भी 'संसृष्टि' के तीन भेद किये हैं, व्यक्त, अव्यक्त एवं व्यक्ताव्यक्त। इनमें से 'अव्यक्त' नामक भेद में अलंकारों की नीरक्षीर की भाँति जब वे सापेक्ष स्थिति स्वीकार करते हैं, तब मानना होगा कि इसी रूप में 'संकर' की चर्चा करते हैं। इनके विपरीत हेमचंद्र ने केवल 'संकर' संज्ञा का ही उल्लेख करते हुए उसके कई भेद बताये हैं: (१) परस्पर निरपेक्ष रूप में अनेक अलंकारों की एक वाक्य या वाक्यार्थ में स्थिति, (२) उपकारक या अंग रूप में अनेक अलंकारों की स्थिति (३) साधक, बाधक प्रमाण के अभाव में अनेक अलंकारों की संदेहास्पद स्थिति (४) एक ही पद में शब्द एवं अर्थालंकार का समावेश। यहाँ स्पष्ट ही परस्पर निरपेक्ष अलंकारों को भी संकर कह दिया गया है। उद्भट या अन्य आलंकारिकों ने पहले को 'संसृष्टि' में और शेष तीन को 'संकर' में अन्तर्भूत रखा है। काव्य प्रकाश-कार मम्मट ने पहले को संसृष्टि और शेष तीन में से पहले को 'अंगांगिभावसंकर' दूसरे को संदेह-संकर तथा तीसरे को एकवाचकानुप्रवेश संकर बताया है। संसृष्टि में एकाधिक अलंकारों का परस्पर निरपेक्ष अवस्थान होता है, परंतु संकर में सापेक्ष। 'सापेक्षता' तीन प्रकार की संभव है, एक तो इस प्रकार की कि एकाधिक अलंकार परस्पर एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं, बल्कि मुखापेक्षी होकर ही विश्रान्ति लाभ और चमत्कारक हो पाते हैं। यहाँ तो स्पष्ट ही पारस्परिक अपेक्षा है। 'संदेह' में एकाधिक अलंकारों का स्वरूप ही इतना संकीर्ण है कि निर्णय ही नहीं हो पाता कि यहाँ उन एकाधिक अलंकारों में से किसकी स्थिति निश्चित रूप से

कही जाय। तीसरा रूप है, एकवाचकानुप्रवेश संकर। यहाँ अनेक अलंकारों की स्थिति स्वरूप की दृष्टि से तो सापेक्ष नहीं होती पर आश्रय की दृष्टि से सापेक्ष होती है। एक ही आश्रय (पद या वाक्य) में साथ ही एकाधिक अलंकारों की स्थिति संभव है। संसृष्टि और एकवाचकानुप्रवेश संकर में यह साम्य अवश्य दिखाई देता है कि जैसे संसृष्टि में वाक्य या वाक्यार्थ रूप एक ही आश्रय में अनेक (स्वरूपसिद्धि में निरपेक्ष) अलंकारों की स्थिति रहती है उसी प्रकार एकवाचकानुप्रवेश में भी---फिर भी दोनों में सूक्ष्म अंतर यह होता है जहाँ संसृष्टि में भिन्न-भिन्न अलंकार भिन्न-भिन्न पदों में रहते हैं, वहीं एकवाचकानुप्रवेश में समान पद का ही सहारा लेकर अनेक अलंकारों की स्थिति संभव है।

रुय्यक ने भी 'संकर' का पृथक् विचार प्रस्तुत किया है और ये ही तीन भेद स्वीकार किये हैं।

चंद्रालोककार जयदेव की इस प्रसंग में अपनी एक विलक्षण ही मान्यता है। उनका यह कहना है कि एक अभिप्राय को सुन्दर बनाने के लिये कही गई उक्ति में एक अलंकार भी हो सकता है, दो अलंकार भी प्रधान-अप्रधान रूप में रह सकते हैं, दो अलंकार सम-प्रधान पर निरपेक्ष रूप में रह सकते हैं और दो या दो से अधिक अलंकार परस्पर सापेक्ष रूप में रह सकते हैं। पहले स्थल में शुद्धि, दूसरे स्थल में एक प्रधान, तीसरे में संसृष्टि और चौथे में संकर की स्थिति मानी जाती है, परंतु वे स्वयं इसे अस्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि इन्हें माने हुए पृथक्-पृथक् अलंकारों से भिन्न एक स्वंतत्र अलंकार ही माना जाय, ठीक नहीं। चंद्रालोककार के इस पक्ष को किसी ने मान्यता नहीं दी।

साहित्यदर्पणकार ने प्रकाश एवं रुय्यक के अनुसार ही संकर का स्वरूप माना है, परंतु अप्पय ने संकर के कई भेद माने हैं और इसे 'नृसिंहाकार' एक भिन्न अलंकार माना है, जहाँ अनेक भिन्न रूप वाले अलंकारों के मेल से स्वतंत्र अलंकार बनता है। संकर के इन्होंने चार भेद माने हैं, १---अंगांगिभाव २---समप्राधान्य संकर ३---संदेह संकर तथा ४---एकवचनानुप्रवेश संकर। इसके अतिरिक्त (५) एक संकर संकरालंकार भी कहा है।

संसृष्टि—

उद्भट ने 'संसृष्टि' वहाँ मानी है---जहाँ अनेक अलंकारों की निरपेक्ष स्थिति हो। भामह ने भी 'संसृष्टि' की चर्चा की है। परन्तु वे इसके लिये केवल इतना ही आवश्यक मानते हैं कि एतदर्थ अनेक अलंकारों की स्थिति या उनका मिश्रण होना चाहिये। दण्डी ने 'संसृष्टि' के दो रूप बताये, यद्यपि सामान्य स्वरूप निर्णय

करते समय उन्होंने भी भामह की तरह यही स्वीकार किया था कि इसमें नाना अलंकारों का संसर्ग अपेक्षित है। पर बाद में इसके जो दो रूप बताये हैं--उनमें एक तो (अंगांगिभाव) सापेक्ष रूप में स्थित अलंकारों का मिश्रण और दूसरा समकक्ष रूप में स्थित अलंकारों का संसर्ग। उद्भट ने दण्डी द्वारा विभक्त इन दो रूपों में पहले के 'संकर' को अन्तर्गत और दूसरे को 'संसृष्टि' के अन्तर्गत रखा है। उद्भट ने इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुये कहा है--"अनेक या दो अलंकारों का एकत्र निरपेक्ष अवस्थान संसृष्टि कही जाती है"। वामन ने भी भामह की भाँति सामान्यतः 'संसृष्टि' के लिये उतना ही आवश्यक माना है कि यहाँ अनेक अलंकारों का मिश्रण होता है। इसके जिन दो भेदों (उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव) को उदाहृत किया गया है--उससे उद्भट--संमत 'संसृष्टि' का स्वीकार नहीं जान पड़ता। उन्होंने तो 'संकर' की भाँति परस्पर-सापेक्ष स्थिति रखने वाले अलंकारों की ही चर्चा की है। रुद्रट ने एक भिन्न संज्ञा 'संकीर्ण' से ही इनका विचार किया है। पर बाद में 'संकर' या मिश्रण के जो दो रूप बताये हैं--तिलतण्डुलवत् तथा दुग्धजलवत्---उनमें से तिलतण्डुलवत् मिश्रित अलंकारों के लिये ही उद्भट ने 'संसृष्टि' का प्रयोग किया है। इस प्रकार भामह और वामन में संसृष्टि का स्वरूप उतना मुखर नहीं है, पर दण्डी में कुछ-कुछ संकर और संसृष्टि के दल पृथक्-पृथक् होते हुये लक्षित होने लगे थे। उद्भट ने उन दोनों को स्पष्ट अलग कर दिया। रुद्रट में उसका स्वरूप और भी स्पष्ट हुआ।

कुंतक ने तो नहीं, परन्तु भोजराज ने 'संसृष्टि' पर विचार करते हुए यह आवश्यक बताया कि नाना अलंकारों का संकर ही संसृष्टि है। वह संसृष्टि तीन प्रकार की होती है--व्यक्ता, अव्यक्ता तथा व्यक्ताव्यक्ता। 'व्यक्त' संसृष्टि वहाँ होती है—जहाँ तिल तण्डुल या प्रतिबिम्ब और दर्पण की भाँति अनेक अलंकारों की स्थिति स्पष्ट दिखाई पड़े। उद्भट या अन्य परवर्ती अलंकारशास्त्रियों ने इसी को 'संसृष्टि' माना है। 'अव्यक्त' नामक संसृष्टि का भेद वहाँ होता है जहाँ नीर-क्षीर या रजःकण पानी की तरह कई अलंकार सापेक्ष रूप में मिले दिखाई पड़ते है। 'व्यक्ताव्यक्त' में नरसिंहाकार दोनों विरूप भेदों का मिश्रण यहाँ लक्षित होता है। इस प्रकार इनकी 'व्यक्त संसृष्टि' ही 'संसृष्टि' अव्यक्त संसृष्टि ही 'संकर' तथा 'व्यक्ताव्यक्त संसृष्टि एक नवीन कल्पित भेद है--जिसको पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों द्वारा कोई समर्थन नहीं मिला।

हेमचंद्र ने 'संसृष्टि' संज्ञा का उल्लेख ही नहीं किया, प्रत्युत 'संकर' के ही चार भेद बताये। इन चारों में से प्रथम भेद जहाँ नाना अलंकारों की निरपेक्ष

स्थिति होती है 'संसृष्टि' कही गई है। मम्मट भी इसी रूप को संसृष्टि स्वीकार करते हैं।

रुय्यक ने इस विषय में जमकर और अच्छा विचार प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा है कि अलंकारों का पृथक्-पृथक् अपना एक सौंदर्य तो होता ही है इनके संश्लेष से एक पृथक् कोटि की भी चारुता उत्पन्न होती है, जिसको मानकर दो और अलंकारों की कल्पना आचार्यों ने की है। यह संश्लेष, दो प्रकार का होता है संयोग न्याय से और समवायन्याय से। संयोगन्याय का अर्थ यह है कि जहाँ भिन्न-भिन्न अलंकारों की उत्कट रूप में स्थिति हो और समवाय न्याय का अर्थ है जहाँ उनकी अनुत्कट रूप में स्थिति हो। उत्कट स्थिति को ही स्पष्ट करने के लिये पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने 'तिलतण्डुलन्याय' का सहारा लिया है और अनुत्कट स्थिति को समझाने के लिए 'नीरक्षीरन्याय' का। पहले ही प्रकार के संश्लेष में 'संसृष्टि' और दूसरे प्रकार के संश्लेष में 'संकर' नाम के अलंकार की चर्चा की जाती है।

इस स्थापना के समय एक सहज प्रश्न यह खड़ा किया जा सकता है कि यदि उक्त रूप से संश्लेषपूर्वक अलंकारों का कहीं संनिवेश किया जाय तो वहाँ के प्रत्येक अलंकार का अपना अलग-अलग अस्तित्व माना जायगा। रुय्यक का पक्ष है कि जिस प्रकार सुवर्ण एवं मणि में वने हुए वाह्य अलंकार अपना अलग-अलग तो एक सौंदर्य रखते ही हैं, पर यदि उन्हीं एकाधिक अलंकारों का कहीं एक साथ विनिवेश कर दिया जाय तो एक और ही सौंदर्य पैदा होता है। इसी प्रकार काव्यीय अलंकारों के संयोजन से भी एक पृथक् सौन्दर्य उत्पन्न होता है, फलतः ऐसी स्थिति के नियोजित अलंकारों को एक स्वतंत्र प्रकार की चारुता का उत्पादक होने के कारण स्वतंत्र अलंकार मानना ही संगत है।

यहीं एक दूसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि शब्दालंकार एवं अर्थालंकार के एकत्र संयोजन मात्र से एक नया अलंकार क्यों मान लिया जाय? दोनों के स्तर और दोनों की कक्षाएँ भिन्न-भिन्न हैं---इसलिये एक साथ एक ज्ञान में दोनों का साथ झलकना भी कठिन है, फलतः सम्मिलित प्रतीति के अभाव के कारण एक विलक्षण चारुता भी संभव नहीं है। अतः उस चारुता के प्रयोजक एक अलंकार की कल्पना भी असंगत है। ठीक है, पर दो शब्दालंकारों या दो अर्था-लंकारों का सम्मिलित ज्ञान समानस्तरीय होने के कारण तो संभव है न? इस सम्मिलित ज्ञान से उत्पन्न चारुता भिन्न प्रकार की होगी और भिन्न प्रकार का होने से वहाँ एक स्वतंत्र अलंकार माना जा सकेगा। रही बात विजातीय अलंकारों की संसृष्टि का-शब्दालंकार एवं अर्थालंकार की संसृष्टि का-उस विषय

में यह समझना चाहिए कि यद्यपि शब्द एवं अर्थ ज्ञान का साधन भिन्न-भिन्न है पर उनकी अलंकारता का मानस बोध तो साथ हो सकता है। फलतः इनकी भी संसृष्टि संभव है। दूसरी बात यह है कि काव्य में अर्थ का ज्ञान भी वाह्य अर्थ के समान आँखों से नहीं, बल्कि शब्द के द्वारा ही होगा। अतः यह उक्ति निरर्थक है।

इस प्रकार यह संसृष्टि भी तीन प्रकार की हुई—(१) शब्दालंकारगत (२) अर्थालंकारगत एवं (३) उभयालंकार गत।

पीयूषवर्ष जयदेव एक पृथक् 'संसृष्टि' नाम का अलंकार मानना स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि अलंकारों की न्यूनाधिकता वश यदि अलंकारान्तर की कल्पना की जाने लगे, तो अनन्त भेदों की निरर्थक वृद्धि स्वीकार करनी पड़ेगी। पर इस स्थापना को परवर्ती आलंकारिकों ने मान्यता नहीं दी।

दर्पणकार एवं अप्पय दीक्षित ने 'संसृष्टि' स्वीकार की है। अप्पय दीक्षित का कहना है कि विभिन्न अलंकारों के मेल से नृसिंहाकार एक स्वतंत्र अलंकार की ही कल्पना यहाँ अधिक संभव है। भोजराज ने संसृष्टि एवं संकर के मिश्रण से नृसिंहाकार एक तीसरे भेद की कल्पना की है। ध्वन्यालोककार ने भी एक स्थल पर अनेक अलंकारों के योग में नृसिंहाकार एक अलंकार की ही बात कही है।

संसृष्टि के भेद

शब्दालंकार संसृष्टि	अर्थालंकार संसृष्टि	उभयालंकार संसृष्टि

इसके लिये प्रमुख शर्तें यों अपेक्षित हैं—

(१) यहाँ एक से अधिक अलंकारों का एक श्लोक या वाक्य में स्थिति हो।

(२) ये सबके सब शब्दालंकार या अर्थालंकार या दोनों मिलित भी हो सकते हैं।

(३) ये सबके सब परस्पर निरपेक्ष स्वात्म लाभ करते हों।

(४) पर एक ही उक्ति के सौंदर्य-साधन होने से इन्हें एक ही अलंकार माना जाता है।

काव्य-हेतु

भामह ने 'हेतु' को अलंकार मानने के पक्ष में अपनी सम्मति नहीं दी है। उसका कारण यह है कि व्यावहारिक धरातल की ऐसी भौतिक उक्तियों में किसी प्रकार की कवि-कल्पनोचित वक्रता निहित नहीं होती।

भामह का खण्डन करते हुये दण्डी ने यह स्वीकार किया है इसे अलंकार कहा जा सकता है। उक्तियों को तो युक्तिसंगत होना ही चाहिए। विशेषता महज इतनी ही होनी चाहिए कि उस संगति को चामत्कारिक करने के लिये उसमें कहीं न कहीं कवि-कल्पना-प्रसूत वक्रता का समावेश अवश्य हो। दण्डी ने तो इसे भूषण ही नहीं, उत्तमभूषण स्वीकार किया है। इस हेतु के दो रूप-कारक और ज्ञापक अथवा उत्पादक और प्रकाशक—होते हैं इनके भी अनेक भेद हो सकते हैं, ये दोनों प्रकार के हेतु प्रवर्त्तक भी हो सकते हैं और निवर्त्तक भी। "(साँपों से भरे हुए) चंदन वन के निर्झरों का स्पर्श करके प्रवाहित होने वाला यह मलय मारुत पथिकों के विनाशार्थ प्रस्तुत हो गया है।" क्या इस उक्ति में जो सहेतुकता निर्दिष्ट है, वह चमत्कार शून्य है ?

उद्भट ने 'काव्यहेतु' को 'काव्यलिंग' नाम से परिभाषित किया है। इनसे पूर्व 'काव्यलिंग' नामक अलंकार की चर्चा भामह और दण्डी में से किसी ने भी नहीं की है। वस्तुतः परवर्ती आलंकारिकों ने 'हेतु' 'काव्यलिंग' तथा 'अनुमान' नाम से तीन ऐसे अलंकारों की चर्चा की है, जिनमें कारक एवं ज्ञापक हेतुओं का चामत्कारिक विधान होता है। 'हेतु' में 'कारक' का और 'काव्यलिंग' तथा 'अनुमान' में ज्ञापक हेतुओं का विधान होता है। अनुमान में साध्यसाधन भाव या 'व्याप्ति' का निर्देश स्पष्ट रहता है, पर काव्यलिंग में उसकी सामग्री तो रहती है, परंतु उतना स्पष्ट निर्देश नहीं रहता। पाठक अपनी ओर से चाहे तो उस सामग्री का उपयोग कर सकता है, अनुमान में।

तो इस प्रकार 'उद्भट' ने इस संदर्भ में 'काव्य हेतु' या 'काव्यलिंग' शब्द का सहृदयतापूर्ण प्रयोग किया है। दण्डी को यह बात नहीं सूझी थी। भामह ने 'हेतु' शब्द के द्वारा उसकी लौकिक प्रकृति को ध्यान में रखकर जो आक्षेप किया था' उसका उत्तर उसमें 'काव्य' विशेषण जोड़कर वस्तुतः 'उद्भट' ने ही दिया। उन्होंने बताया कि यह 'हेतु' लौकिक धरातल का नहीं, बल्कि काव्यीय धरातल का है। उन्होंने इसकी परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है— "जहाँ एक वस्तु श्रुतिगोचर हो कर दूसरी वस्तु का स्मरण कराये या अनुभव कराये, वहाँ काव्यलिंग नामक अलंकार होता है।" इन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह ज्ञापक हेतु का उदाहरण है। पर परिभाषा कुछ बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है।

वामन ने इस अलंकार के संबंध में कुछ नहीं कहा है।

दण्डी ने 'हेतु' का प्रयोग कारक और ज्ञापक दोनों के लिये किया है। उद्भट ने काव्यलिंग के रूप में केवल ज्ञापक हेतु को लिया है। संभवतः रुद्रट पहले

आलंकारिक हैं जिन्होंने 'हेतु' की एक ऐसी परिभाषा दी, जिसे आगे के आलंकारिकों ने काव्यलिंग एवं अनुमान, से पृथक् रूप में स्वीकार किया। इन्होंने कहा—"जहाँ हेतु एवं हेतुमान् का अभेद वर्णित हो, वह हेतु अलंकार होता है" जैसे—"सांसारिक जनों में शृंगार की भूख जगाने वाला यह काल कोकिल का आनंद है, निखिल भ्रमरों का मद है, कमल का अविरल विकास है।" यहाँ बसंत काल कोकिल के लिये आनंद-जनक है, आनंद नहीं, कारण है, वही नहीं; पर वही अभिन्न रूप से कह दिया गया है। पर उद्भट के 'काव्यलिंग' का विवेचन यहाँ लक्षित नहीं होता। भामह की ही भाँति कुंतक ने भी 'हेतु' को अलंकार नहीं स्वीकार किया और न तो 'काव्यलिंग' की ही चर्चा की।

भोजराज पर निश्चित ही उसी प्रकार दण्डी का प्रभाव है जिस प्रकार उद्भट पर भामह का। दण्डी की ही भाँति भोजराज ने भी 'हेतु' का स्वरूप बताते हुये यह स्वीकार किया है—"क्रिया का कारण ही हेतु है और वह हेतु चार प्रकार का हो सकता है, कारक और ज्ञापक, अभाव और चित्र हेतु। दण्डी ने केवल कारक और ज्ञापक का ही उल्लेख किया था, पर इन्होंने दो भेद और स्वीकार किये। इसके अतिरिक्त काव्यलिंग की कहीं कोई चर्चा नहीं है। दण्डी ही की भाँति इन्होंने हेतु के अनेक रूपों की चर्चा की है।

काव्य प्रकाशकार मम्मट ने 'हेतु' नामक कोई पृथक् अलंकार स्वीकार नहीं किया है। संभवतः इन्होंने उसे काव्यलिंग में ही अंतर्भूत कर लिया है। काव्यलिंग का स्वरूप इन्होंने विभाजन के साथ इतना ही कहा है—'हेतु का पद और वाक्य द्वारा कहना ही काव्यलिंग है।" पर इनके टीकाकारों ने बताया है कि स्वतः अनुपद्यमान अर्थ के उपपादक हेतु का निर्वचन ही काव्यलिंग है। इस हेतु का प्रतिपादन कभी एक पद से, कभी अनेक पद से और कभी वाक्य से किया जा सकता है। इनके टीकाकारों का यही मत है कि यही काव्यलिंग ही 'हेतु' है, इससे पृथक् हेतु नामक अलंकार को मानने की कोई आवश्यकता नहीं। उद्भट का 'काव्य हेतु' भी यही है। कमलाकर भट्ट ने तो बताया है कि इसमें कारक हेतु की उक्ति होती है और अनुमान में ज्ञापक हेतु की। 'सुधासागर कार' के समक्ष साभिप्राय विशेषण गर्भित 'परिकर' और काव्यलिंग की भेदकता की बात जब आती है तब वे यही कहते हैं कि परिकर में पदार्थ एवं वाक्यार्थ से व्यंग्य होनेवाला अर्थ वाच्यार्थ का उपकारक होता है, पर काव्यलिंग में पदार्थ और वाक्यार्थ—स्वयं ही हेतु या उपकारक या उपपादक होते हैं। अर्थान्तर न्यास एवं दृष्टांत में भी हेतु-वाक्य का उपन्यास होता है—पर वह सिद्ध-अर्थ का समर्थक होता है, यहाँ असिद्ध या अनुपपन्न का उपपादक होता है। अथवा यह भी कहा

जा सकता है कि अर्थान्तर न्यास में समर्थक वाक्य की हेतुरूपता, अर्थात् पर्यवसित होती है, पर यहाँ पर हेतुता बोधक शब्दों के प्रयोग से उसका साक्षात् बोध होता है। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि अर्थान्तर न्यास का समर्थक वाक्यार्थ सामान्य विशेष भाव से आलिंगित होता है, पर यहाँ वह बात नहीं है।

हेमचंद्र ने 'हेतु' को, यदि वह कारणमात्र की ही उक्ति है--तो उसे अस्वीकार किया है। काव्यलिंग का वहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता।

'अलंकार सर्वस्व' के प्रणेता रुय्यक ने 'काव्यलिंग' को 'तर्कन्याय' मूलक अलंकारों के अंतर्गत परिगणित किया है। काव्य प्रकाशकार की व्याख्या भी ज्यों की त्यों प्रस्तुत की है। इन्होंने भी 'काव्यलिंग' से पृथक् अनुमान की कोई चर्चा प्रस्तुत नहीं की है। चंद्रालोककार ने भी कोई नई बात इस संबंध में नहीं दी। साहित्य दर्पणकार ने परम्परागत परिभाषा को स्वीकार करते हुये इतना नया कहा है कि हेतु तीन प्रकार के होते हैं, ज्ञापक, निष्पादक और समर्थक। पहला 'अनुमान' के संदर्भ में आता है, दूसरा काव्यलिंग के और तीसरा अर्थान्तर न्यास के। शेष वही कि काव्यलिंग पदार्थ गत एवं वाक्यगत दो प्रकार का होता है, कहा गया है। साथ ही उन लोगों का विरोध भी किया गया है जिन लोगों ने अर्थान्तर न्यास से काव्यलिंग का इस आधार पर भेद किया है कि काव्यलिंग में कार्य-कारण भाव संबंध होता है और अर्थान्तर न्यास में नहीं होता।

पण्डितराज ने इसका स्वरूप यों बताया है, "प्रकृत अर्थ का उपपादक अर्थ ही काव्यलिंग है, शर्त यह है कि वह अनुमिति-साधन रूप से प्रयुक्त न हो, साथ ही सामान्य विशेष भाव से समन्वित न हो।" निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न करने वाला अर्थ ही उपपादक कहा जाता है। अनुमान से काव्यलिंग का इतना ही अंतर है कि अनुमान में अनुमिति के अनुरूप पकी पकाई सामग्री प्रयुक्त रहती है। स्वयं वक्ता अनुमापक उक्ति का प्रयोग करता है, पर काव्यलिंग में वक्ता या कवि अनुमिति की दृष्टि से उक्ति का प्रयोग नहीं करता। हाँ, वहाँ यदि श्रोता चाहे तो अनुमिति के अनुरूप सामग्री संकलित कर सकता है।

कुछ लोग तो ऐसे भी हैं जो काव्यलिंग को 'निर्हेतुत्व' दोष का अभाव-मात्र मानते हैं, न कि अलंकार। दूसरी बात यह भी कहते हैं कि अलंकारता तो कवि कल्पना के योग से आती है। यहाँ जिस प्रकार का हेतुहेतुमद्भाव प्रदर्शित किया जाता है, उसमें कौन-सा सौंदर्य है? वह तो वास्तविक बात है--उसमें कल्पना का मिश्रण कहाँ है? अस्तु यह भी एक पक्ष है। प्राचीन लोग इसके बावजूद भी वास्तव कथन में भी भासित सौंदर्य के आधार पर अलंकार का प्रयोग करते हैं।

काव्य-दृष्टांत

'दृष्टान्त' नामक अलंकार का भामह तथा दण्डी कदाचित् दोनों में से किसी ने उल्लेख नहीं किया। वामन भी मौन ही हैं। 'उद्भट' ने इसका स्वरूप यों बताया है, "जहाँ प्राकरणिक प्रतिपाद्य वस्तु का बिलकुल विस्पष्ट प्रतिविम्ब (सदृश कथन) प्रस्तुत किया जाय, वहाँ यह अलंकार होता है। यद्यपि अप्रस्तुत प्रशंसा में भी प्रतिविंबात्मक वस्तु का विन्यास किया जाता है, पर वहाँ बिंबस्थानीय प्राकरणिक अर्थ का उन्नयन होता है, दृष्टान्त में उसका साक्षात् कथन होता है। इस प्रकार उद्भट यह संकेत देते हैं कि इस अलंकार में जो प्राकरणिक और सदृश अप्राकरणिक वस्तु का विधान होता है, उनमें बिंबप्रतिबिंबभाव का विधान अवश्य होता है।

रुद्रट ने उसी 'दृष्टान्त' का स्वरूप लगभग उसी तरह का बताया है और कहा है कि प्राकरणिक और अप्राकरणिक में से पहले जिस तरह का अर्थ उपस्थित किया गया हो, वैसा ही बाद में यदि दूसरा वाक्यार्थ विन्यस्त कर दिया जाय, तो वहाँ दृष्टान्त नामक अलंकार होता है। इसी दृष्टि से रुद्रट ने उसके दो उदाहरण भी प्रस्तुत किये, पहले में, प्रारंभ में विवक्षित अर्थ का और दूसरे में प्रारंभ में अविवक्षित अर्थ का प्रयोग होता है।

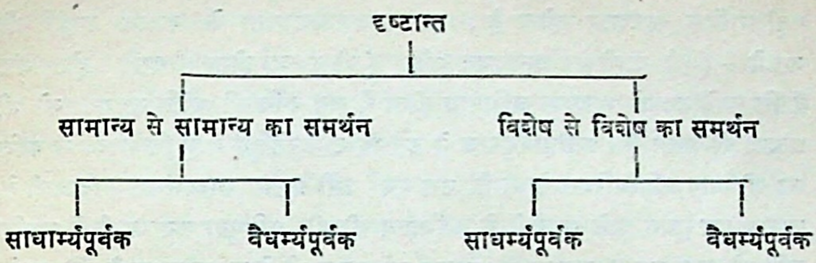
कुंतक ने इन्हीं लोगों के अभिप्राय को लेकर उनसे सहमत रहकर यह कहा है कि "वस्तु की समानता को देखकर जो प्रस्तुत वस्तु के साथ अन्य अप्रस्तुत वस्तु का प्रदर्शन करना है, उसको दृष्टान्त अलंकार कहते हैं। और कोई खास बात इन्होंने इसके संबंध में नहीं कही! भोजराज के यहाँ संभवतः दृष्टान्त का कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

काव्य प्रकाशकार मम्मट ने 'दृष्टान्त' का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया हैं—दृष्टान्त में भी अर्थान्तर न्यास की तरह दो वाक्य होते हैं। उनमें से एक प्रस्तुत या वर्ण्य-परक होता है और दूसरा अप्रस्तुत अवर्ण्य-परक। प्रस्तुत वाक्य में जितने पदार्थ हों और जिस तरह के हों—अप्रस्तुत वाक्य में भी उतने ही और उसी प्रकार के होने चाहिए, दोनों में इस प्रकार बिंबप्रतिबिंबभाव आवश्यक है। निष्कर्ष यह कि जहाँ दो वाक्यार्थ हों, उनमें आर्थ-औपम्य हो तथा साधारणधर्म आदि बिम्बप्रतिबिंबभावापन्न हों, वहाँ दृष्टान्त नामका अलंकार होता है। बिंब-प्रतिबिंब-भाव का अर्थ यह है कि किसी दृष्टि से भिन्न जान पड़ने वाले पदार्थ भी जब अन्य दृष्टि से अभिन्न जान पड़े, तो वहाँ बिंबप्रतिबिंबभाव समझा जाय। आकाश के चाँद और जल-प्रतिबिंबित चाँद में आकार की दृष्टि से एकता है,

परन्तु वस्तुतः दोनों भिन्न चीजें हैं। एक सही है, दूसरा अस्तित्वहीन है। इससे मिलता-जुलता शब्द है, वस्तु प्रति वस्तु भाव। वस्तु प्रति वस्तु भाव तथा बिंव-प्रतिबिंब भाव में अंतर यह है कि वस्तु प्रतिवस्तुभाव में एक ही 'अर्थ' दो भिन्न शब्दों से कहा गया होता है। जबकि बिंबप्रतिबिंब भाव में भिन्न-भिन्न अर्थ, जो साधारण धर्म के रूप में प्रयुक्त हैं, भिन्न-भिन्न शब्दों से कहे जाते हैं। आर्थ औपम्य की स्थिति होते हुये भी यहाँ 'उपमा' नहीं कही जायगी, कारण यह है कि यहाँ की चारुता का उत्तरदायित्व 'सादृश्य' पर नहीं, बल्कि 'समर्थन' पर निर्भर है। अर्थान्तर न्यास में यद्यपि 'समर्थन' का ही सौंदर्य है, पर उससे इसका अन्तर यह है कि अर्थान्तर न्यास में समर्थ्य एवं समर्थक वाक्य में सामान्य विशेष भावात्मक संबंध होता है जबकि दृष्टान्त में नहीं। रहा 'दृष्टान्त' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ, वह यों है, "दृष्टः अन्तः निश्चयो यत्र सः" जहाँ समर्थक वाक्य के कारण वक्तव्य का संदेह हट जाय और निश्चय हो जाय। दृष्टान्त में समर्थक वाक्य कभी विपरीत कथन के द्वारा और कभी अनुरूप कथन के द्वारा वक्तव्य अंश का समर्थन करता है। इसी को इन लोगों ने साधर्म्य-पूर्वक और वैधर्म्य-पूर्वक समर्थन कहा है। अर्थात् इस आधार पर उसके दो भेद कह लिये गये हैं।

हेमचन्द्र में 'दृष्टान्त' की कोई चर्चा उपलब्ध नहीं होती। रुय्यक ने भी प्रकाशकार के विवेचन से अधिक कुछ इस संबंध में नहीं कहा है। चंद्रालोककार की भी इस क्षेत्र में कोई नूतन देन नहीं। साहित्य दर्पणकार भी इस विवेचन में विशेष रूप से उल्लेखनीय नहीं है।

अंततः पण्डितराज ने परम्परागत दृष्टान्त-लक्षण को स्पष्ट करते हुये जो प्रमुख प्रश्न प्रस्तुत किया है वह यह कि प्रतिवस्तूपमा से दृष्टांत का अन्तर क्या है। पण्डितराज का मत है कि प्रतिवस्तूपमा में धर्म एक ही रहता है केवल दो शब्दों से पृथक्-पृथक् उसका कथनमात्र रहता है। जब कि दृष्टांत में दो धर्म पृथक्-पृथक् उपमेय और उपमान वाक्य में रहते हैं और उनमें बिंब-प्रतिबिंबभाव संबंध रहता है। विमर्शिनीकार के मत से भेदक तत्त्व यह है कि प्रतिवस्तूपमा में अप्रकृत अर्थ का प्रयोग केवल इस उद्देश्य से किया जाता है कि ताकि इससे प्रकृत वाक्य का सादृश्य बताया जा सके; जब कि दृष्टान्त में प्रयुक्त अप्रकृत वाक्यार्थ से प्रकृत वाक्यार्थ द्वारा प्रतिपाद्य तत्त्व का विशदीकरण किया जाता है—न कि सादृश्य प्रत्यायन। पर वस्तुतः यह भेद ठीक नहीं है, कारण विशदीकरण भी सादृश्य ही होता है और है क्या? अतः पूर्वोक्त भेदक तत्त्व ही संगत है।



भाविक

दण्डी एवं भामह ने 'भाविक' का विवरण किया है तो अलंकारों के ही प्रसंग में, पर उसे वे लोग 'प्रबंध' का एक गुण भी समझते हैं। अथवा उसे प्रबंधगत एक अलंकार के रूप में उनके द्वारा विवेचित समझा जा सकता है। भामह ने इसका स्वरूप बताते हुए कहा है कि यहाँ या इस अलंकार में भूत और भावी पदार्थ भी इस प्रकार उपस्थित किये जाते हैं लगता है मानों प्रत्यक्ष ही हों। इस प्रकार की प्रतीति में तीन कारण बताये गये हैं—

१—चित्रमय उदात्त एवं अद्भुत अर्थ का होना।

२—कथा का अभिनेय हो सकना।

३—अनुरूप, समञ्जस तथा प्रसन्न पदावली का प्रयोग। दण्डी ने तो इसे प्रबंधगत गुण मानते हुए उसकी व्युत्पत्ति भी बताई है। उन्होंने कहा है महाकाव्य, नाटक, आख्यायिका आदि प्रबंधात्मक कृतियों में कवि के 'भाव' के चमत्कारोत्पादक धर्म-विशेष को भाविक अलंकार कहते हैं। 'भाव' से मतलब कवि के 'अभिप्राय' से है जो काव्य में समाप्ति सिद्धि-पर्यन्त व्याप्त रहता है। निष्कर्ष यह कि काव्य का यह सर्वोत्तम अलंकार है। इसके द्वारा काव्य में प्रत्यक्षायमाणता या संश्लिष्ट बिंब योजना की विशेषता आती है। इसी के साथ दण्डी ने यह भी बताया है कि इस प्रकार के 'भाविक' की योजना के लिये क्या-क्या अपेक्षित है बताया है—

१—आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथाओं में परस्परोपकारिता।

२—व्यर्थ विशेषणों का प्रयोग न करना।

३—प्रकृतोपयोगी विषय का वर्णन।

४—गूढ़ वस्तु को भी उनके कौशल से स्पष्ट अभिव्यंजना। यह सब कुछ भावायत्त होने के ही कारण 'भाविक' कहा जाता है। वस्तुतः दण्डी की अलंकार संबंधी धारणा बहुत व्यापक है। इसीलिए इन विशेषताओं से समन्वित तत्त्व को भी अलंकार कहा गया है।

उद्भट ने भी कहा है—"भूत एवं भावी पदार्थ जहाँ प्रत्यक्षायमाण देखे जायँ

वहाँ भाविक अलंकार होता है। इस प्रत्यक्षायमाणता के कारण इन्होंने दो बताये--(१) वाणी का अत्यद्भुत और (२) स्वच्छ होना। इससे होता यह हैं कि कवि का जो भाव या अभिप्राय होता है वह कवि की भाँति सहृदय को भी प्रत्यक्ष हो जाता है। प्रतीहारेंदुराज ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि काव्य में कवि का जो भाव प्रतिविम्बित हुआ है, उस पर उसी प्रसन्न काव्यात्मक पदावली के कारण द्रुत हृदय वाले सहृदयों के अभिप्राय की भी प्रतिमुद्रा लग जाती है अर्थात् कवि जो कुछ कहना चाहता हैं सहृदय का हृदय भी ऐसा समझता है जैसे उसने उसी के अभिप्राय को प्रतिविंवित कर दिया हो। अर्थात् कवि और सहृदय के हृदय का संवाद हो जाता है। श्रोता Here, Here कह उठता है। इसलिये कवि का जो अभिप्रेत अर्थ है भूत और भावी अर्थ है उसे सहृदय अपने अभिप्राय के अनुरूप होने से, लगता है, जैसे सामने ही देख रहे हों। इसे 'भाविक' कहते हो इसीलिये हैं कि यहाँ सहृदय कवि के भाव को अपने भाव से अभिन्न समझता हुआ जैसे सामने ही स्फुरित होता हुआ देख रहा हो। इंदुराज ने तो व्युत्पत्ति भी दी है 'भावोऽस्मिन् विद्यते इति भाविकम्'। इसी अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने वहुत ही उपयुक्त उद्धरण प्रस्तुत किया है--

> रसोल्लासी कवेरात्मा स्वच्छे शब्दार्थदर्पणे।
> माधुर्यौजोयुतप्रौढ़े प्रतिविंव -- प्रकाशिते॥
> संपीतस्वच्छशब्दार्थद्राविताभ्यन्तरस्ततः।
> श्रोता तत्साम्यतः पुष्टिं चतुर्वर्गे परां व्रजेत्॥

कवि की रसोल्लसित आत्मा स्वच्छ शब्दार्थ रूपी दर्पण में, जो माधुर्य एवं ओज-युत होने से प्रौढ़ है—प्रतिविंबित होकर और चमकने लगती है। ऐसे स्वच्छ शब्द एवं अर्थ का पान करने से जब भावक का अंतःकरण पिघल उठता है--तब वही श्रोता या भावक पानकर्ता की भाँति चतुर्वर्ग विषयक व्युत्पत्ति में पराकोटि की प्रौढ़ि प्राप्त कर लेता है।

रुद्रट एवं कुंतक तो इस अलंकार के विषय में मौन ही हैं, परन्तु भोजराज ने इसका स्वरूप एवं वर्गीकरण इस प्रकार बताया है—"स्वकीय अभिप्राय का कथन, अन्यदीय आशय का कथन तथा अन्यापदेश—भाविक के ये तीन प्रकार होते हैं। भामह एवं उद्भट की भाँति इनके टीकाकार तथा स्वयं इन्होंने 'भाविक' का संबंध 'कवि के अभिप्राय से जोड़ा है'। 'भाविक' का अर्थ ही है--भाव या कवि के अभिप्राय से संबंध रखनेवाला अलंकार। किसी और परम्परा में 'उद्भेद' नाम का एक अलंकार माना जाता है—जिसके तीन भेद माने जाते हैं—(१) व्यक्त (२)

अव्यक्त तथा (३) व्यक्ताव्यक्त। भोजराज का कहना है कि अपने इन तीनों भेदों के साथ 'उद्भेद' भाविक से भिन्न कोई पृथक् अलंकार नहीं है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से तो अवश्य भामह, उद्भट एवं भोज की धारणा 'भाविक' के संबंध में एक है, पर उदाहरण की दृष्टि से उसका स्वरूप भिन्न हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि व्युत्पत्ति की दृष्टि से अवश्य तीनों एक मत हैं--पर भामह एवं उद्भट जहाँ भावी एवं भूत के प्रत्यक्षायमाण वर्णन को भाविक कहते हैं वहाँ--इन्होंने स्वयं कवि के अभिप्राय, अन्यदीय अभिप्राय और अन्यापदेश को भाविक कहा है। इनके उदाहरणों में व्यज्यमान अर्थ पर अधिक बल दिया गया है।

काव्य प्रकाशकार मम्मट ने भी व्युत्पत्ति तो वही परम्परागत ही दी है—पर स्वरूप उद्भट-सम्मत बताया है। उदाहरण ऐसा प्रस्तुत किया गया है जिसमें वास्तव में कवि ने भावी एवं भूत की घटना का प्रत्यक्षवत् वर्णन किया है। वस्तुतः जिस प्रकार योगीजन 'भावना' के बल से भावी एवं भूत का साक्षात्कार करते हैं उसी प्रकार सहृदय भी अपनी 'भावना' शक्ति के बल से भावी एवं भूत घटनाओं का भी साक्षात्कार कर लेते हैं।

हेमचंद्र ने 'भाविक' के स्वरूप पर विचार करते हुये यह बताया है कि वस्तुतः यह अलंकार 'अभिनेय प्रबंध' के योग्य ही है—जहाँ भूत एवं भावी पदार्थों का प्रत्यक्षीकारात्मक अभिनय संभव है। यद्यपि मम्मट ने एक मुक्तक भी उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है--फिर भी इनका विचार है कि जितना सुन्दर इसका आस्वाद्य रूप अभिनेय प्रबंध में संभव है--उतना मुक्तक में नहीं।

रुय्यक ने भी अतीत एवं अनागत का प्रत्यक्षायमाण कथन भाविक का रूप माना है। अतीत एवं अनागत अर्थ प्रत्यक्ष की तरह इसलिये प्रतीत होते हैं कि एक तो वे अलौकिक होने के कारण अति अद्भुत होते हैं, दूसरे स्वच्छ शब्दों से वे निवेदित किये जाते हैं। इस प्रकार कवि का आशय श्रोता के अंतःकरण में बहुत ही स्पष्ट रूप में प्रतिबिंबित हो जाता है। यहाँ भूत और भावी घटनाएँ या पदार्थ प्रत्यक्ष की तरह जान पड़ने लगते हैं--पर इसका यह अर्थ नहीं कि यहाँ भ्रान्ति है। वस्तुतः जो भूत एवं भावी हैं--रहते वे वैसे ही हैं। फिर इसे अतिशयोक्ति भी नहीं समझना चाहिए--कारण, अन्य वस्तु का अन्य रूप से अध्यवसाय नहीं है—निगरण नहीं है। भूत एवं भावी का निगरण यदि अभूतभावी से होता या अभूतभावी का निगरण भूतभावी से होता या अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष से होता--तो भी अतिशयोक्ति कही जाती, पर ऐसी कोई बात है नहीं।

वस्तुतः प्रत्यक्षता वस्तु-गत धर्म नहीं है, वह तो प्रतीति-सापेक्ष है। प्रत्यक्ष

होने पर किसी वस्तु में प्रत्यक्षता आती है---अन्यथा वह अप्रत्यक्ष रहती है । कहा भी है—"ज्ञात होने पर जिसका प्रतिभास हो और न होने पर न हो--वही प्रत्यक्ष हैं । रही बात इतनी कि द्रष्टा यदि किसी वस्तु के प्रत्यक्ष की सामग्री का जब उपयोग करता है--तब ज्ञान प्रत्यक्षात्मक होता है--तभी वस्तु में भी प्रत्यक्ष का व्यवहार होता है---वस्तु भी प्रत्यक्ष कही जाती है। वह सामग्री इस लोक यात्रा में है—भावना, जिसकी आवश्यकता इन्द्रियों से अज्ञेय अतीन्द्रिय पदार्थों के साक्षात्कार के लिये होती है । काव्य द्वारा उपस्थित पदार्थ अतीन्द्रिय ही हैं--- अतः उनके साक्षात्कार के लिये एक मात्र भावना की ही अपेक्षा है । सहृदयों में अतीन्द्रिय पदार्थ का साक्षात्कार करा देने वाली यह भावना स्वाभाविक होती है। यह भावना भी तब सक्रिय होती है--जब वर्ण्यवस्तु अति अद्भुत हो । इस प्रकार योगियों की भाँति ये सहृदय भी भूत और भावी पदार्थ को प्रत्यक्ष की भाँति देख लेते हैं ।

यह समझना कि यहाँ ऐसा वर्णन होता है मानों अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष ही जान पड़ता हो---अतः संभावना की स्थिति हैं और संभावना की स्थिति जहाँ हो--वहाँ उत्प्रेक्षा का प्रयोग होना चाहिए---निरर्थक है। कारण, उत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ सादृश्य वश संभावना हो--यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है। न अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष द्वारा निगरण ही है कि अतिशयोक्ति होगी। पदार्थ के अति अद्भुत होने तथा उससे प्रत्यक्षायमाण प्रतीति होने में--हेतु हेतुमद्भाव होने से काव्यलिंग माना जाय--यह भी सम्भव नहीं--क्योंकि यहाँ वह तत्त्व उदग्र होने से चमत्कार का मूल स्रोत हो---ऐसा कुछ है नहीं । इस अलंकार में वर्ण्य वस्तु जैसे आँखों के सामने चमत्कारकारी रूप में झलकने लगता हैं अतः रसवदलंकार कहा जाय---सो भी नहीं---कारण यह है कि रसवदलंकार में रति आदि चित्र-वृत्तियों का और तत्सम्बद्ध विभावादि की साधारणीकृत रूप से प्रतीति होने के कारण---दोनों का अभिन्न रूप से ज्ञान होता है—पर भाविक में पहले तो वर्ण्य-पदार्थ की तटस्थ रूप से स्फुट एवं अद्भुत प्रतीति हो लेती है--तदन्तर वह किसी चित्तवृत्ति को उभाड़ता है---अर्थात् यहाँ वर्ण्य वस्तु का चित्तवृत्ति से अभेद नहीं हो पाता---दोनों में पूर्वकालिक प्रतीति और उत्तरकालवर्ती प्रतीतियाँ—स्पष्ट लक्षित होती हैं। इसी प्रकार यह कहना भी संगत नहीं है कि भाविक अलंकार 'स्वभावोक्ति' से अभिन्न है---क्योंकि दोनों में वस्तु का सूक्ष्म स्वभाव वर्णित रहता है। वस्तुतः स्वभावोक्ति में लौकिक वस्तु की सूक्ष्म विशेषतायें इस कदर वर्णित हो उठती है कि पाठक का हृदय भी हुँकारी भरने लगता है। भाविक में कवि एवं पाठक का हृदय संवाद हो या न हो—पर लोकोत्तर वस्तु की अत्यन्त स्फुट

प्रतीति होने लगती है। कहीं इन दोनों का सांकर्य भी हो सकता है। हृदय संवाद का अर्थ यदि वक्ता कवि एवं श्रोता की मनोवृत्ति का अभेद ही है—दोनों की प्रतीतियों का अभेद ही है—तो कहा जा सकता है कि फिर रसवदलंकार एवं स्वभावोक्ति में क्या अन्तर होगा ? वस्तुत: स्वाभावोक्ति में वर्ण्य-वस्तु के प्रति हृदय संवाद होता है और रसवदलंकार में चित्तवृत्तियाँ एकतान हो जाती हैं—कवि-वर्णित भाव में पाठक मग्न हो जाता है। अथवा उभयत्र चित्तवृत्ति की एकतानता हो जाने पर भी जहाँ किसी वस्तु की सूक्ष्म विशेषतायें वर्णित हों—वहाँ स्वभावोक्ति और अन्यत्र रसवदलंकार। यहाँ अनाकुल या प्रसन्न पदावली का प्रयोग होने के कारण 'प्रसाद' गुण ही मानना, अतिरिक्त अलंकार की स्थिति अस्वीकार करना भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि 'प्रसाद' गुण में महज इतना ही वैशिष्ट्य है कि वहाँ अर्थ प्रत्यक्षयमाण हो या न हो—जो भी हो उसे वह शीघ्र पाठक के प्रति समर्पित कर देता है, परन्तु 'भाविक' के लिये समर्पित पदार्थ की प्रत्यक्षाय-माणता अपेक्षित है। निष्कर्ष यह कि इसे इस प्रकार सर्वथा स्वतंत्र अलंकार ही मानना चाहिए।

इसके दो रूप देखे जाते हैं—(१) कहीं वर्णन की विशेषता से वर्णनीय-वस्तु प्रत्यक्षायमाण हो उठती है और (२) कहीं प्रत्यक्षायमाण वस्तु का ही वर्णन होता है।

इस प्रकार प्राचीनों के अनुसार भाविक की स्थापना कर लेने के बाद उनका स्वतंत्र विचार यह भी है कि उक्त दो प्रकारों में से पहला इस अलंकार का भेद इसलिये नहीं संभव है कि वहाँ अलंकारता का कोई मूलस्रोत नहीं है। अलंकार का मूल स्रोत है कवि कल्पित धर्म या विशेषता, न कि वस्तु की स्वकीय वास्त-विक विशेषता। इसीलिये जब वस्तुमात्र का ही वर्णन प्रस्तुत है तब चाहे अनाकुल पदावली हो या आकुल अर्थात् अप्रसन्न, उससे क्या होने वाला है। जब मूल तत्त्व ही नहीं है तो उसका कितना भी श्रृंगार किया जाय उससे लाभ क्या है ? दूसरा प्रकार भी ऐसा ही है फलत: इसे अलंकार कहा ही नहीं जा सकता। हाँ, यदि वास्तविक सौन्दर्य भी अलंकार रूप से यहाँ वर्णित होता है यह मान लिया जाय, तो फिर ठीक है।

परवर्ती आलंकारिकों ने और कोई नई बात इस संबंध में नहीं बताई। दर्पणकार ने रुय्यक के ही तर्कों को अपने शब्दों में रख दिया है। पण्डितराज मौन ही हैं।

वस्तुत: भामह और दण्डी ने इस 'भाविक' को एक काव्यगुण के रूप में उल्लिखित किया है। पहले आलंकारिक उद्भट हैं जिन्होंने इसकी अलंकार के ही

रूप में चर्चा की, वामन और रुद्रट ने उल्लेख ही नहीं किया। भोज ने भी इस पर अपने विचार प्रस्तुत किये। रुय्यक ने इस अलंकार वाले पक्ष का पूर्ण समर्थन किया, अनेक तर्क वितर्कों द्वारा उसकी पुष्टि की और अपना स्वतन्त्र विवेचन भी प्रस्तुत किया। पंडितराज ने इसकी क्यों उपेक्षा की यह नहीं कहा जा सकता।

इसके विभाजन के दो वर्ग हैं—

भाविक
- भूत का प्रत्यक्षायमाण वर्णन
  - वर्णन-वैशिष्ट्य-वश प्रत्यक्षायमाणता
  - स्वतः प्रत्यक्षायमाण का वर्णन
- अनागत का प्रत्यक्षायमाण वर्णन
  - वर्णन वैशिष्ट्य प्रयुक्त प्रत्यक्षायमाणता
  - स्वतः प्रत्यक्षायमाणता

रुय्यक का वर्गीकरण :→

विदर्शना (निदर्शना)

भामह ने इसे 'निदर्शना' दण्डी ने 'निदर्शन' तथा उद्भट ने 'विदर्शना' नाम से कहा है। भामह के अनुसार उसकी परिभाषा इस प्रकार है, "जहाँ औपम्य-बोधक शब्दों के प्रयोग किये बिना ही केवल क्रिया के माध्यम से विशिष्ट अर्थ का उपदेश दे दिया जाय, वहाँ निदर्शना होती है।" जैसे, अस्तोन्मुख सूर्य यह उपदेश देता है कि उदय मात्र पतन के लिये हुआ करता है। इसलिये यह नहीं समझ लेना चाहिए कि उदय सदा एक सा बना रहता है।

दण्डी ने इसे दूसरों शब्दों से कहा है, "किसी अन्य कार्य में लगा हुआ व्यक्ति कुछ सत् या असत् सदृश फल का निर्देश करे, तो वहाँ 'निदर्शन' नाम का अलंकार होता है।" उदाहरण वही हैं।

वामन ने भी उसी तरह के उदाहरण को ध्यान में रखकर अपनी परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है, "क्रिया के द्वारा ही अपना और अपने प्रयोजन के संबंध का बोधन करना निदर्शन नामक अलंकार कहा जाता है।" उपर्युक्त उदाहरण को ही लें वहाँ 'पतन' क्रिया तथा उसके प्रतिपाद्य "उच्चपद की प्राप्ति पतन के लिये होती है" का संबंध बोध अर्थ तत्त्वज्ञों को हो ही जाता है।

उद्भट ने 'विदर्शना' के इस अव्यवस्थित रूप को व्यवस्था प्रदान की और परवर्ती आलंकारिकों ने उन्हीं का अनुसरण भी किया। उन्होंने उसकी परिभाषा

र दी "दो वस्तुओं का उपपन्न या अनुपपन्न संबंध तब तक अविश्रांत जान इस प्रक तक कि उनमें उपमानोपमेयभाव की कल्पना न कर ली जाय।"
पड़े जदस परिभाषा के लक्ष्य या उदाहरण दो प्रकार के हैं एक का तो पूर्ववर्ती कारिकों में दर्शन नहीं होता और दूसरी का (जिसका दर्शन भामह दण्डी एवं आलन में है) इनमें नहीं होता। पहली में वस्तुतः उपमान का धर्म उपमेय में कह दिया जाता है जो उपमा की कल्पना करा कर ही संगत हो पाता है। जैसे, यह कहा जाय कि "रूपमयी भी कामिनी जब तक अनुरूप पति से युक्त नहीं होती तब तक चंद्रहीन रात्रि की विशोभता धारण करती है।" इसका अभिप्राय इस प्रकार की 'उपमा' की कल्पना में ही हुआ कि "तब तक वह नारी चंद्रहीन रात्रि की तरह शोभाहीन ही होती है।

'विदर्शना' का दूसरा रूप है, "भवन् वा यत्र संबंधः" उपपन्न संबंध भी जहाँ उपमा का कल्पक हो। इसका उदाहरण पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने तो अवश्य प्रस्तुत किया, परंतु उद्भट ने नहीं। इस दूसरे प्रभेद में क्रिया और फल का जो प्रयोज्य प्रयोजक भाव संबंध कहा गया होता है, वह उपपन्न है, फिर भी उसकी उपपत्ति के लिये 'उपमा' की कल्पना आवश्यक है। निष्कर्ष यह कि निदर्शन के द्विविध रूप का सर्वप्रथम उल्लेख इन्होंने ही किया। रुद्रट ने इस अलंकार की कोई चर्चा नहीं की कुंतक और की भी यही स्थिति है।

भोजराज ने निदर्शन का स्वरूप कुछ भिन्न ढंग का ही कहा है, "प्राकरणिक वक्तव्य को निश्चयात्मक रूप देने के लिये, उसमें निहित विशेषता का उद्घाटन करने के लिये जो दृष्टांत प्रस्तुत किया जाता है वही 'निदर्शन' है।

इस अलंकार के इन्होंने छः भेद स्वीकार किये हैं, पूर्व, उत्तर एवं सम। पुनः प्रत्येक के ऋजु एवं वक्र दो भेद मानने से छः भेद कर दिये हैं। 'पूर्व' का अर्थ यह है कि जहाँ पहले पहले दृष्टांत वाक्य और फिर दार्ष्टांतिक का उपन्यास हो। 'उत्तर' में पहले दार्ष्टांतिक का विन्यास होता है। 'सम' में एक ही उक्ति के अंतर्गत दोनों का साथ कथन होता है। 'ऋजु' रूप वहाँ स्वीकार किया जाता है जहाँ दृष्टान्त एवं दार्ष्टांतिक की समानस्थिति का शब्दतः निर्देश हो और 'वक्र' वहाँ होता है, जहाँ समानस्थिति का कौशल पूर्वक संकेत भर दे दिया जाय, ग्राहक अपने चातुर्य वश उसे समझ ले। उदाहरणार्थ उदीयमान होते ही सूर्य कमल में श्रीवृद्धि कर देता है, मित्रों का अनुग्रह ऐश्वर्यात्मक फल का चिह्न है। यहाँ मैत्री, अनुग्रह एवं समृद्धि जैसे फल की ओर साथ ही इंगित है। पर एक दूसरा उदाहरण लें 'पानार्थं निर्मित कुटी को जलाता हुआ यह ज्वलन (आग) यज्ञवाट को भी जलाता है। ठीक ही है विषम दशा में पड़े हुये व्यक्ति को कैसे छोड़ दिया जाय?

यहाँ उपर्युक्त उक्ति की भाँति ज्वलन एवं पुरुष के समान कार्य क्या हैं, शब्दत: कहा नहीं गया है। कवि कहना यह चाहता है कि अग्नि यह स्पष्ट अव्यवस्थित चित्त वाला व्यक्ति एक के बाद एक अनर्थकर कार्य करता भी भाँति तब भी कैसे उपेक्षणीय हो सकता है। पर यह अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। जाय,

इनके उदाहरण कुछ 'दृष्टान्त' के पास चले जाते हैं यद्यपि परम्पर. 'निदर्शन' जैसे उदाहरण भी हैं। गत

उद्भट द्वारा 'निदर्शना' की की गई परिभाषाएँ और उनके उदाहरण बहुत ही सुस्पष्ट रूप में मम्मट ने प्रस्तुत किये हैं। उद्भट ने कहा है कि अनुपपन्न अथवा उपपन्न संबंध वश जहाँ उपमा की कल्पना करके एक संगत अर्थ प्रदान कर सके, वहीं निदर्शना होती है। मम्मट ने लगभग वही बात भिन्न ढंग से कही है उन्होंने पृथक्-पृथक् दो परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। पहली यों है--"दो अर्थों का अनुपपन्न संबंध जहाँ उपमा की कल्पना कराता हुआ संगत हो सके, वहाँ पहली निदर्शना होती है।" दूसरी निदर्शना वहाँ होती है जहाँ कार्य का उसके अपने कारण के साथ क्रिया द्वारा संबंध प्रदर्शित किया जाय। पहली निदर्शना भी दो प्रकार की होती है--(१) वाक्यार्थ निदर्शना एवं (२) पदार्थ निदर्शना। वाक्यार्थ निदर्शना का उदाहरण लें--"उस दुष्ट की सेवा करनी शव के शरीर में उवटन लगाना है।" यहाँ सेवा करना और उवटन लगाने में अभेद संबंध दिखाया है, परन्तु दो भिन्न वस्तुओं का यह अभेद असंगत है। अपनी संगति के लिये वह उपमा की कल्पना करके ही सार्थक है। उक्त वाक्य का रूप होगा--उस दुष्ट की सेवा करनी वैसी ही है जैसा मुर्दे के शरीर में उवटन लगाना। यह हुई--वाक्यार्थ निदर्शना।

पदार्थ निदर्शना में उपमान का धर्म उपमेय में कहकर एक असंगत संबंध ही बनाना है। यह असंगति भी उपमा की ही कल्पना से समाप्त होती है। जैसे यह कहना कि "कमल की लीला आँखें धारण कर रही हैं।" पर कमल जैसे उपमान की लीला कमल ही में संभव है--हाँ उसकी लीला या सुन्दरता जैसे ढंग की लीला आँखों में संभव हो सकती है। अत: यहाँ का भी असंबंध उपमा का ही कल्पक है।

दूसरी निदर्शना का उदाहरण वही वामन वाला उदाहरण है। परिभाषा भी वही है।

इनके टीकाकारों ने निदर्शन का अर्थ-दृष्टान्तीकरण किया है, पर दृष्टांत से इसका अंतर है। अंतर यह है कि दृष्टांत में निरपेक्ष वाक्यों का और यहाँ सापेक्ष वाक्यों का विन्यास होता है। निदर्शना से वाक्यार्थ रूपक की ज्यादा समानता

दिखाई पड़ती है। दोनों जगह वाक्यार्थ का अभेद रहता है, पर रूपक में सादृश्यमूलक लक्षणा के द्वारा संगति लगाई जा सकती है।

हेमचंद्र नें दृष्टान्त एवं निदर्शना का घोलमेल कर दिया है। दृष्टांत का पृथक् रूप से तो उल्लेख ही नहीं किया है, निदर्शना की परिभाषा भी इस प्रकार दी है--"इष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये दिया गया दृष्टांत ही निदर्शन है।" उदाहरण रूप में जो पद्य प्रस्तुत किये गये हैं, उन्हें देखने से यह स्पष्ट होता है कि वे परम्परा में 'दृष्टान्त' और 'निदर्शन'--दोनों के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। उदाहरण दृष्टान्त एवं निदर्शन के ही नहीं, बल्कि प्रतिवस्तूपमा के भी दे दिये गये हैं;

हेमचंद्र ने स्वोपज्ञ टीका में यह दिखाया है कि यद्यपि निदर्शन में भी सामान्य रूप या विशेष रूप प्राकरणिक अर्थ का समर्थन होता है और अर्थान्तर न्यास में भी, तथापि इनके मत से दोनों का अंतर यह है कि जहाँ अर्थान्तर न्यास में सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से समर्थन होता है, वहाँ निदर्शन में सामान्य अथवा विशेष रूप प्रकारणिक अर्थ का 'विशेष' द्वारा ही समर्थन होता है।

इसी प्रकार इन्होंने प्रतिवस्तूपमा को भी पृथक् न रखकर इसके अंतर्गत सीमित कर दिया है और तर्क यह दिया है कि चाहे निदर्शना हो या प्रतिवस्तूपमा--दोनो जगह अंततः 'विशेष' ही दृष्टांत द्वारा समर्थित होता है।

इसी प्रकार हेमचंद्र का भी निरूपण अपने ढग का विलक्षण ही निरूपण है।

रुय्यक ने अन्य लोगों से पृथक् 'निदर्शना' का स्वतंत्र विवेचन किया है—"संभव या असंभव वस्तु-संबंध के द्वारा जहाँ-जहाँ प्रतिबिंबभाव की कल्पना की जाय--वहाँ निदर्शना होती है--यह रुय्यक की परिभाषा है। जहाँ मम्मट आदि पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने 'उपमा' कल्पना की बात कही थी वहां इन्होंने 'प्रतिबिम्ब' कल्पना की बात कही है। शब्द-भेद भले ही हो-पर तात्पर्य दोनों का एक ही है। उद्भट का सीधा प्रभाव संभवमूलक तथा असंभवमूलक-दो भेदों में दिखाई पड़ा है। हेमचंद्र की इन्होंने इस स्थापना का विरोध किया है कि दृष्टांत और निदर्शना एक ही है।

चंद्रालोककार ने 'निदर्शना' के नाम पर केवल वाक्यार्थ निदर्शना का स्वरूप बताया है और कहा है कि सदृश वाक्यार्थों में ऐक्य का आरोप ही निदर्शना है।

उद्भट एवं रुय्यक की भाँति साहित्यदर्पणकार ने भी संभवद्वस्तु संबंधमूलक तथा असंभवद् वस्तुसंबंध मूलक- दो भेद निदर्शना के स्वीकार किये हैं। मम्मट

द्वारा उक्त 'अपरानिदर्शना' इन लोगों की संभवद्वस्तुसंबंधमूला निदर्शना ही हैं। एक वाक्य एवं अनेक वाक्यगत होने से शुद्ध एवं माला-रूप निदर्शना भी संभव है।

कुवलयानंदकार अप्पय दीक्षित ने मम्मट की भाँति और भी अधिक स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक वाक्यार्थनिदर्शना, पदार्थ निदर्शना तथा अपरानिदर्शना की सोदाहरण विवेचना की है।–इन्होंने वाक्यार्थ रूपक से निदर्शना का जो भेदकतत्त्व निश्चित किया है–पण्डितराज ने उसका पूर्ण खण्डन किया है। दीक्षित जी का कहना है कि यद्यपि वाक्यार्थ रूपक में भी दो सदृश वाक्यार्थों में अभेद आरोपित किया जाता है और निदर्शना में भी—तब दोनों का अंतर क्या हुआ ? कुवलयानंदकार का विचार है कि रूपक में उपमान और उपमेय मात्र में अभेद होता है, पर निदर्शना में बिंबप्रतिबिंबभावापन्न विशेषणों से युक्त उपमान और उपमेय में अभेद दिखाया जाता है। पर पण्डितराज इसे स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि बिंब प्रतिबिंबभावसहित विशेषणों से युक्त उपमान और उपमेय दोनों जगह रह सकते हैं—अंतर वस्तुतः यह है कि वाक्यार्थ रूपक में अभेद शाब्द होता है और निदर्शना में आर्थ।

पण्डितराज ने 'निदर्शना' की परिभाषा ही यही प्रस्तुत की है–शब्दतः कहे हुये दो वाक्यार्थों में जहाँ अभेद आरोपित हो वहाँ निदर्शना होती है। परंतु निदर्शना दो प्रकार की होती हैं–श्रौती और आर्थी। प्रस्तुत परिभाषा 'श्रौती निदर्शना का है। श्रौती वाक्यार्थनिदर्शना के अतिरिक्त पदार्थनिदर्शना वहाँ होती है जहाँ उपमान एवं उपमेय के धर्मों में अभेदारोप होता है।

यहाँ एक सहज प्रश्न यह है कि वाक्यार्थ निदर्शना में रूपक की ध्वनि संभव है अतः रूपक ध्वनि से पृथक् इस अलंकार को क्यों माना जाय ? इसी प्रकार पदार्थनिदर्शना में उपमानगत धर्म से जब उपमेय गत धर्म निगीर्ण है-तो अतिशयोक्ति क्यों न मान ली जाय ? तो इसका उत्तर यह है कि वाक्यार्थनिदर्शना में रूपक की ध्वनि नहीं संभव है—वहाँ रूपक की गुणीभूत व्यंग्य के रूप में स्थिति है। गुणीभूत व्यङ्ग्य रूप में स्थित रूपक से यदि निदर्शना गतार्थ होने लगे-तब तो गुणीभूतव्यंग्य रूप से स्थित उपमा से रूपक भी गतार्थ हो जायगा। इसलिये वाक्यार्थ निदर्शना की इस व्यज्यमान रूपक से गतार्थता संभव नहीं है। दूसरे रूपक में उपमेयगत उपमान का अभेद होता है और निदर्शना में परस्पर अभेद होता है। इसीलिये अतिशयोक्ति में भी पदार्थनिदर्शना का अंतर्भाव संभव नहीं है।

आर्थी निदर्शना वहाँ होती है जहाँ विषयी या उपमान का शब्दतः प्रयोग होने पर भी विषय का शब्दतः उपस्थापन न हो। यद्यपि कुछ लोग ऐसे स्थलों में 'ललित' नामक एक अतिरिक्त अलंकार की ही कल्पना करते हैं।

वाक्यार्थ और पदार्थगत निदर्शना के अतिरिक्त इन्होंने संभवत्-वस्तु-मूला निदर्शना को भी मान्यता प्रदान की है।

इस प्रकार उद्भट ने पूर्व से चले आते हुये एक-एकभेद को समेट कर जो दो रूप निदर्शना के बताये–पण्डितराज तक उसे मान्यता मिली है।

सहोक्ति

भामह ने इसका स्वरूप यों प्रस्तुत किया है "एक ही काल में होने वाली दो भिन्न वस्तुओं की पृथक्-पृथक् क्रियायें यदि एक ही पद से कह दी जायँ––तो उसे 'सहोक्ति' कहेंगे। जैसे, उन रात्रियों के साथ, जिनमें दिशाएँ हिमपात से आच्छन्न हो गई हों, जो गाढ़ आलिंगन की प्रेरणा देती हों––कामियों की प्रीति भी बढ़ गई हैं। यहाँ 'बढ़ना' क्रिया का सम्बन्ध रात्रि और प्रीति—दोनों से हैं पर एक ही पद से कह दी गई है। दण्डी ने भी यह कहा है कि जहाँ भी भिन्न-भिन्न वस्तुओं के गुण और क्रियाएँ साथ ही एक पद से प्रतिपादित हों––वहाँ यह अलंकार होता है। उद्भट ने तो भामह की परिभाषा ज्यों की त्यों स्वीकार कर ली है। प्रतीहारेन्दुराज जो इनके टीकाकार हैं––का कहना है कि यद्यपि दीपक में भी दो वस्तुओं के गुण एवं क्रियायें एक ही पद से उक्त होते हैं––पर यहाँ 'सह' आदि शब्दों का प्रयोग समकालिकता का बोध कराता है—दीपक में यह नहीं होता। यहाँ इसी प्रसंग में प्रतीहारेन्दुराज ने एक बात और यह बताई है कि 'सह' आदि शब्दों के द्वारा जिन दो क्रियाओं या गुणों की समकालिक स्थिति बोधित होती है––वह भी दो प्रकार की हो सकती है। एक स्थिति तो यह है कि जहाँ जिन दो क्रियाओं की तुल्यकालता या समकालिकता कही गई रहती है––वे समकक्ष हों और साथ ही अपने-अपने आश्रय के साथ सम्बद्ध हो जायँ। दूसरी स्थिति यह है कि मूलतः वह क्रिया पहले किसी एक ही आश्रय से सम्बद्ध जान पड़े। तदन्तर 'सह' आदि ग्रन्थों की पर्यालोचना करने पर ऐसा जान पड़े कि दूसरी वस्तु से भी इसका सम्बन्ध है। सहोक्ति में यही अंतिम स्थिति होती है। दोनों तरह के उदाहरण लें—(१)राम और श्याम साथ जा रहे हैं (२) राम के साथ श्याम जा रहा है। पहले में स्वतन्त्र रूप से 'जाना' क्रिया का दोनों कर्ताओं से स्वतन्त्र-स्वतन्त्र एवं समकक्ष सम्बन्ध है पर दूसरे वाक्य में प्रधानतः 'श्याम' के साथ 'जाना' का सम्बध प्रतीत होता है। बाद में 'सहकर्मा' होने के कारण अन्य के साथ भी 'जाना' का सम्बन्ध जुटता है। सहोक्ति में ऐसा ही होना चाहिए। इसके साथ एक तीसरी शर्त यह है कि उक्ति में कोई चमत्कार भी होना चाहिए। वामन भी इसी परम्परा में इसी स्वरूप को स्वीकार करने वाले आचार्य हैं।

रुद्रट ने सहोक्ति की दो रूपों में चर्चा की है—वास्तवमूलक और औपम्य-मूलक। पहली में कार्यकारणभाव पर और दूसरी में उपमानोपमेयभाव पर बल दिया जाता है।

वास्तवमूलक सहोक्तिः–कर्त्ता रूप प्रधान अर्थ जिस गुण से युक्त हो—उसी गुण से यदि कर्मभूत अर्थ को भी साथ ही युक्त करे—तो वहाँ प्रथम भेद होता है। वहाँ 'सह' का अर्थ है—कार्य-कारण-भाव। कार्य एवं कारण की सह-उक्ति होनी चाहिए। जैसे, उस नायिका के कुचकलश मन्मथ के साथ प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। यहाँ कर्ता है—कुचकलश और उसका कर्म है—मन्मथ का उद्भेद। दोनों को साथ ही बढ़ती कही गई है।

औपमूलक सहोक्ति

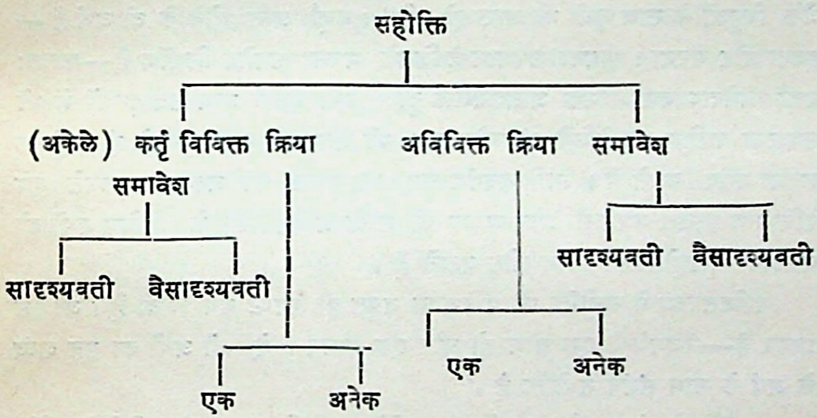
जहाँ प्रसिद्ध व्यापार वाले उपमान के साथ उपमेय की भी क्रिया को समान रूप से वर्णित किया जाय—वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे, "वासंतिक कोकिल की काकली सुनकर उत्कण्ठित पथिक मन के साथ ही शीघ्र गृह प्रयाण कर जाते हैं।" यहाँ 'मन' है—उपमान और पथिक हैं—उपमेय। उपमान की शीघ्र-गामिता उपमेय की शीघ्रगामिता से काफी अंतर रखती है—फिर भी दोनों को समान व्यापार वाला कह दिया गया है।

कुंतक ने 'सहोक्ति' के संबंध में अपना अभिमत देने से पूर्व भामह द्वारा निरू-पित सहोक्ति का खण्डन किया है और बताया है कि उस प्रकार के उदाहरण में जो चमत्कार प्रतीत होता है—उसका मूल-स्रोत उपमा ही है। अतः उनकी सहोक्ति तो उपमा से भिन्न नहीं। अतः उन्होंने उसकी परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की। "जहाँ एक ही वाक्य से वर्णनीय अर्थ की सिद्धि के लिये अनेक अर्थों का एक साथ कथन किया जाता है—वही सहृदयों की दृष्टि में 'सहोक्ति' है। जैसे :—"हे सारे पर्वतों के स्वामी क्या आपने मुझसे वियुक्त हुई सर्वांग सुन्दरी उर्वशी का इस सुन्दर वन-प्रदेश' में कहीं देखा है"—यहाँ प्रधानतम अर्थ 'विप्रलम्भ' है—वही वर्ण्य है, उसी की सिद्धि के लिये दो प्रकार के वाक्यों की रचना एक साथ की गई है।

परन्तु कुंतक के इस लक्षण और उदाहरण को किसी ने भी 'सहोक्ति' के विषय में कभी अपनाया नहीं। वैसे एक ही वाक्य से अनेक अर्थों की प्रतीति की बात सहोक्ति के संबंध में करने से सहज ही यह संदेह खड़ा किया जा सकता है कि फिर श्लेष और सहोक्ति में अंतर क्या है? कुंतक ने दो अंतर बताये हैं—पहला यह कि श्लेष में दोनों या किसी एक की प्रधानता होती है—सहोक्ति में दो या

बहुत भी प्रधानार्थ के सहायक के रूप में कहे गये होते हैं। इसी प्रकार का कुछ अस्पष्ट तर्क दूसरा भी है। पर यह सारा का सारा विवेचन कुछ हृदयङ्गम नहीं होता। कुंतक का यह विवेचन बहुत सारवान् नहीं है।

भोजराज ने कहा है—"किसी क्रिया आदि से उसके कर्ता आदि कारकों का जहाँ अन्य के साथ संबंध प्रदर्शित किया जाता हो—वहीं सहोक्ति होती है। अन्य वस्तु के साथ कर्त्ता आदि का क्रिया से संबंध अकेले भी हो सकता है और मिश्रित रूप से भी। इसी आधार पर इसके भेद भी हो जाते हैं। दूसरे इस 'सह' आदि तत्समानार्थक शब्दों का प्रयोग भी संभव है। यह 'सादृश्यवती' और 'वैसादृश्य-वती'—दोनों प्रकार की होती है।



यदि केवल कर्ता ही अन्य के साथ एक क्रिया से संबद्ध है—तो वहाँ 'कर्तृविविक्ता क्रिया समावेश' कहा जायगा और यदि बहुत से कारकों का अपने-अपने साथियों के साथ पृथक् पृथक् क्रिया से संबंध न होकर एक ही क्रिया से संबंध हुआ—तो वह 'अविविक्त-क्रिया समावेश' कहा जायगा। साथियों से सादृश्य है कर्ता आदि का तो सादृश्यवती और नहीं है तो वैसादृश्यवती।

मम्मट ने कहा है कि "यदि 'सह' या तत्समानार्थक शब्द केवल एक शब्द से अनेकार्थाभिधायक हो जाय—तो वहाँ 'सहोक्ति' होती है। अनेकार्थाभिधान से तात्पर्य यही है कि वह अनेक के साथ संबंध में उपयोगी विभिन्न अर्थ दे सके।" हेमचंद्र ने भी कहा है कि " 'सह' शब्द के सामर्थ्य से क्रिया या गुण रूप धर्म का यदि अनेक के साथ संबंध हो सके तो वहाँ 'सहोक्ति' होती है।" यह परिभाषा मम्मट की अपेक्षा थोड़ी अधिक स्पष्ट है।

रुय्यक ने इसे स्पष्ट रूप से सादृश्य-मूलक अलंकारों में ही गिना। इसीलिये

इन्होंने जो परिभाषा प्रस्तुत की है उसमें यह कहा गया है कि 'उपमान और उपमेय में से एक प्रधान हो और उसी के साथ संवद्ध होने से दूसरे का भी जब प्रधानान्वयोपयोगी धर्म से अन्वय हो जाय––तो वहाँ सहोक्ति होती है। कुछ आलंकारिकों ने इस अलंकार में चमत्कार के स्रोत का भी विचार किया है। रुय्यक उनमें से एक हैं। इनका कहना है कि सहोक्ति में जो चामत्कारिक प्रतीति होती है वह अतिशयोक्तिगर्भता के कारण। अतिशयोक्ति कार्यकारण प्रतिनियम के विपरीत हो जाने से तथा अभेदाध्यसाय के कारण दो प्रकार की हो सकती है। अभेदाध्यवसाय भी श्लेषमूलक या श्लेषनिरपेक्ष––दोनों ढंग का हो सकता है। यहाँ जिस धर्म से अन्वय किया जाता है––वहीं अतिशयोक्ति का प्रयोग होता है। जैसे, रिपुओं के साथ सूर्य भी अस्त हो गये''। यहाँ 'अस्त' होने के दो अर्थ हैं––डूबना और मरना। 'डूबना' उपमान है जिससे 'मरना' उपमेय निर्णीण है––फलतः यहाँ अभेदाध्यवसायात्मक अतिशयोक्ति हुई। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिए। इसीलिये चंद्रालोककार भी जनरञ्जक सहभाव को ही सहोक्ति कहना पसंद करते हैं। साहित्यदर्पणकार भी मम्मट का अनुसरण करते हुये परिभाषा प्रस्तुत करते हैं और रुय्यक की भाँति अतिशयोक्ति के विविध रूपों को चमत्कार (सहोक्तिगत) का स्रोत बताते हैं।

पण्डितराज ने सहोक्ति की परिभाषा बहुत ही स्पष्ट रूप से दी है। जो इस प्रकार है––'जिनमें से एक गौण हो और एक प्रधान––ऐसे दो अर्थों का सह शब्द के अर्थ के साथ संबंध सहोक्ति है।'

सहोक्ति से संबद्ध अनेक प्रश्नों पर इन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। जैसे, सहोक्ति में 'अप्रधानभाव' शाब्द होता है या आर्थ। पर हिंदी की दृष्टि से उसकी विशेष उपयोगिता नहीं है। दूसरा विचार उनका वह है कि सहोक्ति निश्चय ही सादृश्यमूलक अलंकार है। पर प्रश्न यह है कि जहाँ सादृश्य होगा वहाँ उपमान और उपमेय होगा। उपमान और उपमेय का अर्थ है अप्राकरणिक और प्राकरणिक। पर सहोक्ति में जिन दो प्रधान तथा अप्रधान का सहभाव देखा जाता है वे सर्वथा अप्राकरणिक और प्राकरिणक ही हों––यह आवश्यक नहीं। प्रायः दोनों प्राकरणिक ही होते हैं। इसलिये उपमान या उपमेय का निर्णय सर्वथा अप्राकरणिक और प्राकरणिक होने पर ही नहीं, प्रधान और अप्रधान होने पर भी निर्भर करता है। अतः यहाँ 'अप्रधान' को उपमान और 'प्रधान' को उपमेय समझना चाहिए।

तीसरा विचार उनका यह है कि सहोक्ति का सारा सौंदर्य पूर्वाचार्यों ने अतिशयोक्ति पर प्रतिष्ठित बताया है, पर अतिशयोक्ति को दो रूपों में उपकारक

कहा है--कारणकार्य नियम विपर्ययात्मक तथा अभेदाध्यवसाय । पंडितराज का विचार है कि कारणकार्य पौर्वापर्यविपर्ययात्मक अतिशयोक्ति की जिस सहोक्ति में स्थिति रहती है वहाँ अतिशयोक्ति अंगभूत न रहकर प्रधानतः चमत्कार का कारण होती है अतः इसे हटा देना चाहिए । रूपक गत सादृश्य या उपमा की भांति यदि अतिशयोक्ति का यह भेद भी 'सहभाव' द्वारा उत्पन्न होने वाले चमत्कार का अप्रधान हेतु होता तो इसे साधन माना जाता, पर वह बात है नहीं । रहा दूसरा भेद उसे भी 'अतिशय' कहना ठीक है, अतिशयोक्ति नहीं । यह 'अतिशय' अवश्य अंग रूप में 'सहोक्ति' से उत्पन्न होनेवाले चमत्कार का सहायक होता है ।

चौथा प्रश्न प्राचीनों और नवीनों से संवद्ध यह विचार है कि सहोक्ति में भी जब उपमान और उपमेय का 'गुण' से सहभाववश संबंध रहता है और दीपक में भी, तब सहोक्ति को 'दीपक' से भिन्न अलंकार क्यों माना जाय ? प्राचीन लोग दीपक में 'संबंधांश' पर और 'सहोक्ति' में 'सहभाव' पर चमत्कार का अस्तित्व निर्भर मानते हैं इसलिए दोनों को अलग-अलग मानते हैं ।

यदि एक उपमेय नाना उपमानों से सहभाव धारण करता हो, तो वहाँ 'माला सहोक्ति' मानी जानी चाहिए ।

ये हैं सहोक्ति-संवद्ध पंडितराज के विचार ।

काव्यालङ्कार-सार-संग्रह एवं लघुवृत्ति

•

मूल और व्याख्या

टीका-मंगलाचरण

> यल्लक्ष्म्या हसितैः सितैर्धवलितं नर्मोक्तिलीलाजुषः,
> शौरेः स्फीतगभस्तिकौस्तुभरुचा यच्च क्वचित्पाटलम् ।
> अन्यत्रच्छुरितं यदम्बररुचा हेमप्रभादीप्रया,
> तद्वक्षोऽक्षत शक्रचापशबलव्योमाभमव्याज्जगत् ।।१।।

अ०—इन्द्रधनुष से रंग-बिरंगे व्योम की सी आभा बिखेरने वाला भगवान् का वह वक्षःस्थल सारी सृष्टि की रक्षा करे, जिसका एक भाग परिहास-प्रवण लक्ष्मी के शुभ्र-हास से धवल, अन्य भाग स्फीत-रश्मियों से संवलित कौस्तुभ की कान्ति से अरुणाभ एवं अतिरिक्त भाग स्वर्णाभ पीताम्बर की प्रभा से व्याप्त है ।।१।।

विशेष—प्रस्तुत मंगलाचरण टीका ग्रंथ का है। मंगलाचरण नव्यतार्किकों की दृष्टि से विघ्नध्वंस के प्रति कारण माना जाता है और ग्रंथ की समाप्ति तो बुद्धि प्रतिभा आदि कारण-कलाप के बल से होती है। पुरातन तार्किकों के विचार से मङ्गलाचरण सीधे समाप्ति के प्रति कारण होता है। विघ्न किसी भी ग्रंथ के संबंध में तीन प्रकार के होते हैं—समाप्ति प्रतिबंधक, प्रचार प्रतिबंधक एवं यशः-प्रतिबंधक। कृतिकारों में से बहुतों की कृतियाँ आरम्भ तो बड़े हास-विलास के साथ होती हैं–पर पूरी नहीं हो पातीं। समाप्त हो जाने पर 'कस्यापि तिष्ठति कवेः गृह एव काव्यम्'—सूक्ति के अनुसार कुछ लोगों की कृतियाँ घर ही में रह जाती हैं—उनका घर से बाहर प्रचार ही नहीं हो पाता। किसी प्रकार यदि प्रचार भी हुआ, तो उससे यश के बदले अपयश भी प्राप्त होने लगता है। वस्तुतः ऐसे पुण्य-शील जन संसार में कतिपय गिने-चुने ही होते हैं, जिनका ग्रंथ पूरा होता है उनका प्रचार भी होता है और यश भी मिलता है। निष्कर्ष यह कि अदृष्ट पर अत्यन्त आस्थाशील प्राचीन विद्वान् उपर्युक्त तीनों प्रकार के विघ्नों को दूर करने के लिए मंगलाचरण की प्रथा निबाहते थे। यद्यपि यह मंगलाचरण मन में भी किया जा सकता था, परंतु लेखबद्ध कर देने से उनका अभिप्राय यह बताया जाता है कि आगे की पीढ़ी के लोग उसे स्पष्ट देखें और उससे सीख लें। मूलग्रंथकार ने संभव है मन ही मन मंगलाचरण कर लिया हो।

प्रस्तुत श्लोक में देव-विषयिणी-रति ध्वनित है, अतः यहाँ भाव-ध्वनि का

महिषितवपुषि सुरद्विषि दर्शितभयमभयदं द्युसद्मभ्यः ।
नन्दितसुरेन्द्रवंदितमङ्घ्रियुगं गौरि तव वंदे ॥२॥
विद्वदग्र्यान्मुकुलादधिगम्य विविच्यते ।
प्रतीहारेंदुराजेन काव्यालंकार-संग्रहः ॥३॥

मूलग्रंथ—

पुनरुक्तवदाभासं छेकानुप्रास एव च ।
अनुप्रासस्त्रिधा लाटानुप्रासो रूपकं चतुः ॥१॥
उपमा दीपकं चैव प्रतिवस्तूपमा तथा ।
इत्येत एवालंकाराः वाचां कैश्चिदुदाहृताः ॥२॥

व्यवहार किया जा सकता है। "हसितैः सितैः"—में यमक नामक शब्दालंकार की स्थिति है। वक्षःस्थल के व्योमाभ होने से यह स्पष्ट है कि तथाविध वक्षःस्थल एवं शक्रचापशबल व्योम में सादृश्य है—अतः उपमा की भी स्थिति असंभव नहीं है। वैसे इस सादृश्य की निष्पत्ति में उपर्युक्त युक्तियाँ काव्यलिंग की भी झलक देती हैं। परकीय गुण-ग्रहण-पूर्वक वक्षःस्थल का स्वकीय गुण-त्याग, तद्गुण की भी स्थिति स्पष्ट करता है।

टी० व्या०—हे पार्वति! मैं तुम्हारे उस चरणयुगल की वंदना करता हूँ, जो प्रसन्न सुरेन्द्र से निरंतर वंदित होता रहता है और जिसने देवताओं के लिए अभय दिया है तथा उन असुरों को भय भी पैदा किया है, जिनमें महिष एक है अथवा जिनका स्वरूप महिषाकार है॥२॥

विद्वानों में मूर्द्धन्य मुकुल से ज्ञान प्राप्त कर प्रतीहारेंदुराज के द्वारा काव्यालंकारसार-संग्रह का विवेचन आरम्भ किया जा रहा है॥३॥

मू० व्या०—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, त्रिविध अनुप्रास, लाटानुप्रास, चतुर्विध रूपक, उपमा, दीपक एवं प्रतिवस्तूपमा—इतने अलंकार वाणी के कुछ लोगों ने कहे हैं।

विशेष—इस ग्रंथ में अलंकार के भेदों से ही ग्रंथ का आरभ किया गया है। सलिये अलग से यह आवश्यक है कि अलंकार सामान्य का स्वरूप स्पष्ट कर दिया जाय। कारण यह है कि सामान्य का ज्ञान होने पर ही तद्विषयक विशेष (प्रभेद) की जिज्ञासा होती है। वैसे आनन्दवर्द्धन द्वारा स्थापित ध्वनि वाद के विवेचन में ही संगतरूप से 'गुण' को व्यवस्थित रूप मिल सका और इसीलिये उससे अलंकार

टी०—अत्रालंकारा अष्टावुद्दिष्टाः। तत्रादौ चत्वारः शब्दालंकाराः निरूपिताः। रूपकादीनां चतुर्णामत्र अर्थालंकारता। अत्रानुप्रासे रूपके यथाक्रमं त्रिधेति चतुरिति वचनं विप्रतिपत्तिनिरासार्थम्। भामहो हि ग्राम्योपनागरिकावृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासं व्याख्यातवान्। तथा रूपकस्य ये चत्वारो भेदाः वक्ष्यन्ते, तन्मध्यादाद्यमेव भेदद्वितयं प्रादर्शयत्। अतः स्वाभिमतभेदोपदर्शनद्वारेण एवंविधविप्रतिपत्तिनिरासार्थमुद्देशावस्थायामेवानुप्रासस्त्रिधेति रूपकं चतुरिति प्रोक्तम्। रूपकं चतुरित्यत्र रूपकत्वेन सह एकस्मिन्नर्थे वर्त्तमाना सत्ता रूपकभेदेषु आवर्तमाना प्रतीयते, अतः प्रतीयमाना याऽसौ रूपकत्वैकार्थसमवेता सत्तात्मिका भवनक्रिया तदभ्यावृत्तावयं "द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् (पा० ५।४।१८) इति सुच् प्रत्ययः। रूपकं चतुर्षु भेदेषु चतुरो वारान् भेदात्मना भवतीत्यर्थः।

का भी ठीक-ठीक अंतर किया जा सका। अन्यथा उद्भट के मत को उद्धृत करते हुए प्रकाशकार ने तो यही कहा है कि उनके मत से लोक में गुण समवायवृत्ति से और अलंकार संयोग वृत्ति से रहता हो तो रहे, पर जहाँ तक काव्य का संबंध है वहाँ गुण और अलंकार में इस तरह का कोई अंतर नहीं होता। कारण यह है कि दोनों ही काव्य के साथ एक ही तरह गुँथे रहते हैं। अर्थात् इनके द्वारा पहले से किये गये अंतर पर भी पानी फेर दिया गया। पहले वालों ने गुण को नित्य तथा अलंकार को अनित्य धर्म माना था पर उद्भट को यह अंतर स्वीकार्य न था। वस्तुतः यह अंतर ध्वनि सम्प्रदायवालों के काव्य शास्त्र में पदार्पण करने के बाद ही हुआ। उन लोगों ने यह स्पष्ट किया कि अलंकार अंग द्वारा अनियत रूप से और गुण साक्षात् तथा नियत रूप से रस का उपकार करने वाला धर्म है।

टी० व्या०—मूलकारिका में आठ अलंकारों का नाम-निर्देश किया गया है। शास्त्रकार पहले आलोच्य का उद्देश—नामतः कथन करते हैं फिर लक्षण तथा विभाजन। उनमें से आरंभ के चार अलंकार शब्दालंकार के रूप में कहे गये हैं और रूपक आदि चार अर्थालंकार हैं। अनुप्रास के साथ 'त्रिधा' तथा रूपक के साथ 'चतुः' की उक्ति न्यूनातिरिक्त भेद जैसी विप्रतिपत्ति के निवारणार्थ प्रयुक्त हुई है। कारण यह है कि भामह ने अनुप्रास के (जैसे) दो ही भेद—ग्राम्या तथा उपनागरिका बताये हैं [इसलिए यदि मूलग्रंथकार ने त्रिधा कहकर अनुप्रास के तीन भेदों की ओर संकेत स्पष्ट न दे दिया होता, तो अन्य लोग उसे भामह के आधार पर दो ही प्रकार का कहते]। इसी प्रकार रूपक के जो चार भेद आगे कहे जायँगे,

अभिन्नं वस्तु यस्मिन्नुद्भासते तदभिन्नवस्तु। भिन्नं रूपं ययोः पदयोः ते भिन्नरूपे। अभिन्नवस्त्विव अभीक्ष्णमुद्भासेते भिन्नरूपे पदे यस्मिंस्तदभिन्नवस्त्विवोद्भासिभिन्नरूपपदम्। एवमयं बहुव्रीहिद्वितयगर्भः पञ्चपदो बहुव्रीहिः। तत्रैकोऽभिन्नवस्त्विति बहुव्रीहिः। अपरस्तु भिन्नरूप इति। तद्गर्भश्चायं बहुव्रीहिरभिन्नवस्त्ववोद्भासिभिन्नरूपपदमिति। अनेन च यत्र भिन्नरूपे पदे एकार्थवदाभासेते

पुनरुक्तवदाभासम्।

टी०––तत्र पुनरुक्तवदाभासं प्रोच्यते––

मू०––पुनरुक्ताभासमभिन्नवस्त्विवोद्भासि-भिन्नरूपपदम् ॥

उनमें से आरंभिक दो का ही पीछे के आचार्य ने उल्लेख किया। इसीलिए (उनके विपक्ष में) स्वाभिमत भेदों का प्रदर्शन करते हुए भामह के आधार पर उठनेवाली आपत्ति की जड़ ही काट दी और इसीलिए यद्यपि यह उचित नहीं था, (परम्परा-सम्मत क्रम भी नहीं था) कि उद्देशावस्था (नाम-कथन की स्थिति) में ही भेद की बात कही जाय फिर भी उक्त आपत्ति (कि कहीं कोई दो दो ही भेद न समझने लगे) के ही निवारणार्थ परम्परा सम्मत क्रम का अतिक्रमण करते हुए यह भी कह दिया गया कि अनुप्रास के तीन और रूपक के चार भेद होते हैं। [मम्मट ने भी काव्य प्रकाश में पद दोष की उद्देशावस्था में ही 'त्रिधाऽश्लीलम्' कहते हुए भेदों की भी बात कह दी है। यदि कोई विशेष कारण न हो, तो उचित यही है कि पहले आलोच्य का नाम गिना जाय, और फिर उनका स्वरूप बताया जाय और तब उनके प्रभेदों की बात की जाय।] "रूपकं चतुः" में चतुः का अर्थ है––चार बार, न कि चतुर्विध रूपक––इस स्थिति में 'चतुः' की संगति स्पष्ट करते हुए टीकाकार का वक्तव्य है कि 'चतुः' द्वारा ग्रंथकार का यह कहना प्रतीत होता है कि रूपकत्व धर्म के साथ रूपक के चारों भेदों में रूपक की 'सत्ता' विद्यमान है। वही रूपक की सत्ता चार बार आवृत्त होती है। इसी अर्थ में पाणिनि के प्रसिद्ध सूत्र 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' से 'चतुर' शब्द से 'सुच्' प्रत्यय का विधान होने पर 'चतुः' शब्द निष्पन्न हुआ है और उसी अर्थ में यहाँ उसका प्रयोग भी है। इस प्रकार 'रूपकं चतुः' का अर्थ हुआ––कि रूपक अपने चार भेदों में चार बार भेदात्मना स्थित है।

पुनरुक्तवदाभास

टी०––उपर्युक्त आठ प्रकार के अलंकारों में से पहले पुनरुक्तवदाभास नामक अलंकार (का स्वरूप) कहा जा रहा है––

मू०––आकार की दृष्टि से जहाँ भिन्न रूप वाले पद एकार्थक से जान पड़ें वहाँ पुनरुक्ताभास नामक अलंकार होता है।

तत्पुनरुक्ताभासं काव्यमलङ्कार्यं निर्दिष्टम्। यद्यपि पुनरुक्तवदाभासमित्युद्देशे वतिः प्रयुक्तस्तथापि तस्येह गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः। उद्देशेत्वेवमनभिधानमभिधा-वैचित्र्यप्रदर्शनार्थम्। काचित्खलु गम्यमानार्थान्वयेन अभिधा प्रवर्तते, काचित्त्वभि-धीयमानार्थान्वयेन। तत्रोद्देशे वत्यभिधीयमानसादृश्यान्वयेनाभिधोपदर्शिता। इह त्वर्थसामर्थ्यावसेयसादृश्यान्वयेन। तदेवमर्थसामर्थ्यावसेयेन वत्यर्थेनान्वितं पुन-रुक्ताभासमत्र काव्यमलंकार्यं निर्दिष्टम्। पुनरुक्तवदाभासमाने च पदे तस्यालङ्कारः।

टी० व्या०—[मूल पंक्ति में दो पद हैं—पहला 'पुन क्ताभासम्' तथा दूसरा 'अभिन्नवस्त्विवोद्भासिभिन्नरूपपदम्।' दूसरा पद पहले की अपेक्षा काफी बड़ा सामासिक पद है] अभिन्न वस्तु जिसमें उद्भासित हो—वह हुआ 'अभिन्न वस्तु'। भिन्न रूप हैं जिन दो पदों के वे हुए 'भिन्नरूप'। अभिन्न वस्तु की भाँति भिन्न पद जहाँ बहुशः उद्भासित हों—वह हुआ—'अभिन्नवस्त्विवोद्भासिभिन्नरूपपदम्'। इस प्रकार यहाँ पूरा पद तो बहुव्रीहिसमास का उदाहरण है ही उसके गर्भ में भी दो बहुव्रीहि समास वाले पद पड़े हुए हैं। उनमें से एक बहुव्रीहि है—अभिन्न वस्तु और दूसरा बहुव्रीहि है—'भिन्नरूप'। दोनों को क्रोडीकृत किये हुए तीसरा बहुव्रीहि है—'अभिन्नवस्त्विवोद्भासि भिन्नरूपपदम्'। इसका निष्कर्ष यह है कि जहाँ आकारतः भिन्न-भिन्न दो पद एकार्थक की तरह भासित हों—वहाँ पुनरुक्ताभास-काव्य अलङ्कार्य होता है। यद्यपि जहाँ नाम-कथन किया गया है—वहाँ पुनरुक्तवदा-भास' शब्द का प्रयोग है—अर्थात् वहाँ सादृश्यार्थक 'वति' नामक तद्धित प्रत्यय का प्रयोग है—पर जहाँ उसका लक्षण या स्वरूप कहा जा रहा है—वहाँ उसका (वति प्रत्यय) प्रयोग नहीं है (वहाँ 'पुनरुक्ताभास' शब्द ही प्रयुक्त है)। सका कारण यह है कि यहाँ 'वति' प्रत्यय का अर्थ गम्यमान है—प्रकरण से अपने आप प्रतीत हो जाता है—अतः उसके प्रयोग की कोई आवश्यकता अनुभूत नहीं की गई। उद्देश या नामकथन के प्रसंग में दूसरा प्रकार अपनाने का अभिप्राय यह है कि यह स्पष्ट कर दिया जाय कि प्रस्तुत अलंकार की एक ही नहीं, प्रत्युत दो विचित्र संज्ञायें हैं। [इस अलंकार का नाम केवल पुनरुक्तवदाभास ही नहीं, पुनरुक्ता-भास भी है] । कोई संज्ञा गम्यमान अर्थ से भी संबंध रखती हुई प्रयुक्त देखी जाती है और कोई अभिधीयमान अर्थ से ही संबंध रखती हुई। इस स्थिति में उद्देश के प्रसंग में जो संज्ञा प्रयुक्त है—वह 'वति' प्रत्यय के 'सादृश्य' अर्थ को बोधित कर रही है। लक्षण-कथन के अवसर पर जो संज्ञा प्रयुक्त है—वह अर्थतः प्रतीय-मान 'सादृश्य' से संबंध रखने वाली है। तो इस प्रकार अर्थ की सामर्थ्य से निश्चित वतिप्रत्ययार्थ 'सादृश्य' से संबद्ध पुनरुक्ताभास काव्य यहाँ अलंकार्य

अत्रालङ्कार्यं यत्काव्यं तद्धर्मत्वेन पुनरुक्तवदाभासमानयोः पदयोरलङ्कारत्वमुक्तं न तु स्वतंत्रतया, फलं चैवमभिधीयमानस्य पुनरुक्तवदाभासमानपदसमन्वयस्यालङ्कारतया ख्यापनम्। अलंकारस्य खल्वलंकार्यपरतंत्रतया निरूपणे क्रियमाणे सुष्ठु स्वरूपं निरूपितं भवति। स्वात्मन्यवस्थितस्य तस्यानलंकारत्वात्। समुद्गकस्थितहारकेयूर-पारिहार्याद्यलङ्कारवत्। अतः पुनरुक्तवदाभासत्वस्यालङ्कारताख्यापनाय काव्य-परतंत्रतया निर्देशो युक्त एव। तस्योदाहरणम् —

तदाप्रभृति निःसङ्गी नागकुञ्जरकृत्तिभृत्।
शितिकण्ठः कालगलत्सतीशोकानलव्यथः॥

तदाप्रभृति सतीवियोगादारभ्य स देवः शितिकण्ठो निःसङ्गः सन् दिवसानतिवाहित-वानिति वक्ष्यमाणे श्लोके वाक्यार्थपरिसमाप्तिः। कृत्तिश्चर्म। कालवशेन निवर्त्त-माना (या) सती (तस्याः) वियोगेन जनितो यःशोकवह्निस् तदुद्भवा पीड़ा यस्य स तथोक्तः। अत्र नागकुञ्जरशब्दौ शितिकण्ठकालगलशब्दौ च पुनरुक्तवदाभासेते।

रूप से निर्दिष्ट है और पुनरुक्त की तरह भासमान होनेवाले दोनों पद उसके अलंकार हैं।

यहाँ अलङ्कार्य रूप से जो काव्य स्थित है—उसी के धर्म के रूप में पुनरुक्त की तरह भासमान होने वाले दोनों पदों की अलंकारता कही गई है, न कि स्वतंत्र रूप से और पुनरुक्तवदाभासमान के समन्वय के इस प्रकार से कहे जाने का फल यह है कि उसे अलंकार के रूप से ख्यापित किया जाय। ठीक ही है यदि अलंकार का निरूपण अलंकार्य सापेक्ष किया जाय, तभी उसका सुंदरतम निरूपण हो पाता है। अपने आप में स्थिति रखने पर वह अलंकार क्या होगा और किसका होगा? अलंकार तो किसी अलंकार्य का ही हो सकता है। अपने आप में तो वह वैसा ही अलंकार है जैसा कि (किसी का अलंकरण न करने पर भी) पेटिका में पड़ा हुआ केयूर (बिजायठ) कंकण आदि भी अलंकार कहे जाते हैं। इसलिये पुनरुक्तवदाभास-मानता को काव्य-सापेक्ष रखकर ही अलंकार बताना युक्तियुक्त जान पड़ता है। उसका उदाहरणः—

तभी से विषयव्यासंगरहित, प्रशस्त गजचर्म धारण किये, कालवश सदा के लिये साथ छोड़ जाने वाली सती के शोकानल से व्यथित शितिकण्ठ [अपने दिन बिताते रहे]।

तथाहि, नागकुञ्जरशब्दयोरुपक्रमावस्थायां गजवाचित्वेन एकार्थत्वं प्रतिभाति। पदार्थान्वयपर्यालोचनया तु तद्बाध्यते। नागशब्दः खल्वत्र हस्तिवाची। कुञ्जर-शब्दस्तु तत्प्रशंसावगतिहेतुः। एवं शितिकण्ठकालगलशब्दयोरपि वलीविशेषावच्छिन्न शरीरावयवभेदोपेतार्थाभिधायित्वात्पौनरुक्त्यं संभाव्यमानं कालगलदिति तकारा-वधिपर्यालोचनया चापसार्यते। तेनात्र पुनरुक्ताभासत्वम्।

ननु छेकानुप्रासलक्षणादनन्तरं पुनरुक्तवदाभासोदाहरणं पठ्यते। तत्कथं पुनरुक्तवदाभासलक्षणव्याख्यानसमय एव तस्योपन्यासः कृतः। उदाहरणप्रदर्शनम-न्तरेण लक्षणार्थस्य दुरधिगमत्वादिहैव तदुपन्यस्तमित्यदोषः। एवमुत्तरत्रापि प्रमेय-शब्दानुसारेण ग्रंथ-पाठक्रम-विपर्यासेन व्याख्यायां नासूयितव्यम्। पाठक्रमादार्थ-क्रमस्य बलीयस्त्वात्।

तदा प्रभृति अर्थात् जब से सती से वियोग हुआ तभी से देव शितिकण्ठ निःसंग होकर दिन बिताने लगे। वस्तुतः प्रस्तुत श्लोक की वाक्यार्थ परिसमाप्ति अगले श्लोक से होती है, क्योंकि समापिका क्रिया (दिवसानतिवाहितवान्) अगले श्लोक में ही है। कृत्ति का अर्थ है चर्म या चाम। कालवश दिवंगत सती के वियोग से उत्पन्न जो शोकाग्नि, उससे उत्पन्न पीड़ा है—जिसको, ऐसे तथाविध (शिव)। इस श्लोक में 'नागकुञ्जर' शब्द तथा 'शितिकण्ठ' और 'कालगल' शब्द पुनरुक्त के समान भासित होते हैं। तर्क यह है कि नाग एवं कुञ्जर शब्दों से आरंभ में आपाततः ऐसा जान पड़ता है कि नाग एवं कुञ्जर दोनों ही शब्द गजरूप एक ही अर्थ के वाचक हों, पर बाद में जब पदार्थों के पारस्परिक अन्वय की पर्यालोचना की जाती है—तब ऐसा स्पष्ट होता है कि नाग एवं कुञ्जर की एकार्थता इस प्रसंग में अनुपयोगी है। निश्चित ही यहाँ 'नाग' शब्द हाथी का बोधक है और 'कुञ्जर' शब्द उसकी प्रशंसा की अवगति में हेतु है। इसी प्रकार शितिकण्ठ एवं कालगल [में कण्ठ एवं गल] शब्द भी आपाततः वली विशेष युक्त शरीर के अवयव का बोध कराते हुए पर्याय से ही जान पड़ते हैं—फलतः पौनरुक्त्य की प्रतीति होती है, पर जब 'कालगलत्' में 'त्' शब्द पर ध्यान जाता है और वहाँ तक के 'काल गलत्' शब्द की पर्यालोचना की जाती है—तब स्पष्ट मालूम पड़ जाता है कि पौनरुक्त्य नहीं हैं। इस प्रकार इन स्थलों में प्रतिष्ठित पुनरुक्ति नहीं है, बल्कि पुनरुक्ति का आभास मात्र मिलता है। सीलिये इसे पुनरुक्ताभासता कहते हैं।

ग्रंथकार अपने व्याख्यान क्रम का स्पष्टीकरण करने के लिये शंकोत्थापन पूर्वक अपनी बात रखते हुए कह रहे हैं—होना तो यह चाहिए कि छेकानुप्रास

छेकानुप्रासः

मू०——छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतौ ।

द्वयोर्द्वयोरज्झलसमुदाययोः सुष्ठु सदृशे उच्चारणे क्रियमाणे सति छेकानुप्रासो भवति । तथाविधाः समुदायास्तत्रालङ्कारतां प्रतिपद्यन्ते । द्वयोर्द्वयोरिति स्वार्थेऽवधार्यमाणेऽनेकस्मिन्निति द्विर्वचनं स्वार्थग्रहणेन वीप्साया निरस्तत्वान् न यावन्तोऽत्र द्विकाः संभवन्ति तेषां सर्वेषामेव सुसदृशत्वं कार्यं, किं तर्हि कतिपयानामेव । वीप्सा हि साकल्ये सति भवति । सा चात्र स्वार्थशब्देन निरस्ता । अवधार्यमाणग्रहणाच्च द्वयोर्द्वयोरेवात्र समुदाययोः सदृशत्वम्, न तु त्रयाणां त्रयाणामिति द्रष्टव्यम् । अनेकस्मिन्निति वचनाच्च असकृदेवं विधरूपोपनिबंधे सति छेकानुप्रासता न तु सकृदिति मन्तव्यम् । परस्परमेकरूपान्विता रसाद्यभिव्यक्त्यनुगुणत्वेन लब्धोत्कर्षा वर्णास्तत्समुदाया वा शोभातिशयहेतुत्वेन काव्ये क्षिप्यमाणाऽनुप्रासशब्देनान्वर्थेनाभिधीयन्ते । छेक शब्देन कुलायाभिरतानां पक्षिणामभिधानम् । तदुक्तम्——"छेकान् गृहेष्वभिरतानुशन्ति मृगपक्षिणः"—इति । तेषां च कुलायाभिरतत्वादन्येन केनचिदनायास्यमानानामनेनानुप्रासेन सदृशी मधुरा वागुच्चरति । अतोऽयमनुप्रासश्छेकैर्व्यपदिश्यते छेकानुप्रास इति । अथवा छेका विदग्धाः । तद्वल्लभत्वादस्य छेकानुप्रासता ।

की परिभाषा के पश्चात् पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण उपस्थित किया जाता फिर पुनरुक्तवदाभास के लक्षण का व्याख्यान करते हुये उसी अवसर पर इसका उदाहरण भी क्यों उपस्थित किया गया ? उत्तर यों है——उदाहरण प्रदर्शन के बिना लक्षण का अर्थ स्पष्ट नहीं होता——अतः लक्षण के व्याख्यान के साथ-साथ उसकी स्पष्टता के लिये यहीं उदाहरण दे दिया गया। इसी प्रकार वाद में भी किया गया है। प्रमेय शब्द के अनुसार ग्रंथगत पाठ्यक्रम का अतिक्रमण पूर्वक भी व्याख्यान किया जाय——तो उसमें कोई दोष नहीं। कारण यह है कि पाठ्यक्रम से अर्थक्रम सबल होता है। व्याख्यान अर्थ की संगति एवं सक्रमता पर ध्यान रखकर होना अधिक समुचित है।

छेकानुप्रास

मू०——जहाँ दो-दो का सुंदर एवं सदृश उच्चारण किया जा सके, वहाँ छेकानुप्रास की स्थिति होती है।

स्वर एवं व्यञ्जन के दो वर्गों के सुंदर तथा सदृश उच्चारण किये जाने पर छेकानुप्रास होता है। तथाविध समुदाय ही उन स्थलों में अलंकारता वहन करते

तस्योदाहरणम्--

स देवो दिवसान्निन्ये तस्मिन् शैलेंद्रकंदरे।
गरिष्ठगोष्ठी-प्रथमैः प्रमथैः पर्युपासितः ॥

हैं। "द्वयोर्द्वयोः"--में जो द्विवचन है--उससे प्रयोक्ता के तीन अभिप्राय हैं--(स्वार्थे, अवधार्यमाणे, अनेकस्मिन्) पहला तो यह कि 'स्वार्थ' का ही ग्रहण हो, दूसरा यह कि 'सावधारण' ग्रहण हो और तीसरा यह कि वैसे 'अनेक' हों। 'स्वार्थ' का ग्रहण होने से 'वीप्सा' का खण्डन है अर्थात् प्रस्तुत द्विरुक्ति को वीप्सा का द्योतक नहीं माना जाना चाहिए। इसका फल यह है कि तब यह अभिप्राय नहीं होगा कि जितने भी द्विक किसी श्लोक या पद में संभव हों--उन सबका एक सदृश उच्चारण हो, बल्कि यही होगा कि कतिपय का ही। वीप्सा समस्तता के अभिप्राय से ही होती है (यहाँ वह समस्तता अभिप्रेत) नहीं है। इस प्रकार 'स्वार्थ' कथन से वीप्सा की बात ही खतम हो जाती है। 'अवधार्यमाण' के ग्रहण से "द्वयोर्द्वयोः" का अर्थ होगा--द्वयोर्द्वयोरेव--दो दो का ही--अर्थात् दो-दो समुदायों का ही परस्पर उच्चारण गत साम्य होना चाहिए, न कि तीन-तीन का। इसी प्रकार 'अनेकस्मिन्'--कहने से यह व्यक्त होता है कि इस प्रकार का उपनिबंध जब अनेक बार होता है--तभी छेकानुप्रास होगा--एकबार के उपनिबंध से नहीं। [अर्थात् दो-दो द्विक ही परस्पर उच्चारण की दृष्टि से सदृश हों--और ऐसा साम्य एक से अधिक मिले]।

[छेकानुप्रास शब्द में दो अंश हैं--छेक और अनुप्रास। आगे के व्याख्यान ग्रंथ से दो अंशों का संगत अर्थ निरुक्तिपूर्वक स्पष्ट किया जा रहा है। पहले सामान्य होने के कारण 'अनुप्रास' शब्द का ही अर्थ किया जा रहा है]--वे वर्ण या वर्णसमुदाय अनुप्रास शब्द से अभिहित किये जाते हैं--जिनमें परस्पर एकरूपता हो, जो रस एवं भाव की अभिव्यक्ति के अनुरूप हों--फलतः उत्कृष्ट हों, तथा शोभातिशय के सम्पादक होने के कारण काव्य में उपन्यस्त हों। जहाँ तक 'छेक' शब्दार्थ का संबंध है वह नीड़ की ओर अभिरत पक्षियों का बोधक है। कहा भी गया है--"छेकान् गृहेष्वभिरतानुशन्ति मृगपक्षिणः"।

नीड़ की ओर उन्मुख और बिना किसी की छेड़छाड़ खाये पक्षियों की भाँति [रस रूप घर की ओर अनायास उन्मुख] इन वर्णों में अनुप्रास के योग से मधुर वाणी समुच्चरित होती है। इसीलिये विदग्धों ने इस अनुप्रास को छेकानुप्रास कहा है। अथवा छेक का अर्थ विदग्ध भी होता है अतः विदग्ध-प्रिय होने के कारण भी इसे विदग्धों का अनुप्रास या छेकानुप्रास कहा जाता है।

कंदरो गुहा। गरिष्ठा गुरुतमा:। 'प्रियस्थिर'--(पा० अ० ६-४-१५७) इतीष्ठनि गुरुशब्दस्य गरादेशः। गोष्ठो विदग्धानामासनवंधः। प्रथमैः प्रधानैः। प्रमथैर्गणैः। पर्युपासितः सेवितः। अत्र स देव-दिवस-शब्दौ, इन्द्र कन्दर शब्दौ गरिष्ठ--गोष्ठी शब्दौ प्रमथ प्रथम शब्दौ परिउपास शब्दौ च द्वौ द्वौ अज्झलसमुदायौ सुसदृशावुच्चारितौ तेन छेकानुप्रासता। क्वचित्तु 'निन्ये तस्मिन्'--इत्यत्र 'निन्येऽन्यस्मिन्' इति पाठः। तदा चैवदप्युदाहरणेऽन्तर्भवतीति।

अनुप्रासः। स च त्रिविधो वृत्तिसंश्रयात्। यद् वक्ष्यति--

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेताषु वृत्तिषु।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा॥ इति

अस्यार्थः--त्रिष्वेतेषु यथायोगं रसाद्यभिव्यक्तानुगुणेषु वर्णव्यवहारेषु यः सरूपाणां व्यञ्जनानां पृथक् पृथगुपनिवंधस्तमनुप्रासं कवयः सदेच्छन्तीति। अतस्तास्तावद्-

उदाहरण उसका अधोलिखित है--

उस हिमालय की कंदरा में उस देव ने अपने दिन काटे। उस समय वे गुरुतम गोष्ठी के प्रधान गणों से पर्यवेष्टित एवं समादृत रहा करते थे।

कंदर का अर्थ है गुहा। गरिष्ठ शब्द गुरुतम का पर्याय है। गरिष्ठ शब्दगुरु शब्द से इष्ठन् प्रत्यय का विधान होने पर सम्पन्न होता है, साथ ही 'गुरु' शब्द को 'गर्' आदेश हो जाता है। 'गुरु' शब्द को 'गर्' आदेश का विधान करनेवाला सूत्र है[1] 'प्रिय स्थिर . . ."। गोष्ठी शब्द से विदग्धों का आसनवंध समझना चाहिए। प्रथम अर्थात् प्रधान। प्रमथ गणों को कहते हैं। पर्युपासित का अर्थ है सेवित। इस पद्य में 'सदेव तथा दिवस', 'इन्द्र तथा कंदर', 'गरिष्ठ तथा गोष्ठी', 'प्रथम तथा प्रमथ', 'परि एवं उपास'—शब्द एक-एक जोड़े हैं--जहाँ स्वर एवं व्यञ्जन समुदित रूप में है अथवा इन जोड़ों या द्विकों के प्रत्येक समुदित खंड स्वर एवं व्यञ्जन की समष्टि हैं—और प्रत्येक जोड़े में उच्चारण गत समानता भी है। अतः यहाँ छेकानुप्रासता है। कहीं-कहीं उक्त पद्य में 'निन्ये तस्मिन् 'की जगह 'नित्येऽन्यस्मिन्' पाठ भी मिलता है, सो उस दृष्टि से यह अंश भी प्रस्तुत अलंकार के उदाहरणों में गिना जा सकता है।

---

१. 'प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगु वृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्वंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः" ६।४।१५७ इस सूत्र से 'गुरु' शब्द को गर् आदेश होता है। इष्ठन् प्रत्यय 'अतिशायने तमबिष्ठनौ'—सूत्र से विहित है।

वृत्तयो रसाद्यभिव्यक्त्यनुगुणवर्णव्यवहारात्मिकाः प्रथममभिधीयन्ते। ताश्च तिस्रः, परुषोपनागरिकाग्राम्यत्वभेदात्। तत्र **परुषा**—

मू०—शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता।
परुषा नाम वृत्तिः स्यात् ह्लह्वह्याद्यैश्च संयुता॥

शकारषकारादियुक्तो वर्णव्यवहारः परुषाख्या वृत्तिः। रेफोपलक्षिताः संयोगाः र्कार्दयो रेफसंयोगाः। टकारोपलक्षितो वर्गष्टवर्गः टठडढणेति। अस्यां वृत्तौ योऽनुप्रासः स परुषानुप्रासः। तस्योदाहरणम्—

तत्र तोयाशयाशेष-व्याकोशित - कुशेशया।
चकाशे शालिकिंशारु-कपिशाशामुखा शरत्॥

तोयाशयेषु अशेषं साकल्येन व्याकोशितानि विकासितानि कुशेशयानि पद्मानि यया इति समासः। तथा शालीनां धान्यानां किंशारुभिः शूकैः कपिशानि पिञ्जराणि

[संप्रति] अनुप्रास [नामक सामान्य अलंकार की चर्चा टीकाकार अपनी ओर से प्रस्तुत करते हुए कहता है कि]—वह तीन प्रकार का होता है, क्योंकि उसे तीन प्रकार की वृत्तियों का समाश्रयण करना पड़ता है। जैसा कि आगे कहा भी जायगा—इन तीनों वृत्तियों में समानरूप वाले वर्णों का पृथक्-पृथक् न्यास होता है। इसलिये वृत्ति-भेद से कवि लोग अनुप्रास (भेदों) की इच्छा करते हैं। [टीका-कारों की ओर से] प्रस्तुत कारिका का यह अर्थ है—

रस एवं भाव आदि की अभिव्यक्ति के अनुरूप इन तीनों वृत्तियों में यथोचित वर्ण व्यवहार की स्थिति में जो समान रूप वाले व्यंजनों का पृथक् पृथक् विन्यास होता है—कवि लोग वहीं 'अनुप्रास' का प्रयोग चाहते हैं। इसलिये रसादि की अभिव्यक्ति के अनुरूप वर्गों वाली तीनों वृत्तियों का ही पहले अभिधान किया जा रहा है। वे वृत्तियाँ तीन हैं—परुषा, उपनागरिका एवं ग्राम्या के भेद से। उनमें **परुषा** (का स्वरूप अधोलिखित है)—

मू० टी०—शष, रेफ संयोग, टवर्ग, ह्ल, ह्व, ह्य से युक्त वृत्ति को परुषा कहते हैं।

श एवं ष आदि का योग होने पर जो वर्ण-योग होता है—उसे परुषा नामक वृत्ति कहा जाता है। रेफ संयोग का अर्थ है—रेफ के साथ अन्य वर्ण का संयोग—जैसे, र्क, र्क, आदि। टवर्ग का अर्थ है—ट ठ ड ढ ण। इस वृत्ति में जो अनुप्रास होता है—वह परुषानुप्रास कहा जाता है। उसका उदाहरण—

मू०—वहाँ वह शरत् प्रकाशित हुई, जिसके कारण जलाशयों में निखिल कमल विकसित हो उठे और प्रत्येक दिशा धान्य के शूकों से पीताभ हो उठी।

आशामुखानि दिगवकाशा यस्यामिति समासः। अयं च शकारस्य सारूप्येणोपनिबंधात्परुषानुप्रासः।

मू०—सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते **उपनागरिका** बुधाः॥

सरूपाणां वर्णानां ये संयोगाः क्कप्पच्च इत्यादयस्तैर्युक्ता। तथा वर्गान्त्यैः ङ ञ ण न मैः ङ्कञ्चण्टन्तम्प इत्यादिरूपतया उपरि ये युक्ताः कादयो मकारान्ताः स्पर्शास्तैर्युक्ता उपनागरिका वृत्तिः। एषा खलु नागरिकया वैदग्धीजुषा वनितया उपमीयते तत उपनागरिका। नागरिकया उपमिता उपनागरिकेति। "अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया"—इति समासः। तस्यामुपनागरिकानुप्रासः। तस्योदाहरणंच—

सान्द्रारविंदवृंदोत्थमकरंदाम्बुविंदुभिः।
स्पंदिभिः सुंदरस्पंदं नन्दितेन्दिन्दिरा क्वचित्॥

अत्र दकाराख्यः स्पर्शः नकारेणोपरि व्यवस्थितेन युक्तः सारूप्येणोपनिबद्धः। सान्द्राः घनाः अरविंदवृंदोत्था मकरंदाम्बुविंदव इति संबंधः।

जलाशयों में पूर्णरूप से खिलाये गये हैं कमल जिसके द्वारा—यह रहा बहुव्रीहि समास। और धान्य के शकों से पीले हो रहे हैं दिङ्मुख जिसमें—(वह शरत्)—यहाँ भी बहुव्रीहि समास है। यहाँ शकार का समानरूप से उपनिबंध होने के कारण परुषानुप्रास है।

उपनागरिका [वृत्ति का उदाहरण यों है]—

मू० टी०—विद्वानों ने उपनागरिका उसे माना है जहाँ समानरूप वाले वर्ण संयुक्त हों, तथा प्रत्येक वर्ग के अन्तिम [अनुनासिक] वर्ण अन्य स्पर्श[1] वर्णों (क से म तक] के शिरोभाग पर अथवा आदि में मिले हों।

समानरूप वाले वर्णों के जो संयोग हैं—जैसे क्क, प्प, च्च इत्यादि—उनसे युक्त। और वर्ग के अन्तिम वर्ण जैसे ङ, ञ, न, ण, ञ—सो इनसे ङ्क, ञ्च, ण्ट न्त एवं म्प रूप से संयुक्त हों, सभी क से लेकर म तक के स्पर्शवर्ण—तो ऐसे वर्ण-विन्यास वाली वृत्ति उपनागरिका कही जाती है। इसे उपनागरिका इसलिए कहा जाता है कि यह वैदग्ध्य-सम्पन्न नागरिक बनिता से उपमित होती है। ठीक है—जो नागरिका से उपमित की जाय—उसे उपनागरिका कहना ही चाहिए। यहाँ समास विधायक शास्त्र है—"अवादयः[2] क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया"—इति समासः।

---

१. कादयो मावसानाः स्पर्शाः—सिद्धान्त कौमुदी

२. सिद्धान्त कौमुदी, समास प्रकरण

सुंदरस्पंदं स्पंदिभिरिति सामान्यभूतः स्पंदः सुंदरस्पंदमिति विशिष्टेन स्पंदेन विशेषितो रैपोषं पुष्णातीतिवत् । सुंदरः स्पंदो यस्मिन्निति हि सामान्यभूते स्पंदनेऽन्यपदार्थे सुंदरताविशिष्टं स्पंदनं वृत्तिपदार्थभूतम् । इन्दिन्दिरा भ्रमराः ।

मू०—शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया ।

ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येऽत्रादृतबुद्धयः ॥

परुषोपनागरिकोपयुक्तवर्णाविशिष्टैर्वर्णैर्लकारादिभिरुपनिबध्यमाना ग्राम्या । तस्या एव चापरं नामधेयं कोमलेति । कोमलाख्यया कथितामिति संबंधः । तस्यां चानुप्रासो ग्राम्यानुप्रासः । तस्योदाहरणम्—

केलिलोलालिमालानां कलैः कोलाहलैः क्वचित् ।
कुर्वंती काननारूढश्रीनूपुररवभ्रमम् ॥

अर्थात् अव आदि कुष्टादि अर्थ में तृतीयान्त पदों से समस्त होते हैं। इसी वार्तिक से यहाँ (तत्पुरुष) समास हुआ है और उपनागरिका शब्द निष्पन्न हुआ है। उसमें उपनागरिका अनुप्रास होता है। उसका उदाहरण (यह) है—"सान्द्रारविंद . . . आदि। यहाँ 'द' स्पर्शवर्ण, जो अपने पूर्व में 'न' से युक्त है—अर्थात् 'न्द' की सरूपतः अनेकधा स्थिति है—'न्द' की असकृद् आवृत्ति है। [उदाहरण का अर्थ यों है—] सुंदर ढंग से प्रवाहित होने वाले अरविंद-प्रसूत घनीभूत मकरन्दजल के कणों से कहीं -कहीं भ्रमर को आनंद मग्न करने वाली (वसंत ऋतु की छटा दृष्टिगोचर होती है)।

"सुंदरस्पंदं स्पंदिभिः"—प्रयोग द्वारा सामान्य स्पंदन को सुंदर स्पंदन से विशेषित बताया गया है। [वृत्तिकार ने इसे समझाने के लिए] "रै पोषं पुष्णाति' प्रयोग उपस्थित किया है। पाणिनि के 'स्व पुषः" ३।४।४० सूत्र का यह उदाहरण है। अर्थात् जिस प्रकार यहाँ सामान्य पोषण को धन द्वारा पोषण रूप विशिष्ट पोष से विशेषित किया गया है, उसी प्रकार 'सुंदरस्पंदं स्पंदिभिः" की भी स्थिति है। 'सुंदरस्पंद' बहुव्रीहि समासात्मक पद है, जो यहाँ क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। सामान्य क्रिया स्पंदन—विशेष्य है और विशिष्ट क्रिया 'सुंदरस्पंद' विशेषण है। बहुव्रीहि समास द्वारा 'सुंदरस्पंद का अर्थ होगा—"सुंदरस्पंदन है जिस क्रिया में" यह सामान्य क्रिया—जो अन्य पदार्थ—प्रधान है—सुंदर स्पंदन रूप विशेष क्रिया समासार्थ होकर विशेषण रूप से अन्वित है। इन्दिन्दिरा शब्द का अर्थ होता है—भ्रमर।

केलिलोला: क्रीडालम्पटा: । कलैर्मधुरैः भ्रमो भ्रान्तिर्विपर्यय-प्रत्यय: । अत्र लकारक-काररेफा: सारूप्येणोपनिबद्धा: । एवमेतास्तिस्रो वृत्तयो व्याख्याता: । तासु च रसाद्य-भिव्यक्त्यानुगुण्येन पृथक् पृथगनुप्रासो निवध्यते, तदाह--

मू०--सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवय: सदा ।।

अयं श्लोक: सोदाहरणो वृत्तिस्वरूपनिरूपणप्रसङ्गेन व्याख्यात: ।

[आगे] [ग्राम्या का स्वरूप और उदाहरण देने जा रहे हैं--]

यथासंभव अवशिष्ट वर्णों से 'कोमला' नाम द्वारा कही हुई ग्राम्या वृत्ति की प्रशंसा वे लोग किया करते हैं--जिनको काव्य में पर्याप्त आदर-बुद्धि है।

जिन वर्णों का उपयोग परुषा एवं उपनागरिका वृत्ति के निर्माण में स्थिर किया जा चुका है, उनसे बचे हुए [यथा संभव] लकार आदि वर्णों के योग से बनी वृत्ति को 'ग्राम्या' कहते हैं। उसी का दूसरा नाम है--कोमला। 'कोमला-ख्यया' का 'कथितां' से संबंध है--अर्थात् कोमला नाम से कही हुई। इस वृत्ति में जो अनुप्रास होता है--उसे ग्राम्यानुप्रास कहा जाता है। उसका उदाहरण यह है--केलिलोल... ...आदि।

'केलिलोला:' का अर्थ है क्रीड़ालम्पट। "कलैः" अर्थात् मधुर शब्दों से। भ्रम अर्थात् भ्रान्ति या विपरीतज्ञान। यहाँ ल, क एवं र का सरूपतः असकृद् उप-निबंध है। सब मिलाकर प्रस्तुत श्लोक का अर्थ यों हुआ--कहीं-कहीं [वसंत ऋतु] क्रीड़ाशील भ्रमरों के मधुर कोलाहल से [दर्शकों में] यह भ्रम पैदा करती है कि यह आवाज कानन में पदार्पण करने वाली लक्ष्मी के पायल की झंकार है। [कारिका में 'यथायोगं' कहने का अभिप्राय यह है कि अवशिष्ट वर्ण 'घ' आदि भी हैं--पर इनका प्रयोग नहीं होना चाहिए। कोमल वर्णों की असकृद् आवृत्ति से निर्मित होने के कारण ही इसे कोमलानुप्रास या ग्राम्यानुप्रास कहा गया है।] इस प्रकार ये तीनों वृत्तियाँ सोदाहरण स्पष्ट की गईं। इन वृत्तियों में रस-भाव आदि की अभिव्यक्ति के अनुरूप अलग-अलग अनुप्रास की बँधान होती है। इसी बात को मूलकार यों कह रहे हैं--

इन तीनों वृत्तियों में समान व्यञ्जनों की जो पृथक्-पृथक् बँधान होती है-कवियों ने उसी को अनुप्रास कहा है।

वैसे इस श्लोक की सोदाहरण व्याख्या वृत्तियों का स्वरूप-निरूपण करते हुए की जा चुकी है।

लाटानुप्रासः

मू०––

स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरात् ।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते ।।
स पदद्वितयस्थित्या द्वयोरेकस्य पूर्ववत् ।
तदन्यस्य स्वतन्त्रत्वात् द्वयोर्वैकपदाश्रयात् ।।
स्वतंत्र-पदरूपेण द्वयोर्वापि प्रयोगतः ।
भिद्यतेऽनेकधा भेदैः पादाभ्यास क्रमेण च ।।

लाटानुप्रास [का स्वरूप एवं उदाहरण आगे दिया जा रहा है]––

स्वरूप एव अर्थ की दृष्टि से भेद न होने पर भी जहाँ प्रयोजनान्तर से शब्दों या पदों[1] की जहाँ पुनरुक्ति हो––वहाँ लाटानुप्रास माना जाता है। [या अगली दोनों कारिकाओं से लाट के पाँच प्रभेदों का वर्णन किया जा रहा है––]

वह लाटानुप्रास पहले तीन प्रकार का है––१––द्वयोः पदद्वितयस्थित्या––दो [सरूप] शब्दों की दो भिन्न पदों के अन्तर्गत परतंत्ररूप से स्थिति होने के कारण [जैसे, क्वचिदुत्फुल्ल कमला कमलभ्रान्तषट्पदा––में 'कमल' शब्द दो भिन्न सामासिक पदों के अन्तर्गत है––उसकी अलग से स्वतंत्र स्थिति नहीं है। यहाँ 'कमल' शब्द है, पद नहीं अर्थात् सुबन्त नहीं]

२––एकस्य पूर्ववत् तदन्यस्य स्वतंत्रत्वाद––अर्थात् ऐसे दो शब्दों की पुनरुक्ति से भी लाटानुप्रास होता है––जिनमें से एक तो पहले की भाँति परतन्त्र हो और दूसरा स्वतंत्र [जैसे, पद्मिनीः पद्मिनीगाढस्पृहयागत्यमानसात्। अन्तर्दन्तुरयामासुर्हंसा हंसककुलालयात्––यहाँ पद्मिनी एवं हंस शब्द दो दो बार प्रयुक्त हैं––पर उनमें से एक स्वतंत्र है जबकि दूसरा अन्यपद के अन्तर्गत होने से परतंत्र]

३––द्वयोर्वा एक पदाश्रयात्––अर्थात् ऐसे दो शब्दों की पुनरुक्ति से भी लाटानुप्रास होता है––जो एक ही सामासिक पद के अन्तर्गत हों। पहले दोनों पदों में भिन्न-भिन्न पद आश्रय हैं––यहाँ एक ही सुबन्त पद आश्रय है––[जैसे, जितान्यपुष्प-किञ्जल्क-किञ्जल्क-श्रेणिशोभितम्। यहाँ दो 'किञ्जल्क' शब्द एक साथ एक ही पद में स्थिति हैं]

४––[चौथी स्थिति दूसरी कारिका से यह बताई जा रही है कि] दोनों पदों का सर्वथा स्वतंत्र रूप से प्रयोग हो, जैसे, काशाः काशा इवोद्भासि सरांसीव

---

१. 'शब्द' एवं 'पद' में यहाँ यह अन्तर माना गया है कि शब्द सुबन्ततिङन्तरूप नहीं, जबकि 'पद' का तथाविध होना आवश्यक है।

शब्दानामनुपलभ्यमानसुप्तिङां तथा पदानामुपलभ्यमानसुप्तिङामुभयेषां च शब्द-पदानां स्वरूपस्य वर्णात्मनः अभिधेयस्य च निरन्तरशब्दव्यापारगोचरीकृतस्य वाच्यस्यार्थस्याभेदेऽपि फलान्तरात्तात्पर्यभेदात् पुनरुक्तिः सा लाटदेशनिवासिजन-वल्लभत्वात् लाटानुप्रासोऽभिधीयते ।

स च प्रथमं तावस्त्रिप्रकारः । द्वयोः स्वतंत्रयोर्द्वयोः परतंत्रयोः स्वतंत्रपरतंत्र-योश्च भावात् । तत्र यस्तावद् द्वयोः स्वतंत्रयोः स द्विप्रकारः एकैकस्मिन् पदे पदसमुदायात्मके च पादे भावात् । तदुक्तम्––

स्वतंत्र पदरूपेण द्वयोर्वापि प्रयोगतः ।
भिद्यते नैकधा भेदैः पादाभ्यास-क्रमेण च ।। इति

अत्र हि स्वतंत्र-पदात्मकत्वेन द्वयोः प्रयोगात् एकैक-पदाश्रयो लाटानुप्रासोऽभिहितः ।

सरांसि च। यहाँ दोनों 'काश' पद सर्वथा स्वतंत्र पद के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

५––पाँचवीं स्थिति वह है कि पदसमुदायात्मक समस्त पाद ही पुनरावृत्त हो। जैसे––

स्त्रियो महति भर्तभ्य आगस्यपि न चुक्रुधुः।
भर्तारोऽपि सति स्त्रीभ्य आगस्यपि न चुक्रुधुः।।

यहाँ द्वितीय पाद ज्यों का त्यों चतुर्थ पाद में आवृत्त है।

इस प्रकार यह लाटानुप्रास अनेक भेदवाला हो जाता है।

टी० व्या०––शब्द अर्थात् जहाँ सुप् एवं तिङ प्रत्यय उपलब्ध न हों, 'पद' अर्थात् जहाँ सुप् एवं तिङ की उपलब्धि हो। पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से उन्हीं शब्दों को 'पद' कहा जा सकता है जिनसे सुप् एवं तिङ प्रत्यय किये गये हों। [पाणिनीय सूत्र ही है––सुप्तिन्ङतं पदम्––सुबन्त एवं तिङन्त शब्दों की पद संज्ञा होती है।] इस प्रकार इन शब्द एवं पदों में वर्णात्मा स्वरूप की दृष्टि से तथा अभिधेय अर्थात् शब्द व्यापार द्वारा लभ्य वाच्य अर्थ की दृष्टि से अभेद होने पर भी फलान्तर अर्थात् तात्पर्य भेद से पुनरुक्ति होती है। कहने का अभिप्राय यह कि दो शब्दों या पदों में स्वरूपतः एवं अर्थतः अभेद होने पर भी तात्पर्य भेद के कारण पौनरुक्त्य नहीं जान पड़ता। उदाहरणार्थ पाँचवें उदाहरण को ही लें––वहाँ दूसरे और चौथे पदसमुदायात्मक पाद की आवृत्ति है, पर एक पुरुष के लिए है और दूसरा स्त्री के लिये––अतः स्वरूपतः एवं अर्थतः स्थित पुनरुक्ति निवृत्त हो जाती है। इसे लाटानुप्रास इसलिये कहा जाता है कि यह प्रकार लाट देश के निवासियों को बहुत प्रिय है।

तस्योदाहरणम्—

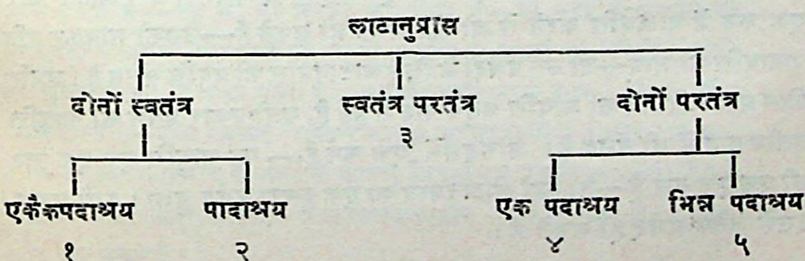
काशाः काशा इवोद्भांसि सरांसीव सरांसि च।
चेतांस्याचिक्षिपुर्यूनां निम्नगा इव निम्नगाः॥६॥

आचिक्षिपुरपहृतवन्तः। अत्र काशादयः शब्दा अपरैः काशादिभिः शब्दै-रेकरूपा एकाभिधेयाश्च। तात्पर्य-भेदेन तु तेषां पुनरुक्तिः। तथाहि। अत्र एकेषां काशादिशब्दानां जातिभेदोपरक्तद्रव्यपरतया प्रयोगः। अपरेषां तु अनन्वयालंकार-च्छायया उपमानान्तरव्यावृत्तिपरतया। अत्र च स्वातन्त्र्यं पदानां काशादीनामुप-लभ्यमान-सुप्तिङरूपत्वात्। एकैकरूपतया च आवृत्तेरुपनिबंधः।

पदसमुदायात्मकस्य तु पादस्य स्वरूपार्थाविशेषे तात्पर्यभेदेन पुनरुक्तौ पादाभ्यास-परिपाट्या स्वतंत्रपदाश्रयो लाटानुप्रासो भवति।

पादाभ्यासक्रमेण चेति क्रमग्रहणेन सकृद्द्विस्त्रिश्च पादाभ्यासे ये भेदाः संभवन्ति तत्स्वीकारेण पादाभ्यासैर्लाटानुप्रासस्य प्रवृत्तिः सूचिता।

इस प्रकार लाटानुप्रास पहले तीन प्रकार का होता है—दोनों स्वतंत्र हों (२) या दोनों परतंत्र हों (३) या दोनों में से एक स्वतंत्र हो और दूसरा परतंत्र। इनमें से जो पहला भेद है अर्थात् जहाँ दोनों स्वतंत्र हों—उसके दो भेद होते हैं—(१) एक एक पद में भी स्वतंत्र रूप से रह सकते हैं (२) अथवा पदसमुदायात्मक पाद की पूर्णतः आवृत्ति होने से पाद रूप में भी स्वतंत्र रह सकते हैं। यही बात "स्वतंत्र पद...' इत्यादि दसवीं कारिका से कही गई है। कारण यह है कि यहाँ दोनों के स्वतंत्र पदात्मक रूप से प्रयोग की बात कही गई है—अतः एक पदाश्रय लाटानुप्रास स्पष्ट होता है उसका उदाहरण (अधोलिखित है)—



[शरद् ऋतु में] काश काश की तरह, सरोवर सरोवर की तरह तथा नदियाँ नदियों की ही तरह उद्भासनशील होकर युवकों के चित्त को बलात् अपनी ओर आवर्जित कर लेती हैं।—यहाँ आशाः, सरांसि एव निम्नगाः—रूप पदों की पुन-क्ति है। पद स्वतंत्र रूप से उपात्त हैं।

तस्योदाहरणम्—

मू०—स्त्रियो महति भर्तृभ्य आगस्यपि न चुक्रुधुः ।
भर्तारोऽपि सति स्त्रीभ्य आगस्यपि न चुक्रुधुः ॥७॥

महत्यप्यागसीति संबंधः । तथा सत्यप्यागसीति । भर्तृभ्य इति सतीभ्य इति च क्रुध द्रुहेति (पा० १।४।३७) संप्रदानता । अत्र एकत्र पादे नायकगतापराधविषयत्वेन स्त्रीकर्तृकः क्रोधाभावः प्रतिपादितः । अपरत्र तु नायिकानां यो भर्तृप्रणयात्रतिमात्मकोऽपराधस्तद्विषयो नायककर्तृकः क्रोधाभावोऽभिहितः । अतस्तात्पर्यभेदः स्वरूपार्थाविशेषश्च । पदसमुदायात्मकस्य पादस्याभ्यासः ।

एवमयं स्वतंत्रपदाश्रयो लाटानुप्रासो द्विविधोऽभिहितः—एकैकपदाश्रयः पदसमुदायाश्रयश्च स्वतंत्रपदाश्रयो लाटानुप्रासः ।

आचिक्षिपुः—का अर्थ है अपहरण किया। यहाँ काश आदि शब्द दूसरे काश आदि शब्दों से स्वरूपतः एवं अर्थतः एक हैं। पुनरुक्ति इनकी तात्पर्य भेद से है। कारण यह कि पहला काश शब्द काशत्वजातिवाले द्रव्य का बोधक है और दूसरा काश शब्द अनन्वय अलंकार का अंग बन कर आया है, जो यह सूचित करता है कि काश के समान दूसरा कोई पुण्य नहीं है—वह तो अपने ही समान है—दूसरा उसकी बराबरी नहीं कर सकता। यहाँ दोनों पद हैं और स्वतंत्र हैं। पद इसलिये हैं कि व्याकरणिक दृष्टि से परिपूर्ण है—वहाँ सुप् एवं तिङ् विभक्तियाँ उपलब्ध हैं।

यहाँ एक एक पद को लेकर आवृत्ति का उपनिबंधन हुआ है। 'पादाभ्यासक्रमेण च'—में 'क्रम' कथन से यह द्योतित होता है कि एक, दो या तीन जितनी बार एक क्रम में पादावृत्ति करने से जो भेद संभव हो सकते हैं—उसको मानकर यदि पादावृत्ति की जाय—तो उन प्रभेदों के लिए लाटानुप्रास की प्रवृत्ति संभव है। अर्थात् जिस प्रकार द्वितीय की आवृत्ति चतुर्थ पाद में हुई है, उसी प्रकार प्रथम की आवृत्ति तृतीय पाद में भी संभव है। और इसमें एक क्रम है— यह आवृत्ति एक एक पाद की एक एक बार है—तो यहाँ लाटानुप्रास का एक दूसरा प्रभेद हुआ। इसी प्रकार इसके अनेक प्रभेद हो सकते हैं।

उसका उदाहरण—

महान् अपराध के होने पर भी स्त्रियाँ अपने अपने पतियों के प्रति क्रुद्ध न हुईं और उसी प्रकार अपराध के बावजूद भी पतिगण अपनी स्त्रियों के प्रति विषाक्तबुद्धि न हुए। यहाँ द्वितीय पाद की चतुर्थ पाद के रूप में आवृत्ति है।

द्वयोरनुपलभ्यमानसुप्तिङोः परतंत्रयोः शब्दयोर्यो लाटानुप्रासस्तस्यापि द्वैविध्यं पदद्वितयाश्रयत्वे एकपदाधारत्वेन च । तदुक्तम्—स पदद्वितयस्थित्या द्वयोः—इति। सोऽनेकधा भेदैर्भिद्यते इति संबंधः । तथा द्वयोर्वैकपदाश्रयात्–इति ।

पूर्वस्योदाहरणम्—

क्वचिदुत्फुल्लकमला कमलभ्रान्तषट्पदा ।
षट्पदक्वाणमुखरा मुखरस्फारसारसा ॥८॥

श्लोकस्थ 'महति' एवं 'आगस्यपि' का अन्वय यों करना चाहिए—महति अपि आगसि—अपराध के गु भूत होने पर भी । इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में भी—'सत्यपि आगसि'—अपराध के बावजूद भी —ऐसा संबंध समझना चाहिए। 'भर्तृभ्यः' एवं 'स्त्रीभ्यः' में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग है—वह पाणिनि के 'क्रुध द्रुहेर्ष्यासूयार्थानां च" (पा० १।४।३७) सूत्र के अनुसार, जिसका अर्थ यह है कि 'क्रुध' के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है—जिसके लिए क्रोध किया जाय, उससे चतुर्थी विभक्ति होती है। यहाँ एक पाद में अर्थात् द्वितीय पाद में जो स्त्रियों का क्रोधाभाव दिखाया गया है उसका विषय है—नायकगत अपराध। दूसरी जगह अर्थात् चौथे पाद में जो नायिकाओं का पतिप्रणय का अतिक्रमण-रूप अपराध है—वह नायक के क्रोधाभाव का विषय है। इसलिए तात्पर्यभेद भी है और उनमें स्वरूपतः तथा अर्थतः अभेद भी है। पदसमुदायात्मक पाद की आवृत्ति है।

इस प्रकार स्वतन्त्रपदाश्रय लाटानुप्रास दो प्रकार का हुआ। एकैक पदाश्रय एवं पदसमुदायाश्रय रूप से स्वतन्त्रपदाश्रय लाटानुप्रास इस प्रकार निरूपित हुआ।

दो परतन्त्र शब्दों का , जिनमें सुप् या तिङ् प्रत्यय का योग नहीं है—जो लाटानुप्रास होता है—वह भी दो प्रकार का होता है—दो पदों के अंतर्गत दो शब्दों की परतन्त्र स्थिति और एक ही पद के अंतर्गत दो शब्दों की स्थिति। इसी बात को मूलकारिका में कहा गया है—सपदद्वितयस्थित्या द्वयोः इति। 'सोऽनेकधा भेदैर्भिद्यते"—ऐसा पदक्रम रखकर अन्वय करना चाहिए [और तब अर्थ यह होगा कि वह अनेक प्रकार से भेदों के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है ।] मूलकारिका में इन्हीं भेदों के लिए 'द्वयोर्वैकपदाश्रयात्'—कहा गया है। [अर्थ ऊपर किया जा चुका है।]

प्रथम (प्रभेद) का उदाहरणः—

प्रस्तुत श्लोक द्वारा भी शरत् का वर्णन किया गया है। शरद् ऋतु में कहीं तो कमल खिले हुए हैं और कहीं कमलों पर भौंरें मंडरा रहे हैं, कहीं षट्पदों की गुंजार से शरद् मुखर जान पड़ती है तो कहीं मुखर सारस संचरण कर रहे हैं।

सारसा: लक्ष्मणाख्या पक्षिविशेषा: । अत्र कमल-षट्पद-मुखर-शब्दानां स्वरूपार्थाऽभेदेऽपि तात्पर्यभेदेन पुनरुक्ति: पदद्वितयाश्रितत्वञ्च । तात्पर्यभेदश्चात्र कमलषट्पद-शब्दयो: कारकशक्तिभेदात् । तथाहि, पूर्व: कमलशब्दोऽत्र विकाश-क्रियाकर्तृत्व-परतयोपात्त: । उत्तरस्तु-भ्रमणक्रियाकर्तृभूतषट्पदाधारत्वेन । तथा पूर्व: षट्पदशब्दो भ्रमणक्रियां प्रति कर्तृत्वेनोपवर्णित: । उत्तरस्तु क्वाणक्रियासंबंधित्वेन । मुखर-शब्दौ तु विशेषणभूतं सशब्दत्वं भिन्नार्थनिष्ठतयावगमयत: । तथाहि । पूर्वेण मुखरशब्देन शरन्निष्ठं मौखर्यमवगम्यते, अपरेण तु सारसनिष्ठम् ।

एवमयं पदद्वितय-परतन्त्रशब्दद्वयाश्रयो लाटानुप्रासोऽभिहित: । एकपदाश्रय-शब्दद्वितयवर्ती तु द्वयोर्वैकपदाश्रयात्—इत्युक्त: । तस्योदाहरणम्—

मू०—जितान्य पुष्पकिञ्जल्क—किञ्जल्कश्रेणि-शोभितम् ।
लेभेऽवतंसतां नारी-मुखेंदुष्वसितोत्पलम् ॥९॥

सारस अर्थात् लक्ष्मण नाम के विशेष पक्षी। यहाँ [इस श्लोक में] कमल षट्पद तथा मुखर शब्द स्वरूप तथा अर्थ की दृष्टि से अभिन्न रहने पर भी तात्पर्य-भेद से पुनरुक्त हुए हैं और दो पदों के आश्रित हैं —दो भिन्न-भिन्न पदों के मध्य उनकी स्थिति है। तात्पर्य-भेद यहाँ स प्रकार है कि कमल तथा षट्पद शब्दों में कारक शक्ति-भेद हैं अर्थात् वे दोनों परस्पर भिन्न-भिन्न कारक के रूप में प्रयुक्त हैं—कारण, दो कमल शब्दों में पहला कमल शब्द विकासक्रिया के कर्त्ता (कारक) रूप में प्रयुक्त है, पर दूसरा कमल शब्द, जो बाद का है, भ्रमण-क्रिया के करने वाले भौरों के आधार रूप में—अर्थात् पहला कमल कर्त्ताकारक और दूसरा अधिकरण कारक रूप में उपात्त होने के कारण तात्पर्यत: भिन्न हुए। इसी प्रकार पहले का षट्पद शब्द भ्रमण-क्रिया के प्रति कर्त्ता रूप से वर्णित है, पर बाद का षट्पद शब्द क्वाणक्रिया से संबद्ध है—अर्थात् एक ही षट्पद शब्द एक जगह भ्रमण क्रिया से और अन्यत्र क्वाण क्रिया से संबद्ध होने के कारण तात्पर्यत: भिन्न हुआ। इसी प्रकार 'मुखर' शब्द की भी स्थिति है। दोनों मुखर शब्द का अर्थ है—सशब्दता और दोनों मुखर शब्द व्याकरण की दृष्टि से विशेषण रूप में प्रयुक्त हैं, परन्तु वह मुखरता या शब्दता भिन्नाधार में प्रतिष्ठित है। पहला मुखर शब्द शरत् में मुखरता का बोध कराता है जबकि दूसरा मुखर शब्द सारस में मौखर्य की स्थिति बनाता है।

स प्रकार दो पदों के मध्य स्थित परतन्त्र शब्द द्वयाश्रित लाटानुप्रास कहा गया। "द्वयोर्वैकपदाश्रयात्"—द्वारा यह बताया गया है कि एक पद के अन्तर्गत

अत्र नारी मुखेन्दुष्विति युवतिवदनानां चन्द्रेणोपमितत्वादसितोत्पलस्य शशकरूपता ध्वन्यते । किञ्जल्कशब्दयोश्चात्र स्वरूपार्थाभेद एक पदाश्रयत्वं तात्पर्यभेदश्च । एकस्य जीयमानतयोपादानात् । अपरस्य जयन-क्रियाकर्तृभूता यासौ श्रेणिस्तत्संबंधित्वेन ।

एवमयं परतन्त्रयोः शब्दयोर्लाटानुप्रासो द्विविधो निरूपितः । स्वतंत्रपरतंत्रयोस्तु यत्र एकस्य शब्दस्य पदान्तरानुप्रवेशः अपरस्य तु स्वातन्त्र्येण पदरूपतयावस्थानं तत्र भवति । तदुक्तम्—एकस्य पूर्ववत् तदन्यस्य स्वतंत्रत्वात्—इति । एकस्य पूर्ववत् पदान्तराश्रयणादित्यर्थः । तस्योदाहरणम्—

मू०—पद्मिनी पद्मिनीगाढ स्पृहयागत्य मानसात् ।
अन्वदन्तुरयामासुर्हंसा हंसकुलालयात् ॥१०॥

मानसात्सरोविशेषात् । दन्तुरयामासुः महत्त्वाच्छुक्लत्वाच्च उन्नतदन्ता इव चक्रुः । अत्र स्वरूपार्थाऽभेदे पद्मिनी शब्दयोर्हंसशब्दयोश्च तात्पर्यभेदात्—पुनरुक्तिः । एकस्य पदान्तरानुप्रवेशः अपरस्य च स्वतंत्रत्वम् । तात्पर्यभेदस्तु एकस्य पद्मिनी-शब्दस्य कर्मरूपत्वात् अपरस्य च स्पृहाविषय-प्रतिपादनार्थत्वात् । तथा एकस्य हंस-शब्दस्य दन्तुरणक्रिया-कर्तृभूतार्थाभिधायित्वात्, अपरस्य तु कुलसंबंधित्वात् ।

एवमयं पञ्चविधो लाटानुप्रासः प्रतिपादितः । स्वतंत्र-परतंत्राणां तस्य प्रत्येकं द्विभेदत्वात् स्वतंत्र-परतंत्रयोश्च समुदितयोरेकप्रकारत्वात् ।

रहनेवाले दो समानुपूर्वीक शब्दों की स्थिति रहने पर लाटानुप्रास का अन्य भेद होता है।

उसका उदाहरण—

अन्य पुष्पों के परागों को जीतनेवाले परागों की संतति से शोभित नील कमल नारियों के मुखचन्द्र में कर्णभूषण का स्थान ग्रहण कर रहे थे। [वस्तुतः मुख की उपमा या रूपक जो चन्द्र से दिया गया है, इसीलिए चन्द्रस्थकाले धब्बे की जगह स नील कमल की स्थिति मुख में बताई गई है।]

"नारी मुखेन्दुषु"—इस अंश में युवतियों के वदन को चंद्र से उपमित किया गया है—अतः असित (कृष्ण) कमल की शशकरूपता ध्वनित हो रही है। यहाँ किञ्जल्क शब्द दो बार प्रयुक्त है—और उन दोनों में स्वरूप तथा अर्थ की दृष्टि से अभेद है—दोनों एक पदाश्रित हैं पर दोनों में तात्पर्य की दृष्टि से भेद है। एक किञ्जल्क शब्द विधेय रूप से गृहीत है और दूसरा जय करनेवाले के रूप में प्रयुक्त है—अथवा जय करनेवाली जो श्रेणी है—उससे संबद्ध रूप में उसका कथन है।

इस प्रकार परतंत्र शब्दों से बननेवाले लाटानुप्रास के दोनों भेद बताये गये।

रूपकम्

मू०—— श्रुत्या संबंध-विरहात् यत्पदेन पदान्तरम् ।
गुणवृत्ति-प्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत् ।।११।।
बंधस्तस्य यतः श्रुत्या श्रुत्यर्थाभ्यां च तेन तत् ।
समस्तवस्तु-विषयमेकदेशविवर्ति च ।।१२।।
समस्तवस्तुविषयं मालारूपकमुच्यते ।।
यद्वैकदेशवृत्ति पररूपेण रूपणात् ।।१३।।

यदान्तरस्य गुणवृत्तेरपरेण पदेन योगे भवति । न त्वेवं सति नीलमुत्पल-मित्यत्रापि नीलशब्दस्य गुणवृत्तेउत्पलशब्देन योगे रूपकताप्रसंग इत्याशङ्कयोक्तं

स्वतन्त्र परतंत्र शब्दों का लाटानुप्रास वहाँ बनता है जहाँ एक शब्द की अन्य पद के मध्य स्थिति हो और दूसरे का दूसरे पद रूप में स्वतन्त्र अवस्थान हो। इसी बात को ध्यान में रखकर काशिकाकार ने कहा है——"एकस्य पूर्ववत् तदन्यस्य स्वतन्त्रत्वात्" इति। अर्थात् दो शब्दों में से एक की स्थिति तो पहले की तरह होती है——जहाँ अन्य पद का आश्रयण होता है [शेष दूसरे की स्वतन्त्र स्थिति है ही]। उसका उदाहरण——"पद्मिनी . . . . .इत्यादि श्लोक है।

हंसों ने उस मानसरोवर से जहाँ हंसकुल रहा करते हैं, कमलिनी के प्रति गाढ़ राग होने के कारण आकर (मैदानी सरोवरों की) कमलिनी को दन्तुरित (ऊँचे दाँतोंवाला) कर दिया। कहने का अभिप्राय यह है कि जब बड़े-बड़े और श्वेत हंस कमलिनियों पर आकर बैठते हैं तो ऐसा लगता है——मानों ये कमलिनी के बड़े बड़े दाँत निकले हुए हों।

मानस से——सरोवर विशेष से। दन्तुरित किया अर्थात् बड़ा एवं शुक्ल वर्ण का होने के कारण लगा जैसे निकले हुए बड़े-बड़े दाँतोंवाला बना दिया। यहाँ पद्मिनी तथा हंस शब्द स्वरूप तथा अर्थ की दृष्टि से अभिन्न होने पर भी तात्पर्य भेद से पुनरुक्त हैं। इन युग्मकों में से एक की अन्यपद के मध्य स्थिति है और दूसरा स्वतन्त्र है। जहाँ तक तात्पर्य-भेद का प्रश्न है एक पद्मिनी कर्मरूप है और दूसरी गाढ़ स्पृहा का विषय है। इसी प्रकार दो हंस शब्दों में से एक हंस दन्तुरण क्रिया का कर्त्ता (कर्त्ता रूप अर्थ का अभिधायक) और दूसरा 'कुल' के संबंधी रूप में उपात्त है।

इस प्रकार पाँच प्रकार वाले लाटानुप्रास का प्रतिपादन किया गया। अर्थात् 'स्वतन्त्र' एवं 'परतन्त्र' में से प्रत्येक के दो भेद हुए और स्वतंत्र परतन्त्र को मिश्र रूप का एक प्रकार होने से [सब पाँच प्रकार हुए]।

श्रुत्या सवंधं विरहात्—इति। श्रुतिः निरन्तरार्थनिष्ठः शब्दव्यापारः। तया श्रुत्या अनुपपद्यमानपदान्तरसंबंधं पदान्तरं गुणवृत्ति यत्रापरेण पदेन युज्यते तत्र रूपकता। यथा—

ज्योत्स्नाम्बुनेन्दु कुंभेन ताराकुसुमशारितम्।
क्रमशो रात्रिकन्याभिर्व्योमोद्यानमसिच्यत ॥११॥ इति

अत्राम्बुशब्दो निरन्तरार्थनिष्ठशब्दव्यापारगोचरीकृते उदकत्वे वर्तमानो ज्योत्स्ना-शब्देन सामानाधिकरण्यं नानुभवति अम्बुत्वज्योत्स्नात्वयोरेकार्थसमवायाभावात्।

रूपक

[अलंकार का प्रारम्भ यहाँ से किया जा रहा है।]

जहाँ अभिधा शक्ति से प्राप्त अर्थों का संबंध न बन सके—फलतः गुणवृत्ति पद का प्रधान पद से योग हो—वहाँ रूपक नाम का अलंकार होता है ॥११॥

चूंकि तथोक्त रूपक की स्थिति श्रौत भी हो सकती है और श्रौत तथा आर्थयुक्त भी—इसलिए क्रमशः इसके दो भेद हो सकते हैं—समस्त वस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति ॥१२॥

अथवा माला रूपक को ही समस्त वस्तुविषय कहा जा सकता है तथा एकदेशवृत्ति (नामक प्रभेद) वहाँ होगा जहाँ प्रकृत का अप्रकृत रूप से रूपण किया गया हो ॥१३॥

गुणवृत्ति (गुणबोधक) पदान्तर का दूसरे पद से योग होने पर (रूपक) होता है।

यहाँ (टीकाकार की ओर से) यह शंका हो सकती है कि यदि "गुण बोधक शब्द का दूसरे पद से संबंध" मात्र होना ही रूपक व्यपदेश के लिए पर्याप्त है—तो 'नीलम् उत्पलम्" नील उत्पल—भी रूपक का उदाहरण हो जायगा, क्योंकि नील शब्द गुणवृत्ति है गुणबोधक है—और उसका उत्पल रूप दूसरे पद से संबंध है। मूल-कार ने इसी आशंका की निवृत्ति के लिए यह कहा है कि—"श्रुत्यासंबंध-विरहात्" —अर्थात् गुणबोधक शब्द का दूसरे पद से तब संबंध होने पर रूपक होता है—जब अभिधा से प्राप्त अर्थों का संबंध अनुपपल हो—नील उत्पल में सो है नहीं—यहाँ अभिधा से ही संबंध उत्पन्न हो जाता है, अनुपपन्न नहीं रहता। श्रुति का अर्थ है-शब्द व्यापार—साक्षात् उस अभिधात्मक शब्द व्यापार से जब दूसरे पद के साथ संबंध न हो सके, फलतः गुणबोधक एक पद जहाँ दूसरे पद से संबद्ध हो—वहाँ रूपकता होती है। जैसे, रात्रिरूपी कन्याएँ उस व्योमरूपी उद्यान को, जो तारारूपी पुष्पों से शबलित हैं, ज्योत्स्नारूपी जल से परिपूर्ण इंदुरूपी घट द्वारा क्रमशः सींचती रहीं ॥११॥

अतोऽम्बुगता: शौक्ल्याह्लादकत्वप्रसरणशीलत्वादयो ये गुणास्तत्सदृशज्योत्स्नागत-गुणवृत्तिः सन्नम्बुशब्दो ज्योत्स्नायां वर्तते । तेनाम्बुशब्दस्य श्रुत्या निरन्तरार्थनिष्ठेन अभिधाव्यारेण यः पदान्तरेण ज्योत्स्ना शब्देन संबंधस्तच्छून्यत्वाद्गुणवृत्तिता । अतोऽत्ररूपकता । न चैवं नीलमुत्पलमित्यादौ श्रुत्या संबंधाविरहाद्गुणवृत्तित्वं किं तर्हि स्वत एवेति न रूपकता प्रसंगः ।

ननु विरुद्धार्थाभिधायिनोः समानाधिकरणयोः शब्दयोर्निरन्तरार्थ—निष्ठेन अभिधाव्यापारेण अनुपपद्यमानान्योन्यसमन्वयत्वाद्यद्येकस्य लक्षणया गुणवृत्तित्वमभिधीयते एवं सति पर्यायेण अत्र गुणवृत्तित्वं प्राप्नोति नियमकरणाभावात् । ततश्च यथाम्बुशब्दस्य ज्योत्स्नाशब्द सामानाधिकरण्याद् गुणवृत्तित्वमुक्तं तद्वज्ज्योत्स्नाशब्दस्यापि अम्बुशब्दसामानाधिकरण्याद् गुणवृत्तित्वं कथं न स्यादित्याशङ्क्योक्तं प्रधानेनेति । प्रधानार्थानुरोधेनोपसर्जनस्य लक्षणया गुणवृत्तित्वमुपपन्नं प्रधान-वशवर्तित्वाद्गुणानामित्यभिप्रायः । अतश्च प्राकरणिकार्थाभिधायित्वात् प्रधानार्थ विषयो यो ज्योत्स्नाशब्दस्तदनुरोधेनाम्बुशब्दस्याप्राकरणिकार्थत्वादप्रधानार्थस्य

यहाँ ज्योत्स्नाम्बुना––'अम्बु' शब्द निरन्तरार्थ-निष्ठ शब्द व्यापार अर्थात् अभिधाव्यापार से' उदकत्व रूप अर्थ में शक्त है—अर्थात् अम्बु का अभिधेयार्थ है—उदकत्व । इस प्रकार उदकत्वार्थक अम्बु शब्द ज्योत्स्ना शब्द से अभेद का अनुभव नहीं कर सकता—अर्थात ज्योत्स्ना और अम्बु दोनों भिन्नार्थक शब्द हैं––उदकता एवं ज्योत्स्नात्व भिन्न-भिन्न अधिकरणों में रहनेवाले धर्म हैं––अतः उनके अधिकरण भी भिन्न-भिन्न ही होंगे, दोनों में अभेद नहीं हो सकता–––फलतः समानाधिकरण्य–––समान विभक्तिकता–जो अभेद का बोध कराती है–––ठीक नहीं है । वक्ता चाहता है कि दोनों में अभेद हो—तभी तो वैसा प्रयोग करता है––पर यह अभेद संबंध श्रुति (अभिधा) से संभव नहीं है, अतः लक्षणा करनी पड़ेगी लक्षणा द्वारा 'अम्बु' शब्द उदक का बोधक न होकर स्वगत शुक्लता, आह्लदकता ––प्रसरणशीलता आदि गुणों के सदृश ज्योत्स्नागत उन्हीं गुणों का बोध कराता हुआ ज्योत्स्ना में शक्त हो जाता है । अर्थात् यहाँ अम्बु शब्द का अर्थ है––स्वगताह्लादकतादिगुण सदृश गुणवान् । इस प्रकार यहाँ 'अम्बु' शब्द गुणवृत्ति हुआ, क्योंकि वह अभिधाव्यापार से ज्योत्स्नारूप अन्य पद से जो संबंध रख सकता है—वह है नहीं । फलतः यहाँ रूपकता है । पर इसी दृष्टान्त को लेकर नील-उत्पल में अभिधा से होनेवाले संबंधाभाव के कारण नहीं, बल्कि स्वतः ही 'नील' गुणबोधक है––अतः यहाँ रूपक की कोई स्थिति ही नहीं है ।

गुणवृत्तित्वमुपपन्नमिति न पर्यायेण ज्योत्स्नाम्बुशब्दयोः परस्परानुरोधेन गुणवृत्तित्व-प्रसंगः ।

ननु च ज्योत्स्नाम्बुनेत्यत्राम्बुनः प्राधान्यं ज्योत्स्नायाश्च गुणभावः । तथाहि । एतस्मिञ्छ्लोके तद्भावाध्यवसानेन सेकावच्छादितरूपतया सेकात्मकत्वेन यासौ व्योम्नो व्याप्तिरसिच्यतेति प्रतिपादिता तया स्वसाधनभूतं यत्तदम्भोऽपेक्षितं तज्ज्योत्स्नैवेत्यर्थः । उक्तं च—

उपसर्जनोपमेयं कृत्वा तु समासमेतयोरुभयोः ।
यच्च प्रयुज्यते तद्रूपकमन्यत्समासोक्तम् ।।इति।।

उपर्युक्त समासविवाद का निकृष्ट अर्थ यह हुआ—यहाँ अम्बु एवं ज्योत्स्ना—दोनों शब्दों का इस प्रकार प्रयोग है कि व्याकरणिक दृष्टि से प्रयोक्ता उनमें अभेद बोध कराना चाहता है, परन्तु अभिधा शक्ति के बल से दोनों शब्द भिन्न-भिन्न धर्मवाले अर्थ—उदकत्वविशिष्ट तथा ज्योत्स्नात्वविशिष्ट—समर्पित करते हैं—और भिन्न धर्मक अर्थों का अभेद हो नहीं सकता। निष्कर्ष यह कि श्रुत्या संबंध अनुपपन्न है, अतः लक्षणा का सहारा लेना होगा। लक्षणा के बल से अम्बु अपना अभिधेय अर्थ छोड़कर स्वगत शुक्लता, आह्लादकता अर्थ के सदृश ज्योत्स्नागत जो वे ही धर्म हैं—उनका बोध करायेगा। इस प्रकार श्रुत्यासंबंध विरह होने से अम्बु शब्द गुणवृत्ति हुआ। स्वगत शुक्लताह्लादकतादि के सब गुणों-सदृश शुक्लताह्लादकता गुणवान् अर्थवाला अम्बु शब्द ज्योत्स्ना अभिन्न हो सकेगा। और इस प्रकार उसका योग पदान्तर से हुआ—अतः रूपक की पूर्ण स्थिति हुई। इस प्रकार रूपक के लिए केवल गुणवृत्ति शब्द का पदान्तर से योग होना मात्र अपेक्षित नहीं है, बल्कि श्रुत्या संबंध-विरह की भी अपेक्षा है। इसीलिए 'नीलोत्पल' में गुणवृत्ति नील का उत्पल हुए पदान्तर से योग होने पर भी रूपक की स्थिति नहीं आयगी— क्योंकि यहाँ श्रुत्या संबंध-विरह नहीं है, यहाँ अभिधानीत पदार्थों में ही अभेद बन जाता है।

टीकाकार पुनः यह शंका उपस्थित कर रहे हैं कि यदि विरुद्धार्थाभिधायक '(उदकत्वविशिष्ट तथा ज्योत्स्नात्वविशिष्ट—दोनों परस्पर विरुद्धार्थक हैं) समानाविभक्तिक शब्दों का अभिधाव्यापार से परस्पर समन्वय (अभेद संबंध) न होने के कारण दोनों में से एक को लक्षणा का सहारा लेना पड़ता है—अतः उसे गुणवृत्ति कहा जाता है—तो ऐसा होने पर क्रमशः दोनों शब्दों को गुणवृत्ति कहा जा सकता है—क्योंकि ऐसा कोई नियम तो है नहीं—उनमें से किसी एक ही को

एतयोरुभयोरिति। उपमानोपमेययोरित्यर्थः। तत्कथमिदमुक्तं ज्योत्स्नापदस्य प्राधान्यात्तद्वशेनाम्बुशब्दस्य गुणवृत्तित्वं कल्प्यत इति। उच्यते। अत्र खलु द्वे अवस्थे विद्येते। एका तावत् ज्योत्स्नाया अम्बूकरणावस्था। अपरा तु अम्बुत्वमापादिताया ज्योत्स्नायाः सेकसंबंधरूपा। तत्र यदा तावत् ज्योत्स्ना अम्बुरूपत्वमापद्यते तदा प्राकरणिकत्वात् ज्योत्स्ना-प्रधानं अम्बु च तद्विपर्ययाद्गुणः तदानीं चाम्बु

लक्षणा का सहारा लेना पड़ेगा और दूसरे को नहीं। इसलिए जिस प्रकार अम्बु शब्द को ज्योत्स्ना शब्द से समान विभक्तिवाला होने के कारण गुणावृत्ति होना पड़ा, उसी प्रकार ज्योत्स्ना शब्द को भी अम्बु से अभेदबोधक समान विभक्तिवाला होने के कारण गुणवृत्ति होना पड़ेगा——वस्तुतः इसी आशंका का निराकरण करने के लिए कारिकाकर ने 'प्रधानेन' शब्द का उपादान किया। 'प्रधान' का ग्रहण करने का फल यह हुआ कि लक्षणा अप्रधान पद की ही नियमतः होगी——प्रधानार्थ के अनुरोध से गौण शब्द को ही लक्षणा से गुणवृत्ति होना पड़ेगा, नियम ही है कि गुणभूत पदार्थ प्रधान के वशवर्ती होते हैं। प्रधान वह कहा जाता है जो शब्द प्राकरणिक अर्थ का बोध करावे। इस दृष्टि से प्राकरणिक अर्थ का बोध कराने वाला प्रधान अर्थ प्रतिपादक ज्योत्स्ना शब्द हुआ, अतः उसके अनुरोध से अम्बु शब्द को ही अभेद संबंध की उपपत्ति के लिए लक्षणा का सहारा लेना पड़ेगा। अम्बु शब्द अप्राकरणिक अर्थ का बोध कराने के कारण अप्रधानार्थक हुआ——अतः उसे ही गुणवृत्ति कहना युक्ति-युक्त है——इसलिए उपर्युक्त यह आशंका कि क्रमशः ज्योत्स्ना तथा अम्बु——दोनों शब्दों के आपसी अनुरोध से गुणवृत्ति होना पड़ेगा——निर्मूल हो जाती है।

पुनः अन्य आशंका यह है कि 'ज्योत्स्नांबुना' में ज्योत्स्ना को ही अप्रधान और अम्बु को प्रधान क्यों न कहा जाय? कारण यह है कि इस श्लोक में मुख्य क्रिया है (व्योमकर्मक) व्यापन, पर वह सेचन से ढँकी हुई है। और ऐसा 'रूपक' की निष्पत्ति के लिए किया गया है। सेचन क्रिया अपने साधन के रूप में 'अम्बु' की ही अपेक्षा करेगी। वह अम्बु यहाँ ज्योत्स्ना ही है। इस प्रकार अम्बु विशेष्य है और ज्योत्स्ना विशेषण। निष्कर्ष यह कि सेक साधनीभूत जो अम्बु अपेक्षित है, वह ज्योत्स्ना ही है। रुद्रट भी इस पक्ष में सहमत है, उन्होंने कहा है——[रुद्रट ने समासगत रूपक का समासगत उपमा से अंतर बताते हुए कहा है——]जहाँ उपमेय एवं उपमान का ऐसा समासात्मक प्रयोग किया जाय कि वहाँ उपमेय उपसर्जन अर्थात् गुणभूत तो अप्रधान हो—और उपमान विशेष्य—तो वहाँ रूपक का दूसरा समासोक्त भेद होता है।

पिच्छाल्यः पिच्छपङ्क्तयः। राजहंसा रक्तचञ्चुपादा हंसाः। अवीज्यन्तेति। वीजिर्धातुष्वपठितोऽपि शिष्टप्रयोगान्मिलि-खचि-क्लवि-क्षपिवद्धातुतया द्रष्टव्यः। अत्र द्वे रूपणे स्वकण्ठेनाभिहिते पिच्छालीवालशालिभिरिति सरोनृपा इति च। तथाहि, एकत्र पिच्छाल्यो बालरूपत्वेन रूपिताः, अपरत्र तु सरांसि नृपरूपत्वेन। राजहंसानां चामररूपत्वेन रूपणा अर्थाक्षिप्ता शरदश्च प्रकृताया नायिकात्वेन। शरन्नायिकया कर्तृभूतया राजहंसचामरैः पिच्छालीवालशालिभिः सरोनृपा वीज्यन्ते स्मेति ह्यत्र वाक्यार्थः।

एवमेतौ रूपकस्य समस्तविषयैकदेशविवर्तिलक्षणौ द्वौ प्रकारौ उक्तौ। यदि वा मालारूपकस्य समस्तवस्तुविषयता। तत्र ह्येकस्मिन् रूप्ये समुच्चयेन अस्यन्ते क्षिप्यन्ते बहूनि रूपकाणि। तदुक्तम्—समस्तवस्तुविषयं मालारूपकमुच्यते। यद्वेति प्रकारान्तरोपक्षेपार्थः।

तस्योदाहरणम्—

वनान्तदेवतावेण्यः पांथस्त्रीकालशृंखलाः।
मारप्रवीरासिलता भृङ्गमालाश्चकाशिरे ॥१३॥

उसका उदाहरण—शरद ने ही सरोवररूपी नृप को उड़ते और उतरते हुए पिच्छ पंक्तिरूपी वालों से शोभित राजहंसों के द्वारा वीजित किया—पंखा झला। पिच्छाली का अर्थ है—पिच्छपंक्ति। राजहंस उन हंसों को कहते हैं—जिनके चोंच और पर लाल रंग के होते हैं। अवीज्यन्त—के संबंध में यह कहना है कि यद्यपि 'वीजि' का धातुओं के मध्य पाठ नहीं है, फिर भी शिष्टों के प्रयोग में आता है, इसलिए मिलि, खचि, क्लवि एवं क्षपि आदि की भाँति इसे भी धातु रूप से ही समझना चाहिए। यहाँ दो रूपण (कण्ठतः) स्पष्ट रूप में शब्दों द्वारा कथित हैं—पहला है—पिच्छाली वालशाली और दूसरा सरोनृप। क्योंकि पहले प्रयोग में पिच्छ पंक्तियाँ वाल रूप से रूपित हैं और अन्यत्र सरोवर नृप रूप से। राजहंस को चामर रूप से रूपणा अर्थतः आक्षिप्त है, शब्दतः नहीं कही गई है और इसी प्रकार शरद पर प्रकृत नायिका का आरोप है, पर वह शाब्द नहीं आर्थ है। सम्पूर्ण वाच्यार्थ हुआ—शरदरूपी नायिका ने राजहंसरूपी चामर से पिच्छिपंक्ति रूपी वाल वाले (राज हंस रूपी चामरों से) सरोवररूपी नृप को पंखा झला।

इस प्रकार रूपक के समस्त वस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ती नामक ये दो प्रभेद कहे गये हैं। अथवा माला रूपक को ही समस्त वस्तुविषयक कहा जा सकता है। कारण यह है कि वहाँ एक ही उपमेय रूप आरोप विषय पर एकही साथ बहुत से

वनान्तो वनैकदेशः । वेण्यः केशपाशाः । कालश्रृङ्खला अन्तक-प्रयुक्ता आकर्षण-श्रृङ्खला । मारप्रवीरा मन्मथसंबंधिनो भटाः ।

अत्र भृङ्गमालानामेव केवलानां रूप्यत्वेनोपात्तानां तिस्रो रूपणाः कृताः । वनान्तदेवतावेण्य इत्येवमादिना । तेनात्र समस्तवस्तुविषयता एकस्मिन् रूप्ये समुच्चयेन बहूनां रूपणानां क्षिप्तत्वात् ।

एकदेशविवर्ति तु पररूपेण रूपणात् भवति । तदुक्तम्—एकदेशवृत्ति स्यात् पररूपेण रूपणात्—इति ।

तस्योदाहरणम्—

आसारधाराविशिखैर्नभोभागप्रभासिभिः ।
प्रसाध्यते स्म धवलैराशाराज्यं बलाहकैः ।।१४।।

रूपक डाल दिये जाते हैं—इसी बात या इसी व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर मूल कारिका में समस्त विषय को माला रूपक कहा गया है । 'यद्वा' कहने का आशय यह है कि रूपक का और रूप से यहाँ कथन किया जा रहा है। उसका उदाहरण। भृंगमाला वन के एक भाग में स्थित देवताओं के केशपाश हैं, पथिकों की स्त्रियों को अपनी ओर खींचने के लिए काल की काली जंजीर है, तथा कामदेव की सेना के वीरों की खड्गलता है ।।१३।।

वनान्त का अर्थ है—वन का एक भाग। वेणी अर्थात् केशपाश। काल श्रृंखला अर्थात् यमराज के द्वारा प्रयुक्त आकर्षणार्थ जंजीर । मार-प्रवीर अर्थात् काम के वीर लोग ।

यहाँ आरोप विषय के रूप में केवल भृंगमाला ही उपात्त है और उसके लिए रूपणार्थ उपमान के रूप में तीन पदार्थ गृहीत हैं—जिससे तीन रूपणाएँ की जा रही हैं। वनान्तदेवतावेण्य—आदि ऐसे ही अंश हैं। इसलिए यहाँ समस्त वस्तु विषयता है, कारण, एक ही आरोप विषय पर अनेक उपमानों का आरोप मिश्रित रूप से किया जा रहा है।

रहा एक देश विवर्ति—वह तब होता है—जब अन्य के रूप से रूपणा हो। उसी बात को कहा है—'एकदेशवृत्ति स्याद् पररूपेणरूपणात्'—इति ।

उसका उदाहरण—वेगवती वर्षा की धाराएँ, जो नभोभाग में बिखरी हुई हैं—बाण हैं और उनके द्वारा धवल मेघों ने आशा रूपी राज्य को प्राप्त कर लिया ।

आसार का अर्थ है वेगवती वर्षा। विशिख अर्थात् बाण। यहाँ इस श्लोक में 'प्रसाध्यते' शब्द श्लोक के बल से दो अर्थों को देता है—भूषण या अलंकरण और उपार्जन। इनमें से भूषण प्रकृत है [और उपार्जन अप्रकृत] कारण, शरत् समय का

आसारो वेगवद्वर्षम् । विशिखाः शराः । अत्र प्रसाध्यते इत्येवं शब्दः श्लेषच्छायया द्वयोरर्थयोर्वर्त्तते भूषणे उपार्जने च । तत्र भूषणं प्रकृतम् । शरत्समयो ह्यत्र प्रस्तुतः । तत्र च शुक्लैर्वलाहकैर्दिशो भूष्यन्ते । यदुपार्जनं तदप्रकृतत्वादत्र परमन्यत् । तस्य च परस्याप्रकृतस्य उपार्जनस्य यत्तद्रूपं कारककदम्बकं येन तद्रूपवत् क्रियते नृपविशिखराज्यसंग्रामभूम्यात्मकं तेनात्र यथाक्रमं वलाहकासारधारादिङ् नभोभागानां रूप्यत्वेनाभिमतानां रूपणा विहिता । तेनात्रैकदेशवृत्तित्वम् । एकदेशवृत्तीत्यत्र हि एकदा अन्यदा ईशः प्रभविष्णुर्योऽसौ वाक्यार्थस्तद्वृत्तित्वं रूपकस्याभिमतम् । विशेषोक्तिलक्षणे च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन एकदेश शब्द एवं व्याख्यातो यथेहास्माभिर्निरूपितः । तत्र विशेषोक्तिलक्षणम्--

---

वर्णन ही यहाँ प्रस्तुत है। उस शरद में शुक्लवर्ण के मेघों द्वारा दिशाएँ भूषित होती हैं। यहाँ जो 'उपार्जन' रूप दूसरा अर्थ मिलता है—वह अप्रकृत होने के कारण 'पर' है अर्थात् प्रकृत से भिन्न दूसरा अर्थ है। उस पर या अप्रकृत उपार्जन क्रिया के जो तद्रूप कारक समुदाय हैं—वे हैं—नृप, विशिख, राज्य एवं संग्राम भूमि रूप। इन सबके आरोप विषय हैं क्रमशः—वलाहक, आसार धारा, दिशा, नभोभाग। इस प्रकार वलाहक, (उपमेय-प्रकृत) पर नृप का, आसार धारा पर विशिख, दिशा पर राज्य का और नभोभाग पर संग्रामभूमि का समारोप है। इसलिए यहाँ एकदेशवृत्तिता है। एकदेशवृत्ति का अर्थ है—एकदा=एक बार या अन्यदा ईशः—प्रभविष्णु = प्रधान जो वाक्यार्थ = वह हुआ एक देश और उसका आश्रयण कर रहनेवाला (तद्धित) एकदेशवृत्ति रूपक हुआ । अभिप्राय यह कि यहाँ दो वाक्यार्थ श्लेष के बल से मिल रहे हैं—एक बार प्रकृत क्रिया परक अर्थ की प्रधानता होगी—तब रूपक नहीं होगा, पर जब दूसरी बार प्रकृत की अप्रकृत से रूपणा हो जायगी—प्रकृत पर अप्रकृत का आरोप हो जायगा—जब प्रकृत 'पर' रूप का ही हो जायगा—तब दूसरी बार अप्रकृत—क्रियापरक वाक्य प्रभविष्णु हो जायगा,—तब रूपक का—'एक देश वृत्ति रूपक' का व्यवहार होगा। [पहले के उदाहरण से इस उदाहरण का अंतर यों है—पहले में जो असिच्यत क्रिया है—उसका एक ही अर्थ है—जो अप्रकृत ही है—अतः अप्रकृत क्रिया परक वाक्यार्थ रूपक का होगा—और वही एक वाक्यार्थ है जो सदा है। यहाँ की स्थिति थोड़ी भिन्न है। यहाँ की जो 'प्रसाध्यते' क्रिया है—उसके दो अर्थ हैं—प्राप्त करना और अलंकरण करना । पहला अप्रकृत है और दूसरा प्रकृत—सो एक बार प्रकृत क्रिया परक वाक्यार्थ प्रधान होगा और (अन्यत्र अन्यदा) दूसरी बार अप्रकृत क्रिया परक वाक्य ईश या प्रभविष्णु या प्रधान होगा—यही एकदेश=एकदा=

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः ।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा ।। इति

तेनात्र विशेषोक्तिलक्षणवदेकदेशशब्देनान्यदा प्रभविष्णुर्वाक्यार्थं उच्यते । अन्यत्र चान्यदा प्रभविष्णूपार्जनमप्रकृतं हि तद् श्लेषवशेनात्र नीतम् । तेनात्रैकदेशवृत्तिता ।

दीपकः

आदिमध्यान्तविषयाः प्राधान्येतरयोगिनः ।
अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः ।।१४।।

यत्रान्तर्गतोऽर्थसामर्थ्यावसेयत्वादुपमानोपमेयभावो येषां तथाविधानां धर्माणामुपनिबंधस्तत्र काव्यं दीपकं भवति, तथाविधकाव्यविषयत्वाच्च दीपकस्य । तत्काव्यं दीपकमित्युपचारात्सामानाधिकरण्यम् । अत्र च धर्माणामेकवारमुपनिबंधो

ईश=एक बार प्रधान होने का रहस्य है। और इसी अप्रधान वाक्यार्थ में रूपक का निवास (वृत्ति) है।

विशेषोक्ति के लक्षण को स्पष्ट करते हुए भट्टोद्भट ने भामह विवरण में 'एकदेश' शब्द का यही अर्थ किया भी है, जैसा कि यहाँ इंदुराज कह रहे हैं। अर्थात् 'एकदेश' शब्द की जो विचित्र व्याख्या यहाँ की गई है—वह निर्मूल नहीं है—उसका भी मूल उद्भट के वक्तव्य में निहित है। उस प्रसंग में विशेषोक्ति का लक्षण यों है—एक देश विगम...इत्यादि। अर्थात् अन्यदा प्रधान वाक्यार्थ का विगमन हो जाने पर विशेष अर्थ का प्रसाधन करने के लिए जो अन्य गुण का कथन किया जाता है—वही विशेषोक्ति है। इसलिए इस प्रसंग में भी विशेषोक्ति लक्षण के समान 'एकदेश शब्द ही 'अन्यदा प्रभविष्णु वाक्यार्थ'—कहा जाता है। दूसरी जगह और दूसरी बार प्रधान अप्रकृत जो उपार्जन क्रिया है—वह यहाँ श्लेष के बल से प्रतीत होती है। इस प्रकार एकदेशवृत्तिता यहाँ स्थापित की जाती है।

दीपक

दीपक की स्थिति वहाँ समझनी चाहिए, जहाँ ऐसे धर्मों का प्रयोग हो, जिनका उपमानोपमेयभाव शब्दतः न कहा गया हो, उपमेय एवं उपमान के साथ संबंध रखने से जो प्रधान अथवा अप्रधान भाव का भी संवहन करता हो तथा कभी आदि, कभी मध्य और कभी अंत में स्थित हो।।१५।।

जहाँ ऐसे धर्मों का उपनिबंध हो, जिनके उपमानोपमेय भाव अंतर्गत हों—अर्थ सामर्थ्य वश निश्चेय हों—श्रौत नहीं, आर्थ हों—वहाँ दीपक नाम का अलंकार

द्रष्टव्यः । असकृदुपादाने हि तेषां प्रतिवस्तूपमां वक्ष्यति अतएव च एकदेशवर्तिनामपि तेषां धर्माणां यौ द्वौ उपमानोपमेयभावेनावस्थितौ वाक्यार्थौ बहवो वा तथाविधास्तद्दीपनहेतुत्वाद्दीपकता। यावच्च तेषां धर्माणामुपमानोपमेयभावसमन्वयेनात्रोपनिबंधस्तावद् बलात् प्राधान्येतरयोगित्वमापतति, उपमेयस्य प्राकरणिकतया प्राधान्यादुपमानस्य च तादर्थ्येन गुणभावात् एवं च प्राधान्येतरयोगिनः इत्ययमत्रानुवादः प्राप्तार्थत्वात्। प्राधान्यञ्च इतरच्चाप्राधान्यं च ताभ्यां योगः संबंधो विद्यते येषां ते तथोक्ताः। अस्य च दीपकस्य त्रैविध्यं तेषां धर्माणामादिमध्यान्तवाक्य विषयत्वेन उपनिबंधात्। तदुक्तम् आदिमध्यान्तविषयाः इति। तत्रादिदीपकस्योदाहरणम्—

> संजहार शरत्कालः कदम्बकुसुमश्रियः।
> प्रेयोवियोगिनीनां च निःशेषसुखसम्पदः ॥१५॥

होता है। दीपक इसी प्रकार के काव्यों का विषय होता है। "दीपककाव्य" जैसे प्रयोगों में जो दीपक और काव्य का अभेद जान पड़ता है—वह लाक्षणिक है—उपचार वश है। दीपक में धर्मों का उपादान एक ही बार होता है—यह बात ध्यान रखने की है। यदि उन धर्मों का बार-बार उपादान हो—तो वहाँ प्रतिवस्तूपमा होती है। इसीलिए इन धर्मों के एक देशवर्ती होने पर भी शब्दतः एक ही तरफ लगने पर भी——जो दो या अनेक उपमान और उपमेय रूप वाक्यार्थ होते हैं—उन सबका उद्दीपन करने के कारण—उन सबसे अन्वित हो जाने के कारण—उन सबका उपकार करने के कारण—इसे दीपक कहा जाता है और चूंकि उन धर्मों का उपमान और उपमेय दोनों से संबंध होता है—अतः प्राधान्य (उपमेय से योग होने पर) तथा अप्राधान्य (उपमान से योग होने पर) भी संवहन करता है—अर्थात् उपमेय से अन्वित होने पर प्रधान भी है और उपमान से संबद्ध होने पर अप्रधान भी है। उपमेय प्रधान इसलिए है कि वह प्राकरणिक है और उपमान अप्रधान इसलिए है कि वह अप्राकरणिक है। दीपक का धर्म तो यथोक्त होगा ही, इसीलिए उसका कथन कोई नया नहीं है—वह तो पहले से ही प्राप्त अर्थ का शब्दतः कथन करने से अनुवाद मात्र हुआ। प्राधान्य और इतरत् अर्थात् अप्राधान्य—दोनों का योग जिससे हो—जिस धर्म से हो—वह प्राधान्येतरयोगी हुआ। यह दीपक तीन प्रकार का हुआ। क्योंकि उन धर्मों का कभी श्लोक के आदि में, कभी मध्य में और कभी अंत में विन्यास होता है। इसी से कहा है—आदिमध्यान्तविषयाः॥ आदि दीपक का उदाहरण [यह है]—

शरत् काल ने कदम्बकुसुम की शोभा तथा विरहिणियों की निखिल सुख

अत्र संहरणात्मा धर्मः कदम्बकुसुमशोभाकर्मकत्वेन विरहिणीसुखसंपत्कर्मकत्वेन चोपनिबध्यमानोऽन्तर्गतोपमः शरत्समयस्योपवर्ण्यमानतया कदम्बकुसुमश्रीसंहारस्य प्राकरणिकार्थनिष्ठत्वात् विरहिणीसुखसंपत्संहारस्य चाप्राकरिणकार्थविषयत्वात्। तेनात्रर्गतोपमत्वम् यथा प्रेयोवियोगिनीनां निःशेषाः सुखसंपदः संजहार तथा कदम्ब कुसुमश्रियोऽपीति।

मध्यदीपकस्योदाहरणम्--

विदेशवसतिर्यातपतिका - जनदर्शनम्।
दुःखाय केवलमभूत् शरच्चासौ प्रवासिनाम् ॥१६॥

सम्पत्ति--दोनों का अपहरण कर लिया ॥१५॥

यहाँ संहरण क्रिया ही धर्म है और उसके दो कर्म हैं:--कदम्ब कुसुम की शोभा तथा प्रिय-रहित विरहिणी--दोनों का औपम्य यहाँ शब्दतः उक्त नहीं है--क्योंकि सादृश्य बोधक कोई शब्द नहीं। वर्ण्य या प्रकृत है यहाँ शरत् समय--अतः कदम्ब कुसुम श्री का संहरण प्राकरणिक हुआ और विरहिणी की सुख सम्पत्ति का संहरण अप्राकरणिक। इसलिए यहाँ की उपमा आर्थ हुई--अर्थात् कवि के कहने का अभिप्राय यह हुआ कि जिस प्रकार प्रिय विरहित वियोगिनियों की निखिल सुख सम्पत्ति का शरत काल ने संहरण कर लिया, उसी प्रकार कदम्ब कुसुम की शोभा का भी। शरत्काल शब्द का अर्थ शरत् समय तो है ही, श्लेष के बल से वहाँ अन्तक रूप अर्थ की भी झलक है, क्योंकि संहार अन्तक का ही कर्म है। यहाँ पहले वाक्य में ही 'संजहार' क्रिया का उपनिबंध है, दूसरे वाक्य में तो आनुषंगिक रूप से उसका उपयोग है। यहाँ धर्म वाक्य के आदि में है--इसलिए--यह आदि दीपक है।

मध्यदीपक का उदाहरण यह है--

प्रवासियों के लिए विदेश का निवास, (पति विरहित) विरहिणियों का दर्शन तथा शरद् ऋतु तीनों ही चीजें दुःखकर हुईं ॥१६॥

यातपतिका अर्थात् जिसका पति प्रवास में हो। यहाँ प्राकरणिक या उपमेय है--शरद और विदेशवसति तथा पतिका जन दर्शन अप्राकरणिक होने के कारण उपमान। प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक का सादृश्य या औपम्य अव्यक्त है--शब्दतः नहीं कहे गये हैं। यहाँ 'यातपतिकाओं का दर्शन केवल दुःख के लिए हुआ'--इस आन्तरालिक वाक्य में (सादृश्य प्रयोजक-साधारण धर्म) 'प्रवासियों के लिए एकमात्र दुःख--हेतुता ही साधारण धर्म के रूप में प्रयुक्त है और पहले

यातपतिका: प्रोषितभर्तृका: । शरद: प्राकरणिकत्वाद्विदेशवसतियातपतिकाजन-दर्शनयोश्चाप्राकरणिकत्वादन्तार्गतोपमता । अत्र च यातपतिकाजनदर्शनदु:खाय केवलमभूदिति मध्यमे वाक्ये प्रवासिदु:खैकहेतुत्वलक्षणो धर्म उपात्त: सन्नाद्यन्तायां वाक्याभ्यां पूर्ववदुपजीव्यते तेन मध्यदीपकता ।

अन्तदीपकस्योदाहरणम्—

तदानीं स्फीतलावण्यचन्द्रिकाभरनिर्भर: ।
कान्ताननेंदुरिन्दुश्च कस्य नानन्दकोऽभवत् ।।१७।।

तदानीं शरत् समये । अत्र इन्दु: प्राकरणिक: शरत्समयस्य उपवर्ण्यमानत्वात् । कान्ताननेंदुस्त्वप्राकरणिक: । अत्र च सर्वसुखहेतुत्वमुपनिबद्धं सत् पूर्वत्रोपजीव्यते तेनात्रान्तदीपकता ।

एवमेतद्दीपकं लक्षितमुदाहृतं च ।

ननु उपमाया 'उपमा दीपकं च'—इति पूर्वमुद्दिष्टत्वात् यथोद्देशलक्षणमिति न्यायात्तस्या एव पूर्वलक्षणं कर्त्तव्यं पश्चात्तु दीपकस्य, तत्कथमादौ दीपकं लक्षितमिति वक्तव्यम् । उच्यते । अेनन ग्रंथकृता स्वोपरचितकुमारसंभवैकदेशोऽत्रोदाहरणत्वेनोपन्यस्त: ।

उदाहरण की भाँति आदिम और अंतिम वाक्यों का उपजीव्य है। यहाँ साधारण धर्म मध्य में प्रयुक्त है—अत: यह माध्यमिक दीपक हुआ।

अंत दीपक का उदाहरण—

उस समय कांता का मुख चन्द्र और चंद्र जो उदित लावण्य ज्योत्स्ना की राशि से उद्वेल हो रहे हैं—किसके लिए आनन्दकर नहीं हैं।।१७।।

उस समय अर्थात् शरत् काल में। यहाँ इंदु प्राकरणिक है, कारण शरत् समय का वर्णन प्रस्तुत है, पर कान्ता का आनन्द-चंद्र अप्राकरणिक है। सर्वसुख हेतुता साधारण धर्म है—जो अन्त में उपनिबद्ध है। इसलिए यहाँ अंतदीपकता है।

इस प्रकार दीपक का यहाँ लक्षण और उदाहरणपूर्वक विवेचन कर दिया गया।

उपमा निरूपण के प्रसंग को आरंभ करते हुए यहाँ शंका की जा रही है कि नियमानुसार अलंकारों का नाम कथन 'उपमा दीपकं च—जिस क्रम से किया गया—उसी क्रम से उनका निरूपण भी होना चाहिए—अत: उद्देश (नाम कथन) क्रम के अनुरोध से उपमा के बाद दीपक का स्वरूप वर्णन होना चाहिए, विपरीत इसके यहाँ दीपक को ही पहले कह दिया और उपमा को बाद में—यह क्यों ?

उत्तर यों दिया जा रहा है—इस ग्रंथकार के द्वारा स्वरचित 'कुमार संभव' के ही कतिपय पद्य यहाँ उदाहरण के रूप में उपन्यस्त हुए हैं। उस ग्रंथ में पहले

तत्र पूर्वं दीपकस्योदाहरणानि तदनुसंधानाविच्छेदायात्र उद्देशक्रमः परित्यक्तः। उद्देशस्तु तथा न कृतो वृत्तभङ्गभयात्। एवमुत्तरत्रापि लक्षणेषूद्देशक्रमाननुसारेण समाधिर्वाच्यः।

उपमा

यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः।
मिथोविभिन्नकालादिशब्दयोरुपमा तु तत् ॥१५॥
यथेवशब्दयोगेन सा श्रुत्यान्वयमर्हति।
सदृशादिपदाश्लेषादन्यथेत्युदिता द्विधा ॥१६॥
संक्षेपाभिहिताप्येषा साम्यवाचकविच्युतेः।
साम्योपमेयतद्वाचि वियोगाच्च निबध्यते ॥१७॥
उपमानोपमेयोक्तौ साम्यतद्वाचि विच्यवात्।
क्वचित्समासे तद्वाचिविरहेण क्वचिच्च सा ॥१८॥

दीपक के ही उदाहरण हैं--तो उसी के अनुसंधान का विच्छेद न हो इसलिए उद्देश क्रम का परित्याग कर दिया गया है। यह कहना कि नाम कथन के अवसर पर ही दीपक को पहले कर देते और उपमा को बाद--ठीक नहीं, कारण छंदोभंग हो जाता। इसी प्रकार बाद में भी जहाँ लक्षण प्रसंग में उद्देश क्रम का अनुसरण न किया गया हो--वहाँ समाधान होना चाहिए।

उपमा--मनोहारी साधर्म्य ही उपमा है, यह साधर्म्य जिस उपमान और उपमेय के हों वे शब्दतः उक्त हों और उनके देश काल जाति गुणरूप प्रवृत्ति निमित्त भिन्न-भिन्न हों ॥१५॥

यथा, इव शब्दों का प्रयोग होने पर वह उपमा (साधर्म्य) शब्दतः संबद्ध हो जाती है, पर सदृश, सम जैसे और शब्दों का प्रयोग होने पर उसका संबंध अर्थतः होता है--इस प्रकार (उपमा के दो भेद हो जाते हैं--[श्रौती, आर्थी)। संक्षेप में कही हुई यह संक्षेपोपमा या लुप्तोपमा साम्यवाचक (साधारण धर्मवाचक सौंदर्य आदि) के तथा (तद्वाचिविरहेण) उपमानोपमेय भाववाचक इव आदि के विलोप से (एक लुप्ता) दो प्रकार की होती है। उपमान और उपमेय की ही उक्ति होने पर साम्यवाचक तथा उपमानोपमेयभावबोधक इव आदि के अनुपादान से द्विलुप्तोपमा होती है। समास में कहीं कहीं तीन --साम्यवाचक, उपमेयवाचक, तथा उपमानोपमेयभाववाचक--का भी लोप होने से त्रिलुप्तोपमा होती है। [इस प्रकार संक्षेपोपमा तीन प्रकार की हुई] १७।१८॥ उपमान (कर्ता या अधिकरण) से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय के बल से की गई उक्ति में, कहीं कर्तृवाचक शब्द से

तथोपमानादाचारे क्यच्प्रत्ययवलोक्तितः ।
क्वचित्सा कर्त्तुराचारे क्यङा साच क्विपा क्वचित् ॥१९॥
उपमाने कर्मणि वा कर्त्तरि वा यो णमुल् कषादिगतः ।
तद् वाच्या सा वतिना च कर्मसामान्यवचनेन ॥२०॥
षष्ठीसप्तम्यन्ताच्च यो वतिर्नामतस्तदभिधेया ।
कल्पप्प्रभृतिभिरन्यैश्च तद्धितैः सा निबध्यते कविभिः ॥२१॥

सादृश्यसंबंधित्वेनोपादीयते यत्प्राकरणिकं तदुपमेयम् । न खलु प्राकरणिकस्यापि सादृश्यसंबंधित्वेनानुपादीयमानस्योपमेयता । यथा, राज्ञः पुरुषमानयेत्यत्र पुरुषस्य । पुरुषो ह्यत्र आनीयमानत्वेन चोद्यमानत्वात् सत्यपि प्राकरणिकत्वे सादृश्यसंबंधित्वेनानुपादीयमानत्वान्नोपमेयः । सत्यपि च सादृश्यसंबंधित्वेनोपादाने यस्य प्राकरणिकत्वं नास्ति तस्योपमात्वम् न तूपमेयत्वमिति प्राकरणिकमित्युक्तम् तदेवं सादृश्यसंबंधित्वेनोपादीयमानं यत्प्राकरणिकं तदुपमेयम् । तद्धि उपमानेन सादृश्यप्रतिपादनद्वारेण समीपे क्षिप्यते तस्मादुपमेयम् । अप्राकरणिकं तु तथाविधमेवोपमानम् । तयोरुपमानोपमेययोः यत् साधर्म्यं समानो धर्मस्तेन धर्मेण

आचार अर्थ में किये गये क्यङ् प्रत्यय की उक्ति से, कहीं उपमान (कर्त्ता) से आचार अर्थ में किये गये क्विप् प्रत्यय के कारण से [भी] संक्षेपोपमा होती है—॥१९॥ उपमानात्मक कर्मबोधक तथा कर्ताबोधक शब्द से कष आदि धातुओं के साथ णमुल् का विधान होता है, उसकी वाच्य भी उपमा होती है। वति प्रत्यय से भी उपमा वाच्य होती है। यह वति प्रत्यय भी दो प्रकार का होता है—एक कर्म सामान्य वचन (क्रिया साम्यवश साधर्म्य बोधक) तथा दूसरा षष्ठ्यन्त तथा सप्तम्यन्त प्रातिपादिक या नाम से विहित वति। इसी प्रकार कल्पप् इत्यादि अन्य तद्धित प्रत्ययों से भी वह उपमा कही जाती है॥२०॥२१॥

सादृश्य एक संबंध है और इसके दो संबंधी हैं—एक प्राकरणिक और दूसरा अप्राकरणिक। प्राकरणिक संबंधी को ही उपमेय कहते हैं [और अप्राकरणिक को उपमान]। प्राकरणिक ही हो, पर यदि सादृश्य के संबंधी रूप में उपात्त नहीं है—तो उसे उपमेय नहीं कहा जा सकता [अर्थात् उपमेय होने के लिये दो बातें अपेक्षित हैं—सादृश्य का संबंधी होना और प्राकरणिक होना]। उदाहरण के लिए—राजा के पुरुष को लाओ—इस प्रयोग में पुरुष की [उपमेयता नहीं हो सकती]। यहाँ पुरुष को ही लाने के लिये प्रेरणा की गई है—अतः यद्यपि वह प्राकरणिक है, पर सादृश्य संबंधी रूप से उपादीयमान नहीं है—इसलिये उसमें उपमेयता नहीं हो सकती—वह उपमेय नहीं कहा जा सकता। सादृश्य संबंधी रूप से प्रयुक्त होने

संबंधो यः सा उपमानोपमेययोः सादृश्यद्वारेण सामीप्यपरिच्छेदहेतुत्वादुपमा। तस्याश्चालंकाराधिकाराच्चेतोहारित्वं लब्धमेव काव्यशोभावहानां धर्माणां गुण-व्यतिरिक्तत्वे सत्यलंकारत्वात्। गुणाः खलु काव्यशोभाहेतवो धर्माः ते च माधुर्य्यौजःप्रसादलक्षणाः। येषां तु गुणोपजनितशोभे काव्ये शोभातिशयहेतुत्वं तेऽलङ्काराः। यदवोचद् भट्टवामनः—काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः— इति तेनालंकारत्वादेवोपमाया चेतोहारित्वं लब्धम्। अतश्चेतोहारीत्यनुवादः प्राप्तार्थत्वात्। उपमानोपमेयभावश्च नात्यन्तं साधर्म्येण उपादाने सति भवति गौरिवायं गौरिति। अत उक्तं मिथोविभिन्नकालादि शब्दयोरिति। कालादयोऽत्र शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूताः विवक्षिताः। केषाञ्चित खलु शब्दानां स्वार्थे प्रवर्त्तमानानां कालः प्रवृत्तिनिमित्तं यथा वसन्तादीनाम्। केषांचित्तु दिक् यथा प्राच्यादीनाम्। केषाञ्चिज्जातियथा गवादीनाम्। शुक्लप्रभृतीनां तु गुणः गच्छत्यादीनां क्रिया। राजपुरुषादीनां स्वस्वामिभावादिसंबंधः। एवमन्यदप्यनुसर्त्तव्यम्। मिथः परस्परं विभिन्नाः कालादयः प्रवृत्तिनिमित्तभूता ययोः शब्दयोस्तथाविधो शब्दौ वाचकौ ययोरुपमानोपमेययोरिति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः।

पर भी जो प्राकरणिक नहीं है—उपमानता उसी की होती है, उपमेयता उसकी नहीं होती। इसी उद्देश्य से 'प्राकरणिक' ऐसा (विशेषण) कहा गया है। निष्कर्ष यह कि सादृश्य संबंधी रूप से जो उपादीयमान हो—वही उपमेय कहा जाता है क्योंकि वह उपमान से सादृश्य प्रतिपादन द्वारा (उसके) समीप लाया जाता है—इसीलिए उसे उपमेय कहा जाता है [उप-समीप, मेय-मापा जानेयोग्य] उपर्युक्त विशेषता (सादृश्य संबंध) से संबद्ध होने पर अप्राकरणिक पदार्थ उपमान कहा जाता है। उन उपमान और उपमेय का जो साधर्म्य होता है—समानधर्म के साथ संबंध होता है, वही उपमान और उपमेय में सादृश्य सम्पादन करता हुआ सामीप्य-निश्चय का हेतु बनता है। उस उपमा का अलंकाराधिकार होने से मनोहारिता प्राप्त ही है। कारण, अलंकार का लक्षण ही यही है कि काव्यशोभाकारी वह धर्म जो गुण नहीं है—अलंकार ही हो सकता है। गुण काव्य की शोभा पैदा करने वाले मूल धर्म हैं और वे हैं—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद रूप। गुणों से बढ़ी हुई शोभावाले काव्य में जो अतिरिक्त शोभातिशय का सम्पादन करते हैं—वे अलंकार कहे जाते हैं। जैसा कि भट्टवामन ने कहा है—काव्य में मूलतः शोभा पैदा करने वाले धर्म गुण हैं और गुणोपजनित शोभा को बढ़ानेवाले धर्म अलंकार हैं। इसलिए अलंकार होने के कारण उपमा की मनोहारिता स्वरूपतः ही लब्ध है, इसलिए मूल ग्रंथ में ऊपर से जो 'चेतोहारी' विशेषण दिया गया है, वह अनु-

गौरिवायं गौरिति अभिधाने तु न प्रवृत्तिनिमित्तभेदः गोत्वस्यैवैकस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्। तेनैवंविध उपमानोपमेयभावो न भवति। उपमा तु तत्--इत्यत्र वाक्ये तु शब्दोऽलंकारान्तरे व्यतिरेके उपमा पुनरेवं प्रकारे व्यर्थः।

एषा चोपमा द्विविधा। पूर्णा लुप्ता च। पूर्णा यत्र चतुष्टयमुपादीयते--उपमानमुपमेयं तयोश्च साधारणो धर्मः सौन्दर्यादिरुपमानोपमेयभावस्य द्योतक इवादिः। सा च पूर्णा त्रिविधा वाक्यसमासतद्धितावसेयत्वात् तत्र वाक्यावसेयायाः श्रौतत्वार्थभेदेन द्वैविध्यम्। अव्ययावसेया श्रौती। अव्ययं हि लुप्तविभक्तिकत्वेन उपमानोपमेययोरेकतरत्राप्यविश्रान्तत्वादुभयोरप्युपमानोपमेययोरुपमितिक्रियाविषयतया यथायोगं कर्मकरणभावात्मकं संबंधमवद्योतयति। अतस्तत्र श्रौती उपमा। तदुक्तम् यथेवशब्दयोगेन श्रुत्यान्वयमर्हति--इति। यथेवशब्दौ चात्रोपलक्षणम्। अव्ययान्तरादपि वाशब्दादेस्तेन रूपेणोपमानोपमेयभावस्यावगतेः। यथा--

---

वाद मात्र है, क्योंकि वह तो पहले से ही सिद्ध है। उपमानोपमेयभाव भी अत्यन्त साधर्म्य वश (उपमान और उपमेय के) उपादान करने पर नहीं हुआ करता--जैसे, गौ की तरह गौ है--यह प्रयोग। इसीलिये कहा गया है--'मिथोविभिन्न' इत्यादि। काल आदि धर्म यहां तत् तत् शब्दों के प्रवृत्ति निमित्त धर्म के रूप में विवक्षित हैं। कुछ शब्द जो अपने मुख्यार्थ का बोध कराने में प्रवृत्त होते हैं--उनका (मुख्यार्थ बोध में प्रवृत्ति का निमित्त) 'प्रवृत्तिनिमित्त काल' होता है--जैसे, वसन्त आदि ही हैं। कुछ शब्दों का दिक्, जैसे प्राची आदि, कुछ की जाति, जैसे गौ आदि, पर शुक्ल आदि का गुण, गमन आदि का क्रिया, राजपुरुष आदि का स्वस्वामिभाव संबन्ध। इसी प्रकार अन्यत्र भी अनुसरण करना चाहिए, समझ लेना चाहिए। मिथोभिन्नादि पद सामासिक है--अतः उसका विग्रह यों हुआ--परस्पर विभिन्न कालादि प्रवृत्तिनिमित्त हों जिन दो शब्दों के, तथाविध शब्द हों वाचक जिनके ऐसे जो उपमान और उपमेय--इस प्रकार यह शब्द ऐसा बहुव्रीहि समास सम्पन्न है--जिसके गर्भ में एक और बहुव्रीहि समासात्मक शब्द समाया हुआ है। यदि "गौ की तरह गौ"--ऐसी उक्ति हो तो इसमें प्रवृत्तिनिमित्त का भेद न होगा। कारण एक ही गोत्व रूप प्रवृत्ति-निमित्त है (दोनों का)। इसलिए ऐसी स्थिति में उपमानोपमेयभाव संबंध नहीं होता। 'उपमा तु तत्'--इस वाक्य में 'तु' (परंतु) शब्द भिन्न अलंकार के विषय में है--जिसका अभिप्राय यह हुआ कि उपमा तो फिर इस प्रकार की है;

यह उपमा दो प्रकार की है--पूर्णा और लुप्ता। पूर्णा वहाँ होती है जहाँ

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं,
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां,
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्॥
तत्र यथाशब्दयोगे तस्या उदाहरणम्
क्षणं कामज्वरोत्थित्यै भूयः संतापवृद्धये।
वियोगिनामभूच्चान्द्री चन्द्रिका चंदनं यथा॥१८॥

चारों का उपादान होता है—उपमान, उपमेय, उन दोनों का साधारण धर्म सौन्दर्य आदि तथा उपमानोपमेय भाव का द्योतक इव आदि। वह पूर्णा तीन प्रकार की होती है—वाक्यावसेय, समासावसेय तथा तद्धितावसेय। उनमें भी वाक्यावसेय श्रौत एवं आर्थ के भेद से दो प्रकार की होती है। श्रौती का निश्चय अव्यय (यथा, इवा, वा) से होता है। कारण यह है कि अव्यय की विभक्ति का (अव्ययादाप्सुपः सूत्र से) लोप हो जाता है। इसलिए वह केवल उपमान या केवल उपमेय से अन्वित होकर विश्रान्त या निराकांक्ष नहीं हो सकता, अतः उपमान और उपमेय दोनों को उपमिति क्रिया का विषय होने से यथासंभव कर्मकरणभावात्मक-संबंध का द्योतन करता है। इसलिए वहाँ श्रौती उपमा होती है। इसी को कहा है—यथेवशब्द योगेन श्रुत्यान्वयमर्हति। यथा एवं इव शब्द उपलक्षणमात्र हैं। वा इत्यादि और अन्य अव्ययों से भी उसी पूर्वोक्त ढंग से उपमानोपमेय भाव की प्रतीति होती है। जैसे—यक्ष मेघ दूतसे अपनी प्रिया के विषय में कह रहा है—

अब जिसकी कहानी परिमित हो चली होगी, उस प्रिया को तुम मेरा दूसरा जीवित ही समझना। मैं ही उसका एकमात्र सहचर था, वह भी जब उससे दूर हो गया तब अकेली चक्रवाकी की तरह बीतते हुए इन लम्बे जान पड़ने वाले दिनों में गाढ़ उत्कंठा से भरी हुई उस बाला के संबंध में मेरी तो यह कल्पना है कि जिस प्रकार प्रसन्न कमलिनी शिशिर की ठंडक से मथित कर दिये जाने पर कुछ और ही रूप की हो जाती है—वैसे ही हो गई होगी।

यहाँ 'वा' शब्द साधर्म्य का बोधक है।

इस प्रसंग में 'यथा' शब्द के योग का उदाहरण देख लीजिए—

क्षणभर तो कामज्वर के उद्भव के लिए और फिर संतापवृद्धि के लिए चंद्रमा की चाँदनी वियोगिनियों के निमित्त वैसी ही हुई—जैसा चन्दन॥१८॥

यहाँ चन्द्रमा की चाँदनी उपमेय है। चन्दन उपमान है। कामज्वरोत्थानकारणता, संतापवर्द्धकता तथा अनवस्थितिकारिता साधारण धर्म हैं। यथाशब्द

अत्र चान्द्री चन्द्रिका उपमेया। चन्दनमुपमानम्। कामज्वरोत्थितिहेतुत्वं संताप-वृद्धिनिबंधनत्वं चानवस्थितं साधारणो धर्मः। यथाशब्दश्चाव्ययत्वेन लुप्त-विभक्तिकत्वादुपमानोपमेययोरेकतरस्मिन्नपि अविश्रान्तः श्रौतेन रूपेणोभयाधार-मुपमानोपमेयभावमवद्योतयति। तेनेयं संपूर्णा श्रौती च। एवमिवशब्दयोगेऽपि

नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैर्मुखैरिव सरःश्रियः।
तरुण्य इव भान्ति स्म चक्रवाकैः स्तनैरिव ॥१९॥

एवमियमव्ययोपदर्शिता श्रौती संपूर्णा वाक्योपमोक्ता।

या तूपमा सदृशादिभिः पदैः श्लिष्टा तस्यां न श्रौतेन रूपेण उपमानुयायितया उपमानोपमेयभावोऽवगम्यते अपि त्वर्थात्। सदृशादीनां पदानामुपमानोपमेययोरेक-तरत्रै विश्रान्तेरन्यत्र च तद्गतसादृश्यपर्यावलोचनया तत्संबंधित्वावगतेः। तेनासौ आर्थी। तदुक्तं--सदृशादिपदाश्लेषादन्यथा--इति। अन्यथेति। अश्रौतेन रूपेणे-त्यर्थः।

तस्या उदाहरणम्

प्रबोधाद्धवलं रात्रौ किञ्जल्कालीनषट्पदम्।
पूर्णेंदुबिम्बप्रतिममासीत्कुमुदकाननम् ॥२०॥

चूंकि अव्यय है इसलिए इसको विभक्ति का लोप है ही—फलतः उपमान और उप मेय दोनों में से किसी एक से ही अन्विति लाभ पूर्वक विश्रान्ति न मिलने से शब्दतः उभयत्र उपमानोउपमेयभाव का अवद्योतन करता है। इसलिए यह पूर्णा और श्रौती भी हुई।

इसी प्रकार 'इव शब्द के योग में भी उदाहरण की योजना कर लेनी चाहिए। सरोवर की लक्ष्मी वंद नेत्रों की भाँति उत्पलों से, मुख की भाँति कमलों से तथा स्तनों की तरह चक्रवाकों से युक्त होने के कारण तरुणियों की भाँति सुशोभित हो रही थीं॥१९॥

इस प्रकार (यथा, इव, वा आदि) अव्यय के द्वारा प्रदर्शित श्रौती, पूर्णा वाक्यो-पमा कही गई।

जो उपमा सदृश इत्यादि शब्दों से युक्त रहती है, उसमें उपमान और उपमेय उभयगत—उपमानोपमेयभाव की शब्दतः प्रतीति नहीं होती, प्रत्युत अर्थतः होती है। सदृश आदि पद उपमान और उपमेय में से किसी एक ही के साथ अन्वित हो पाते हैं और तदितर गत सादृश्य की पर्यालोचना करने पर उस संबंध की अवगति होती है। इसीलिए इसको आर्थी कहते हैं। इसी बात को सदृशादिपदा श्लेषादन्यथा इत्यादि कारिकांश द्वारा व्यक्त किया गया है। अन्यथा का अर्थ है—अश्रौत रूप से अर्थात् शब्दतः नहीं किन्तु अर्थतः।

अत्र कुमुदकाननं विकसितं किञ्जल्कालीनषट्पदत्वविशिष्टमुपमेयम्। पूर्णेंदुबिम्ब-मुपमानम्। धवलत्वं साधारणो धर्मः। प्रतिमाशब्द उपमानोपमेयभावावगतिहेतुः। स च उपमाने विश्रान्तः। तथाहि। पूर्णेंदुबिम्बं प्रतिमा प्रतिबिम्वसदृशमस्येति बहुव्रीहिरत्र क्रियते तेन प्रतिमाशब्दः उपमाने विश्रान्तः तेन चोपमाने विश्रान्तेनापि अर्थादुपमेयस्य सादृश्यमवगम्यते सादृश्यस्योभयाधिष्ठानत्वात्। यदपि च पूर्णेंदुबिम्वेन प्रतिममिति तृतीयातत्पुरुषस्तदाप्युपमेये स्वकण्ठेनाभिहितं सादृश्यम्। उपमाने च तस्यार्थात् प्रतिपत्तिः। अतो बहुव्रीहौ उपमानगतसादृश्यपर्यालोचनया उपमेयस्योपमेयत्वमवगम्यते, तत्पुरुषे तु उपमेयवर्तिसादृश्यविचारेण उपमानस्योपमानत्वागतिरित्यार्थोऽत्र उपमानोपमेयभावः।

अत्र च उपमेयवर्तिकिञ्जल्कालीनषट्पदत्वाभिधानसामर्थ्यादपरमपि साधर्म्यमनभिहितमसितोदरत्वलक्षणमाक्षिप्तम्। यथापूर्णेन्दुबिम्बं शशलाञ्छनत्वादसितोदरमेवं कुमुदकाननमपि किञ्जल्कालीनषट्पदत्वादिति। असितोदरत्वलक्षणं धर्ममपेक्ष्य लुप्तैकदेशत्वाल्लुप्तापीयमुपमा।

उसका उदाहरण—वह कुमुद-कानन, जो रात्रि में विकसित होने के कारण धवल वर्ण का है, जिसके पराग पर चारों ओर भौंरे झुके हुए हैं, पूर्णेन्दु विम्ब के समान जान पड़ता है ॥२०॥

यहाँ पर वह कुमुद कानन जो विकसित है, जिसके किञ्जल्क पर भौंरे लदे पड़े हैं—उपमेय हैं। पूर्णेंदुबिम् उपमान है। धवलता साधारण धर्म है। प्रतिमा शब्द उपमानोपपेय भाव के बोध का हेतु है। और वह उपमान से अन्वित है। कारण यों है—पूर्णेंदुबिम्ब प्रतिमा या प्रतिबिम्ब या सदृश है इसके—ऐसा बहुव्रीहि समास यहाँ किया जा रहा है—इसीलिए यहाँ प्रतिमा शब्द का अन्वय उपमान वाचक शब्द से हुआ है—अतः वहीं विश्रान्त है—अन्वित होकर निराकांक्ष है। इस प्रकार यद्यपि शब्दतः उसका संबंध उपमान से ही है, फिर भी अर्थतः उपमेय का भी सादृश्य (से संबंध) ज्ञान होता ही है। कारण यह है कि सादृश्य एक संबंध है और संबंध के आधार दोनों (उपमान और उपमेय) हैं। जब पूर्णेंदुबिम्ब के प्रतिम—इस अर्थ में तृतीया तत्पुरुष भी मान लिया जाय, तब प्रतिम का अन्वय उपमेय से होगा, फलतः उपमेयगत सादृश्य का कण्ठखेण (शब्दतः) अभिधान हुआ और उपमान के साथ सादृश्य के संबंध की अर्थतः अवगति होती है। निष्कर्ष यह हुआ कि यदि इस शब्द में बहुव्रीहि समास मान लिया जाय—तो उपमानगत [शब्दतः प्रतीत] सादृश्य की पर्यालोचना करने पर उपमेय की उपमेयता मालूम होगी और यदि तत्पुरुष समास माना जाय तो उपमेय गत (शब्दतः प्रतीत) सादृश्य पर विचार

नेत्रैरिवोत्पलैरित्यादौ तु यद्यपि नेत्रोत्पलादीनां समानधर्मा दीर्घत्वनीलत्वादयः स्वशब्देन नोपात्तास्तथापि भान्तीत्यभिधीयमानार्थे तेषामनुप्रवेशात् संपूर्णत्वमेवोपमायाः, चतुष्टयोपलम्भात् । नेत्रादीनि ह्यत्र उपमानानि । उत्पलादीन्युपमेयानि । भानं दीर्घत्वनीलत्वादिविषणपर्यन्तं साधारणो धर्मः । इव शब्दश्च उपमानोपमेयभावावगतिहेतुः । तेनेयमुपमा संपूर्णैव प्रबोधाद्धवलमितीयं तु असितोदरत्वापेक्षया लुप्तत्वेनाप्युक्ता ।

समासोपमा चैषा पूर्णेंदुविम्बप्रतिममिति समासस्य विहितत्वात् ।

यदा त्वत्र वाक्योपमा विवक्षिता भवति तदैतदेवोदाहरणम् ।

मू०— तदुदाहरणार्थत्वेन 'अखण्डेनेदुंना तुल्यमासीत् कुमुदकाननम्' ।।२१।।

इत्येवं परिणमयितव्यम् ।

एवमेषा संपूर्णा वाक्यावगम्या द्विविधोपमा प्रतिपादिता श्रौत्यार्थी च । समासावगम्या तु आर्थत्वेन एकप्रकारैवोक्ता ।

करने से उपमान की उपमानता ज्ञात होती है। इस प्रकार यहाँ उपमानोपमेयभाव आर्थ ही है।

साथ ही यहाँ उपमेयगत पराग पर उमड़े हुए भौंरों की बात कही गई है—इस उक्ति के सामर्थ्य से एक दूसरा भी अनभिहितधर्म असितोदरत्व-श्यामोदरत्व रूप है—जो आक्षिप्त होकर प्रतीत होता है। जिस प्रकार चन्द्रबिम्ब शश से लांक्षित होने के कारण कृष्णोदर होता है उसी प्रकार कुमुदकानन भी अपने पराग पर भौंरों के लिपट जाने से कृष्णोदर जान पड़ता है। इस असितोदरता (मध्यभाग का काला होना) रूपधर्म की दृष्टि से देखा-जाय—तो उपमा का एक अंश लुप्त है—इसलिए इसे लुप्तोपमा भी कह सकते हैं।

नेत्र के समान उत्पल हैं—इत्यादि प्रयोग में यद्यपि नेत्र और उत्पल के समान धर्म दीर्घता एवं नीलत्व आदि स्ववाचक शब्द से प्रयुक्त नहीं हैं, फिर भी 'भान्ति (सुशोभित होते हैं) इस क्रिया से अभिधीयमान अर्थ की परिधि में उनका अनु प्रवेश है ही—इसलिए उपमा की संपूर्णता—पूर्णाङ्गता है, कारण उसके चारों अवयवों का शब्दतः प्रयोग है। यहाँ नेत्र आदि उपमान हैं, उत्पल आदि उपमेय हैं। भान क्रिया की व्याप्ति दीर्घता, नीलता पर्यन्त है—और वही साधारण धर्म है। कहने का अभिप्राय यह कि बड़े बड़े और काले-काले रूप में दोनों एक से सुशोभित हो रहे हैं। इव शब्द उपमानोपमेयभाव की अवगति का हेतु है। इसलिए यह उपमा संपूर्ण है। विकास से धवल. . .इत्यादि द्वारा जो उपमा कही गई है—वह असितोदरत्व जैसे अप्रयुक्त धर्म की दृष्टि से लुप्तोपमा के रूप

या तु तद्धितावसेया संपूर्णा तस्या अपि द्वैविध्यं श्रौतत्वार्थत्वभेदेन । तत्र तस्येव (पा. ५।१।११६) इत्यनेन हि यो वतिर्विधीयते तस्य इवार्थे विधीयमानत्वादिव शब्दवच्छ्रौतेन रूपेण उभयानुयायितया उपमानोपमेयभावावगतिनिबन्धनत्वम् । यः पुनः—तेन तुल्यं (पा. ५।१।११५) इति तुल्यार्थे वतिर्विधीयते ततो ब्राह्मणेन तुल्यमधीते ब्राह्मणवदधीते क्षत्रिय इत्युपमेये यत्तदध्ययनक्रियाद्वारेण विश्रान्तं तुल्यत्वं तत् पर्यालोचनया अर्थादुपमानस्योपमानत्वमवगम्यते तेनार्थस्तत्र उपमानोपमेय-भावः । तदुक्तम्—वतिना च कर्मसामान्यवचनेन । षष्ठी सप्तम्यन्ताच्च यो वतिर्ना-मतस्तदभिधेया इति । कर्म सामान्यवचनो वतिः—तेन तुल्य क्रिया चेद्वतिः (पा० ५।१।११५) इति क्रियातुल्यत्वेऽभिधानात् । तेन चाभिधीयते उपमा । वाच्येति पूर्वोपक्रान्तमत्रानुषज्यते । षष्ठ्यन्तात्सप्तम्यन्ताच्च नामतो नाम्नः प्राति-पादिकादिति संबंधः ।

में भी कही गई है। 'पूर्णेंदुबिम्ब प्रतिमम्'—इत्यादि समासोपमा का उदाहरण है, क्योंकि यहाँ समास का विधान किया गया है। जब यहीं वाक्योपमा विवक्षित होगी, तो यही उसका भी उदाहरण हो जायगा। हाँ, यह अवश्य है कि वाक्यो-पमा का उदाहरण बनाने के लिए

अखण्ड चन्द्रमण्डल के समान कुमुदकानन था—ऐसी परिणति करनी पड़ेगी।

इस प्रकार यह पूर्णा वाक्यगम्या उपमा दो प्रकार की हुई—श्रौती और आर्थी। पर समासावगम्या उपमा तो आर्थ होने के कारण एक ही प्रकार की ही कही गयी है।

तद्धित प्रत्यय से प्रतीत होनेवाली जो पूर्णोपमा होती है—उसे भी दो प्रकार का समझना चाहिए—श्रौत एवं आर्थ के भेद से। 'तत्र तस्येव'[1] पाणिनि का एक सूत्र है, जो 'वति' प्रत्यय का विधान करता है—वह 'इव' के अर्थ में—अतः 'इव' शब्द की तरह वह भी शब्दतः उपमान एवं उपमेय से अन्वित होने के कारण उपमानोपमेय भाव के बोध में हेतु है। फिर जो 'तेन तुल्यं क्रिया[2] चेद्वतिः

---

१. तत्र तस्येव—सप्तम्यन्त एवं षष्ठ्यंत शब्द से इवार्थ में वति प्रत्यय का ५/१/११६ विधान होता है। यहां सादृश्य, क्रिया—प्रयुक्त नहीं, बल्कि द्रव्य-प्रयुक्त होता है।

२. तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः—तृतीयान्त शब्द में तुल्य अर्थ में 'वति' प्रत्यय ५/१/११५ का विधान होता है, पर यदि सादृश्य क्रिया-वश हो।

तत्र पूर्वस्या उदाहरणम्

मू०— अपि सा सुमुखी तिष्ठेद्दृष्टेः पथि कथञ्चन ।
अप्रार्थितोपसंपन्ना पतितानभ्रवृष्टिवत् ।।२२।।

अप्रार्थितोपसंपन्ना दृष्टेः पथि कथञ्चन पतिता तिष्ठेदिति संबंधः अत्रानभ्रवृष्टिरुपमानम् । सुमुखी उपमेया । अप्रार्थितोपसंपन्नत्वे सति दृष्टिगोचरपतितत्वेनावस्थानं साधारणोधर्मः । वतिश्च क्रियातुल्यत्वे विधीयमान उपमेये क्रियाद्वारेण शब्देन वृत्तेन विश्रान्तः सस्तुल्यत्वपर्यालोचनयोपमानस्योपमानत्वमवगमयति । ततोऽत्रार्थादुपमानोपमेयभावः प्रतीयते । तेनेयं संपूर्णा आर्थी च तद्धितावसेया ।

——पाणिनि सूत्र से तुल्य अर्थ में 'वति' प्रत्यय का विधान किया गया है——इसलिए ब्राह्मण की तरह अध्ययन (क्रिया साम्य) करता है——इस अर्थ में 'वति' प्रत्यय होने से 'ब्राह्मणवद् अधीते" यह प्रयोग होगा——और यहाँ ब्राह्मण की तरह अध्ययन करने से क्षत्रिय उपमेय हुआ और उसी से अध्ययन क्रिया के द्वारा होने वाला सादृश्य अन्वित है——और यह सादृश्य किससे है——ऐसी पर्यालोचना करने पर अर्थतः उपमान को उपमानता प्रतीत होती है। इसलिए यहाँ उपमानोपमेय भाव आर्थ माना जाता है। इसी अभिप्राय से मूल कारिका में "वतिना च. . ." इत्यादि कहा गया है। इस वति प्रत्यय का प्रयोग तब होता है, जब क्रिया के कारण समानता हो। कारण यह है कि 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' द्वारा पाणिनि ने यही बताया है कि यदि (तृतीयान्त) उपमान (वाचक शब्द) से उपमेय की क्रिया प्रयुक्त समता दिखायी जाय, तो वहाँ सादृश्य के अर्थ में वति प्रत्यय का विधान होता है। इसी प्रत्यय से उपमा अभिहित की जाती है । पहले से चली आती हुई 'वाच्या' क्रिया का संबंध यहाँ भी कर लेना चाहिए। षष्ठ्यन्त तथा सप्तम्यन्त नाम प्रातिपदिक से——संबंध इसी रूप में हो। इस स्थिति में पहले का उदाहरण ——

अभ्र के बिना ही गिरी हुई जलधारा के समान बिना प्रार्थना के ही आई हुई वह सुमुखी कहीं दृष्टिपथ में आ जाती।

इस वाक्य का अन्वय यों करना चाहिए——बिना प्रार्थना के ही आई हुई दृष्टि पथ में किसी प्रकार वह सुमुखी आ जाती। यहाँ अनभ्रवृष्टि उपमान है। सुमुखी उपमेय है। अप्रार्थितोपसम्पन्नता और दृष्टिगोचर-स्थिति साधारण धर्म हैं। यहाँ 'वति' प्रत्यय क्रिया-प्रयुक्त साम्य के अर्थ में विहित होकर उपमेय से शब्दोपात्त क्रिया द्वारा संबद्ध होता हुआ सादृश्य की पर्यालोचना से उपमान की उपमानता का बोध कराता है । इसीलिए यहाँ अर्थतः उपमानोपमेयभाव अवगत होता है । इसलिए यह सम्पूर्णा , आर्थी तद्धितावसेया उपमा हुई ।

द्वितीयस्या उदाहरणम्

किं स्युरुत्कलिका मद्वत्तस्या अपि निरर्गला:।
अकाण्डोड्डामरानङ्गहतकेन समर्पिता: ॥२३॥

अकाण्डोड्डामर: अनवसरे उद्भट:। प्रचण्ड इति पाठान्तरम्। उत्कलिका उत्कण्ठा:। अत्रास्मदर्थ उपमानम्। तच्छब्दार्थ उपमेय:। मन्मथेन समर्पिता यास्ता निरर्गला उत्कलिकास्तत्कर्तृक भवनं साधारणो धर्म:। वतिश्चेवार्थेविधीयमानत्वादिव शब्दवदुपमानोपमेययोरेकतरत्राप्यविश्रान्त: श्रौतेन रूपेणोपमानोपमेयभावमवद्योतयति। तेनेय संपूर्णा श्रौती च तद्धितावसेया। अत्र तु तस्या अपि-इति पाठे षष्ठ्यन्ताद्वतिर्विधेय:। यदा तु तस्यामपीति पाठ: तदा सप्तम्यन्वात्। यदुक्तम्––उपमाने य:संशय: स उपमेयाद् व्यावर्तते––इति।

दूसरी का उदाहरण––

अवसर अनवसर का ध्यान न रखनेवाले हमारे काम के द्वारा समर्पित उत्कंठाएँ क्या मेरी ही तरह निष्प्रतिबद्ध रूप से उसमें भी होती होंगी ?
अकाण्डोड्डामर का अर्थ है––अनवसर पर उद्भट होना। कहीं-कहीं अकाण्ड की जगह प्रचण्ड पाठ भी मिलता है। उत्कलिका का अर्थ है––उत्कंठा। यहाँ अस्मदर्थ (मत् का अर्थ) उपमान है और तत् शब्द का अर्थ––उपमेय है। मन्मथ के द्वारा समर्पित जो वे निष्प्रतिबंध उत्कंठाएँ हैं––उनका होना ही साधारण धर्म है। वति प्रत्यय इव के अर्थ में विहित होने से इव'शब्द की तरह उपमान और उपमेय में से किसी एक से ही अन्वित हो कर निराकांक्ष न होता हुआ शब्दतः उभयत्र उपमानोपमेयभाव का द्योतन करता है। इसलिए यह पूर्णा श्रौती तथा तद्धितावसेया उपमा है। पर यहाँ यदि 'तस्या: अपि––ऐसा षष्ठीविभक्तिक प्रयोग है––तो षष्ठ्यन्त उपमान से वति का विधान करना चाहिए, पर जब 'तस्याम् अपि'––ऐसा पाठ होगा, तो सप्तम्यन्त (उपमानवाचक) शब्द से वति का विधान मानना चाहिए। जैसा कि कहा है––उपमान के विषय में जो संशय होता है––वह उपमेय से व्यावृत्त होता है।

इस प्रकार यह संपूर्णा उपमा––वाक्यावसेया, तद्धितावसेया तथा समासावसेया––तीनों प्रकार वाली प्रतिपादित हुई।

उनमें से वाक्यावसेय तथा तद्धितावसेय––दो उपमाओं में से प्रत्येक के श्रौत तथा आर्थ-दो-दो भेद होंगे, पर समासावसेय तो आर्थ (एक प्रकार की) ही होगी। इसलिए यह सब पूर्णोपमा पाँच प्रकार की हुई।

पर एक देश के लुप्त होने के कारण , जो लुप्तोपमा है––वही संक्षेपोपमा

एवमेषा वाक्यसमासतद्धितावसेया संपूर्णा त्रिविधोपमा प्रतिपादिता। तत्र च वाक्यतद्धितावसेययोरुपमयोः प्रत्येकं श्रौतत्वार्थत्वभेदेन द्वैविध्यमुक्तम्। समासावसेयायास्तु आर्थत्वमेव। अतः पञ्चप्रकारैषा संपूर्णा।

या तु लुप्तैकदेशत्वाल्लुप्तोपमा सा संक्षेपोपमा। तस्याश्च पञ्चविधत्वं वाक्यसमास सुब्धातुकृत्तद्धितावसेयत्वात्।

तत्र वाक्ये या संक्षेपोपमा सा पूर्वमुदाहृता।

'अखण्डेनेन्दुना तुल्यमिति'। अत्र ह्यसितोदरत्वस्यानुपात्तत्वात् साधारणधर्मानुपादानाल्लुप्तैकदेशत्वमपि विद्यते।

समासावसेया पुनः संक्षेपोपमा त्रिविधा। एकद्वित्रिलोपे भावात्। एकलोपे द्विविधा, साधारणधर्मवाचिन इवादेर्वानुपादानात्। तदुक्तं 'साम्यवाचकविच्युतेरिति।' 'तद्वाचिविरहेणेति च'। साम्यवाचकः साधारणधर्मवाची। (साधारण धर्मः) सौंदर्यादिः। तद्वाची उपमानोपमेयवाची च इवादिः। अत्र च सर्वत्र प्रकरणे 'संक्षेपाभिहिताप्येषा' इति, 'क्वचित्समास' इति, 'निबध्यत' इति च त्रयं प्रत्येकमिति यथायोगमनुषज्यते।

है और उसके भी पांच भेद होते हैं—(१) वाक्यावसेय (२) समासावसेय (३) सुब्धातुगत (४) कृदवसेय तथा (५) तद्धितावसेय।

इनमें से भी जो वाक्यावसेय संक्षेपोपमा होती है—उसका उदाहरण पहले दिया जा चुका है।

'अखण्ड चंद्रमा की तरह'—यह। कारण, यहाँ पर असितोदरत्व (मध्य भाग का काला होना) जैसे साधारणधर्म का ग्रहण न होने से एक देश का लोप भी है।

सामासावसेया उपमा के फिर तीन भेद किये गये हैं, कारण—वहाँ कभी एक, कभी दो और कभी तीन का भी लोप होता है। एक अवयव का लोप होने पर दो भेद होते हैं—कारण, वहाँ साधारण धर्म के वाचक इव आदि का प्रयोग नहीं होता। वही कहा गया है—"साम्यवाचक के अप्रयोगवश"। साम्यवाचक का अर्थ है—साधारणधर्म का बोधक। साधारणधर्म से अभिप्राय है—सौंदर्य आदि। उसके वाचक से मतलब है—उपमानोपमेय वाचक इव आदि का। इस समस्त प्रकरण में 'संक्षेप रूप में कही गई यह' 'कहीं समास में' तथा 'निबद्ध हैं'—ये तीनों अंश सर्वत्र सब से यथासंभव अन्वित हैं।

इस संदर्भ में यह समझना चाहिए कि साम्यवाचक का प्रयोग न होने पर समास में जो संक्षेपोपमा कही गई है—उसका उदाहरण पहले ही 'पूर्णेन्दु बिम्ब प्रतिमम्'

तत्र साम्यवाचिवियोगेन समासे या संक्षेपोपमा तस्याः पूर्वमेवादाहरणमुक्तं 'पूर्णेन्दुबिम्बप्रतिममिति'। अत्र ह्यसितोदरत्वमर्थसामर्थ्यावसेयत्वाच्छब्देन नोपात्तम्। इवादिवियोगे तु तस्या उदाहरणम्—

इति काले कलोल्लापि कादम्ब कुल संकुले।
त्रिदशाधीशशार्दूलः पश्चात्तापेन धूर्जटिः।
तां शशिच्छायवदनां नीलोत्पलदलेक्षणाम्।
सरोज कर्णिकागौरीं गौरीं प्रति मनो दधौ।

कादम्बा पक्षिभेदाः। सरोजकर्णिका गौरीं गौरीमित्यत्र सरोजकर्णिका उपमानं गौरी उपमेया, गौरत्वं साधारणो धर्मः। तच्च त्रयं स्वकण्ठेनोपात्तम्। इवाद्यर्थस्तु उपमानस्य साधारण धर्मवाचिना सह 'उपमानानि सामान्यवचनैः" (पा० अ० २।१।५५) इति यः समासस्तत् सामर्थ्यादवगम्यते। तेनेयमिवादि शब्दलोपाल्लुप्तैकदेशा। एवमेकदेशलोपे सति द्विविधा समासोपमोक्ता।

द्वितय लोपे त्वेकप्रकारा भवति, साधारणधर्मवाचिन इवादेश्च युगपदप्रयोगात्। तदुक्तं 'उपमानोपमेयोक्तौ साम्यतद्वाचिविच्यवात्'। अत्र साम्यशब्देन साम्यवाची शब्दो लक्ष्यते। साम्यविच्यवाच्चोपमाया असंभवात्। तस्या उदाहरणं

इत्यादि दिया जा चुका है। यहाँ 'असितो दरता' (कृष्णांकता) अर्थ सामर्थ्य वश प्रतीत होने के कारण शब्दतः नहीं कही गई। इव आदि का प्रयोग न होने पर उसका उदाहरण इस प्रकार होगा—

इस प्रकार मनोहर वाणी बोलने वाले हंसों के काल में देवेंद्रसिंह शंकर ने उस गौरी के प्रति अपने मन को संलग्न किया—जिसके मुख की कांति चंद्रमा की भाँति है, जिसके नेत्र नीलकमल जैसे हैं, और जो कमल की कर्णिका की तरह गौर वर्ण की है।

कादम्ब एक विशेष प्रकार के पक्षी के लिये प्रयुक्त किया जाता है। 'सरोज कर्णिका गौरीं गौरीम्'—इस अंश में सरोज कर्णिका उपमान है, गौरी उपमेय है, गौरत्व साधारण धर्म है और ये तीनों शब्दतः कहे गये हैं। 'उपमानानि सामान्यवचनैः'—इस पाणिनीय सूत्र के द्वारा उपमान का यहाँ साधारणधर्म वाचक के साथ समास है—इसी समास के सामर्थ्य से इव आदि अर्थ की अवगति हो जाती है। इसलिये इव आदि शब्द का लोप होने के कारण यहाँ लुप्तैकदेशा उपमा हुई। इस प्रकार एक अंश का लोप होने पर दो प्रकार की समासोपमा कही गई।

दो अवयवों का लोप होने पर तो एक ही प्रकार की होती है—कारण, साधारण धर्मवाचक एवं इवादि का साथ प्रयोग होगा नहीं। वही कहा गया है—"उपमान

'त्रिदशाधीशशार्दूल' इति, 'नीलोत्पलदलेक्षणम्' इति च। 'त्रिदशाधीशशार्दूलः' इत्यत्र च त्रिदशाधीश उपमेय, शार्दूल उपमानम्। तच्च द्वयं स्वकण्ठेनोपात्तम्। इवाद्यर्थः साधारणश्च धर्मस्तेजस्वित्वादिः सामर्थ्यादवसीयते। 'नीलोत्पलदलेक्षणामि'—त्यत्र तु नीलोत्पलपलाशानामुपमानत्वं, ईक्षणयोरुपमेयता। एतयोश्च स्वकण्ठेनोपादानम्। नीलत्वदीर्घत्वादिसाधारणो धर्म इवाद्यर्थश्च उपमानोपमेयभावात्मकः स्वशब्देनानुपात्तोऽपि समासवशेनार्थसामर्थ्यादवसीयते। 'त्रिदशाधीशशार्दूल' इत्यस्मात्तु 'नीलोत्पलदलेक्षणामित्यस्य बहुव्रीहित्वकृतो विशेषः। तत्र हि 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इति तत्पुरुषो विहितः एवमेषा साधारणधर्मवाचिन इवादिश्चाप्रयोगात् द्वितयलोपे समासे संक्षेपोपमोक्ता।

त्रितयलोपे तु साधारणधर्मवाचिन उपमेयाभिधायिन उपमानोपमेयभाववाचिनश्च इवादेर्युगपद प्रयोगात् समासवर्त्तिनी संक्षेपोपमा भवति। तदुक्तं "साम्यो-

---

एवं उपमेय जहाँ शब्दतः कहे गये हैं—वहाँ साम्यवाचक तथा इवादि का प्रयोग न होगा। यहाँ 'साम्य' शब्द का तात्पर्य 'साम्य वाचक शब्द' से है। साम्यवाचक शब्द के विच्यव से उपमा ही संभव न होगी। उसका उदाहरण है—'त्रिदशाधीश शार्दूल' तथा 'नीलोत्पलदलेक्षणाम्'। 'त्रिदशाधीशशार्दूल'—में त्रिदशाधीश उपमेय हैं और शार्दूल उपमान। इन दोनों का शब्दतः प्रयोग किया गया है। इव आदि का अर्थ तथा साधारणधर्म तेजस्विता आदि अर्थ सामर्थ्यावश निश्चित करने योग्य हैं। 'नीलोत्पलदलेक्षणाम्' में नीलकमल के पत्र उपमान हैं और दोनों नेत्र उपमेय। इन दोनों का शब्दतः प्रयोग है। नीलत्व, दीर्घत्व आदि साधारण धर्म तथा इव आदि उपमानोपमेयभावात्मक अर्थ स्व बोधक शब्द से अनुक्त रह कर भी समास के सामर्थ्य से निश्चित ही प्रतीत हो जाते हैं। 'त्रिदशाधीशशार्दूल' से 'नीलोत्पलदलेक्षणा' का कोई वैशिष्ट्य अथवा अंतर है तो इतना ही कि परवर्ती प्रयोग में बहुव्रीहि समास है। कारण, वहाँ पर 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे'—[अर्थात् जहाँ सामान्यवाचक शब्द का प्रयोग नहीं है—वहाँ व्यघ्रादि के साथ उपमित का समास होता है]—इस पूत्र से तत्पुरुष का विधान किया गया है। इस प्रकार साधारण धर्मवाची इव आदि का प्रयोग न होने पर दो अवयवों के लोप से समास में संक्षेपोपमा कही गई है।

तीन अवयवों का लोप होने पर तो साधारणधर्म के वाचक, उपमेयवाचक, एवं उपमानोपमेय भाव के वाचक इव आदि का सहप्रयोग न होने पर समासवर्तिनी संक्षेपोपमा हुआ करती है। वही कहा गया है—"साम्योपमेय तद्वाचि वियोगाच्च"—अर्थात साम्यवाचक, उपमेय वाचक एवं इवादि का प्रयोग न होने से।

पमेयतदवाचिवियोगाच्च" इति। अत्रापि पूर्ववत साम्योपमेयशब्दाभ्यां तद्वाची शब्दो लक्ष्यते । तस्या उदाहरणं "शशिच्छायवदनामिति" । अत्र हि शशिच्छाया तुल्या छाया यस्य तथाविधं वदनं यस्या इति बहुव्रीहिगर्भे बहुव्रीहौ शशिकान्तिरुपमानं, वदनकान्तिरुपमेया। तयोश्च साधारणो धर्म आह्लादकत्वादिस्तुल्यत्वं चेति चतुष्टयमवगम्यते । शब्दस्पृष्टन्तूपमानमेव शशिच्छायेति । तदितरस्योपमेयादेस्त्रितयस्य समाससामर्थ्येनार्थावसेयत्वात्। एवमेषा त्रितयलोपे समासवर्तिनी संक्षेपोपमोदाहृता।"........

तदेवमत्र चतुः प्रकारा लुप्ता समासोपमा प्रतिपादिता एकलोपे द्वे द्वितयलोपे एका त्रितयलोपे चैकेति ।

सुब्धातुप्रत्ययावसेया पुनरुपमा त्रिविधा क्यच्—क्यङ—क्विप्—प्रत्ययावसेयत्वात्। क्यच्प्रत्ययावसेयापि द्विविधा कर्मोपमानकत्वादधिकरणोपमानकत्वाच्च तदुक्तम्-तथोपमानादाचारे क्यच् प्रत्ययवलोक्तितः—इति । यथा समासे संक्षेपाभिहिता उपमा समाससामर्थ्यादवगम्यमाना निबध्यते तथा कस्मिंश्चिद्विषये उपमानात्कर्मणः अधिकरणाद्वा आचारार्थे यथाक्रमं सौत्र: (प० ३।१।१०) औपसङ्ख्या-

---

यहाँ पर भी पहले की भाँति साम्य एवं उपमेय—शब्दों से उनके बोधक शब्दों का ग्रहण किया जाना चाहिए। उसका उदाहरण—'शशिच्छायवदनाम्' है। कारण, यहाँ पर शशि की कांति के समान कांति है जिसका—वह वदन है जिसका—इस तरह के विग्रह से स्पष्ट है कि यहाँ बहुव्रीहि गर्भित बहुव्रीहि समास का प्रयोग है। यहाँ शशिकान्ति उपमान है, वदनकान्ति उपमेय है। इन दोनों का साधारण धर्म आह्लादकत्व आदि तथा औपम्यवाचक तुल्यता आदि—चारों अवयव बोधित होते हैं। इन चारों अवयवों में शब्दतः यदि कोई अवयव कहा गया है—तो वह है—'शशिच्छाया' रूप उपमान। उससे भिन्न उपमेय आदि तीन अवयवों का समास के सामर्थ्य से ही प्रतीति होती है। इस प्रकार यह समासवर्ती संक्षेपोपमा तीन अवयवों का लोप होने पर कही गई।

तो इस प्रकार यहाँ चार प्रकार की लुप्ता समासोपमा प्रतिपादित की गई—एकलुप्ता—एक का लोप होने पर (उपमा के एक अवयव का लोप होने पर) दो भेद, दो अवयवों का लोप होने पर एक भेद तथा तीन अवयवों का लोप होने पर एक— इस प्रकार सब मिलाकर चार भेद हुए।

फिर सुब्धातु प्रत्ययावसेय उपमा तीन प्रकार की होती है—क्यच् प्रत्ययावसेय, क्यङ्प्रत्ययावसेय तथा क्विप्प्रत्ययावसेय। क्यच् प्रत्ययावसेय भी दो प्रकार की होती है—क्योंकि कर्मकारक के रूप में उपमान वाचक शब्द से तथा अधिकरण कारक में

निकश्च [पा० ३।१।१०] । यः क्यच् प्रत्ययस्तद्बलेन यासौ भणितिस्तत्सामर्थ्या-दवसीयमाना निबध्यते ।

तस्या उदाहरणम्

मू०— स दुःस्थीयन् कृतार्थोऽपि निःशेषैश्वर्यसंपदा ।
निकामकमनीयेऽपि नरकीयति कानने ॥२६॥

निःशेषैश्वर्यसंपदा कृतार्थोऽपीति संबंध । अत्र दुःस्थमिवात्मानमाचरन्निति दुःस्थः कश्चिद्दारिद्र्याद्युपप्लुत उपमानं भगवदात्मा उपमेयः आचाराख्यः साधारणो धर्मः क्यच्प्रत्ययोपात्तः । अत्रोपमानसाधारणधर्मयोः शब्दस्पृष्टत्वम् । उपमेयस्य उपमानोपमेयभावस्य च सामर्थ्यादवगतिः । तेनेयं द्वितयस्य गम्यमानार्थत्वाद्द्वितय-लोपे सति सुब्धातूपमा । एवमियं कर्मोपमानिका सुब्धातूपमा उदाहृता ।

उपमानवाचक शब्द से क्यच् प्रत्यय का विधान होता है। वही कहा है—उपमान वाचक शब्द से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय की उक्ति से । जिस प्रकार समास में संक्षिप्त रूप में अभिहित उपमा समास के सामर्थ्य से अवगम्यमान होती हुई निबद्ध की जाती है, उसी प्रकार किसी विषय में उपमान भूतकर्म अथवा अधिकरणात्मक कर्मबोधक शब्द से आचार अर्थ में सौत्र[1] और औपसंख्यानिक[2] जो क्यच् प्रत्यय विहित होता है, उसके बल से जो यह उक्ति है—उसके सामर्थ्य से निश्चित की जाती हुई निबद्ध होती है।

उसका उदाहरण—

निखिल ऐश्वर्य सम्पत्ति से परिपूर्ण रहने पर भी अपने आपको दारिद्र्योपहतजन की तरह आचरित करते हुए नितान्त रमणीय कानन में भी नरक की तरह आचरण करते हैं ॥२६॥

यहाँ दुःस्थ की भाँति अपने आपको आचरित करता हुआ—इतना 'दुःस्थीयन्' का अर्थ है। यहाँ दुःस्थ अर्थात् दरिद्र उपमान है और भगवदात्मा—भगवान् उपमेय है, आचार, जो क्यच्प्रत्यय द्वारा उपात्त है, साधारण धर्म है। यहाँ उपमान (दुःस्थ) तथा साधारण धर्म (आचार) शब्दतः प्रयुक्त हैं पर उपमेय (आत्मा) और उपमानोपमेयभाव की सामर्थ्यतः अवगति होती है—अर्थतः प्रतीति होती है। इसलिए यहाँ दोनों के आर्थ प्रतीत होने से दो अवयवों का लोप होने पर सुब्धातुगत उपमा उदाहृत की गई।

---

१. सौत्रका अर्थ है—सूत्र से विहित। सूत्र है—उपमानादाचारे।३।१।१०। उपमानात्कर्मणः सुबंतादाचारेर्थे क्यच् स्यात्। अर्थात् उपमानात्मक कर्मबोधक सुबंत पद से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय किया जाता है।।३।१।१०।

२. औपसंख्यानिक—उपर्युक्त सूत्र के वार्तिक 'अधिकरणाच्चेतिवक्तव्यम्'—अधिकरण कारक में प्रयुक्त उपमान के बोधक सुबंत शब्द से भी क्यच् प्रत्यय का उपसंख्यान करना चाहिए—कहना चाहिए।।३।१।१०।।

अधिकरणोपमानिका तु नरकीयति कानन इति [का० सा० सं० प २४] अत्र नरक उपमानं काननमुपमेयं क्यच्प्रत्ययोपात्तत्वादाचार: साधारणो धर्म:। इवादयस्तु क्यच् प्रत्ययसामर्थ्येनोपमानोपमेयभावस्यावसेयत्वादप्रयुक्ता:। तेनेयमेकलोपे सति सुब्धातूपमा।

एवमेषाक्यच्प्रत्ययावगम्या द्विविधा संक्षेपोपमोक्ता।

क्यङ् प्रत्ययसामर्थ्यावगम्या तु कर्तुंपमानिका संक्षेपोपमा भवति। तदाह—कर्तुराचारे क्यङा सा—इति। तथेति उपमानादाचार इति क्वचिदिति च पूर्वोक्तस्यात्रानुषंग:। कर्तुंरुपमानादुत्तरेणाचारविषयेण क्यङा (पा० ३।१।११) सा संक्षेपोपमा क्वचिन्निबध्यत इत्यर्थ:।

तस्या उदाहरणम्

> कृशानुवज्जगत्तस्य पश्यतस्तां प्रियां विना।
> खद्योतायितुमारब्धं, तत्त्वज्ञानमहामह: ॥२७॥

खद्योतो ज्योतिर्मालिका। अत्र खद्योतायितुमित्यादौ खद्योत उपमानं तत्त्वज्ञानं पदार्थस्वरूपयाथातथ्यपरिच्छेद: तदात्मकं यत्तन्महदुत्कृष्टं महस्तेजस्तदुपमेयं क्यङ्प्रत्ययोपात्तश्चाचार: साधारणो धर्म:। क्यङ् प्रत्ययसामर्थ्यावसेयत्वादत्रेवादेर प्रयोग:। तेनेयमेकलोपेन सुब्धातूपमोपनिबद्धा।

इस प्रकार यह सुब्धातुगत उपमा उदाहृत हुई जहाँ कर्म उपमान के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

अधिकरणोपमानिका (जहाँ अधिकरण रूप में उपमान का प्रयोग किया गया हो) का उदाहरण है—"नरकीयति कानने"—यह खंड।

यहाँ नरक उपमान है, कानन उपमेय है और क्यच्प्रत्यय द्वारा उपात्त आचार साधारण धर्म है। क्यच् प्रत्यय के सामर्थ्य से ही उपमानोपमेयभाव की अवगति हो जाती है—इसीलिए इव आदि का प्रयोग नहीं किया गया है।

क्यङ् प्रत्यय से अवगत होनेवाली जो संक्षेपोपमा होती है—वहाँ कर्त्ता उपमान होता है। वही कहा है—कर्तुंबोधक से आचार अर्थ में किये गये क्यङ् प्रत्यय से यह उपमा होती है।—'कर्तुराचारे क्यङासा" इस वाक्य के साथ पूर्ववत 'तथा', 'उपमानादाचारे'? तथा 'क्वचिद्'—इन शब्दों का संबंध कर लेना चाहिए और तब अर्थ करना चाहिए—कर्त्ता रूप उपमान के बाद आचारार्थक क्यङ[1] प्रत्यय से वह संक्षेपोपमा कहीं निबद्ध होती है।

---

१. क्यङ् प्रत्यय का विधान "कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च" ३।१।११। सूत्र से होता है। सूत्रार्थ है—उपमान भूतकर्त्ता के बोधक सुबंत शब्द से आचारार्थक क्यङ् प्रत्यय का विधान होता है और सान्त शब्द रहा तो 'स' का लोप भी हो जाता है।

क्वचित्तु विषये कर्त्तुपमानिका सा संक्षेपोपमा क्विपा निबध्यते। स च क्विप् सर्वप्रातिपदिकेभ्य इत्येके (पा० ३।१।११ काशिकास्थं वार्तिकं) इत्यनेन विधीयते —तदुक्तं सा क्विपा क्वचित्—इति। अत्रापि तथेति उपमानादाचार इति कर्त्तुरिति च त्रयमनुषज्यते।

तस्या उदहरणम्

कृशानुवज्जगदिति। [का० सा० सं० प० २५]

कृशानुशब्दादाचारक्विबन्ताच्छतरि रूपम्। अत्र कृशानुरुपमानं जगदुपमेयम्। आचारश्च साधारणो धर्मः क्विप्सामर्थ्यादवगम्यते। अत्र चोपमानोपमेययोः शब्दोपात्तत्वादिवादीनामाचारस्य चार्थसामर्थ्यावसेयत्वाद्द्वितयलोपः। न खल्वश्रूयमाणस्य क्विपोऽर्थाभिधायिता वक्तुं शक्या।

उसका उदाहरण—

उस प्रिया के बिना जगत को अग्नि की भाँति देखनेवाले उस व्यक्ति के लिए वस्तु का यथातथ्य ज्ञान रूप महान् तेज, खद्योत की भाँति आचरण करने लगा अर्थात् वियोग की वेचैनी में वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान कभी-कभी हो जाता था खद्योत का अर्थ है—ज्योतिर्मालिका या जुगनू। खद्योतयितुम्—इत्यादि प्रयोग में खद्योत उपमान है। तत्त्वज्ञान का अर्थ है—पदार्थ के स्वरूप का समुचित निर्णयात्मक ज्ञान—तद्रूप हो महत् अर्थात् उत्कृष्ट महः अर्थात् तेज ही—यहाँ उपमेय है। क्यङ् प्रत्यय द्वारा बोधित आचार साधारण धर्म है। उपमानोपमेय—भाव क्यङ् प्रत्यय से ही बोधित होते हैं—अतः इव आदि का प्रयोग नहीं हुआ है। इसलिए यहाँ एक अवयव के लोप से सुब्धातुगत उपमा उपनिबद्ध है।

कहीं कहीं तो किसी विषय के संबंध में यह संक्षेपोपमा क्विप् प्रत्यय के द्वारा उपनिबद्ध होती है—यहाँ उपमान कर्त्ता कारक में रहता है। उस क्विप् का विधान 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः'—इस वार्तिक से किया जाता है। वही कहा है—सा क्विपा क्वचित्—इति। यहाँ भी तथा 'उपमानादाचारे' और 'कर्त्तुः' ये तीन पद खण्ड सम्बद्ध किये जायँ।

उसका उदाहरण—कृशानुवज्जगदित्यादि।

कृशानुशब्द से आचारार्थक क्विप् प्रत्यय होने पर पुनः शतृ प्रत्यय किया जायगा—तब कृशानुवत्—यह रूप बनेगा। यहाँ कृशानु उपमान है और जगत् उपमेय है। आचार साधारणधर्म है, जो क्विप् प्रत्यय के बल से ज्ञात होता है! यहाँ उपमान और उपमेय के शब्दतः प्रयुक्त होने से तथा इव आदि तथा आचार

एवमेषा सुब्धात्ववसेया त्रिविधा संक्षेपोपमा प्रतिपादिता-क्यच्-क्यङ-क्विप्-प्रत्ययावसेयत्वात्। क्यप् प्रत्ययसामर्थ्यावसेयात्तु द्विविधा कर्माधिकरणोपमानकत्वात्। क्यप् प्रत्ययावसेयात्वेकप्रकारा। क्विप्प्रत्ययावसेयाऽप्येकप्रकारैव भवति। तदेवमेषा चतुर्विधा सुब्धातुप्रत्ययावसेया संक्षेपोपमोक्ता।

कृत्प्रत्ययसामर्थ्यावसेया संक्षेपोपमा द्विविधा कर्मोपमानिका कर्त्तुपमानिका च। तदुक्तम्––उपमाने कर्मणि वा कर्त्तरि वा यो णमुल्कषादिगतः। तद्वाच्या सा इति। कषादिगतः कषाद्यनुप्रयोगक इत्यर्थः।

कर्मोपमानिकायास्तस्या उदाहरणम्––

तस्येतरमनोदाहमदहत्प्रज्वलन्मनः।
उमां प्रति तपः शक्त्या कृष्टवृद्धेः स्मरानलः।

को अर्थसामर्थ्यवश अवगति होने से द्विलुप्तोपमा है। अश्रूयमाण क्विप् प्रत्यय भी अर्थ का स्पष्ट अभिधान करता है––यह कथन तर्क संगत नहीं है।

इस प्रकार सुब्धात्ववसेय (सुबन्त को जहाँ धातु बनाकर प्रत्यय किया जाय–वहाँ सुब्धातु प्रत्यय का व्यवहार होता है) संक्षेपोपमा के तीन प्रकार बताये गये–क्यच्प्रत्ययावसेय, क्यङ्प्रत्ययवसेय तथा क्विप्प्रत्ययावसेय। क्यच् प्रत्यय के सामर्थ्य से प्रतीत होनेवाली उपमा दो प्रकार की होती है]––कर्मोपमान तथा अधिकरणोपमानक, पर क्यङ् प्रत्यय के द्वारा निश्चेय उपमा एक ही प्रकार की होती है। इसी प्रकार क्विप् प्रत्यय के द्वारा निश्चित की जानेवाली उपमा भी एक ही प्रकार की होती है। इस प्रकार सुब्धातुप्रत्ययावसेय संक्षेपोपमा सब चार प्रकार की कही गई।

कृत्प्रत्यय के द्वारा निश्चेय संक्षेपोपमा दो प्रकार की होती है––कर्मोपमानिका तथा कर्त्तपमानिका। इसी बात को ऊपर मूलकारिका में 'उपमाने कर्मणि वा'––इत्यादि से कहा गया है। जिसका अर्थ ऊपर किया जा चुका है। कषादिगत[1] का अभिप्राय यह है कि ––कष आदि धातुओं का यहाँ अनु प्रयोग होता है।

उस कर्मोपमानिका संक्षेपोपमा का उदाहरण––

---

१. कषादिषु यथा विध्यनुप्रयोगः ३।४।४६। जिस धातु से णमुल् का प्रयोग कहा गया हो उसी का अनुप्रयोग भी किया जाना चाहिए––जैसे, निमूलकाषं कषति। यहाँ 'कष' से णमुल् का प्रयोग है––तो बाद में 'कषति' गत उसी (कष) धातु का प्रयोग भी है।

अत्र इतरस्य प्राकृतस्य संबंधि मन उपमानं भगवन्मन उपमेयं दह्यमानत्वं साधारणो धर्मः। तच्च त्रयं शब्दस्पृष्टम्। उपमानोपमेयभावस्त्वत्र णमुल्सामर्थ्यादिवादीनामप्रयोगेऽपि गम्यते। तेनेयमेकलोपे संक्षेपोपमा कर्मोपमानिका कृत्प्रत्ययावसेया।

कर्त्तुंपमानिकायास्तु तस्या उदाहरणम्।

स दग्धविग्रहेणापि वीर्यमात्रस्थितात्मना।
स्पृष्टः कामेन सामान्यप्राणिचिन्तमचिन्तयत् ॥२९॥

विग्रहः शरीरम्। अत्र सामान्यभूतः प्राणी गुणातिशयशून्य उपमानं तच्छब्दनिर्दिष्टश्च भगवानुपमेयः चिन्तयितृत्वं साधारणो धर्मः। णमुल्सामर्थ्याच्च इवादेरप्रयोगेऽप्युपमानोपमेयभावावसायः। तेनेयमेकलोपे सति कर्त्रुंपमानिका संक्षेपोपमा कृत्प्रत्ययावसेया।

एवमेषा कृत्प्रत्ययावसेया संक्षेपोपमा द्विविधा प्रतिपादिता।

उस शिव के मन को, जिनकी बुद्धि उमा के प्रति, तपः शक्ति से आकृष्ट हो चुकी थी, प्रज्वलनशील स्मराग्नि ने अन्य प्राकृत जनों के मनोदाह की भाँति जलाया ॥२८॥

यहाँ अन्य प्राकृत जन का मन उपमान है, भगवान का मन उपमेय है और दह्यमानता साधारण धर्म है। ये तीनों अवयव शब्दतः उपात्त हैं, पर उपमानोपमेय भाव की यहाँ णमुल्प्रत्यय के सामर्थ्य से इवादि का प्रयोग न होने पर भी प्रतीत होती ही है। इसलिए एक अवयव का लोप होने पर यह संक्षेपोपमा हुई, जहाँ कर्म उपमान के रूप में प्रयुक्त है और णमुल् नामक कृत्प्रत्यय से उस उपमा का निश्चय है।

अब उस कृत्प्रत्ययावसेय संक्षेपोपमा का उदाहरण दिया जा रहा है, जहाँ कर्त्ता उपमान के रूप में प्रयुक्त है।—

भगवान उस काम के द्वारा, जिसका शरीर राख किया जा चुका है, जो केवल शक्तिमात्र ही अवशिष्ट है, स्पृष्ट होते ही इस प्रकार चिन्ताशील हुए—जैसा कि सामान्य प्राणी चिन्ता करता है।

विग्रह का अर्थ है—शरीर। यहाँ सामान्य प्राणी, जो गुणातिशय से रहित होता है, उपमान है। तत् सर्वनाम द्वारा निर्दिष्ट भगवान उपमेय है। चिन्ताशीलता साधारण धर्म है। णमुल् प्रत्यय के सामर्थ्य से इव आदि का प्रयोग न होने पर भी उपमानोपमेय भाव का निश्चय हो जाता है। इसलिए एक अवयव का लोप होने पर यहाँ संक्षेपोपमा का वह रूप प्रदर्शित किया गया है, जहाँ कर्त्ता उपमान होता है और उपमा कृत्प्रत्ययावसेय होती है।

या तु तद्धितसामर्थ्याविसेया वतिशब्दादवगम्यते सा संपूर्णत्वात्पूर्वमुक्ता अन्या त्वसंपूर्णा कल्पबादेस्तद्धितस्य प्रयोगादवसीयते। तदुक्तं--कल्पप्प्रभृतिभिरन्यैश्च तद्धितैः सा निबद्धचते कविभिः इति। प्रभृतिशब्देनात्र इवे प्रतिकृतौ (पा० ५।३।९६) इत्यादिविहिताना कनादीनां परिग्रहः।

तस्या उदाहरणम्--

> चण्डालकल्पे कंदर्पं प्लुष्ट्वा मयि तिरोहिते।
> संजातातुलनैराश्या किं सा शोकान्मृता भवेत् ॥३०॥

अत्र चण्डाल उपमानं मयीत्यस्मदर्थ उपमेयः कल्पप्प्रत्ययेन च सादृश्यमुपात्तम्। प्रकृत्यर्थसदृशे अर्थे भगवत्कात्यापनदृशा कल्पबादीनां (पा०५।३।६७ 'सूत्रस्थवार्तिकानि)--विधानात्। क्रौर्यादिस्तु धर्मः स्वशब्दानुपात्तोऽपि सामर्थ्यादत्रावसीयते। तेनेयमेकलोपे सति तद्धितावगम्या संक्षेपोपमा। एवमश्वक इत्यत्रापि द्रष्टव्यम् इवार्थोपलक्षिते सदृशे कनो विधानात्।

इस प्रकार कृत्प्रत्यय के द्वारा निश्चित की जाने वाली संक्षेपोपमा दो प्रकार की कही गई है--

पर तद्धित प्रत्यय के द्वारा निश्चित प्रतीत होनेवाली उपमा वति प्रत्यय के द्वारा अवगत होती है, वह सम्पूर्ण अवयवों से सम्पन्न होने के कारण पहले ही कही जा चुकी। इसके अन्य सम्पूर्ण अवयव वाले भेद कल्पप् आदि तद्धित प्रत्यय के प्रयोग से निश्चित होते हैं। वही कहा है--कल्पप्प्रभृति...। प्रभृति शब्द से यहाँ 'इवे प्रतिकृतौ'' इत्यादि सूत्रों से विहित कन् आदि प्रत्ययों का परिग्रह किया जाना चाहिए।

उसका उदाहरणः--

चण्डाल के समान कन्दर्प को जलाकर जब मैं तिरोहित हो गया, तब अपरिमित नैराश्य के उत्पन्न होने से क्या वह शोकवश मर गई होगी ॥३०॥

यहाँ चण्डाल उपमान है, 'मयि' का वाच्यार्थ उपमेय है, कल्पप् प्रत्यय से सादृश्य का उपादान है। कारण प्रकृति अंश के अर्थ से सदृश अर्थ में भगवान कात्यायन की वार्तिक--पद्धति से कल्पप् आदि प्रत्ययों का विधान है। परन्तु क्रौर्य आदि धर्म स्ववाचक शब्द से न कहे जाने पर भी अर्थतः प्रतीत हो ही जाते हैं। इसलिए एक अवयव का लोप होने पर यह तद्धित प्रत्यय से प्रतीत होने वाली संक्षेपोपमा हुई। इसी प्रकार 'अश्वक'--इस प्रयोग में वही बात समझनी चाहिए, क्योंकि इव के अर्थ से उपलक्षित--परिचायित--सदृश अर्थ में कन्

आयः शूलिक इत्यादौ तु त्रितयलोपन तद्धितसामर्थ्यादुपमावसायः । तथाहि, अत्रायः शूलेनान्विच्छतीति विगृह्य—अयः शूलदण्डाजिनाभ्याम् (पा० ५।२।७६) इतिठग् विधीयते । अत्र चायः शूलमुपमानम्, अर्थान्विषणोपायः कश्चिदुपमेयः, तीक्ष्णत्वादिः साधारणो धर्मः उपमानोपमेयभावश्चेति चतुष्टयमवगम्यते । तन्मध्यात्स्वशब्दस्पृष्टमुपमानमयःशूलेनेति । शिष्टशब्दस्य तु त्रितयस्यात्रार्थसामर्थ्यादवगतिः । ननु चात्रोपमानेनायः शूलेनार्थान्विषणोपायस्योपमेयस्य तद्भावाध्यवसानेनापादिताभेदस्य प्रतीयमानत्वादतिशयोक्तिरियं न तूपमा । तत्कथमेतदुपमोदाहरणम् । उच्यते—यथा शशिच्छायवदनामित्यत्र सत्यपि शशिच्छायावच्छादितरूपत्वे वदनच्छायायाः कथञ्चिद्भेदप्रतिपत्तिपुरःसरीकारेणोपमाभेदत्वमुपन्यस्तं तथात्रापि भविष्यतीत्यदोषः । तेनायः शूलिक इत्यत्र त्रितयलोपे सति तद्धितावसेया संक्षेपोपमा भवति ।

प्रत्यय का विधान किया गया है। "इवे प्रतिकृतौ"[1] तथा 'संज्ञायां च'[2] से यह प्रत्यय होता है।

"आयःशूलिक"—इस प्रयोग में तीन अवयवों का लोप होने के कारण तद्धित के सामर्थ्य से उपमा की प्रतीति होती है। कारण यों है—इस शब्द का विग्रह होगा—"अयःशूलेन अन्विच्छति—आयः शूलिकः अर्थात् जो अयः शूल—लौह शूल की भाँति क्रूर आचार से या तीक्ष्ण उपाय से व्यवहार करे वह आयःशूलिक अर्थात् क्रूर कहा जाता है। आयःशूलिक शब्द अयः शूल से 'अयः[3] (शूलदण्डाजिनाभ्याम् ठक्ठञौ ५।२।७६) सूत्र द्वारा ठक् प्रत्यय का विधान होने पर बन सकेगा। यहाँ अयःशूल—उपमान है—अर्थान्विषण का कोई उपाय उपमेय है। तीक्ष्णत्व आदि साधारण धर्म है तथा उपमानोपमेयभाव तो है ही—इस प्रकार ये चारों अवयव प्रतीत होते हैं। इन चारों अवयवों में से केवल अयःशूल का शब्दतः उपादान है। अवशिष्ट तीनों की अर्थ सामर्थ्यवश अवगति होती है।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है, कि यहाँ उपमान रूप अयःशूल से अर्थान्विषणोपाय रूप उपमेय का निगरण होने के कारण अभेदापादन किया

---

१. इवे प्रतिकृतौ—सदृश या प्रतिमा के अर्थ में उपमान वाचक से कन् प्रत्यय होता है।

२. संज्ञायाश्च—इव के अर्थ में उपमान वाचक से कन् प्रत्यय होता है, यदि समुदाय संज्ञा हो।

३. अयः शूलदण्डाजिनाभ्याम्—अयः शूल तथा दण्डाजिन से क्रमशः ठक् और ठञ् प्रत्यय होते हैं।

एवं श्वा मुमूर्षति, कूलं पिपतिषति (पा० ३।१।७ सूत्रस्थं १२ वार्त्तिकम्)—इत्यादावपि यदि मरणपतनाद्यानुगुण्यस्य उपमेयभूतस्य तद्भावाध्यवसायात् सन्वाच्यया इच्छयोपमानभूतया समापादिताभेदस्य प्रतीयमानस्य भेदावगतिनिबंधनं किञ्चिद्विद्यते तदोपमाभेदत्वं वाच्यम्। अन्यथात्वतिशयोक्तिभेदतास्यावसेया। यदाह सन्विधौ भगवान् कात्यायनः—आशङ्कायामचेतनेषूपसंख्यानम्, न वा तुल्यकारणत्वादिच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धिः—इति। उपमानाद्वा सिद्धम्—इति च (पा० ३।१।७ सूत्रस्थानि १२।१३।१४ वार्तिकानि)। अत्र हि न वा तुल्यत्वादित्यादिना तद्भावाध्यवसानं सूचितम्। उपमानाद्वा सिद्धमिति तूपमानोपमेयभावः प्रतिपादितः। इयं च धातोः सनोविधानात् तदन्तस्य च धातुत्वात्सुब्धातूपमावद्धातुधातूपमावसेया। एवं वर्तमानसामीप्यादावप्युपमाभेदत्वमतिशयोक्तिभेदत्वं वा यथाप्रतीति योज्यम्।

गया है—अयःशूल रूप उपमान से उपमेय निगीर्ण है—अतः इस रूप से उपमेय की प्रतीति होने के कारण यहाँ अतिशयोक्ति होनी चाहिए—उपमा कैसे कही गई? उत्तर यों है जैसे—शशिच्छायवदनाम्—यहाँ वदन की कांति——शशि की छाया या कांति से अवच्छादित या तिरोहित है—फिर भी दोनों में कथञ्चित्भेद की प्रतीति होती ही है। उसी भेद प्रतिप्रत्तिकी परिस्फूर्ति से इसे उपमाभेद के रूप में जैसे उपन्यस्त किया जाता है वही स्थिति 'आयःशूलिक' में भी समझनी चाहिए। अयःशूल से भी क्रूराचार अथवा अर्थान्वेषणोपाय तिरोहित होकर भी कथञ्चित् भिन्न भिन्न प्रतीत होने के कारण यहाँ त्रिलुप्ता तद्धितावसेय संक्षेपोपमा कही जा सकती है। [काव्य प्रकाश कार ने इसका खण्डन किया है और 'आयःशूलिक' को त्रिलुप्तोपमा का नहीं, प्रत्युत प्रथमातिशयोक्ति का ही उदाहरण स्वीकार किया है। विवृत्तिकार ने भी इसका विरोध किया है और मम्मट का ही समर्थन किया है। शशिच्छायवदनाम्—वाले दृष्टान्त का भी खण्डन किया है।]

इसी प्रकार 'श्वामुमूर्षति, कूलं पिपतिषति'—इन प्रयोगों में, जो कात्यायन के 'आशंकायां सन्[1] वक्तव्यं'—से सिद्ध होता है—भी उपमाभेद की स्थिति हो सकती है, यदि उपमान और उपमेय के भेद ज्ञान का कोई कारण हो। यहाँ 'इच्छा' सन् प्रत्यय का अर्थ है और उपमेय है—मरण या पतन की प्रवृत्ति। उपमेय उपमान के द्वारा यहाँ निगीर्ण है और इस प्रकार दोनों का अभेद हो गया है। इस तरह यदि उपमान और उपमेय गत भेद प्रतीति का कोई मूल हो, तो उपमा और न हो तो अतिशयोक्ति ही कहनी पड़ेगी।

---

१. आशंसा के अर्थ में भी सन् प्रत्यय का विधान किया जा सकता है।

चूर्णिकाकारस्य* त्वेवमादौ तद्भावाध्यवसानसमाश्रयणेनातिशयोक्तिभेदत्वमेवेष्टम्। यदाह--न तिङन्तेनोपमानमस्ति इति। अतएव दण्डिना--

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता॥

जैसा कि सन् प्रत्यय की विधि के विषय में भगवान कात्यायन ने कहा है--"यदि कर्त्ता अचेतन हो, तो तत्कर्तृक क्रिया से सन् प्रत्यय का विधान (जड़ में इच्छा के असंभव होने से) आशंका अर्थ में होना चाहिए। [वस्तुतः पाणिनि का एक सूत्र है--"धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा"--समानकर्तृक धातु के या क्रिया के] कर्म से इच्छा अर्थ में सन्, प्रत्यय का विकल्प से अभिधान होता है। समानकर्त्तृक का अभिप्राय यह है कि इच्छार्थक प्रत्यय जिस धातु से करना है--उसका तथा इच्छित कर्म दोनों का कर्त्ता एक है। इसी सूत्र पर कात्यायन ने तीन वार्तिक लिखे (१) अशंकायाम्...(२) न वा तुल्य..(३) तथा 'उपमानाद्वासिद्धम्। प्रत्येक का अर्थ यों है--(१) आशंकायामित्यादि--चूंकि इच्छा चेतन धर्म है, इसलिए 'सन्' प्रत्यय का कम से कम इच्छा अर्थ में प्रयोग अचेतन से नहीं किया जा सकता। 'कूलं' पिपतिषति' प्रयोग में 'कूल' (किनारा) अचेतन ही है--अतः उससे सन् प्रत्यय कैसे होगा? फलतः अचेतन का भी संग्रह करना हो, तो सूत्र में "आशंका' का भी ग्रहण किया जाना चाहिए और तब आशंका अर्थ में भी सन् प्रत्यय का विधान हो सकेगा।

(२) नवातुल्य...:--अथवा सूत्र में 'आशंकायाम्' नहीं भी ग्रहण किया जा सकता। कारण यह है जिस प्रकार इच्छा का पता प्रवृत्ति से चेतन में लगता है उसी प्रकार अचेतन में भी लगता है अतः समान कारण से उभयत्र इच्छा का अनुमान हो जाने से उभयत्र 'इच्छा' अर्थ में ही सन् प्रत्यय का विधान हो सकता है। उदाहरणार्थ, म्हार यदि घट बनाना चाहता है--तो वह चिल्ला कर अपनी इच्छा का प्रकाशन नहीं करता, प्रत्युत उसके पास घट-निर्माण की सभी सामग्री देखकर हमें उसकी घट निर्माण की इच्छा अनुमित हो जाती है। उसी प्रकार जब हम देखते हैं कि अब पत्थर गिरने ही वाला है, वह अपना आश्रय स्थान छोड़ रहा है और कुछ दरारें दिखाई पड़ रही हैं--तब हम अनुमान कर लेते हैं कि अब करार गिरने ही वाला है। इसी प्रकार जब कुत्ता मरनेवाला होता है तब वह अकेलापन अधिक पसन्द करता है और उसकी आँखें पथराने सी लगती हैं। इन स्थितियों से भावी कार्य की इच्छा अनुमित हो जाती है (३) उपमा-

इत्यादेर्गर्भीकृतावितशयोत्प्रेक्षाभेदत्वमेव महता प्रपञ्चेनाभ्यधायि। तेन कदा देवदत्तो ग्रामं गमिष्यसि, एष गच्छामीत्येवमादावपि वर्तमानसामीप्ये वर्त्तमानरूपतया भविष्यत्कालस्याध्यवसानादतिशयोक्तिभेदत्वमेव वाच्यम्। एवमन्यत्राप्यूह्यम्।

नाद्वासिद्धम्---अथवा इन प्रयोगों का अर्थ यों भी समझाया जा सकता है। कूलं-पिपतिषति' का अर्थ 'कूलंपिपतिषतीव' किया जा सकता है---कूल गिरना चाहता

---

*चूर्णिकार महाभाष्यकार ही हैं। उन्होंने कहा है---"चूर्णिकाकृद्भाष्यकारः स्यात्'। महाभाष्य यों हैं---आशंकायामचेतनेषूपसंख्यानङ् कर्त्तव्यम्। अश्मा लुलुठिषते, कूलं पिपतिषति। किं पुनः कारणं न सिद्ध्यति। एवं मन्यते चेतनावत एतद्भवतीच्छेति। कूलं चातेतनम्। अचेतन ग्रहणेन नार्थः। आशंकायामित्येव। इदमपि सिद्धंभवति श्वा मुमूर्षति-इति। नवा तुल्यकारणात्वादिच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धिः। न वा वक्तव्यम्। कि कारणम्। तुल्य कारणत्वात्। तुल्यं हिं कारणं चेतनावति देवदत्ते कूले चाचेतने। किं कारणम्। इच्छायां हि प्रवृत्तित उपलब्धिर्भवति। योऽप्यसौ चिकीर्षुर्भवति नासावाघोषयति कटं करिष्यामीति। किं तर्हि सवंद्धं रज्जुकीलपूलपाणिं दृष्ट्वा तत इच्छा गम्यते। कूलस्यापि पिपतिषतो लोष्टाः शीर्यन्ते भिदा उपजायते देशान्तरमुपसंक्रामति। श्वानः खल्वपि मुमूर्षवः एकान्तशीला शून्याक्षाश्च भवन्ति। उपमानाद्वासिद्धम्---उपमानाद्वासिद्धमेतत्लुलुठिषत् वलुठिषते। पिपतिषति इव पिपतिषति न वै नै तिङन्तेनोपमानमस्ति। एवं तर्हिं इच्छेवेच्छा सर्वस्य वा चेतनावत्वात्। अथवा सर्वं चेतनावत्।

कैयटः---आशंकायमिति। आशंका संभावना।...। लुलुठिषत। इति।....। वर्तमान सामीप्य इति लट् प्रत्ययः। श्वा मुमूर्षति-इति। शुनश्चैतन्येऽपि जीवितस्य प्रियत्वाद् व्याध्याद्यभिभवेऽपि तिर्यक्त्वान्मर्तुमिच्छा नास्ति। न चेति। कार्येणेच्छानुमीयते।...कार्यानुमेयेच्छाश्रयेण सन् प्रयुज्यत इत्यर्थः। उपमानाद्वेति यदिच्छानिमित्तं कार्यं तदचेतनेषुनास्ति। यच्चास्ति न तदिच्छाया कार्यमिति मत्वा परिहारान्तरोपन्यासः। न वै तिङन्तेनेति। तिङन्तार्थेनेत्यर्थः। क्रियायाः साध्यैकस्वभावादनिष्पन्नरूपत्वादिदं तदिति परामर्शविषय वस्तुगोचरत्वादुपमानोपमेयभावस्येदं तदिति परामर्शाभावादिति भावः। इव शब्द प्रयोगे तु अध्यारोपस्तु विद्यते। रोदितीव गायति नृत्यतीव गच्छति देवदत्त इति। परिपूर्णेन च न्यूनस्योपमानं भवति। क्रिया च सर्वा स्वाश्रये समाप्नोति न्यूनत्वासंभवस्तस्याम्। ...। सर्वस्यवेति। आत्माद्वैतदर्शनेनेति भावः। ....। वेदः सर्वभावानां चैतन्यम् प्रतिपादयतीत्यर्थः।

एवमेषा वाक्यसमाससुब्धातुकृत्तद्धितावसेया संक्षेपोमा पंचविधाप्रतिपादिता। संपूर्णा तु वाक्यसमासतद्धितभेदेन त्रिविधा पूर्वमुक्ता। आसामेव चावान्तरभेदा अन्ये निर्दिष्टाः। तथाहि। संपूर्णयोर्वाक्यतद्धितोपमयोः श्रौतत्वार्थभेदेन प्रत्येकं द्वैविध्यमुक्तम्। संक्षेपोपमायाच समासोपमाया एकद्वयत्रिलोपेन चतुर्विधत्वम्। एकलोपस्य हि तत्र द्वैविध्यमुक्तमिवादेः साधारणधर्मवाचिनश्च लोपात्। सुब्धातूपमायाश्चतुर्विधत्वं क्यच् क्यङ् क्विप् प्रत्ययावसेयत्वात्। क्यच्प्रत्ययावसेयाहि कर्माधिकरणोपमानकत्वेन द्विविधोक्ता। कृत्प्रत्ययावसेयायाश्च कर्तृकर्मोपमानकत्वेन द्विविधत्वम्।

है--अर्थात् 'लगता है मानो कूल गिरा' अथवा कूल सम्भवतः अब वैसे ही गिरने-वाला है जैसे एक चेतनप्राणी गिरना चाहता है। यहाँ उपमान के रूप में किसी चेतन को लेकर भी अपना समीहित सिद्ध किया जा सकता है।

यहाँ 'तुल्यकारणत्वादित्यादि वार्तिक से उपमान एवं उपमेय की एकरूपता सूचित की गई है। पर 'उपमानाद्वासिद्धम्'--इस वार्तिक से उपमानोपमेयभाव प्रतिपादित किया गया है।

ऐसे प्रयोगों में पहले धातु से सन् प्रत्यय का विधान किया गया है और सन्नन्त को पुनः धातु बनाकर उससे तिङ् प्रत्यय किया गया है इसलिए सुब्धातु की भाँति धातुधातूपमा कही जा सकती है।

इसी प्रकार 'आ रहा हूँ' 'यह आया'---ऐसे प्रयोगों में समीप में ही होनेवाली भावी क्रिया के लिए भविष्यकाल का प्रयोग न किया जाकर जहाँ वर्तमान काल का ही प्रयोग किया जाय---वहाँ भी सहृदयों की प्रतीति की साक्षी पर उपमा या अतिशयोक्ति का व्यवहार किया जा सकता है। चूर्णिकाकार अथवा महाभाष्यकार ने तो ऐसे स्थलों में अतिशयोक्ति का ही भेद स्वीकार किया है। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है कि तिङन्तार्थ से उपमा की ही नहीं जा सकती। कारण, उपमान सिद्ध होता है और तिङन्तार्थक्रिया साध्य होती है।[1] इसीलिए आचार्य दण्डी ने--"ऐसा लगता है मानो अंधकार सारे अंगों के ऊपर लेप चढ़ा देता है, आकाश अञ्जन की वर्षा करता है। इस समय दृष्टि वैसे ही विफल हो रही है, जैसे 'असत् पुरुष की सेवा'---इस उदाहरण को अतिशय (उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण) गर्भ उत्प्रेक्षा का ही प्रकार बताया है और सप्रपंच बताया है। [लेपन क्रिया से व्यापन उपमेय निगीर्ण है---इसलिए 'अतिशय' है और व्यापन कर्त्ता तम

---

*१. सिद्धमेव समानार्थमुपमानं विधीयते। तिङन्तार्थस्तु साध्यत्वादुपमानं न जायते।

तदेवमेषा सप्तदशविधा ग्रंथकृता उपमा प्रतिपादिता । तदाहुः—

कृत्तद्धितसमासेभ्यः सुब्धातोरथ वाक्यतः ।
पूर्णा लुप्वैकदेशा च गम्यते द्विविधोपमा ॥
एकद्वयत्रयाणाञ्च लोपात्स्याल्लोपिनी त्रिधा ।
पूर्वौ भेदौ द्विधा चात्र तृतीयस्त्वेकरूपतः ॥ इति ॥

पूर्वौ भेदौ द्विधा चात्रेति । साधारणधर्मवाचिलोपाच्चैकलोपस्य द्वैविध्यम् । द्वितयलोपोऽपि साधारणधर्मवाचीवादिवियोगात्तथा उपमेयवाचीवादिवियोगाद्द्विविधः । एषा चोपमा विचित्र भेदत्वे सत्यपि यत्रैव चेतोहारित्वमस्ति तत्रैवालंकारतां प्रतिपद्यते न सर्वत्रेत्युक्तम् ।

लेपन कर्ता के रूप में उत्प्रेक्षित है।] इसी कारण 'देवदत्त! कब गांव जाओगे?' 'अभी जा रहा हूँ'—इत्यादि प्रयोगों में भी समीपी भावी क्रिया के अर्थ में वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग है। यहाँ भविष्यकाल में जो क्रिया साध्य है उसका निगरण वर्तमानकालिक क्रिया कर गई है—इसलिए यहाँ अतिशयोक्ति का ही प्रकार समझना चाहिए। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

इस प्रकार यह संक्षेपोपमा, जो पांच प्रकार—वाक्यावसेय, समासावसेय, सुब्धात्ववसेय, कृदवसेय एवं तद्धितावसेय—की है—प्रतिपादित की गई। पूर्णोपमा तीन प्रकार की—वाक्यावसेय, समासावसेय एवं तद्धितावसेय—होती है, जिसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। इन्हीं के और भेद भी कहे गये हैं। क्योंकि, वाक्यावसेय एवं तद्धितावसेय पूर्णोपमा में प्रत्येक के श्रौत तथा आर्थ दो-दो भेद होते हैं। संक्षेपोपमा के चार भेद हैं—एक अवयव का लोप होने से दो, और दो और तीन अवयवों का लोप होने से एक एक सब मिलाकर चार भेद हुए। एक अवयव का लोप होने से दो प्रकार —क्योंकि वहाँ इव आदि और साधारण धर्म के वाचक का लोप होता है। सुब्धातूपमा के भी चार भेद हैं—क्यच् प्रत्ययावसेय (दो) क्यङ् प्रत्ययावसेय (१) तथा क्विप्प्रत्ययावसेय। क्यच् प्रत्ययावसेया के दो भेद हैं—कर्मोपमानिका तथा कर्त्रुपमानिका।

तो इस प्रकार ग्रंथकार ने सब १७ प्रकार की उपमा बताई। यही बात अधोलिखित कारिका से संक्षेप में कही गई है—

उपमा पहले पहल दो प्रकार की मानी गई है—पूर्णा एवं संक्षेपोपमा। यथासंभव इनके भी वाक्य, समास, तद्धित, कृत् तथासु ब्धातुगत अनेक भेद होते हैं। तत्रापि उपर्युक्त पांचों रूपों में कहीं यह पूर्णा और कहीं लुप्तैकभागा रूप से दो

प्रतिवस्तूपमा

उपमान संनिधाने च साम्यवाच्युच्यते बुधैर्यत्र ।
उपमेयस्य च कविभिः सा प्रतिवस्तूपमा गदिता ॥

यत्रोपमानोपमेययोः संनिधाने साम्यवाचिनः पदस्यासकृदुपादानं क्रियते सा प्रतिवस्तूपमा। ननु यदि साम्यवाचिनः पदस्य तत्रासकृदुपादानं क्रियते ततोऽनेकवाक्यत्वमापादयति । न चानेकस्मिन् वाक्ये इवादीनि प्रयुज्यन्ते एक वाक्यनिष्ठतया तेषामभिधासामर्थ्यावसितत्वात् । अतश्चेवादीनामप्रयोगे कथं तत्रोपमानोपमेयभावावसाय इत्याशङ्क्याह—

प्राकरणिकेतरत्वस्थित्यैकश्चोपमेयतां लभते ।
उपमानत्वं चापर इत्युपमावाचि शून्यत्वम् ॥२३॥

नानावाक्यत्वादिवादीनामप्रयोगेऽपि प्राकरणिकत्वाप्राकरणिकत्वपर्यालोचनया अर्थसामर्थ्यादत्रोपमानोपमेयभावोऽवसीयत इत्यर्थः ।

भिन्न रूप की भी संभव है। यह लुप्तैकदेशा उपमा तीन प्रकार की इसलिए संभव है कि कहीं एक लुप्ता कहीं द्विलुप्ता और कहीं तीनलुप्ता भी हो जाती है। पहले के दो भेदों—एक लुप्ता तथा द्विलुप्ता—में से प्रत्येक के दो दो- भेद होते हैं—और तीसरे का एक रूप ।

यहाँ पहले के दो भेदों से प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं—एक लुप्ता के दो भेद हैं—धर्म लुप्ता एवं वाचक लुप्ता। द्विलुप्ता भी धर्मवाचक लुप्ता तथा उपमेयवाचक लुप्ता—के द्वारा दो प्रकार की हुई। इस प्रकार इस उपमा के जाने कितने विचित्र रूप हुए—फिर भी अलंकारता वहीं संभव है—जहाँ मनोहारिता होगी, सर्वत्र नहीं।

प्रतिस्तूपमा [का निरूपण यहाँ से आरम्भ किया जा रहा है]

जहाँ उपमान तथा उपमेय—दोनों के सन्निधान में साम्यवाची शब्द का प्रयोग विद्वानों द्वारा किया जाता है—वहाँ कविगण प्रतिवस्तूपमा नामका अलंकार बताते हैं ॥२२॥

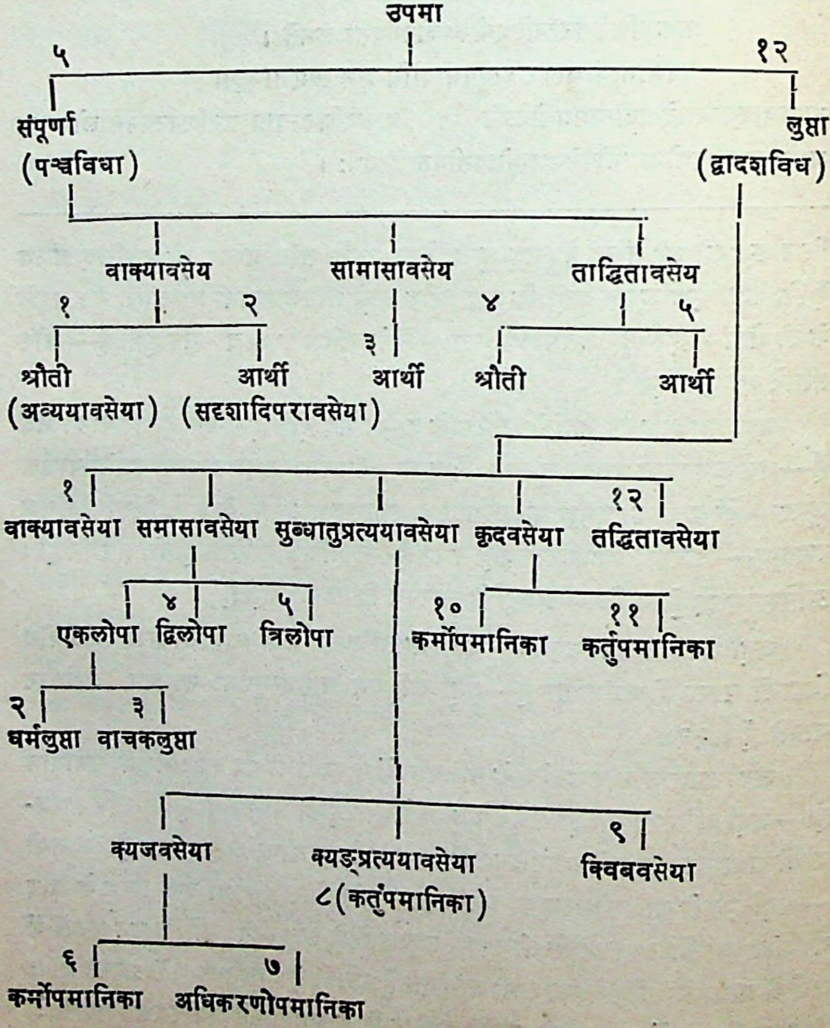
जहाँ उपमान और उपमेय के संनिधान में साम्यवाची पद का अनेकधा उपादान हो—वहाँ प्रतिवस्तूपमा होती है। यहाँ आशंका यह की जा सकती है कि यदि साम्यवाची शब्द का वहाँ अनेकवार ग्रहण किया गया है तब तो अनेक वाक्यता हो जायगी—वहाँ एक से अधिक वाक्य का प्रयोग होगा और फिर 'इव' या उसी तरह के और भी शब्द इन भिन्न वाक्यों के बीच नहीं प्रयुक्त किये जा सकते, क्योंकि उन शब्दों में अर्थ के प्रत्यायन की सामर्थ्य तभी आ पाती है जब वे एक ही वाक्य में प्रयुक्त हों । फिर इस स्थिति में सादृश्य की प्रतीति 'इव' आदि के अप्रयोग से क्योंकर हो सकेगी ?

तदाहुः

इवादेरप्रतीतापि शब्द संस्कारतः क्वचित् ।
उपमा लक्ष्यतेऽन्यत्र केवलार्थनिबन्धना ।।इति।।

इह प्रकारत्रयेण उपमायाः प्रतिपत्तिः । क्वचिदिवादिशब्दसामर्थ्यादुपमा वाच्यभूता प्रतीयते यथा चंद्र इव मुखमस्या इत्यादौ । क्वचित्तु तत्तद् विशिष्ट

समाधान यों है—यद्यपि यहाँ इवादि शब्द का प्रयोग नहीं है, क्योंकि यहाँ वाक्य-भिन्न-भिन्न हैं। उपमान और उपमेय का (सादृश्य) संबंध अर्थप्रतीति की सामर्थ्य



संस्कारसहायाच्छब्दात् स्वार्थाभिधानमुखेन लक्ष्यमाणायास्तस्याः प्रतिपत्तिर्यथा शस्त्री श्यामेति (पा० २।१।५५ सूत्रस्थभाष्यम्)। अत्र हि समासनिबंधनैक पद्यादि संस्कार सहिताभ्यां शस्त्रीश्यामा शब्दाभ्यां स्वार्थाभिधान व्यवधानेन लक्ष्यमाणोपमा गम्यते। क्वचित्तूपमानोपमेयनिबंधन। शब्द संस्काराभावेऽपि केवलदिवार्थसामर्थ्यात् तस्याः प्रतिपत्तिर्यथा रूपकदीपकप्रतिवस्तूपमादिषु-इत्यर्थः। अतश्चास्यां प्रतिवस्तूपमायां केवलेनैवार्थ सामर्थ्येनोपमानोपमेयत्वमवगम्यते-इत्यदोषः।

तस्या उदाहरणम्

> विरलास्तादृशो लोके शीलसौंदर्यसंपदः।
> निशाः कियत्यो वर्षेऽपि यास्विदुः पूर्णमण्डलः ॥३१॥

विरलाः स्वल्पाः। तादृशः पार्वतीवर्तिन्यो याः शीलसौंदर्यं संपदस्तद् सदृश्यः। शीलं सुस्वभावता। सौंदर्यम् लावण्यम्।

से तब निश्चित होता है जब प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक की स्थिति मस्तिष्क में स्पष्ट हो जाती है ॥२३॥ नाना वाक्यवश इत्यादि का प्रयोग न होने पर भी प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक की पर्यालोचना से अर्थसामर्थ्यवश यहाँ उपमानोपमेभाव निश्चित होता है।

इसी बात को अन्य लोगों ने भी कहा है––उपमा कहीं तो 'इव' के गर्भ से प्रतीत होती है––अर्थात् इवादि शब्दों से साक्षात् प्रतीत होती है, कहीं शब्द संस्कारवश लक्षित होती है और कहीं केवल (शब्दसमर्पित अर्थ की सामर्थ्य से व्यक्त होती है।)

यहाँ तीन तरह से उपमा की प्रतीति होती है––कहीं तो इव आदि शब्दों की समर्थता से उपमा साक्षात् अभिधेय होती है, जैसे 'चन्द्र इव मुखमस्याः" [चन्द्र की तरह इसका मुख है] इत्यादि प्रयोगों में स्पष्ट जान पड़ता है। कहीं-कहीं तो तत्तत् प्रकार के विशिष्ट संस्कार की सहायता से शब्द पहले अपना वाच्यार्थ प्रदान करते हैं और फिर वाच्यार्थ प्रतीति द्वारा लक्ष्यमाण सादृश्य या उपमा की प्रतीति होती है––जैसे, 'शस्त्री श्यामा' प्रयोग। इस प्रयोग में समास होने के कारण यद्यपि मूल शब्द में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया फिर भी अर्थसामर्थ्यवश ही उपमा की प्रतीति होती है। रूपक, दीपक एवं प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों में भी इसी प्रकार शब्द परिवर्तन के अभाव में अर्थसामर्थ्यवश ही उपमा की प्रतीति हुआ करती है।

इसलिए इस प्रतिवस्तूपमा में केवल अर्थ की महिमा से उपमानोपमेयभाव की अवगति हो जाती है––अतः कोई दोष नहीं है।

अत्र संवत्सरमध्यवर्तिन्योऽखण्डशशिबिम्बा रात्रयो द्वादश उपमानं शील-सौंदर्ययोः संभाराः सकललोकोत्कृष्टाः कतिपयजनजुषः उपमेयाः साधारणश्चधर्मो विरलत्वम् । तच्चोपमान सन्निधाने कियत्य इत्युपात्ताम् उपमेयसन्निधाने तु विरला इति । इवाद्यनुपादानेऽपि च प्राकारणिकत्वाप्राकरणिकत्वपर्यालोचनयात्रोपमानो-पमेयभावावसायः । तेनेयं वस्तुनि वस्तुनि साधारणोपनिवंधात् प्रतिवस्तूपमा ।

इति महाश्री प्रतीहारेंदुराजविरचितायामुद्भटालकारसारसंग्रह
लघुवृत्तौ प्रथमो वर्गः ।

उसका उदाहरण—

इस संसार में उस तरह की शील एवं सौन्दर्य रूप समृद्धि विरल ही हैं—वर्ष में कितनी रात्रियाँ ऐसी होती हैं जिनमें इन्दु अपने पूर्णमण्डल से उदित होता है ।।३१।।

विरल अर्थात् थोड़े ! उस तरह की, पार्वती में रहनेवाली जो शील-सौदर्य की संपत्ति है—तत्सदृश । शील अर्थात् सुस्वभावता । सौंदर्य का अर्थ है लावण्य ।

यहाँ वर्ष भर में होनेवाली बारह रात्रियाँ, जिनमें पूर्णमण्डल इन्दुबिम्ब उदित होता है, उपमान है। शील एवं सौन्दर्य के संभार, सकल लोक में उत्कृष्ट कतिपय प्राणी ही उपमेय हैं—साधारण धर्म है—विरलता। वह धर्म उपमान के सन्निधान में 'किमन्यः' ?—कितने इस रूप में उपात्त हैं उपमेय के पास 'विरला इस रूप में [अर्थतः 'किमन्यः' तथा 'विरला' एक ही हैं] । इव आदि का उपादान न होने पर भी प्राकरणिकता तथा अप्राकरणिकता की पर्यालोचना करने पर यहाँ उपमानोपमेयभाव का निश्चय होता है। इसी कारण इसे वस्तु वस्तु में (के समीप) साधारण धर्म का लगाव होने से प्रतिवस्तूपमा कहते हैं।

श्री प्रतीहारेंदुराज विरचित उद्भटालंकार सारसंग्रह तथा उसकी लघुवृत्ति नाम की टीका-दोनों का अनुवाद समाप्त हुआ।

प्रथम वर्ग समाप्त हुआ।

द्वितीय-वर्गः

आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना।
समासातिशयोक्ती चेत्यलंकारानपरे विदुः ॥१॥ (२४)

समासातिशयोक्ती चेत्यत्र समासातिशयशब्दयोरुक्ति शब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते।

आक्षेप :

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति कवयः सदा ॥२॥ (२५)

इह काचिद्वक्रभणितिस्तथाविधा संभवति यस्यां विधित्सितोऽर्थो निषेधव्याजेन संस्क्रियते न तु निषिध्यते। तत्र विधित्सितस्यार्थस्य यः प्रतिषेधः क्रियते स प्रतिषेध इव भवति न तु प्रतिषेध एव अवान्तरवाक्यार्थत्वेन तत्र वाक्यस्यापर्यवसानात्। अवान्तरवाक्यार्थता च तत्र निषेधस्य विधित्सितार्थविरोधाद् भवति। तत्र हि विधित्सितोऽर्थः पूर्वोपक्रान्तत्वेन स्थेम्नावतिष्ठमानः स्वविरुद्धत्वेन निषेधं निषेधता-

---

दूसरे लोग जिन अलंकारों को जानते हैं, वे हैं—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति एवं अतिशयोक्ति।

'समासातिशयोक्ति की'—में समास एवं अतिशय दोनों शब्दों का 'उक्ति' से संबंध जोड़ना चाहिए। [समास एवं अतिशय में द्वंद्व समास है और द्वन्द्व समास के अंत में प्रयुक्त शब्द का सम्बन्ध द्वंद्वसमासान्तवर्ती प्रत्येक पद से होता है। नियम ही है—द्वंद्वादौ द्वंद्वमध्ये द्वंद्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते।]

आक्षेप

[अलंकार का स्वरूप]—

कुछ विशेष कहने की इच्छा से अभिलषित वक्तव्य का भी जहाँ प्रतिषेध सा कहा जाय—वहाँ सज्जन कवियों ने आक्षेप अलंकार कहा है ॥१॥

यहाँ वक्रकथन के विशिष्ट का वैसा होना संभव है, जिसमें प्रतिपादनार्थ अभीप्सित वक्तव्य निषेध के बहाने और चमक या निखर उठता है, न कि उसका निषेध होता है। ऐसे स्थलों में अभीप्सित वक्तव्य का जो प्रतिषेध किया जाता है—वह

त्पर्यात्प्रच्याव्य स्वगतविशेषाभिधानायावान्तरवाक्यार्थीकरोति । अतोऽनन्तरोक्तेन प्रकारेणेष्टस्यार्थस्य विशेषमभिधातुं यत्र निषेध इव न तु निषेध एव असाविष्टार्थ-निराकरणस्य लेशेन संभवदाक्षेपसंज्ञकोऽलंकारः सत्कविभिरभिधीयते । सन्तः कवय इति संबंधः । तस्य भेदद्वितयोपदर्शनायाह ।

वक्ष्यमाणोक्तविषयः स च द्विविध इष्यते ।

वक्ष्यमाणमुक्तं चेष्टमाश्रित्य निषेधाभिधानादाक्षेपो द्विविध इत्यर्थः । ननु प्रतिषेध इवेष्टस्य—इत्याक्षेप लक्षणमुक्तम् । इष्टत्वं चेच्छाकर्मता । यस्य च वस्तुन इच्छा-कर्मता तस्य नावश्यमुक्तिक्रियां प्रति कर्मत्वं भवति । इष्यमाणं हि कदाचिदुच्यते कदाचिन्न । अतश्चेष्टस्योक्तिकर्मतामाश्रित्य यदेतदाक्षेपस्य वक्ष्यमाणोक्तविषयतया द्वैविध्यमुक्तं तन्न संगच्छत इत्याशङ्क्याह ।

प्रतिषेध की तरह जान पड़ता है—कुछ वस्तुतः प्रतिषेध हो, सो नहीं। कारण, अवान्तर वाक्यार्थ की सहायता से प्रस्तुत वाक्य सुसंगत होता है। वाक्य का अवान्तर अर्थ, निषेध का अभीप्सित वक्तव्य अर्थ से विरोध होने के कारण होता है। कारण यह है कि ऐसे स्थलों में जो अर्थ पहले से चला आ रहा है, फलतः स्थिर रूप में स्थित है, उसका प्रतिषेध एक विरोधी बात है—और प्रतिषेध कहा गया है। इसलिए इस विरोधाभास के निवारण का एक ही रास्ता है और वह यह है कि उस प्रतिषेध का तात्पर्य प्रतिषेध में न मानकर—स्वार्थ (निषेध) से उसे पृथक् कर—लिया जाय। इसी कारण उपर्युक्त निर्दिष्ट रीति से अभीप्सित—अर्थ गत कुछ अति-शयता का आधान कराने के लिए जहाँ निषेध सा किया जाय, न कि निषेध ही, वहाँ इष्ट अर्थ के निराकरण की लेशमात्र संभावना होने से आक्षेप संज्ञक अलंकार सत्कवियों के द्वारा कहा गया है।

इस आक्षेप के दो भेदों का प्रदर्शन करने के लिए (आचार्य) कह रहे हैं—आक्षेप अलंकार दो प्रकार का होता है—वक्ष्यमाणविषय एवं उक्त विषय। वक्ष्यमाण (आगे कहे जानेवाले) तथा उक्त (पीछे कहे गये) इष्ट विषय का प्रति-षेध करने के कारण-आक्षेप दो प्रकार का होता है। यहाँ आशंका यह की जा सकती है कि प्रतिषेध इवेष्टस्य . . ." द्वारा जो आक्षेप की परिभाषा की गई है—उसमें 'इष्टत्व' का अर्थ है—इच्छा कर्मता (बात यह है कि इष्टत्व में तीन खंड हैं—इष (इच्छार्थक) त+त्व, जिनका अर्थ क्रमशः "इच्छा+कर्म+भाव" है (इच्छा कर्मता) जिस वस्तु में इच्छा की कर्मता है, उसमें वचन-क्रिया की कर्मता तो निश्चय ही नहीं होगी —अर्थात् जो इच्छा का कर्म होगा, वह (वचन) क्रिया का कर्म नहीं ही हो सकता है। कारण यह है कि इष्यमाण (इच्छा का कर्म) वस्तु का

मू०—— निषेधेनेव तद्द्वैधो विधेयस्य च कीर्तितः ॥३॥ (२६)

विधेयस्य विधातुं ज्ञापयितुमभिमतस्य यो निषेध इव तेनायं वक्ष्यमाणोक्त-विषय आक्षेपो निबध्यते। एतदुक्तं भवति। विधानकर्मताद्वारेणैवात्र इष्टत्वम-वसीयते, निबन्धनान्तराभावात्। विधानकर्मता च विधानात्मिकाया उक्तेः कर्मता। सा च द्विविधा आर्थी शाब्दी च। यत्र स्वशब्दव्यापारमन्तरेणाऽपि शब्दान्तर-व्यापारसहायनिषेधमुखेनैव विवित्सितोऽर्थोऽवगम्यते तत्रार्थी। तत्र च वक्ष्य-माणविषय आक्षेपः। यत्र तु विधिमुखेनैव वक्तुमिष्टस्यार्थस्योपादानं क्रियते तत्र शाब्दी। तत्र चोक्तविषयता आक्षेपस्य। एवं चानन्तरोदितया नीत्या शाब्देनार्थेन च विधिना यदवसितमिष्टं तस्योक्तिक्रियाकर्मत्वसंभवादुक्तिक्रियायाः कर्मभूतो योऽर्थस्तदाश्रयं वक्ष्यमाणविषयत्वमुक्तविषयत्वं चाक्षेपस्य न विरुध्यते।

कभी कथन होता है और कभी नहीं होता। इसलिए 'इष्ट' को उक्ति कर्म मानकर—इच्छा कर्म को वचन क्रिया का कर्म मानकर—जो कभी हो भी सकता है और कभी नहीं भी हो सकता—जो आक्षेप के दो भेद —वक्ष्यमाण विषय तथा उक्त विषय—किये जाते हैं, वह संगत नहीं है। इसी आशंका को मन में रखकर आचार्य उद्‌भट का कहना है—

वस्तुतः यह आक्षेप जो दो प्रकार का कहा जाता है वह विधेय के आपाततः प्रतीत निषेध के कारण ॥३॥ (२६)

विधेय का अर्थात् विधानार्थ—ज्ञापनार्थ—अभीप्सित वस्तु का जो अपाततः निषेध किया जाता है—इसीलिए यह आक्षेप वक्ष्यमाण विषय तथा उक्त विषय—दो प्रकार का होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि पहले जो 'इष्ट' के निषेध की बात कही गई थी, उसकी जगह यहाँ निषेधक के निषेध की बात कही जा रही है—समन्वयार्थ यही कहा जाना ठीक है कि इष्ट या इच्छा कर्म का पता विधेय (विधान कर्म) के द्वारा ही लगता है—अतः इष्ट के आपाततः प्रतिषेध का तात्पर्यार्थ विधेय का ही आपततः प्रतिषेध हुआ—क्योंकि इसके अतिरिक्त दूसरा रास्ता नहीं है। विधानकर्मता विधानात्मक उक्ति (वचन) क्रिया की ही कर्मता तो है—और क्या है? वह विधान कर्मता या विधेयता दो प्रकार की होती है—शाब्दी तथा आर्थी। जहाँ वाचक शब्द के व्यापार की अपेक्षा न रखता हुआ शब्दान्तर के व्यापार की अपेक्षा से निषेध द्वारा अभीष्ट विधेय अर्थ ज्ञात होता हो—वहाँ आर्थी विधेयता होती है वहाँ 'वक्ष्यमाणविषय' आक्षेप होता है। पर जहाँ स्पष्टतः (निषेध द्वारा नहीं) अभीष्ट अर्थ का कथन होता है—वहाँ विधेयता शाब्दी होती है, फलतः वहाँ 'उक्त विषय' नाम का आक्षेप अलंकार होता है। इस तरह उपर्युक्त सरणी का

तत्र वक्ष्यमाणविषयस्याक्षेपस्योदाहरणम्—

मू०— अहो स्मरस्य माहात्म्यं यद्रुद्रेऽपि दशेदृशी।
इयदास्तां समुद्राम्भः कुम्भैर्मानि तु के वयम् ॥१॥

अहो इति विस्मये। अत्र मन्मथमाहात्म्यं तदवस्थाविशेषसंस्पर्शेन प्रतिपादयितुमिष्टम्। तच्च तस्य तथाप्रतिपादनमियदास्तामित्यादिना निषिद्धम्। निषेधश्चात्राभिधेयत्वविरोधात्। अभिधेयत्वेन च विरोधं वक्ति आनन्त्येन तस्य तथाविधस्य वक्तुमशक्यत्वात्। रुद्रेऽपि नाम ईदृशी दशेति हि सामान्यरूपत्वेन मन्मथ

अनुगमन करने से शब्दतः एवं अर्थतः प्रतीत इष्टार्थ हो सका। उसकी उक्ति कर्मता भी संभव हो सकती है—इस प्रकार उक्ति क्रिया का कर्मभूत जो अर्थ होता है—उस को लेकर आक्षेप के दो भेद;—वक्ष्यमाणविषय और उक्त विषय—किया जाना किसी तरह विरुद्ध नहीं हो पाते।

उन दोनों में भी आक्षेप का वक्ष्यमाण विषय नामक प्रभेद का उदाहरण अधोलिखित है—

जब स्मर की महिमा पर ध्यान जाता है तो आश्चर्य होता है कि उसने रुद्र की भी यह दशा कर दी? रहने दो इस बात को, छोड़े यहीं। भला समुद्र के जल को घड़े से माँपने में कहीं हम सब समर्थ हो सकते हैं ॥१॥१॥

अहो—विस्मयार्थक अव्यय है। यहाँ मन्मथ की महिमा—जिसने रुद्र की उस अवस्था विशेष का संस्पर्श किया है—प्रतिपाद्य है। पर उस प्रकार का प्रतिपादन 'इयदास्ताम्' द्वारा निषिद्ध है। फिर भी जब ऊपर वह अभिधेय रूप से प्रक्रान्त है—तो तद्विरोधी निषेध का दूसरा अभिप्राय ही लेना होगा। [स्पष्ट है कि कोई कुछ बात कहना ही चाहता हो और बाद में उसका तुरन्त प्रतिषेध करे—तो इस प्रतिषेध का अभिप्राय यही लगाना होगा कि उसका वह वर्णन नहीं करना चाहता—यह बात नहीं, बल्कि निषेध द्वारा वह यह कहना चाहता है—कि उसका वर्णन वर्णयिता की शक्ति के बाहर है] अभिधेय अनन्त है—इसलिए स्मर का तथाविध सामर्थ्य मेरी वाणी की शक्ति के बाहर की बात है। रुद्र की भी —[जो संसार को रुलाता है] यह दशा—इस वर्णन से ही सामान्यतः मन्मथ की महिमा प्रतिपादित की गई है, न कि विशेष रूप से। इसलिए वक्तव्य स्मर माहात्म्य की विशेष अवस्थाओं का आनन्त्य होने से उसका आपाततः निषेध किया गया है, न कि वस्तुतः और पार्यन्तिक। कारण, निषेध का वास्तविक अर्थ लेने से प्रक्रान्त अर्थ का विरोध होगा, अतः प्रतिषेध का अवान्तर वाक्यार्थ ही लेना पड़ेगा। कारण यह है कि यहाँ जो समुद्र के जल का घड़ा द्वारा नापने की असमर्थ कर्ता के द्वारा अशक्यता बताई गई

माहात्म्यं प्रतिपादितम्, न तु विशेषरूपतया। अतो वक्तुमिष्टानां स्मरमाहात्म्यावस्थाविशेषाणामयमानन्त्येनाभिधाननिषेध इव न तु निषेध एव, विवक्षितार्थविरोधेनावान्तरवाक्यार्थत्वात्। तथा हि अत्र समुद्राम्भसः कुम्भैर्मातुमशक्यत्वं यदस्मदर्थकर्तृकमभिहितं, तत्सादृश्येनानन्त्यविशिष्टत्वेनोत्कर्षयितुमिष्टानां मन्मथमाहात्म्यावस्थाविशेषाणां पूर्वं प्रतिपिपादयिषितत्वेन लब्धप्रतिष्ठानां वाक्यार्थत्वम्। अतश्चतदभिधाननिषेधस्य तद्विरोधादत्रावान्तरवाक्यार्थता। न चावान्तरवाक्यार्थो वाक्यविश्रान्तिस्थानतया वक्तुं शक्यः। न खलु रक्तः पटो भवति-इत्यत्र रक्तत्वावच्छिन्नपटभवनपरत्वाद्वाक्यस्य पटभवन-पर्यवसानमात्रत्वं सुभणम्। अतोऽत्रापि निषेधस्यावान्तरवाक्यार्थत्वेन वाक्य-विश्रान्तिस्थानत्वाभावान् निषेध

है—उसी की तरह प्रकृत में भी मन्मथ महिमा की अनन्तानन्त उत्कृष्ट अवस्थाओं के ही प्रतिपाद्य होने में कारण स्थिर एवं पर्यवसित वाक्यार्थ हैं। इसलिए प्रतिपाद्य के अभिधान का निषेध उपर्युक्त प्रक्रान्तवाक्यार्थ का विरोधी ही हुआ और इस विरोध को हटाने का एक ही रास्ता है—वह यह कि निषेध का तात्पर्य ही दूसरा मान लिया जाय। यह अवान्तर वाक्यार्थ भी वाक्य का परम प्रतिपाद्य नहीं होना चाहिए। "लाल कपड़ा बन रहा है"—इस वाक्य का अर्थ 'रक्तपट बन रहा है'—इतना होगा, न कि 'पट बन रहा है'—इतना ही। इसीलिए यहाँ भी निषेध चूंकि अन्य अभिप्राय से कहा गया है, फलतः वाक्य की विश्रान्ति उसके वाच्यार्थ को लेकर नहीं हो सकती, परिणामतः निषेध से निषेध की तरह (आपाततः ही निषेध) होना चाहिए, न कि वास्तविक निषेध—समझना चाहिए। इस प्रकार जब इस निषेध का अभिप्राय कुछ इस तरह का निकाल लिया जाता है, जो प्रधान वाक्यार्थ का उपोद्बलक हो—तब वह (प्रतिषेध) शब्दतः श्रूयमाण होकर भले ही मन्मथ की अवस्थाओं की विशेषताओं का निषेध करे, पर अर्थतः जो उस निषेध का अभिप्राय लिया जाता है—वह निषेध नहीं करता इसीलिए और इसी प्रकार यहाँ पर भी घड़ों द्वारा समुद्र के जल के मान की जो अशक्यता प्रदर्शित की गई है—उसी समानता के आधार पर इस वाक्य का पर्यवसान इस अर्थ में है कि मन्मथ की अवस्थाओं की अनन्तता का बुद्धि द्वारा मान शक्य नहीं है। इस कारण यह अभीप्सित अर्थ प्रतिषेध के ब्याज से आनन्त्य-स्वरूप विशेष-पर्यवसायी बताता है। इसी कारण इस अलंकार को आक्षेप (प्रतिषेध) कहते हैं। यहाँ "अहो! स्मर की भी क्या महिमा है कि जिसके कारण रुद्र की भी यह दशा हुई"—इन शब्दों की सहायता से 'इतना ही रहने दो, विशेष कौन कहे'—इस उक्ति द्वारा प्रतीत 'प्रतिषेध' से ही वक्ता यह सूचित करना चाहता है कि शब्दोपात्त

रूपत्वमिव न तु निषेधरूपता। स च निषेधोऽत्रान्तरवाक्यार्थत्वात् प्रधानवाक्यार्थानु-गुण्येन प्रवर्तमानः स्वकण्ठेनाभिधानं मन्मथमाहात्म्यावस्थाविशेषाणां निषेधति न पुनरर्थसामर्थ्यावसेयमपि। अतश्च समुद्राम्भसः कुम्भैर्मातुमशक्यत्वमस्मदर्थकर्तृकं स्वकण्ठेनाभिहितं यत्तत्साद्दश्येनावसिते संविज्ञानपदशून्ये स्मरमाहात्म्यावस्था विशेषणामानन्त्यलक्षणे विशेषे वाक्यस्य पर्यवसानम् तेनायमिष्टमर्थं प्रतिषेधव्याजेन विशेषेऽवस्थापयति, तस्मादाक्षेपः। अत्र च अहो स्मरस्य माहात्म्यं यद्रुद्रेऽपि दशेदृशी—इत्येतच्छब्दव्यापारसहायेन इयदास्ताम्—इति निषेधेनैव स्वकण्ठे-नोपात्तानामपि मन्मथमाहात्म्यावस्थाविशेषाणां वक्ष्यमाणतया सूचनम्। तेषां च तथासूचितानां निषेधव्याजेन संविज्ञानपदशून्यानन्त्यभेदप्रतिपादनम्। अतो वक्ष्यमाणविषयता आक्षेपस्य।

उक्त विषयस्य तु तस्योदाहरणम्—

मन्मथ की महिमा अनन्त है। इस प्रकार से सूचित माहात्म्य के वर्णन का निषेध यह इंगित करता है कि वह इतना अन्तहीन है—उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि यहाँ आक्षेप का वह प्रभेद है, जहाँ विषय वक्ष्यमाण रहता है। आक्षेप के दूसरे रूप उक्त-विषय का उदाहरण—

आश्चर्य है कि इस प्रकार सोचते हुए उसकी चिन्ता की कोई इयत्ता न दीख पड़ी-ठीक ही है, भला कहीं काम संबंधी विकल्पों और काल का कभी अन्त देखा जा सका है।

श्लोक के उत्तरार्द्ध में चित्रता—आश्चर्यमयता-की उक्ति स्पष्टतः तो नहीं पर 'क्व वा'—इस कथन से उसका आक्षेप अच्छी तरह से किया जा सकता है। पहले उदाहरण में 'आक्षेप' का मूल कारण 'विरोध' था और यहाँ प्रसिद्धि है। आक्षेप—दोनों प्रकारों से होता है—विरोधवश और प्रसिद्धिवश भी। कहा भी है—

[रुद्रट ने इसी अभिप्राय से कहा है—] जहाँ पर वक्ता, कोई वस्तु लोक में प्रसिद्ध है (इसलिये प्रसिद्धिवश श्रोता स्वयं समझ लेगा) अथवा अभीप्सित वस्तु लोक में विरुद्ध है—इसलिए वक्तव्य वस्तु के विषय में जो कुछ कहना है—उसका आक्षेप (प्रतिषेध) करते हुए अभीप्सित वक्तव्य की सिद्धि के लिये प्रसिद्ध या विरुद्ध किसी भिन्न उपमान का प्रयोग करता हो—वहाँ आक्षेप होता है।

प्रस्तुत उदाहरण में प्रसिद्धि का समर्थन करने के लिए काल को उपमान रूप में प्रयुक्त किया गया है। जिस प्रकार समय का अन्त नहीं द्रष्टव्य है, उसी प्रकार कामविकल्पों का भी अन्त अद्रष्टव्य है। इसलिए इस विषय में आश्चर्य नहीं ही

इति चिन्तयतस्तस्य चित्रं चिन्तावधिर्न यत् ।
क्व वा कामविकल्पानामन्तः कालस्य चेक्षितः ।।२।।

अत्र चित्रत्वस्योक्तस्योक्तिः क्व वेति प्रसिद्धत्वादाक्षिप्यते । पूर्वत्र खलु विरुद्धत्वमाक्षेपनिबन्धनमुक्तम् इह तु प्रसिद्धत्वम् । द्वाभ्यामेव च प्रकाराभ्यामाक्षेपो भवति विरुद्धत्वेन प्रसिद्धत्वेन च । उक्तंच--

वस्तु प्रसिद्धमिति यद्विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य
अन्यत्तथात्वसिद्ध्यै यत्र ब्रूयात् स आक्षेपः ।।इति (रुद्रट का० ८-८९)

प्रसिद्धत्वं चात्र समर्थयितुं कालसादृश्यमुक्तम् । यथा कालस्यान्तो नेक्ष्यते तद्वत्कामविकल्पानाम् । अतो नैवात्र चित्रत्वमन्यत्राप्यस्य रूपस्य परिदृष्टत्वात् इति । कालतुल्यतया चाऽत्र कामविकल्पानामानन्त्यात्मको विशेषः सविज्ञानपदशून्योऽभिधित्सितः । तस्य च चित्रतया सामान्येन पूर्वमुपक्रान्तस्याधुना निषेध-वशेन संविज्ञानपदशून्येन विवक्षितेन रूपेण वाक्यार्थीभूतत्वान्निषेधस्य पूर्ववदवान्तरवाक्यार्थता तेन क्वेत्ययं निषेध इव न तु निषेध एव । तेनात्रोक्तविषयताक्षेपस्य । तदाहुः--

---

करना चाहिए, क्योंकि अन्यत्र भी इस तरह की चीज देखी गई है। काल से समानता करने के कारण काम संबंधी विकल्पों की आनन्त्यात्मक विशेषता अज्ञेय है---यह कहा जाना वांछित है। वह आश्चर्यकारी रूप में सामान्यतः वक्तव्य है, पर किया जा रहा है---उसका विरोध । विवक्षित है उसकी अज्ञेयरूपता---यही वस्तुतः वाक्यार्थ है---इसलिए वक्तव्य का निषेध---मानना होगा कि आपाततः है---उसका तात्पर्यार्थ कुछ और ही है। इसलिए 'क्ववेत्ययम्'---द्वारा प्रतीत निषेध आपाततः ही जान पड़ता है, न कि वास्तविक। इसलिए यहाँ आक्षेप का विषय उक्त होने से---'उक्त विषय आक्षेप' हुआ। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए अन्यत्र भी कहा गया है---शब्दतः उक्त या अर्थतः प्रतीत वक्तव्य अर्थ का यदि निषेध किया जाय, तो वह प्रक्रान्त का विरोधी होगा, फलतः इस विरोध की हानि के लिए निषेध का ऐसा अभिप्राय लिया जायगा, जो वक्तव्य का विरोधी न होकर उसका प्रतिपादक ही होगा---और ऐसा जहाँ होगा---वहाँ आक्षेप होगा। निष्कर्ष यह कि जो कुछ कहना अभीष्ट है---वह प्रक्रान्त है---और उसी का निषेध किया जाय---तो यह बात मन में बैठेगी नहीं और अपने सीधे रूप में न बैठेगी, तो कोई दूसरा ऐसा अर्थ लेना होगा, जिससे प्रक्रान्त की सही प्रतिपत्ति हो सके।

उक्त-विषय आक्षेप में विवक्षित अर्थ शाब्द होता है और वक्ष्यमाण विषय आक्षेप में विवक्षित अर्थ आर्थ (अर्थतः प्रतीत) होता है, क्योंकि वहाँ विवक्षित अर्थ की प्रतीति अन्य शब्द के व्यापार की सहायतावश निषेध-द्वारा होती है,

शब्दस्पृष्टेऽथवाप्यार्थे वक्तुमिष्टे निषिद्धता ।
तदङ्गं तद्विरोधेन यत्राक्षेपो भवेदसौ ।।इति

शब्देन स्पृश्यते वक्तुमिष्ट उक्तविषये आक्षेपे । वक्ष्यमाणविषये तु विवक्षितस्यार्थता, शब्दान्तरव्यापारसहायनिषेधमुखेन तस्योपस्थाप्यमानत्वात् । यश्चात्रोभयत्रापि निषेधः क्रियते स विवक्षितार्थविरोधात् स्वतात्पर्यं त्यक्त्वा विवक्षितमेवार्थं संस्कुर्वंस्तदङ्गतां प्रतिपद्यते । अतोऽत्र द्विविध आक्षेपो भवतीत्यर्थः ।

अर्थान्तरन्यासः

समर्थकस्य पूर्वं यद्वचोऽन्यस्य च पृष्ठतः ।
विपर्ययेण वा यत्स्यात् हि शब्दोक्त्याऽन्यथाऽपि वा ।

साक्षात् नहीं। आक्षेप के उभयविध रूपों में जो निषेध श्रुतिगोचर होता है, उसका प्रक्रान्त प्रतिपाद्य अर्थ से विरोध होने के कारण उसका अपना स्वार्थ-अभिधेयार्थ छोड़ दिया जाता है—और विवक्षित अर्थ का ही परिष्कार करता हुआ अनुरूप अर्थ में पर्यवसित हो जाता है। इसलिए यहाँ आक्षेप दो प्रकार का कहा गया। प्रक्रान्त प्रतिपाद्य अर्थ से विरोध होने के कारण उसका अपना स्वार्थ-अभिधेयार्थ छोड़ दिया जाता है और विवक्षित अर्थ का ही परिष्कार करता हुआ अनुरूप अर्थ में पर्यवसित हो जाता है । इसलिए यहा आक्षेप दो प्रकार का कहा गया ।

अर्थान्तरन्यास :

अर्थान्तरन्यास उसे समझना चाहिए जहाँ पहले समर्थक वाक्य का और बाद में उससे भिन्न समर्थ्य वाक्य का विन्यास किया जाय अथवा इससे विपरीत क्रम भी हो, साथ ही वहाँ 'हि' या और भी एतदर्थक शब्द की उक्ति हो या न हो। [जिससे समर्थ्यसमर्थक भाव स्पष्ट हो] अर्थात् 'हि' प्रयुक्त भी रह सकता है और नहीं भी। ।।४।। (२७) ।

जहाँ समर्थ्यसमर्थक भाव हो—वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है। कारण यह है कि यहाँ समर्थक वाक्य की समर्थकता का पता दो बातों से चलता है—व्याप्ति*

---

*व्याप्तिः—वैसे तो 'व्याप्ति' का विचार बड़ा ही गंभीर है, पर सामान्यतः 'व्याप्ति' से व्याप्य और व्यापक का नियत साहचर्य समझा जाता है—अर्थात् जहाँ जहाँ व्याप्त रहे, वहाँ वहाँ व्यापक का रहना ही 'व्याप्ति' है। "यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः"।

ज्ञेय: सोऽर्थान्तरन्यास: ।

यत्र समर्थ्यसमर्थकभाव: सोऽर्थान्तरन्यास: । तत्र हि समर्थकस्य समर्थकतावगतिहेतुं व्याप्ति पक्षधर्मत्वं चानुपन्यस्यार्थान्तरस्यैवोपन्यास: क्रियते व्याप्तिपक्षधर्मत्वयो: स्वशब्दानुपात्तयोरपि गर्भीकृतत्वात् । अतोऽसावर्थान्तरन्यास: । स च चतुर्विध: । तत्र समर्थके पूर्वमभिहिते समर्थ्यस्य यत्र पश्चादभिधानं तत्र द्वौ प्रकारौ भवत: । हि शब्दाभिव्यक्तत्वं समर्थ्यसमर्थकभावस्यैक: प्रकार: । तदुक्तं समर्थकस्य पूर्वं यद्वचोऽन्यस्य च पृष्ठत:––इति । हि शब्दोक्त्या––इतिच ।

तस्योदाहरणम्

> तन्नास्ति यन्न कुरुते लोको ह्यत्यन्तकार्यिक: ।
> एष शर्वोऽपि भगवान् वटूभूय स्म वर्तते ।।३।।

और पक्षधर्मता* । पर यहाँ व्याप्ति और पक्षधर्मता का साक्षात् प्रयोग न कर अर्थान्तर (एक भिन्न ही अर्थ का) का ही उपन्यास किया जाता है। यद्यपि व्याप्ति एवं पक्षधर्मता का साक्षात् उपादान नहीं होता, फिर भी वह अर्थान्तर उन्हें अपने गर्भ में अव्यक्त रूप से रखता ही है। इसीलिए इसे अर्थान्तरन्यास कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है। उनमें से जहाँ समर्थक पहले गया हो और समर्थ्य बाद में—वहाँ दो भेद होते हैं। उसमें भी 'हि' शब्द के द्वारा जहाँ समर्थ्य-समर्थक भाव कथित हो—वह एक प्रकार है। 'समर्थकस्य पूर्व यत्'. . . .' इत्यादि से यही तो कहा गया है। उसका उदाहरण यों है—ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे संसार नहीं करता, कारण वह अत्यन्त स्वार्थी है—अगतिक गति है। देखिए न, भगवान शंकर को भी वटुवेष धारण करके अपना कार्य सिद्ध करना पड़ा था।।३।।

वटूभूय का अर्थ है—अभी-अभी शीघ्र ही उपवीत होकर। यहाँ शर्व का, जो समस्त चराचर का अतिक्रमण करने वाले हैं, ब्रह्मचारी बनकर आना—कुछ जँचता नहीं है, अतः उसका उपपादन करने के लिए समर्थक वाक्य का उपन्यास पहले ही कर दिया गया है—तन्नास्ति यन्नकुरुते. . .इत्यादि ही समर्थक वाक्य है। अत्यन्त कार्य व्यग्र होने के कारण भगवान् शंकर ने अनुचित रूप का भी सहारा लिया—जैसा कि अनन्यगतिक होने से अन्यान्य साधारण पुरुष किया करते हैं। यहाँ 'हि' शब्द के द्वारा समर्थ्यसमर्थक भाव की अभिव्यक्ति की गई है।

---

*पक्षधर्मता:—पक्ष में (संदिग्धसाध्यवान् अधिकरण में) हेतु का रहना ही व्याप्त की पक्षधर्मता है—"धूमवान् पर्वतः"—पक्षधर्मता का स्वरूप है।

बटूभूय अचिरकृतोपनयनत्वमापद्य । अत्र शर्वस्य सर्वलोकातिशायिनो बटूभावेन वृत्तिमनूपपद्यमानतयाशङ्क्य तत्समर्थनाय समर्थकं पूर्वमेवोपन्यस्तम्—तन्नास्ति यन्न कुरुते-इति । अत्यन्तकार्यिकत्वात् अनुचितमपि रूपमनुभूतवान् शर्वस्तदन्यैवंविधपुरुषवदिति । अत्र च हि शब्देनाभिव्यक्तः समर्थ्यसमर्थकभावः ।

यत्र पूर्वेणैव क्रमेण समर्थ्यसमर्थकयोरुपन्यासो हि शब्दश्चार्थसामर्थ्याव—सेयार्थत्वान्न प्रयुज्यते तत्र द्वितीयोऽर्थान्तरन्यासभेदो भवति । तदुक्तम् अन्यथापिवा-इति । हि शब्दोक्तिमन्तरेणापीत्यर्थः ।

तस्योदाहरणम्

प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः स्त्रीणां भावपरीक्षणे ।
प्रतस्थे धूर्जटिरतस्तनुं स्वीकृत्य वाटवीम् ।।४।।

जहाँ पूर्वोक्त क्रम से ही समर्थ्यसमर्थक वाक्यों का उपन्यास हो—परन्तु 'हि' शब्द का साक्षात् प्रयोग न हो, बल्कि अर्थगत सामर्थ्य से प्रतीत हो सके—उसका अर्थ बुद्धिगोचर हो सके—वहाँ अर्थान्तर न्यास का दूसरा भेद होता है। इसीलिए कहा है—अन्यथा पि वा—अर्थात् 'हि' शब्द की उक्ति के बिना भी—कहीं-कहीं अर्थतः समर्थ्य-समर्थक-भाव की अवगति हो जाती है ।

उसका उदाहरण—

स्त्रियों के भाव का परीक्षण करना हो, तो प्रच्छन्न व्यवहार ही प्रशस्त कहा गया है। यही कारण है कि भगवान शंकर पार्वती की परीक्षा लेने के लिए ब्रह्मचारी का रूप धारण करके गये।।४।।

भाव अर्थात् आशय। वाटवी अर्थात् ब्रह्मचारी की। यहाँ धूर्जटि के वटु वेष के आलम्बन द्वारा प्रच्छन्न वृत्ति उपपत्ति युक्त नहीं है—ऐसी आशंका करके उसका समर्थन करने के लिये पहले ही समर्थक का अभिधान किया। 'प्रच्छन्ना शस्यते' वृत्तिः"—के द्वारा [पूरा वाक्यार्थ यों हुआ—] स्त्री के आशय की परीक्षा में प्रवृत्त होने के कारण शंकर ने प्रच्छन्न वृत्ति का सहारा लिया। यहाँ 'हि' शब्द का उपादान नहीं है, कारण उसकी जगह 'अतः'—शब्द का उपादान किया है, जिसके सामर्थ्य से 'यस्मात्=जिस कारण'—अर्थ की उपलब्धि होती है।

इस प्रकार अर्थान्तर न्यास के वे दो भेद कहे गये, जहाँ समर्थक वाक्य का समर्थ्य वाक्य से पूर्व उपन्यास किया जाता है। यहाँ दो भेद इसलिये होता है कि कहीं 'हि' का शब्दतः और कहीं अर्थतः उपादान होता है।

और जहाँ पर इसके विपरीत समर्थ्य का पहले कथन किया जाय और समर्थक

भाव आशयः । वाटवीम् ब्रह्मचारिसंबंधिनीम् । अत्र धूर्जटेर्वटुवेषालम्बनेन प्रच्छन्ना वृत्तिरनुपपन्नेत्याशङ्क्य तत्समर्थनाय पूर्वमेव समर्थकमभिहितम्—प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः—इत्यादिना । योषिदाशयपरीक्षणप्रवृत्तत्वाद्धूर्जटिः प्रच्छन्नां वृत्तिमाश्रितवान् इति । हि शब्दश्चात्रातः शब्दसामर्थ्येन यस्मादित्यस्यार्थस्यावगतत्वान्नोपात्तः ।

एवमेतौ समर्थक पूर्वोपन्यासावर्थान्तरन्यासौ द्वावेवोक्तौ ।

यत्रापि चैतद्विपर्ययेण समर्थ्यस्य पूर्वमुपन्यासः पश्चात्समर्थकस्य तत्रापि समर्थ्यसमर्थकभावे हि शब्दावगतेऽर्थाक्षिप्ते च सति द्वैविध्यम् । तदुक्तम्—विपर्ययेण वा यत्स्याद्धि शब्दोक्त्याऽन्यथापि वा—इति ।

पूर्वस्योदाहरणम्

हरोऽथ ध्यानमातस्थौ संस्थाप्यात्मानमात्मना ।
विसंवदेद्धि प्रत्यक्षं निर्ध्यातं ध्यानतो न तु ॥५॥

अत्र हरस्य व्यवहिताद्यर्थविषयत्वेनाप्रतिहतबाह्येन्द्रियवृत्तित्वात्सति बाह्येन्द्रियजन्यप्रत्यक्षसंभवे ध्यानाश्रयणमयुक्तत्वेन संभाव्य तत्समर्थनायोक्तम्—विसंवदेद्धि प्रत्यक्षमित्यादि । अत्यंताविसंवादकोपलब्ध्युपायार्थित्वाद् ध्यानमास्थितवान् हर इति ।

हि शब्दानभिव्यक्ते तु समर्थ्यसमर्थकभावे यत्र समर्थ्यस्य पूर्वमुपन्यासस्तत्रोदाहरणम् ।

का बाद में—वहाँ भी 'हि' शब्द के द्वारा समर्थ्य-समर्थक-भाव का स्पष्ट कथन होने से तथा अर्थतः प्रतीत होने से—दो भेद और हो सकते हैं। इसी बात को 'विपर्ययेण वा यत्स्यात्...''इत्यादि के द्वारा कहा है।

पहले (तीसरे भेद) का उदाहरणः—

भगवान् शंकर अपने अंतःकरण से अपने आपको सुस्थिर कर ध्यानमग्न हो रहे। कारण, ध्यान-जनित-ज्ञान प्रत्यक्ष से कभी विसंवाद नहीं खाता अथवा उत्तरार्द्ध का अर्थ यों भी किया जा सकता है कि—कभी-कभी इन्द्रियों द्वारा अर्जित ज्ञान वास्तविकता से विसंवाद खा जाता है, परंतु ध्यान-जनित ज्ञान से ऐसी आशा कभी नहीं की जा सकती।

यहाँ—यह स्पष्ट है कि व्यवहित-अव्यवहित —सभी प्रकार के अर्थों में भगवान् शंकर की बाह्य इन्द्रियाँ भी व्यापार शील हैं—उनका ज्ञान जब बाह्य इन्द्रियों से ही संभव है, तब [किसी तथ्य को जानने के लिये] उन्होंने ध्यान का सहारा क्यों लिया?—इसमें तो कोई साफ उपपत्ति लक्षित नहीं होती—अतः

अपश्यच्चातिकष्टानि तप्यमानां तपांस्युमाम् ।
असंभाव्यपतीच्छानां कन्यानां का परा गतिः ॥६॥

बह्नामभिमतवरप्राप्त्युपायानां प्रार्थनादीनां संभवे कस्माद्भगवती तपसा शरीरमायासितवतीत्याशङ्क्य तत्समर्थनायाभिहितम्--असंभाव्यपतीच्छानामिति । दुःप्रापभर्त्रभिलाषित्वात्तपः समाश्रितवती । तपांसि भगवतीं खेदयन्ति तानि पुनः सा तथाविधान्युपार्जयति अतस्तपस्तप्यते तपस्तपः कर्मकस्यैव (पा० ३।१।८७-८८) इति कर्तुः कर्मवद्भावः ।

एवमेष चतुर्विधोऽर्थान्तरन्यासोऽभिहितः ।

ननु यदि समर्थ्यसमर्थकभावे सत्यर्थान्तरन्यासो भवति एवं सत्यप्रस्तुतप्रशंसादृष्टान्तयोरपि समर्थ्यसमर्थकभावसद्भावादर्थान्तरन्यासताप्रसङ्गः । तथा हि--

---

इस आपाततः अनुपपन्न अर्थ का समर्थन करने के लिये 'विसंवेदद्धि प्रत्यक्षम्--इत्यादि कह दिया। अर्थात् इससे यह बताया कि अत्यन्त अविसंवादी ज्ञान की प्राप्ति के लिये साधनभूत ध्यान का हर ने सहारा लिया।

सम्प्रति, जहाँ 'हि' शब्द के द्वारा समर्थ्यसमर्थक भाव अभिव्यक्त नहीं है और जहाँ समर्थ्य का उपन्यास पहले तथा समर्थक का बाद में किया गया है--उसका उदाहरण नीचे दिया जा रहा है--

अत्यन्त कष्टकर तपस्याओं को करती हुई उमा देवी देखी गई। ठीक ही है असंभाव्य पति की इच्छा करने वाली कन्याओं की दूसरी और कौन सी गति हो सकती है? ॥६॥

अभिमत वर की प्राप्ति के लिये प्रार्थना आदि अनेक विध उपाय जब संभव हैं तो क्या कारण है कि भगवती पार्वती ने तपस्या से अपने शरीर को क्लेश दिया--इस प्रकार की आशंका का उत्थापनपूर्वक समर्थन करने के लिए कहा गया है--असंभाव्यपतीच्छानामित्यादि। दुष्प्राप्य पति की अभिलाषा होने के कारण तप का सहारा लिया। तपस्यायें भगवती पार्वती को खेद या क्लेश प्रदान कर रही हैं, फिर भी तथाविध तपस्याओं का वह उपार्जन कर रही है--इसीलिए तो कहा गया है--वह तप कर रही है। यहाँ तपः क्रिया का कर्ता है--उमा, पर श्लोक में वह कर्मकारक में प्रयुक्त है। इसका व्योरा--'तपस्तपः कर्मकस्यैव' [३।१।८७, ८८] इस पाणिनीय सूत्र से स्पष्ट किया गया है कि क्यों कर्ता कर्मवत् प्रयुक्त है।

इस प्रकार चार भेदोंवाला यह अर्थान्तरन्यास कहा गया

१. समर्थक का पहले और समर्थ्य का बाद में--(i) 'हि' का प्रयोग।

प्रीणितप्रणायिस्वादु काले परिणतं बहु ।
विना पुरुषकारेण फलं पश्यत शाखिनाम्[1] ॥

इत्यस्यामप्रस्तुतप्रशंसायां विशेषात्सामान्यस्य प्रतिपत्तिर्यथा सेचनादिकं पुरुषव्यापारमन्तरेण वनशाखिनां विविधगुणोपेतस्य फलस्य प्रसूतिर्दैवप्रधाना एव मेतत्सर्वं जगति दैवप्रधानमिति। अत्र च समर्थ्यसमर्थकभावो विद्यते। सर्वं जगच्चेष्टितं दैवप्रधानं पुरुषकारान्वयव्यतिरेकाननुविधायित्वाद्वनशाखिफलवदिति।

(ii) 'हि' का अप्रयोग।
२. समर्थ्य का पहले और समर्थक का बाद में—(iii) 'हि' का प्रयोग।
(iv) 'हि' का अप्रयोग।

इस प्रसंग में एक आशंका यह खड़ी की जा सकती है कि यदि समर्थ्य समर्थक भाव होने पर अर्थान्तरन्यास का होना निर्भर करता हो, तो अप्रस्तुत प्रशंसा और दृष्टान्त में भी अर्थान्तरन्यास का व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि वहाँ भी समर्थ्य समर्थक भाव का सद्भाव होता है। क्योंकि

वृक्ष के उन फलों को देखो, जो प्रणयी को प्रसन्न करनेवाले हैं, सुस्वादु हैं और अपने समय पर पूर्णरूप में परिपक्व हो गये हैं—पर तदर्थ मनुष्य के लिए किसी प्रकार का श्रम नहीं करना पड़ा। पौरुष के बिना ही फल देखो।

इस अप्रस्तुत प्रशंसा में 'विशेष' से 'सामान्य' की प्रतीति हो रही है—जैसे बनैले वृक्षों को पुरुष साध्य सेचन आदि व्यापार नहीं मिले, फिर भी दैव ने फलप्रसूति करा दी—इसी से यह निष्कर्ष निकलता है कि इसी प्रकार समस्त विश्व में सब कुछ दैवाधीन ही है। यहाँ समर्थ्य समर्थक भाव है। समस्त जगत दैवप्रधान है, पौरुष प्रधान नहीं, कारण पौरुष से फल का अन्वय[2] व्यतिरेक नहीं दृष्टिगोचर

---

१. प्रस्तुत श्लोक भामह के काव्यालंकार के तृतीय परिच्छेद में अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण है। श्लोक सङ्ख्या है ३० वीं।

२. अन्वयव्यतिरेक—'तत्सत्वे तत्सत्त्वमन्वयः, तदभावे तदभावो व्यतिरेक;—उसके रहने पर उसका रहना, और न रहने पर न रहना,—क्रमशः अन्वय-व्यतिरेक है। इसी के द्वारा कार्यकारण भाव का निर्णय होता है। उदाहरण के लिए पौरुष एवं फल में कार्यकारण भाव समझा जाता है—पर पौरुष के रहने पर भी फल का न रहना और पौरुष के न रहने पर भी फल का होना—सिद्ध करता है कि इनमें अन्वय व्यतिरेक नहीं है—अतः कार्य कारण भाव नहीं है। दैवप्रधान ही जगत् है।

ततश्च तत्राप्यर्थान्तरन्यासत्वप्रसङ्गादलक्ष्यव्याप्तिर्लक्षणदोषः । दृष्टान्तेऽपि च समर्थ्य-समर्थकभावो विद्यते तथा हि——

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम् ।
आलोके हि सितांशोर्विकसति कुमुदं कुमुद्वत्याः ॥

इत्यत्र यथा चन्द्रगुणपक्षपातित्वेन कुमुदिन्याश्चन्द्रालोके कुमुदं विकसति, एवं त्वद्गुणपक्षपातित्वात्तस्यास्त्वद्दर्शने मनो मन्मथाग्निप्रज्वलितमुपशाम्यति-इति समर्थ्यसमर्थकभावोऽवगम्यते । तेन दृष्टान्तेऽपि अर्थान्तरन्यासताप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—

(सू०)—— प्रकृतार्थसमर्थनात् ।
अप्रस्तुतप्रशंसाया दृष्टान्ताच्च पृथक् स्थितिः ॥५॥ (२८)

होता। उदाहरण वन का वृक्ष ही है। इसलिए अप्रस्तुत प्रशंसा जैसे अलक्ष्य में भी प्रस्तुत लक्षण के संगमन से अति व्याप्ति* (अलक्ष्यव्याप्ति) नामका लक्षण दोष प्रशक्त है। यही नहीं, दृष्टान्त में भी समर्थ्य समर्थक भाव है। क्योंकि——

उसका कामदग्ध मन तुम्हारे ही देखने के बाद विश्रान्तिलाभ करता है। ठीक ही है कुमुदिनी का पुष्प कुमुद चन्द्रमा के ही आलोक में विकसित होता है।

यहाँ जिस प्रकार चन्द्रमा के गुण में कुमुदिनी का पक्षपात होने से ज्योत्स्ना में ही कुमुद विकसित होता है—उसी प्रकार तुम्हारे गुणों में ही पक्षपात होने से तुम्हारा दर्शन होने पर ही मनोभव का सताया हुआ उसका मन विश्रान्ति का लाभ करता है। —इससे भी समर्थ्यसमर्थक भाव की अवगति होती है। इसलिए—दृष्टान्त में भी अर्थान्तिरन्यासता के प्रसक्त होने की संभावना है। इसी आशंका को मन में रखकर कहा है—दृष्टान्त और अप्रस्तुत प्रशंसा से अर्थान्तिर न्यास की पृथक् स्थिति इसीलिए है कि अर्थान्तिरन्यास में प्रकृत अर्थ का समर्थन होता है ॥५॥ ठीक ही है—अप्रस्तुत प्रशंसा और दृष्टान्त में समर्थ्यसमर्थक भाव झलकता है, न कि वहाँ अर्थान्तिरन्यास की भाँति समर्थ्यसमर्थक भाव संभव है। कारण यह है कि अर्थान्तर न्यास में शब्दतः उक्त समर्थ्य का, जो यथा संभव कभी समर्थक से पहले और कभी समर्थक के बाद में प्रयुक्त होता है, समर्थन होता है, पर अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रकृत अर्थ की क्षमता से (सामर्थ्य) से प्रकृत अर्थ का आक्षेप होता है—उसकी शब्दतः उक्ति नहीं होती—अप्रकृत वाच्य होता है और प्रकृत व्यंग्य। [अर्थान्तिरन्यास

---

*अतिव्याप्ति——लक्षण दोष तीन हैं—अव्याप्ति, असंभव और अतिव्याप्ति। अति व्याप्ति अलक्ष्य में लक्षण का चला जाना है।

सत्यमप्रस्तुतप्रशंसायां दृष्टान्ते च समर्थ्यसमर्थकभावोऽवगम्यते । न तु तत्रार्थान्तरन्यासवत्समर्थ्यसमर्थकभावस्य संभवः । अर्थान्तरन्यासे हि समर्थ्यस्य यथायोगं पूर्वोत्तरकालभावित्वेन स्वकण्ठेनोपात्तस्य समर्थनम् । अप्रस्तुतप्रशंसायां त्वप्रकृतसामर्थ्येन प्रकृतमाक्षिप्यते न तु स्वकण्ठेनोपादीयते । यथा पूर्वोपवर्णिते उदाहरणे । तत्र हि वनशाखिनां फलदर्शनेनाप्रकृतेन दैवप्रधानेन समग्रजगद्-गोचरं दैवप्राधान्यं प्रकृतमाक्षिप्यते, न तु तस्यार्थान्तरन्यासवत्स्वकण्ठेनोपादानम् । अतश्च तत्र सत्यपि समर्थ्यसमर्थकभावे शब्दोपक्रान्तप्रकृतार्थनिष्ठत्वाभावान्नार्थान्तरन्यासत्वम् । दृष्टान्तेऽपि च द्वयोरपि समर्थ्यसमर्थकयोः स्वकण्ठेनोपात्तत्वात् सत्यपि स्वकण्ठोपात्तप्रकृतार्थनिष्ठत्वे दृष्टान्तस्य समर्थ्यसमर्थकभावपुरस्सरीकारेणाप्रवर्तमानत्वान्न भवत्यर्थान्तरन्यासत्वम् । न खलु तस्य समर्थ्यसमर्थकभावपुरस्सरीकारेण प्रवृत्तिः, बिम्बप्रतिबिम्बभाव मात्रस्य शब्दस्पृष्टत्वात् । अर्थाद्धि तत्र समर्थ्यसमर्थकभावावसायः । अर्थान्तरन्यासे तु समर्थ्यसमर्थकभावेनैवोपक्रमः । तेन यत्र समर्थ्यसमर्थकभावोपक्रममर्थान्तरोपादानं तत्रार्थान्तरन्यासत्वाद् दृष्टान्तस्यार्थान्तरन्यासताप्रसंगो न भवति । तदिदमुक्तम् प्रकृतार्थ

में दोनों पक्ष वाच्य होते हैं]। पूर्वोक्त उदाहरण से यह बात स्पष्ट ही हो जाती है। कारण यह है कि वहाँ अप्रकृत अर्थ है—वनवृक्षों का फल दर्शन दैवप्रधान ही है। इस अप्रकृत अर्थ से—समग्र जगत दैव प्रधान है—प्राकरणिक अर्थ आक्षिप्त होता है। अर्थान्तरन्यास की भाँति यहाँ अप्रकृत अर्थ का शब्दतः उपादान नहीं है। इसलिए वहाँ समर्थ्य समर्थक भाव के रहते हुए भी चूँकि वह शब्दतः उक्त प्रकृतार्थ परक नहीं है, अतः वहाँ अर्थान्तरन्यास नहीं है। दृष्टान्त में भी यद्यपि समर्थ्य एवं समर्थक का कण्ठतः—शब्दतः—कथन होता है, इसलिए यह शब्दोक्त प्रकृतार्थपरक हो भी, तो भी अर्थान्तर न्यास की भाँति दृष्टान्त समर्थ्य समर्थक भाव पर अपने चमत्कार की धुरा नहीं रखता। यह कहना कि दृष्टान्त समर्थ्य सामर्थक भाव पर ही अपने चमत्कार का सारा भार रखकर प्रवृत्त होता है—ठीक नहीं है, यहाँ तो सारा भार बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव पर है, जो शब्दतः उक्त होता है। सामर्थ्य समर्थक भाव का निश्चय तो अर्थसामर्थ्यवश होता है यहाँ, जबकि अर्थान्तरन्यास में समर्थ्यसमर्थक भावपर ही चमत्कार का सारा उत्तरदायित्व है—इसी बात को प्रदर्शित करने के लिए ही अर्थान्तरन्यास की प्रवृत्ति है। इसलिए जहाँ समर्थ्य समर्थक भाव के ही प्रदर्शनार्थ अर्थान्तर का ग्रहण किया गया हो, वहाँ अर्थान्तरन्यासता ही होगी, फलतः दृष्टान्त में अर्थान्तरन्यासता की प्रसक्ति का कोई प्रसंग ही नहीं है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने यह कहा है—'प्रकृतार्थसमर्थनात्—इत्यादि। यहाँ प्रकृत शब्द शब्दोपात्त

समर्थनात्--इति । अत्र प्रकृतशब्दः स्वकण्ठोपात्तप्रकृतार्थनिष्ठो द्रष्टव्यः । समर्थनं चात्रोपक्रमावस्थावर्त्युपात्तम् ।

व्यतिरेकः

विशेषापादनं यत्स्यादुपमानोपमेययोः ।
निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्यां व्यतिरेको द्विधा हि सः ॥६॥ (२९)

उपमानोपमेययोः परस्परं यत्र विशेषः ख्याप्यते स व्यतिरेकः । तत्रह्युपमानादुपमेयस्योपमेयादुपमानस्य वा केनचिद्विशेषेणातिरेक आधिक्यं तस्माद् व्यतिरेकः । स च द्विविधः । तत्र विशेषख्यापननिमित्तस्यार्थसामर्थ्यादाक्षेपादेकः प्रकारः । अपरस्तु तस्य स्वशब्देनप्रतिपादनात् । तदुक्तम्--निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्यां द्विधा--इति । एतावपि च भेदौ प्रत्येकं द्विविधौ । क्वचिद्धि अर्थसामर्थ्यात्प्रतीयमाने उपमानोपमेयभावे पूर्वोक्तेन प्रकारद्वयेन व्यतिरेकः ख्याप्यते क्वचित्तु इवादिभिरुपात्तैः ।

प्रकृतार्थपरक समझना चाहिए। समर्थन यहाँ उपक्रम की अवस्था में ही उपात्त हैं।

व्यतिरेकः

उपमान और उपमेय का जो परस्पर विशेषापादान है, वही व्यतिरेक है और यह निमित्त के विद्यमान तथा अविद्यमान रहने से--दो प्रकार का होता है ॥६॥ (२९)

उपमान और उपमेय का जहाँ पारस्परिक 'विशेष' कहा जाय, वहाँ व्यतिरेक होता है। क्योंकि जहाँ उपमान से उपमेय का अथवा उपमेय से उपमान का किसी विशेषता के कारण अतिरेक या आधिक्य दिखाना हो तो वहाँ व्यतिरेक होता है [व्यतिरेक= वि+अतिरेक=विशेष के कारण आधिक्य)। वह दो प्रकार का होता है। उनमें से 'विशेषकथन' रूप निमित्त का यदि अर्थसामर्थ्यवश आक्षेप होता हो—तो वह एक प्रकार है। दूसरा भेद वह है जहाँ निमित्त का शब्दतः कथन हो। वही 'निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्यां द्विधा' द्वारा कहा गया है। इन दोनों भेदों में से भी प्रत्येक के दो भेद होते हैं। कारण, कहीं पर अर्थ के सामर्थ्यवश उपमानोपमेयभाव प्रतीयमान होता है--और इस रूप में पूर्वोक्त दोनों भेद कहे जाते हैं और कहीं 'इव' आदिवाचक शब्दों द्वारा उपमानोपमेयभाव वाच्य रहता है।

उनमें भी जहाँ अर्थसामर्थ्यवश उपमानोपमेय भाव की अवगति होती है—उन पूर्वोक्त दो विधाओं में से पहले भेद का उदाहरण यों है—

वह गौरी शिखर पर जाकर तपस्या के कारण कृश कलेवरा उमा को दूर से

तत्रार्थसामर्थ्येन यत्रोपमानोपमेयभावोऽवगम्यते तत्र पूर्वस्मिन् प्रकारद्वये पूर्व भेदस्योदाहरणम् ।

मू०— सा गौरी-शिखरं गत्वा ददर्शोमां तपः कृशाम् ।
राहुपीतप्रभस्येन्दोर्जयन्तीं दूरतस्तनुम् ।।७।।

राहुणा पीता द्रवद्रव्यस्योदकादेः स्वगलविलान्तर्भावनं यत्तद्वदात्माभ्यन्तरीकृता प्रभा यस्य स तथोक्तः । अत्र राहुपीतप्रभत्वविशिष्टस्येन्दोस्तनुरुपमानम् । तपः कृशा पार्वत्युपमेया । अनयोः साधारणो धर्मः स्वभावतः सौंदर्ये सति निमित्तवशाद्विच्छायत्वम् । तच्च स्वकण्ठेनानुपात्तमपि पदार्थस्वरूपपर्यालोचनया लभ्यते । एवमिवाद्यभावेऽपि उपमानोपमेयभावस्यात्र सामर्थ्याद् प्रतिपत्तिः । जयन्तीमिति च उपमानादुपमेयस्य विशेषः ख्यापितः । तस्य च विशेषस्य ख्यापमानस्य निमित्तमत्र न स्वकण्ठेनोपात्तम् । अर्थसामर्थ्यात्तु तदवगम्यते । राहुरिंदुप्रभापाने तु तथा

ही इस प्रकार देखती रही जैसे राहु द्वारा पीत-प्रभ उत्कृष्ट इन्दु मण्डल ।।७।।

राहुपीतप्रभस्य—बहुव्रीहि समास है। राहु के द्वारा प्रभा पी ली गई है—जिसकी—वह हुआ—राहु-पीत-प्रभ। प्रभा का पान द्रव द्रव्य का जिस प्रकार गलबिल के भीतर डाल लेना है—वैसा ही है। सो, यहाँ राहु-पीत-प्रभ इंदु का मण्डल ही उपमान है । तपः-कृशा पार्वती उपमेय है। इन दोनों का साधारण धर्म है—स्वाभाविक सौंदर्य के रहते हुये भी निमित्तवशात् कांतिराहित्य। यह यद्यपि शब्दतः नहीं कहा है, फिर भी पदार्थ रूप की पर्यालोचना करने पर उस धर्म की अवगति हो जाती है। इसी प्रकार इव आदि का उपादान न होने पर भी उपमानोपमेयभाव की यहाँ सामर्थ्यात् प्रतीति हो ही जाती हैं 'जयन्तीम्'—उत्कृष्टार्थक विशेषण से उपमान की अपेक्षा उपमेय की विशेषता ख्यापित हुई। उस उक्त विशेष का निमित्त यहाँ क्या है—इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया। पर अर्थ सामर्थ्य से उसकी अवगति हो ही जाती है। राहु इन्दु के प्रभापान में वैसा समर्थ न हो सका जैसी तपस्या पार्वती के रूपलावण्य का नाश करने में—फलतः पार्वती अत्यन्त कृशकाय हो गयी थी—इस प्रकार स्पष्ट यह हुआ कि राहु से भी सोखने में तप अधिक है—यही आधिक्य उपमान से उपमेय की विशेषता का समर्थन करने में निमित्त है। इस प्रकार यह अनुपात्तनिमित्त (अनुपात्तवाचक) व्यतिरेक का पहला भेद हुआ।

उपात्त निमित्त व्यतिरेक का उदाहरण यह है—

रात्रि में श्री हीन पद्म तथा दिन में शोभारहित चंद्र को अपने शाश्वत कांतिशील मुख के द्वारा तिरस्कृत करती हुई (पार्वती को देखा) ।।८।।

न समर्थः यथातपः सातिशयत्वात्पार्वत्याः क्षामत्वे इति राहुतोऽपि तपः सातिशयत्वमुपमानादुपमेयस्य विशेषनिमित्तिमत्रावगम्यते । एवमयमनुपात्तनिमित्तो व्यतिरेकः ।

उपात्तनिमित्तस्तु

पद्मं च निशि निःश्रीकं दिवा चन्द्रं च निष्प्रभम् ।
स्फुरच्छायेन सततं मुखेनाधः प्रकुर्वतीम् ॥८॥

मुखमुपमेयम् । पद्ममिन्दुश्चोपमानम् । तच्चात्र द्वयं स्वकण्ठस्पृष्टम् तयोस्तु साधारणो धर्मः कान्तिमत्तादिरुपमानोपमेयभावश्चेत्यतदुभयं सामर्थ्यादवगम्यते । न खल्वत्र वक्ष्यमाणव्यतिरेकवत् उपमानोपमेयभावस्य द्योतका इवादय उपात्ताः । अधः प्रकुर्वतीमिति चोपमानादुपमेयस्य विशेषः ख्यापितः । तत्र च निमित्तमुपात्तमुपमानोपमेयोभयाधारत्वेन । उपमानयोस्तावत् पद्मचंद्रयोर्निशि दिवाच यथा

यहाँ मुख उपमेय है। पद्म और इंदु उपमान है। यहाँ वे दोनों शब्दतः उक्त हैं। उन दोनों का साधारण धर्म कान्तिमत्ता आदि तथा उपमानोपमेय भाव—ये दोनों सामर्थ्यात् अवगत होते हैं। यहाँ आगे कहे जाने वाले व्यतिरेक के उदाहरणों की भाँति उपमानोपमेयभाव के द्योतक इवादि प्रयुक्त हैं ही नहीं। 'अधः-प्रकुर्वती'—तिरस्कृत करती हुई—इस विशेषण द्वारा उपमान की अपेक्षा उपमेय की विशेषता स्पष्ट की गई है। यहाँ जो निमित्त है—वह उपमान तथा उपमेय—उभयपरक है। दोनों उपमान पद्म एवं चंद्र के साधारण धर्म हैं क्रमशः रात्रि-गत निःश्रीकता एवं दिन-गत निष्प्रभता। इसके विपरीत उपमेय मुख में अहोनिश कांति का सद्भाव है। इसलिए उत्कर्ष प्रयोजक निमित्त का उल्लेख होने से यह व्यतिरेक है।

तो इस प्रकार जहाँ इव आदि के द्वारा उपमानोपमेयभाव नहीं स्पष्ट किया गया, वहाँ व्यतिरेक की दोनों विधाओं का प्रदर्शन किया जा चुका।

इवादि के उपादान द्वारा उपमानोपमेयभाव का जहाँ वचन है—और वहाँ जिस व्यतिरेक की स्थिति संभव है—उसे कहने जा रहे हैं—

विशेषापादन का सम्बंध होने के कारण व्यतिरेक वहाँ भी संभव है जहाँ यथा, इव आदि शब्दों से समन्वित भिन्न धर्म द्वारा दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया हो॥७॥ [३०॥]

'भिन्न धर्म से दृष्टान्त का प्रयुक्त होना' तथा 'विशेषता का प्रदर्शन'—ये दो विशेषताएँ व्यतिरेक का स्वरूप-स्पष्टीकरण के लिए कही गई हैं। वैधर्म्य वस्तुतः यहाँ पर उपमेय-गत धर्म का उपमान में अनस्तित्व है। यथा—इव आदि

क्रमं निःश्रीकत्वनिष्प्रभत्वे, उपमेये तु रात्रिन्दिवं स्फुरच्छायता। अतो विशेषे निमित्तदर्शनेनायं व्यतिरेकः।

तदेवं यत्रेवादिनोपमानोपमेयभावो नावद्योतितस्तत्र द्विविधो व्यतिरेको दर्शितः।

इवाद्युपात्ते तूपमानोपमेयभावे यो व्यतिरेकस्तमाह।

यो वैधर्म्येण दृष्टान्तो यथेवादिसमन्वितः।

व्यतिरेकोऽत्र सोऽपीष्टो विशेषापादनान्वयात् ॥७॥ (३०)

यो वैधर्म्येण दृष्टान्त इति विशेषापादनान्वयादिति च व्यतिरेकललक्षणं योजितम्। वैधर्म्यं हि उपमेयधर्मस्योपमाने विगमः। यथेवादिसमन्वित इत्यनेन यथेवाद्यवद्योतितत्वमुपमानेपमेयभावस्याह।

तस्योदाहरणम्—

से समन्वित होने से—यह लक्षित किया गया है कि ऐसा जब होगा तो वहाँ निश्चित ही उपमानोपमेयभाव ही होगा।

उसका उदाहरण (लीजिए)—

शीर्ण पत्र, जल एवं वायु के भक्षण-जनित कष्ट के बावजूद तपस्या में लगी हुई अन्य तपस्वियों की भाँति अपूर्व गर्व न करती हुई—[पार्वती को देखा] ॥९॥

शीर्णपत्र, अम्बु एवं वायु का आश अथवा अशन या भक्षण। यहाँ अन्य तपस्वी उपमान हैं। भगवती पार्वती उपमेय है। साधारण धर्म है—कष्ट कर तपस्या में स्थित होने के कारण चित्त -गत उल्लास। 'वति' प्रत्यय यहाँ उपमानोपमेय-भाव का बोधक है, जिसका निमित्त है—गर्वोद्वहन के कारण चित्त-गत उल्लास। 'गर्व का संवहन न करना'—यही उपमान का उपमेय से विशेष है। निश्चय ही तपस्वी अतिशयतप वश समुल्लसित चित्त वाले होकर गर्व वहन करते ही हैं, पर जहाँ तक भगवती पार्वती की बात है वे अत्यन्त शान्तचित्त की हैं, अतः उनमें किसी प्रकार का गर्व नहीं है। इस प्रकार यहाँ गर्वापक्रम की अवस्था की दृष्टि से उपमान एवं उपमेय में साम्य है, पर उपमान के द्वारा उसका संवहन न होने के कारण उपमान से उपमेय की विशेषता है और इसीलिये व्यतिरेक है। न निर्वाह किये जाने का निमित्त शब्दतः अनुक्त होने पर भी अर्थ सामर्थ्य वश ज्ञात होता है और वह है—चित का अत्यन्त शांतिपूर्ण होना।

इस प्रकार व्यतिरेक के इस उदाहरण में निमित्त का अदर्शन है। वति प्रत्यय से उपमानोपमेयभाव का द्योतन होता है। रहा दूसरा रूप—जहाँ निमित्त का उपादान रहता है—उसका उदाहरण अपनी ओर से समझ लेना चाहिए।

शीर्णपर्णाम्बुवाताशकष्टेऽपि तपसि स्थिताम् ।
समुद्वहन्तीं नापूर्वं गर्वमन्यतपस्विवत् ॥९॥

शीर्णपर्णाम्बुवातानामशो भक्षणम् । अत्रान्यतपस्विन उपमानम् । भगवत्युपमेया साधारणश्च धर्मः कष्टे तपस्यवस्थितत्वाच्चेतसः सोल्लासता । वतिश्चात्र गर्वोद्वहन निबंधनं यत्तच्चेतसः सोल्लासत्वं तन्निबंधनमुपमानोपमेयभावम् अवगमयति । गर्वं न समुद्वहन्तीमित्युपमानादुपमेयस्य विशेषः प्रतिपादितः । अन्ये किल तपस्विनः सातिशयतपोवशात् समुल्लसितचित्ताः सन्तो गर्वं समुद्वहन्ति । भगवती तु अत्यन्त मुपशान्तचित्तत्वान्न तथा । एवं चात्र गर्वापक्रमावस्थापेक्षमुपमानोपयेययो : सादृश्यं तदनिर्वाहात्तिदुपमानादुपमेयस्य व्यतिरेकः । अनिर्वाहे च निमित्तमत्र स्व कण्ठेनानुपात्तमर्थ्यादर्थसामथ्यदवगम्यतेऽत्यंतोपशान्तचित्तत्वं नाम ।

एवमयं निमित्तादर्शने वत्युपात्तोपमानोयमेयभावो व्यतिरेक उदाहृतः । निमित्तोपादाने तु तस्योदाहरणमुन्नेयम् ।

इस प्रकार व्यतिरेक के चारों भेदों का सोदाहरण विवेचन समाप्त हुआ। व्यतिरेक के पहले दो भेद निमित्त के ग्रहण करने एवं न करने से होता है फिर इनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद इस आधार पर हो सकते हैं कि उपमानोपमेयभाव के बोधक इव आदि का कभी उपादान होता है और कभी नहीं होता है। तालिका यों हुई

व्यतिरेक (जहाँ उपमान एवं उपमेय में विशेषापादन हो)	क—उपात्त निमित्त	(१) इवादि वाचक का उपादान।
		(२) इवादिवाचक का अनुपादान।
	(ख) अनुपात्तनिमित्त—	(३) इवादि का उपादान।
		(४) ,, ,, अनुपादान।

व्यतिरेक के पूर्वोक्त चारों भेदों के श्लिष्टोक्तियोग्य शब्द के प्रयोगवश पुनः पूर्वोपक्रान्त रूप से दूसरे चार और भेद हो जाते हैं। वही कह रहे हैं—श्लिष्टोक्तियोग्य शब्द के पृथक्-पृथक् प्रयोग द्वारा जहाँ विशेषोपादन किया जाय—वह भी व्यतिरेक का एक रूप होता है॥८॥ (३१) ॥

आगे चलकर एक प्रयत्नोच्चार्याणाम्—इत्यादि कारिका द्वारा यह कहा जायगा कि श्लेष का लक्षण क्या होता है। फिर उस श्लिष्टालंकार के योग्य जो उच्चारण होता है—उसके अनुरूप जो शब्द होता है—उसका जब पृथक् पृथक्

एवमेते चत्वारो व्यतिरेका प्रतिपादिताः। निमित्तदर्शनादर्शनाभ्यां यौ व्यतिरेकौ तयोः प्रत्येकमुपमानोपमेयभावस्य इवाद्युपादानानुपादानाभ्यां द्विभेदत्वात्।

एषामपि चतुर्णां व्यतिरेकाणां श्लिष्टोक्तियोग्यशब्दोपादाने सति पुनरपरे पूर्वोपक्रान्तेनैव रूपेण चत्वारो भेदा भवन्ति। तदाह—

श्लिष्टोक्तियोग्यशब्दस्य पृथक्पृथगुदाहृतौ।
विशेषापादनं यत्स्याद् व्यतिरेक : स च स्मृतः ॥८॥ (३१)

एकप्रयत्नोच्चार्याणामित्यादिवक्ष्यमाणलक्षणं श्लिष्टम्। श्लिष्टालंकारसमुचितं यदुच्चारणं तत्समुचितस्य शब्दस्य यदा तंत्रेण सदृशशब्दान्तरोपादानहेतुतया वा प्रयोगो न क्रियते अपितु पृथक् पृथगुच्चारणं तदा विशेषापादाने सति व्यतिरेको भवति। तस्योदाहरणम्

मू०— या शैशिरी श्रीस्तपसा मासेनैकेन विश्रुता:[1]
तपसा तां सुदीर्घेण[2] दूराद्विदधतीमधः ॥१०॥

(दो बार) प्रयोग हो और उसके द्वारा विशेषापादान हो, तो वहाँ व्यतिरेक होगा। [यद्यपि इसे श्लेषयुक्त व्यतिरेक या श्लिष्टोक्ति योग्य शब्द युक्त व्यतिरेक कहना चाहिए, फिर भी यहाँ 'लेष' तब कहा जाता जब कि एक शब्द एक ही बार कहा गया होता और उसके दो अर्थ होते, पर यहाँ वही एक शब्द दो बार पृथक् पृथक् अर्थ में प्रयुक्त है—तब श्लेष कैसे कहा जा सकता है?] यदि दो अर्थ लेते हैं तो यह आवश्यक है कि [उस शब्द की] आवृत्ति हो [नियम है—'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति']। उस शब्द को केवल एक ही बार उच्चारित करने से भी यहाँ अभीष्ट सिद्ध नहीं होने को और एक ही अर्थ के बोधक दो भिन्न शब्दों के प्रयोग करने से भी। यहाँ तो एक ही आकार के शब्द को, जो भिन्न भिन्न अर्थ रखते हों—दो बार उच्चारण करना होगा—उसका उदाहरण (निम्नलिखित है):—

तपस् (माघ) से एक मास के लिए ही भूलोक विश्रुत शैशिरी श्री को अपने सुदीर्घ तपस् से दूर से ही तिरस्कृत करती हुई [पार्वती]। अर्थात् शिशिर की शोभा ने तो एक ही तपस् (माघमास) से भूतल में विश्रुति प्राप्त की, पर पार्वती दीर्घ तपस् से भूतल में प्रसिद्ध हुई।

यहाँ शिशिर शोभा उपमान है। भगवती पार्वती उपमेय हैं। दोनों का साधारण धर्म है—तपोयोग। एक स्थल पर तपस् का अर्थ है—माघमास और

पा० भे०—१ मासेन भुवि विश्रुता। २. तपसा सहसैवैनाम्।

अत्र शिशिरशोभा उपमानम् । भगवती उपमेया । तयोश्च साधारणो धर्मस्तपोयुक्तत्वं नाम । एकत्र तथा माघो मासः, अपरत्र तु अभ्युदयहेतुः कृच्छ्राचरणम् । इवादयश्चात्रानुपात्ता अपि सामर्थ्यादवगम्यन्ते । व्यतिरेकस्तु–दूराद्विदधती मघः–इति। तस्य च निमित्तं मासैक्यं दीर्घत्वञ्च तपसोः । तच्च यथाक्रममुपमानोपमेयगतत्वेनोपात्तम् । तत्र च वत्यादिना अनुपात्ते उपमानोपमेयभावे निमित्तदर्शनेन व्यतिरेक उदाहृतः ।

एवमनया दिशान्यदपि श्लिष्टोक्तियोग्यशब्दनिबंधे सति व्यतिरेकस्य पूर्वोक्तनयेन भेदत्रयमुदाहार्यम् ।

विभावना––

क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना ।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति ॥९॥ (३२)

अन्यत्र अभ्युदय का उपाय कष्टमय आचरण। इवादि यहाँ यद्यपि उपात्त नहीं है, फिर भी अर्थ के संदर्भ से उसकी अवगति हो ही जाती है। 'दूर से ही तिरस्कृत करती हुई"––व्यतिरेक घोषित करता है। निमित्त है––तपस् की एक ओर एक मास की ही स्थिति और दूसरी ओर दीर्घकाल तक स्थिति और वे क्रमशः उपमान गत और उपमेयगत प्रयुक्त हैं। यद्यपि 'वति' इत्यादि प्रत्यय से उपमानोपमेयभाव उपात्त नहीं है, फिर भी निमित्त दर्शन से 'व्यतिरेक' की स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

इसी प्रकार श्लिष्टोक्तियोग्य शब्द का प्रयोग होने के कारण पूर्वोक्त तप से व्यतिरेक के और भी तीन भेदों का उदाहरण देख लेना चाहिए।

विभावना [का विचार से यहाँ से आरंभ किया जा रहा है]––

क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी जब उसके फल का प्रकाशन देखा जाय और इस स्थिति में आपाततः प्रतीत विरोध का परिहार सुलभ हो––तो वहाँ विभावना नामक अलंकार होता है॥९॥ [३२]

यहाँ जो कुछ भी उत्पन्न होता है––वह सब क्रिया का ही फल है। क्रिया के ही द्वारा कारण से कार्य की उत्पत्ति प्रातीतिक रूप से दिखाई पड़ती है समस्त फलों का क्रिया ही एकमात्र अव्यवहित कारण है। जहाँ क्रिया का प्रतिषेध किया जाता हो और फल की उत्पत्ति कही जाती हो––वहाँ विभावना नामक अलंकार कहा जाता है। कारण के न रहने पर भी वहाँ कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाता है––अतः विरुद्धाभासा भावना या उत्पादना जान पड़ती है––इसीलिए इसे विभावना कहते भी हैं।

इह यत्किञ्चित् जायते तत्सर्वं क्रियाफलम् क्रियामुखेन कारणेभ्यः कार्योत्पत्तेः प्रावीतिकेन रूपेण परिदृश्यमानत्वात् सर्वेषां फलभूतानां क्रियैवाव्यवहितं कारणम्। यत्र च क्रिया प्रतिषिध्यते अथ च क्रियाफलस्योत्पत्तिरुपदिश्यते, तत्र विभावनाख्योऽलंकार :। कारणविगमे किल कार्यस्य तत्रोत्पत्तिः उपवर्ण्यते, अतो विरुद्धाभासा भावना उत्पादना तेन विभावना। नन्वेवं सति व्यर्थदोषत्वप्रसङ्गः—विरुद्धार्थं मतं व्यर्थमिति। अत आह–समाधौ सुलभे सति–इति। सामाधिः परिहारः। यत्र विरोधस्य सुलभः परिहार इत्यर्थः।

तस्या उदाहरणम्—

मू०— अङ्ग लेखामकाश्मीरसमालम्भनपिञ्जराम्।
अनलक्तकताम्राभामोष्ठमुद्रां च बिभ्रतीम् ॥१०॥

अङ्गलेखा शरीरयष्टिः। काश्मीरं कुंकुमम्। येयं पीतच्छायता शरीरस्य सा नायिकानां कुंकुमसमालम्भनलक्षणक्रियाकार्या प्रायेण परिदृश्यते। भगवत्यास्तु शरीरे पीतच्छायत्व न कुंकुमसमालम्भनेनोत्पादितम्। अतः कुंकुमसमालम्भनलक्षणायाः क्रियायाः विगमे फलस्य पीतच्छायत्वस्यात्रोपदेशः। परिहारश्चात्र स्वाभाविकतया तच्छायत्वम्–इति। तेनेयं विभावना। अनलक्तकताम्राभामित्यत्रालक्तक-

---

यहाँ यह आशंका की जा सकती है [कारण के न रहने पर भी कार्य का कथन होने से] व्यर्थत्व दोष का प्रसंग उपस्थित है। व्यर्थ का अर्थ है—जहाँ बात विरुद्ध जान पड़े। इसी आपाततः प्रतीत होने वाले दोष के परिहार के ही लिये कहा है—समाधौ सुलभे सति—इति। अर्थात् जहाँ इस आपाततः प्रतीत विरोध का परिहार सुलभ हो—[वहीं विभावना होती है]। उस (विभावना) का उदाहरणः—

कुंकुम स्पर्श के बिना ही पीताभ अंग रेखा वाली, तथा अलक्तक के बिना ही ताम्राभ ओष्ठ मुद्रा धारण करती हुई [पार्वती को देखा] ॥११॥

अंगलेखा से मतलब है—शरीरयष्टि का। काश्मीर का अर्थ है—कुंकुम। शरीर की जो यह पीत प्रभा है, वह नायिकाओं में प्रायः कुंकुमस्पर्शन रूप क्रिया के द्वारा सम्पन्न की जाती हुई दिखाई पड़ती है, पर भगवती के शरीर में पीत-प्रभा कुंकुम लेप से उत्पन्न नहीं की गई थी। इस प्रकार कुंकुम लेपन रूप क्रिया के न रहने पर भी पीत प्रभा रूप फल की यहाँ उक्ति है। इस विरोध का परिहार यह है कि पार्वती के गात्र में पीलापन स्वाभाविक है। इसीलिये यहाँ विभावना है। अनलक्तकताम्राभ—कहने से यह स्पष्ट है कि अलक्तक के द्वारा उत्पाद्य राग-क्रिया का यहाँ निषेध है और उसके फल लौहित्य या लालिमा की उत्पत्ति जो

कारणिकाया रागक्रियाया निषेधस्तत्फलस्य लौहित्यस्योत्पत्तिः स्वाभाविकी निर्दिष्टा.-
अतो विभावना। अत्र च कुङ्कुमादिसंपाद्येन पिञ्जरत्वादिना उपमानभूतेन स्वाभा-
विकस्य पिञ्जरत्वादेरुपमेयभूतस्याभेदाध्यवसायोतिशयोक्त्या द्रष्टव्यः।

समासोक्तिः

प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता ॥११॥ (३३)

यत्र प्रस्तुतार्थनिष्ठं वाक्यं तत्समानैर्विशेषणैस्तेनाप्रकृतेनार्थेन तुल्यानि यानि
विशेषणानि तद्द्वारेण सादृश्यवशादप्रस्तुतमर्थमुपमानभूतं कथयति सा संक्षेपेणो-
पमानोपमेयलक्षणार्थद्वितयाभिधानात्समासोक्तिः। तस्या उदाहरणम्—

दन्तप्रभासुमनसं पाणिपल्लवशोभिनीम्।
तन्वीं वनगतां लीनजटाषट्चरणावलिम् ॥१२॥

स्वाभाविक है—यहाँ कही गई है—इसलिये विभावना है। यहाँ पर कुंकुमादि संपाद्य पीलापन इत्यादि उपमान है और स्वाभाविक पीलापन इत्यादि उपमेय है—जो निगीर्ण है। अतः अभेदाध्यवसाय रूप अतिशयोक्ति भी यहाँ द्रष्टव्य है।

समासोक्ति [का विचार]—जहाँ प्रकृतार्थपरक वाक्य से अप्रकृतार्थ का कथन हो रहा हो और साधन समान विशेषण हों—वहाँ समासोक्ति होती है ॥१०॥ (३३) ॥

जहाँ प्रस्तुत अर्थपरक वाक्य तत्समान विशेषणों द्वारा अर्थात् अप्रकृत अर्थ की ओर भी लगने वाले समान विशेषणों द्वारा सादृश्य वश उपमान रूप अप्रस्तुत अर्थ का कथन करे—वहाँ संक्षेप में ही उपमान एवं उपमेय स्वरूप दो अर्थों का अभिधान होने से समासोक्ति होती है। उसका उदाहरण यों है—

प्रकृत अर्थः—सुमनरूपी दाँतों की कांति से समन्वित पल्लवरूपी हाथों से सुशोभित भ्रमरावली रूप काली जटा वाली कृश कलेवर जलस्थित [पार्वती को देखा]

अप्रकृत अर्थः—पुष्प ही जिसकी दंतप्रभा है, पल्लव ही जिसके हाथ हैं, व्याप्त भ्रमरावली ही जिसकी जटा है—वह पतली वन की लता।

यहाँ भगवती के दंतप्रभा, पाणि और जटा-रूप जो विशेषण हैं—वे क्रमशः लतागत सुमन, पल्लव एवं भ्रमर रूप से लता के संदर्भ में ऐक्य प्राप्त करते हैं। तनुता भगवती एवं लता—का साधारण धर्म है। वन शब्द में श्लेष है, जहाँ रूपक की झलक भी है—या जो रूपक की झलक का कारण है। श्लेष से

अत्र दन्तप्रभापाणिजटा भगवतीविशेषणभूता यथाक्रमं लतागतसुमनःपल्लवषट्चरणरूपेण लतया तद्भावमापद्यन्ते। तनुत्वं तु भगवतीलतयोः साधारणो धर्मः। वनशब्देन च रूपकप्रतिभोत्पत्तिहेतुना श्लेषेण भगवतीतपश्चर्याधारभूतमुदकं लताधारेण काननेन रूप्यते। अत एवान्यत्र प्रकृतया भगवत्या उपमेयभूतया लता उपमानत्वेनाक्षिप्यते। तेनेयं समासोक्तिः।

अतिशयोक्तिः

मू०— निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया बुधाः ॥११॥ [३४]
भेदेऽनन्यत्वमन्यत्र नानात्वं यत्र बध्यते।
तथा संभाव्यमानार्थनिबंधेऽतिशयोक्तिगीः ॥१२॥ [३५]
कार्यकारणयोर्यत्र पौर्वापर्यविपर्ययात्।
आशुभावं समालम्ब्य बध्यते सोऽपि पूर्ववत् ॥१३॥ [३६]

यद् वचनं किञ्चित्कारणमाश्रित्य लोकातिक्रान्तगोचरमुपनिबध्यते सातिशयोक्तिः। तस्याश्च चत्वारो भेदाः। यत्र भेदेऽन्यत्वेऽनन्यत्वमैक्यं स एकः। अन्यत्राभेदे ऐक्ये नानात्वं भेदो यत्र स द्वितीयः। तथा बहिरविद्यमानस्यार्थस्य संभावनामात्रेणोपनिबंधे तृतीयः। कार्यकारणयोस्तु कार्यस्य शीघ्रमेवोत्पादात् पौर्वापर्यविपर्ययेण चतुर्थो भेदः। तत्राद्यस्य भेदस्योदाहरणम्।

दो अर्थ मिलते हैं—भगवती की तपश्चर्या का आधारभूत जल तथा लता का आधार कानन। फिर जल कानन से रूपित भी है—जल पर कानन का आरोप भी है। इन्हीं समान विशेषणों की क्षमता से उपमेयभूत प्रस्तुत भगवती [प्रकृत अर्थ] से लता का उपमान रूप में आक्षेप होता है। इसीलिये यहाँ समासोक्ति है।

अतिशयोक्तिः

जो बात किसी खास कारण से लोकोत्तर रूप से कही जाय, विद्वान् लोग उसे अतिशयोक्ति अलंकार के रूप में मानते हैं॥११॥ [उसके चार भेद यों हैं]—(१) भेद में ऐक्य और (२) ऐक्य में भेद जहाँ निबद्ध हो वहाँ तो अतिशयोक्ति होती ही है वहाँ भी होती है जहाँ बाहर अविद्यमान अर्थ का भी संभावना मात्र से उपनिबंध हो॥१२॥ [३५] (४) शीघ्रता प्रदर्शित करने के लिये जहाँ कार्य एवं कारण के (स्वाभाविक) पूर्वापरीभाव को उलट कर रखा जाय—वहाँ भी पहले की भाँति अतिशयोक्ति ही होती है॥१३॥ [३६]॥

तपस्तेजः स्फुरितया निजलावण्यसंपदा ।
कृशामप्यकृशामेव दृश्यमानामसंशयम् ।।१३।।

अत्र यासावकार्श्यावस्था भगवत्याः पूर्वमभूत्ततो भिन्नमपि तपोजनितं कार्श्यं तदभेदेनोपनिवद्धमकृशामेवेति । तत्र च निमित्तं तपस्तेजसा सविशेषत्वमापादितः सौंदर्यसंभारः । अतो निमित्तवशेन लोकातिक्रान्तो गोचरोऽस्य वाक्यस्य । तेनेयमतिशयोक्तिः । द्वितीयस्य तु भेदस्योदाहरणम्—

अचिन्तयच्च भगवानहो नु रमणीयता ।
तपसास्याः कृतान्यत्वं कौमाराद्येन लक्ष्यते ।।१४।।

अत्र भगवती कुमारीभावेऽपि वर्तमाना तदुत्तरकालभाविनी यासौ यौवनावस्था तद्युक्तत्वेनोपनिबद्धा कौमारादन्यत्वमिति । निमित्तं चात्र तपोजनिता रमणीयता । तेनायमभेदे भेदोपनिबंधः । तृतीयस्य पुनर्भेदस्योदाहरणम्—

पतेद्यदि शशिद्योतच्छटा पद्मे विकाशिनि ।
मुक्ताफलाक्षमालायाः करेऽस्याः स्यात्तदोपमा ।।१५।।

जो बात किसी कारणवश इस ढंग से कही जाय कि वह लोकोत्तर जान पड़े—यहाँ अतिशयोक्ति होती है। उसके चार भेद होते हैं। जहाँ दो वस्तुओं में वस्तुतः भेद हो—पर उनमें एकता कही जाय और एकता में अनेकता कही जाय—वे दो भेद। और बाहर अविद्यमान अर्थ का संभावनावश यदि कथन हो—तो तीसरा भेद। कार्य एवं कारण में कार्य की शीघ्र उत्पत्ति द्योतित करने के लिए स्वाभाविक पूर्वापरीभाव को जहाँ उलट दिया जाय वहाँ चौथा भेद होता है।। इनसे प्रथम भेद का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है।

तपस्तेज के कारण और अधिक स्फुरित होती हुई निजी सौंदर्य सम्पत्ति से—कांतिराशि से—स्वभावतः कृशकाय होने पर भी निसंदेह भरे-पुरे शरीर वाली पार्वती देखी जाती हुई...।

यहाँ यह जो भगवती की पहले की अकृशावस्था थी—उससे भिन्न होते हुए तपोजनित कार्श्य को उससे अभिन्न करके 'अकृशामेव' इत्यादि उक्ति से कहा गया है। इस कथन में निमित्त यह है कि तपोजनित तेज से पहले सौंदर्यसंभार में अब कुछ और ही विशेषता आ गई है। इस प्रकार इस निमित्त वश इस वाक्य का अर्थ कुछ लोकोत्तरता लिए जान पड़ता है।

दूसरे भेद का उदाहरण यों है—भगवान् शंकर ने भी सोचा—वाह! क्या सौंदर्य है। तपस्या ने जैसे कौमार्यसुलभ सौंदर्य से कुछ और ही [सौंदर्य] दिया है।।१४।।

शशिद्योतच्छटा चन्द्रप्रकाशप्रकारः। अस्याः करे मुक्ताफलाक्षमालायास्तदा उपमा स्यादिति संबंधः। अत्र रजनिकरकरसंपर्के सति कमलस्य संकोचावलोकनाद्विकाशित्वं वहिरसंभवदपि कविप्रजापतिना प्रतिभोपजनितेन स्वव्यापारेण संभवद्रूपतया प्रदर्शितम्। अतोऽत्र संभाव्यमानार्थनिबंधः। तस्य च लोकातिक्रान्तगोचरस्यार्थस्य संभावनाया निमित्तं भगवती कराधारतया मुक्ताफलाक्षमालावलोकनम्। तथा ह्ययं तावल्लोकातिक्रान्तोपरिदृष्टपूर्वोऽस्माभिःगौरीकरमुक्ताफलाक्षमालयोराधाराधेयभावोऽवलोकितः। तत् सजातीयस्य पद्मस्य विकाशिनश्चन्द्रकराणां च यद्याधाराधेय भावः स्यात् तदात्रोपमानोपमेयभावो भवेदिति संभावना प्रवृत्ता। अतोऽत्र सजातीयपदार्थदर्शनाद् बहिरसंभवदपि वस्तु संभवद्रूपतयोपवर्ण्यते।

यहाँ भगवती पार्वती यद्यपि कुमारी भाव में ही हैं, फिर भी कौमार्य अवस्था के बाद आनेवाली युवावस्था से संबद्ध करके 'कौमाराद् अन्यत्वम्" द्वारा उनका वर्णन किया गया है। निमित्त है—इस प्रकार की उक्ति का—तपोजिनत रमणीयता। इस प्रकार यह अभेद में भेद का उदाहरण हुआ। [कारण है एक मात्र कौमार्यसुलभ सौंदर्य ही, पर वह उससे भिन्न यौवन सुलभ सौंदर्य के रूप में वर्णित किया गया है]।

अब पुनः तीसरे प्रभेद का उदाहरण [किया जा रहा है]।

यदि चंद्रप्रभा खिले हुए कमल पर गिरे—तब इसके हाथों में पड़े हुए मुक्ताफल तथा अक्षमाला की उपमा हो सकती है॥१५॥

शशिद्योतच्छाया का अर्थ है—चंद्रप्रकाश का एक प्रकार। अन्वय यों है—इसके हाथ में मुक्ताफल तथा अक्षमाला की तब उपमा होगी। यहाँ चंद्रकिरणों के संपर्क होने पर कमल का संकोच देखा जाता है, अतः यद्यपि जगत् में यह संभव नहीं है फिर भी कविरूपी प्रजापति की प्रतिभा से प्रसूत निजी व्यापार द्वारा उसकी संभावना व्यक्त की गई है। इसलिए यहाँ संभाव्यमान अर्थ का कथन है। इस लोकोत्तर उक्ति तथा संभावना का निमित्त है—भगवती के हाथों में पड़े हुए मुक्ताफल तथा अक्षमाला का अवलोकन। कारण, लोकोत्तर तथा अदृष्टपूर्व गौरी के हाथ तथा मुक्ताफल और अक्षमाला का आधाराधेयभाव देखा गया है। तत्सजातीय विकसित पद्म एवं चंद्ररश्मियों का यदि आधाराधेयभाव हो तब यहाँ उपमानोपमेय भाव होगा—यह संभावना की गई है। इसीलिए यहाँ सजातीय पदार्थ के दर्शन से बाह्य जगत् में असंभव होने वाली भी वस्तु संभाव्य रूप से वर्णित की गई है। एक पदार्थ के दृष्टिगोचर होने पर दूसरी के अदृष्टिगोचर होने पर भी उसके सजातीय की संभावना होती ही है। दाक्षिणात्य में एक ऊँट देख लेने पर

एकस्मिन्——खलु पदार्थे परिदृष्टे अन्यस्मिन्ननवलोकितेपि तत्सजातीय संभावना प्रवर्तते। यथा दाक्षिणात्यस्यैकस्मिन्नुष्ट्रे परिदृष्टे सत्यपरिदृष्टोष्ट्रान्वरसंभावना। अतोऽत्र संभावना सनिमित्ता। अनेन च प्रकारेणात्रोपमानाभावः प्रकृतस्य वस्तुनः प्रदर्श्यते नास्त्यन्यत्किंचिदस्योपमानमिति। अतएव संभाव्यमानतया अर्थस्योपनिवद्धस्य निराचिकीर्षया यदि शब्दः प्रयुक्तः। यदि शब्देन ह्यत्राशंका द्योत्यते। आशङ्का चानिश्चितसद्भावे वस्तुनि भवति। यच्चानिश्चितसद्भावं कविवेधसा संभवद्रूपतयोपदर्शितं वस्तु तस्य पुराणप्रजापतिनिर्मितपदार्थविषयया तद्विरुद्धया लोकप्रतीत्या यावन्निराक्रियमाणत्वं तावन्निरुपमत्वं प्रतीयते। एवमयं तृतीयो भेदः।

चतुर्थस्तुः——[मू०] मन्ये च निपतन्त्यस्याः कटाक्षा दिक्षु पृष्ठवः।
प्रायेणाग्रे तु गच्छन्ति स्मरवाणपरम्पराः ॥१६॥

अत्र दिक्षु कटाक्षपातः कारणम्। स्मरवाणपरम्परागमनं तु कार्यम्। कार्यकारणयोस्तु कारणस्य नैसर्गिकं प्राग्भावित्वं कार्यस्य तु पश्चाद्भावित्वम्। इह तु विपर्ययः कार्यस्य प्राग्भवेनोपनिवंधनात् पश्चाद्भावित्वेन च कारणस्य कटाक्षा-

---

अदृष्टिगोचर दूसरे ऊँट की संभावना हो ही सकती है। इसलिये यहाँ जो संभावना की गई है वह निर्निमित नहीं है, सनिमित्त है। इस पद्धति से यहाँ प्रस्तुत उपमेय वस्तु का उपमानाभाव दिखाया जा रहा है कि जगत् में कोई भी भिन्न वस्तु इसका उपमान नहीं हो सकती। इसीलिये संभाव्य रूप से उपनिवद्ध अर्थ के निराकरण की इच्छा से ही 'यदि' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'यदि' शब्द से यहाँ आशंका द्योतित की गई है। आशंका उसी वस्तु के विषय में होती है जिसके सद्भाव में निश्चय नहीं होता। जिस वस्तु का सद्भाव निश्चित न हो और फिर कवि-रूपी प्रजापति ने इसका संभाव्य रूप से वर्णन किया हो——उस वस्तु का पुराण प्रजापति द्वारा निर्मित पदार्थ विषयक विरोधी लौकिक प्रतीति से निराकरण हो जाता है और इस प्रकार प्रस्तुत अर्थ निरुपम है——यह स्पष्ट होता है। इस प्रकार यह तीसरा भेद समाप्त हुआ। जहाँ तक चौथे भेद की बात है, उसका उदाहरण यों है:——

मानता हूँ कि इसके कटाक्ष पीछे से दिशाओं में बिखरते हैं, परन्तु प्रायः आगे-आगे काम की ही वाण परम्परा गतिशील दिखाई देती है॥१६॥

यहाँ दिशाओं में कटाक्षपात होना कारण है। स्मरवाण परम्परा का आगमन तो कार्य है। पर कार्य एवं कारण में कारण स्वभावतः पहले होता है और कार्य पीछे होता है। यहाँ उलटा ही है। कार्य पहले कह दिया गया है और कारण को बाद में कहा गया है——जैसे कटाक्ष पीछे गिरते हैं और वाण परम्परा

दिक्षु पृष्ठतः पश्चात्पतन्ति अग्रे स्मर वाणपरम्परा गच्छन्तीति। अत्र निमित्तं कार्यस्य शीघ्रमेवोत्पादः । तेनेदं निमित्ततो लोकातिक्रान्तगोचरं वचनम्। अतोऽतिशयोक्तिः।

इति महाश्रीप्रतीहारेंदुराजविरचितायामुद्भटालंकारसार— संग्रहलघुवृत्तौ द्वितीयो वर्गः ॥

पहले ही आ जाती है। यहाँ उलटा कहने का निमित्त है कि कार्य शीघ्र उत्पन्न प्रतीति हो। इसलिये यहाँ भी कारणविशेष से लोकोत्तर कथन हुआ है। इसलिए यहाँ भी अतिशयोक्ति है।

इस प्रकार श्री प्रतीहारेंदुराज विरचित उद्भटालंकारसार संग्रह तथा उसकी लघुवृत्ति का दूसरा वर्ग समाप्त हुआ।

तृतीयो वर्गः

मू०— यथासंख्यमथोत्प्रेक्षां स्वभावोक्तिन् तथैव च ।
अपरे त्रीनलंकारान् गिरामाहुरलंकृतौ ॥१॥ (३७)

यथासंख्यम्

भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम् ।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते ॥२॥ (३८)

पूर्वमुद्दिष्टानामर्थानां यदा क्रमेणार्थान्तराण्यनुनिर्दिश्यन्ते तदा यथासंख्याख्योऽलंकारः । तत्र हि संख्योपलक्षितक्रमानतिक्रमेण शब्देनानुपात्तोऽपि पदार्थानामन्वयः समाश्रीयते । अतो यथाक्रमं पदार्थानामन्वयध्वननादेतस्यालंकारस्य यथा संख्यता स चालंकारो बहूनामल्पशोऽपि उपनिवध्यमानो यतः शोभावद्धो भवति अतो भूयसामित्युक्तम् । द्वयोर्हि तस्योप निवध्यमानस्य यावच्चतुर्गुणत्वादि रूपतयोबनिबंधो न कृतः तावच्छोभोपेतत्वं न भवति । भूयसां पुनरर्थानां तद्यथासंख्यमल्पेनैव प्रयासेन रम्यं भवति । तत्र हि तस्य द्विगुणस्य त्रिगुणस्य वोपनिवंधे शोभातिशयो जायते । तदुक्तम्——

अन्य आचार्यो ने वाणी की अलंकृति के लिये तीन अलंकारों का नाम लिय है—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा तथा स्वभावोक्ति ॥१॥ (३७)।

यथासंख्यः

पूर्व निर्दिष्ट अनेक असमानधर्मी अर्थों का क्रमशः अनुनिर्देश ही यथासंख्य है ॥२॥ (३८)

पूर्व निर्दिष्ट अर्थों के क्रम से जब अन्य अर्थों का अनुनिर्देश होता है—तो वहाँ यथासंख्य नाम का अलंकार होता है। कारण यह कि वहाँ संख्योपलक्षित क्रम का अतिक्रमण न कर शब्द द्वारा अनुक्त रहने पर भी पदार्थों का समुचित अन्वय हो जाता है। इसलिए क्रमानुसार पदार्थों के संबंध-ध्वनन के ही कारण इस अलंकार को यथासंख्य कहा जाता है। यह अलंकार अनेक पदार्थों के यथाक्रम निर्देश-अनुनिर्देश से अल्पशः उपनिबद्ध हो तो भी शोभाशाली हो पाता

तद्द्विगुणं त्रिगुणं वा बहुषूद्दिष्टेषु जायते रम्यम् ।

यत्तेषु तथैव ततो द्वयोस्तु बहुशो निबध्नीयात् ।। इति (रुद्रट:-का० ७।३५)

ननु मृणाल हंसेत्यादावुपवर्णयिष्यमाणे उदाहरणे मृणालादिभ्य उपमानेभ्यः वाहवादीनामुपमेयानां विशेषख्यापनाद् व्यतिरेकालंकारेण सहृदयहृदयाण्यावर्ज्यन्ते न तु यथासंख्येन, तत्कथं यथासंख्यमलंकार इत्याशङ्क्योक्तम्–असधर्मणाम्–इति । यत्रापिहि साधर्म्याभावात् उपमानोपमेयभावाभावेन व्यतिरेकादेरपनिबंधाभावस्तत्राप्ययं शोभातिशयमावहति इति–इत्यर्थः ।

कज्जलहिमकनकरुचः सुपर्ण वृषहंसवाहना शंवः ।
जलनिधिगिरिपद्मस्था हरिहरचतुरानना ददतु ।। इति
(रुद्रट–का० ७।३६)

अत्र हि हरिप्रभृतीनां त्रयाणामुद्दिष्टाना कज्जलरुक्त्व-सुपर्णवाहनत्व-जलनिधिस्थत्वादयो धर्माः क्रमेणानुनिर्दिष्टाः । न च तत्र परस्परसाधर्म्यं विद्यते । अथ च क्रमपर्यालोचनया अर्थानामानुरूप्येण समन्वयप्रतीतेः शोभातिशयो विद्यते । तेनास्य साधर्म्याद्यभावेऽपि पृथगलंकारताप्रतिलम्भात् यत्र साधर्म्यादि विद्यते तत्राप्यलंकारत्वं

है––इसलिए कारिका में [अलंकार का लक्षण करते हुए] 'भूयसाम्'—ऐसा कहा गया है। यदि मूल एवं मुख्य संबंधी दो ही हों और उनको लेकर यथासंख्य की बँधान बाँधी गई हो, तो जब तक यह अनुनिर्देश चौगुना अर्थात् चार-छः बार न हो––तब तक सौंदर्य नहीं आता। [सारांश यह कि मूल संबंधी यदि बहुत हों तो अनुनिर्देश एक बार भी चमत्कारी हो सकता है और यदि कम हों––दो ही हों––तो अनेक बार आवश्यक है।] यदि अर्थ अनेक हों तो यथासंख्य थोड़े ही प्रयास से रमणीय हो जाता है। वहाँ यदि दो या तीन बार ही निर्देश-अनुनिर्देश हो, तो सौंदर्य आ जाता है। जैसा कि (रुद्रट ने भी) कहा है—यदि अनेक पदार्थ उद्दिष्ट (कथित) हों, तो द्विगुण या त्रिगुण यथासंख्य निर्देश भी चारुता पैदा करता है, पर यदि उद्दिष्ट पदार्थ दो ही हों––तो उनके संबंधियों का यथासंख्य निर्देश बहुशः अपेक्षित होता है [रुद्रट-का० ७।३५]।

यहाँ यह आशंका खड़ी की जा सकती है कि "मृणाल हंस..." इत्यादि जो उदाहरण आगे दिया जाने वाला है—उसमें तो मृणाल आदि उपमान की अपेक्षा बाहु आदि उपमेय की विशेषता बताई गई है—अतः व्यतिरेकालंकार से वहाँ सहृदयों का हृदय आवर्जित किया जाता है, न कि यथासंख्य से, तो फिर वहाँ [जब विच्छित्ति का मूल यथासंख्य नहीं है] तो यथासंख्य का व्यवहार कैसे किया गया है? इसी आशंका का समाधान करने के लिये कारिकाकार ने 'अस-

दुर्निवारम्। अतो--मृणालहंसेत्यादिके उदाहरणे यथासंख्यमङ्गभूतं व्यतिरेकालंकारस्य द्रष्टव्यम्। तेनायमङ्गाङ्गिभावेन संकरः। यद् वक्ष्यति

"परस्परोपकारेण यत्रालंकृतयः स्थिताः।
स्वातंत्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि संकरः" ॥ इति ॥

अतो यथासंख्यं पृथगलंकारत्वेनोपदेष्टव्यम्।

तस्योदाहरणम्

मृणालहंसपद्मानि बाहुचङ्क्रमणाननैः।
निर्जयन्त्यानया व्यक्तं नलिन्यः सकला जिताः ॥१॥

अत्र बाहुचंक्रमणाननानामुद्दिष्टानां यथाक्रमं मृणाल हंस पद्मान्यनुनिर्दिष्टानि। तद्वशेन च शब्दानुपात्तस्य तदन्वयस्य गर्भीकृतत्वेन च क्रमभणितिसद्भावाद् यथासंख्यमलंकारः।

उत्प्रेक्षाः—

मू०— साम्यरूपाविवक्षायां वाच्येवाद्यात्मभिः पदैः।
अतद्गुणक्रियायोगात् उत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥३॥ (३९)

धर्मणाम्'—कहा है। अर्थात् जहाँ साधर्म्य न होने के कारण उपमानोपमेयभाव प्रदर्शनपूर्वक व्यतिरेक आदि का उपनिबंध नहीं भी होता—वहाँ भी यथासंख्य नाम का अलंकार शोभातिशय वहन करता है। इसलिए दोनों का क्षेत्र असंकीर्ण भी है।

कज्जल की सी कांति वाले, सुपर्ण या गरुड की सवारी वाले जलनिधिशायी हरि, हिम की भाँति श्वेत, वृषासन कैलास पर्वत निवासी हर तथा सुनहली कांतिवाले हंसवाहन, पद्मासन ब्रह्मा तुम लोगों का कल्याण करें (रुद्रट का० ७।३६)

यहाँ हरि आदि तीन व्यक्ति कथित हैं—उद्दिष्ट हैं और क्रमशः कज्जल की सी कांति, सुपर्ण की सवारी तथा जलनिधि का वास-आदि धर्म अनुनिर्दिष्ट हैं। इन धर्मों (या धर्मियों) में परस्पर कोई भी साधर्म्य नहीं है। पर क्रम की पर्यालोचना द्वारा अर्थों का अनुरूप अन्वय (संबंध) प्रतीत हो जाने से सौंदर्यातिशय प्रतीत होता है। इसलिए यथासंख्य की साधर्म्य आदि के न रहने पर भी पृथक् रूप से असंकीर्णरूप से—अलंकारता की उपलब्धि जब सिद्ध है—तो साधर्म्य जहाँ हो—वहाँ भी अलंकारता दुर्निवार नहीं है। इसलिये 'मृणाल हंस'... इत्यादि वाले उदाहरण में व्यतिरेकालंकार के अंगरूप में यथासंख्य की स्थिति समझनी चाहिए। इस प्रकार दोनों का अंगांगिभाव होने से सांकर्य मान लेना

यत्रेवादिपदनिबंधः साम्यस्य च रूपं न विवक्ष्यते तत्रोत्प्रेक्षाख्योऽलंकारः। नन्वेवं सत्यसंभवो नाम लक्षणदोषः प्राप्तः द्योत्यस्योपमानोपमेयभावस्याभावे सति इवादीनामप्रयोगप्रसंगात् इत्याशङ्क्योक्तमतद्गुणाक्रियायोगादिति । द्रव्यधर्मः सिद्धो गुणः साध्यस्वभावस्तु क्रिया । इदं खलु विश्वं स्वतंत्र-परतंत्र-पदार्थात्मकत्वाद्-द्विविधम् । यश्च स्वतंत्रः पदार्थः--स धर्मीत्यभिधीयते । तच्च इदं तदिति सर्व-नामप्रत्यवमर्शभोग्यत्वाद्द्रव्यम् । परतन्त्रस्य पदार्थस्य धर्मरूपता । तस्य च द्वैविध्यम् । सिद्धसाध्यताभेदात् । तत्र यः सिद्धो धर्मः स गुणो यस्तु साध्यः सा क्रिया । एतावन्तश्च लौकिकाः पदार्थाः । सामान्यादीनामत्रैव प्रातीतिकेन रूपेणान्तर्भूतत्वात् । अत्र असोऽप्रकृतो योऽर्थस्तस्य ये क्रिया गुणाः, अनन्तरोक्तलक्ष-णास्तद्योगात्साम्यरूपाविवक्षायामपि इवादिशब्दप्रवृत्तिरविरुद्धा । यत्र किलो-पमानोपमेयभावेन साम्यं तत्रोपमानसादृश्यात् उपमानवर्तिनां क्रियागुणानामुपमेये प्रतीतिर्भवति । उत्प्रेक्षायामपि योसावसः अप्रकृतस् तस्य ये क्रियागुणास्ते तस्मिन्

चाहिए। जैसा कि कहेंगे भी—परस्पर उपकार्योपकारकभावपूर्वक जहाँ कई अलंकार स्थित हों और परस्पर निरपेक्ष स्वरूप लाभ न करते हों—वह भी संकर है। निष्कर्ष यह कि यथासंख्य को अलग से अलंकार कहना चाहिए उसका उदाहरण यों है—मृणाल को अपनी भुजाओं से, हंस को गति से तथा पद्म को मुख से जीत लेने वाली इस नायिका द्वारा समस्त कमलिनियाँ भी जीत ली गई हैं॥१॥ यहाँ बाहु, चंक्रमण तथा आनन उद्दिष्ट हैं और यथाक्रम मृणाल, हंस तथा पद्म अनुर्निदिष्ट हैं। इस कारण शब्दानुक्त अन्वय भी गर्भीकृत है ही—अतः क्रम-पूर्वक कथन की स्थिति होने से यथासंख्य भी होगा ही।

उत्प्रेक्षा :—[का निरूपण यहाँ से आरंभ होने जा रहा है।]

जब प्रकृत एवं अप्रकृत के बीच साम्य का रूप प्रदर्शित करना विवक्षित न हो, पर अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से अप्रकृत (उपमान) के गुण एवं क्रिया का विधान प्रकृत में किया गया हो—तो वहाँ उत्प्रेक्षा नाम का अलंकार होता है। यह उत्प्रेक्षा इव आदि शब्दों से बोधित होती है।

जहाँ इव आदि जैसे पदों का प्रयोग हो, पर साम्य का रूप विवक्षित न हो, वहाँ उत्प्रेक्षा नाम का अलंकार होता है। यहाँ यह शंकित हो सकता है कि इस प्रकार तो यहाँ 'असंभव' नामक लक्षण-दोष प्राप्त होगा, कारण, यदि उपमानोप-मेय रूपी द्योत्य का अभाव हो तो उसके द्योतक 'इव' आदि के प्रयोग की आव-श्यकता ही क्या है? इसी आशंका का उत्तर देने के लिए कहा गया है—अतद्-गुणक्रियायोगात् । द्रव्य के धर्म दो हैं—सिद्ध गुण और साध्य रूप क्रिया । यह

अप्रकृते वस्तुन्युपमानतयानुल्लिङ्गितेऽपि प्रकृते वस्तुनि आसज्यन्ते। तेनातद्-गुणक्रियायोगदस्या इवादिवाच्यत्वम् अतएवान्यधर्माणां स्वधर्मिभूताद्वस्तुनः उत्कलितानां रसभावाद्यभिव्यक्त्यनुगुणतया वस्त्वन्तराध्यस्तत्वेन लब्धप्रकर्षाणामीक्षणादियमुत्प्रेक्षा। नन्वेवमपि सुतरामसंभवः। न हि वस्त्वन्तरधर्मा वस्त्वन्तरे समासङ्क्तुं शक्या इत्याशङ्क्योक्तम्--अतिशयान्विता--इति। पुराणप्रजापति विहितरूपविपर्यासेन कविवेधसा पदार्थस्य गुणातिशयविवक्षया रूपान्तरमप्यासङ्क्तुं शक्यते-इत्यर्थः।

इयं चोत्प्रेक्षा बहिरसंभवतः पदार्थस्य संभवद्रूपतयोपवर्णनाल्लोकातिक्रान्तविषया संभावना। तस्याश्च द्वैविध्यं भावस्याभावस्य च बहिरसंभवतः उपवर्ण्यमानत्वात्। तदाह--

मू०-- लोकातिक्रान्तविषया भावाभावाभिमानतः।
संभावनेयमुत्प्रेक्षा ॥

दृश्यमान जगत् इसलिए द्विविध है कि इसके पदार्थ दो प्रकार के हैं--स्वतंत्र स्वभाव और परतंत्र स्वभाव। जो पदार्थ स्वतंत्र है--वह धर्मी कहा जाता है। वही 'इदं' 'तत्'--यह--वह--जैसे सर्वनामों के द्वारा परामर्शयोग्य होता है--द्रव्य कहा जाता है। परतन्त्र पदार्थ धर्म रूप होता है। वह दो प्रकार का होता है--पहला सिद्ध और दूसरा साध्य। वहाँ जो सिद्ध धर्म होता है--वह गुण कहा जाता है और जो साध्यरूप होता है--उसे क्रिया कहते हैं। इतने तो लौकिक पदार्थ होते हैं। सामान्य आदि का इन्हीं में प्रातीतिक रूप से अंतर्भाव हो जाता है। इसलिए यहाँ अतद् अर्थात् अप्रकृत रूप जो अर्थ होता है उसके जो पूर्वोक्त गुण क्रिया रूप धर्म होते हैं--उनके योग से साम्यरूप की विवक्षा न होने पर भी इव आदि शब्दों का प्रयोग विरुद्ध नहीं जाता। हाँ, जहाँ उपमानोपमेय भाव होने के कारण साम्य है, वहाँ उपमान से समानता होने के कारण उपमानान्तवर्ती क्रिया एवं गुणों की उपमेय में प्रतीति होती ही है। उत्प्रेक्षा में भी जो यह उपमेय-भिन्न अप्रकृत है, उसकी जो क्रियाएँ और गुण हैं वे उपमानतारहित उपमेय में भी आसक्त हैं ही--वे उपमेय में भी प्रतीति होती हैं--[अतः सादृश्य का आत्यंतिक अभाव नहीं है कि इवादि का प्रयोग सर्वथा निरर्थक हो जायगा। अंतर इतना ही है कि उपमा में वह वाच्य रहता है और यहाँ नियमतः व्यंग्य।] इसलिये अप्रकृतनिष्ठ गुण एवं क्रिया का संबंध होने से उत्प्रेक्षा को इव आदि का वाच्य माना जाता है। यहाँ अन्य (उपमान) का धर्म अपनी आधारभूत वस्तु से हटाकर रस भाव आदि की अभिव्यक्ति के अनुरूप दूसरी वस्तु (उपमेय) में

येयं लोकातिक्रान्तविषया संभावना उत्प्रेक्षा सा भावस्याभावस्य चाभिमानाद्द्वैविध्यं भजते--इत्यर्थः।

नन्विवाद्युपनिबंधे सति यद्युत्प्रेक्षा भवतीत्युच्यते-एवं सति

चंदनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितः।
मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुतः॥

इत्येवमादाविवादेरप्रयोगादुत्प्रेक्षात्वाभावप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह--

मू०-- वाच्येवादिभिरुच्यते॥४॥ (४०)

द्विविधा खलूत्प्रेक्षा। काचिदिवादिप्रयोगे सति भवति, काचित्त्वप्रयुज्यमानेष्वपीवादिष्वार्थसामर्थ्यादवगम्यमानेषु। तत्र या वाच्या स्वकण्ठेनेवादिभिर्वक्तव्या सा इवादिभिरुच्यते। या त्वर्थसामर्थ्याक्षिप्तैरिवादिभिरवगम्यते तत्रेवादीनामप्रयोगः। 'चन्दनासक्तभुजग' इत्यादौ च मलयमारुतस्य यदेतन्मन्मथाविर्भावनिबन्धनत्वत्पथिकमूर्च्छाहेतुत्वं तत्र भुजगनिःश्वासमूर्च्छितत्वे कारणत्वेनोत्प्रेक्ष्यमाणे इवाद्यर्थोऽर्थ-

---

आहित कर दिया जाता है--फलतः उन्हीं उत्कलित धर्मों के प्रकृष्ट रूप में यहाँ ईक्षण होने से उत्प्रेक्षा का व्यवहार होता है। इतना होने पर भी पुनः असंभव की स्थिति संभव है, कारण दूसरी वस्तु का धर्म दूसरी वस्तु में कैसे रह सकता है? इसी प्रश्न का उत्तर 'अतिशयान्विताः" (कारिका गत) द्वारा दिया गया है। पुराण प्रजापति के द्वारा बनाये हुए रूप को अन्यथा करने के लिए कविरूप प्रजापति गुणातिशय सम्पादनार्थ और विशेषताएँ भी आहित कर सकता है--इतनी उसे छूट है।

यह उत्प्रेक्षा एक प्रकार की संभावना है। जो वस्तु जिस रूप में विश्व में संभव नहीं है--उसका उस रूप में संभव वर्णन यहाँ होता है, अतः उत्प्रेक्षा का का विषय लोकोत्तर होता है। उसके दो रूप हैं--विश्व में कभी उस वर्ण्य का सद्भाव भी होता है और कभी अभाव भी। वही कहा है--

सद्भाव एवं अभाव के अभिमानवश लोकोत्तर विषयक संभावना ही उत्प्रेक्षा है।

अर्थात् लोकोत्तर विषयिणी वह संभावना, जिसे उत्प्रेक्षा कहते हैं, विश्व में वर्ण्यमान के सद्भाव और अभाववश--दो प्रकार की होती है।

यहाँ पुनः यह आशंका हो सकती है कि यदि इव आदि प्रयोग होने पर ही उत्प्रेक्षा होती हो--तब तो ऐसा होने पर

वसंत में यह मलयानिल [अपने संस्पर्श से] पथिकों को इसलिए मूर्च्छित करता है कि वह स्वयं चंदन के वृक्षों में लिपटे हुए साँपों के विषैले निःश्वास रूप वायु का भक्षण करने से मूर्च्छित है।

सामर्थ्यादवगम्यते । तेनेवादीनामप्रयोग: इवादिशब्दसामर्थ्यावसेयायामेवोत्प्रेक्षाया-मिवादीनां प्रयोगात् ।

तत्र भावाभिमानेनोत्प्रेक्षायां तस्या गुणयोगाध्यासेन प्रवृत्ताया उदाहरणम्

अस्याः सदार्कविम्बस्थदृष्टिपीतातपैर्जपैः ।
श्यामिकाङ्केन पतितं मुखे चंद्रभ्रमादिव ।।२।।

अस्या मुखे जपैर्हेतुभूवैः श्यामिकाङ्केन पतितमिति संबंधः । अत्र जपासक्ता भगवती अर्कमवलोकयतीति तस्याः शशाङ्कसदृशे मुखे श्यामिका संजाता । तच्चात्र तस्याः श्यामिकायाः जन्म अतिशयोक्त्यापातरूपतया प्रतिपादितं पतितमिति । सा चात्र श्यामिका शशिलाञ्छनेन शशेन तुल्या । अतस्तस्याः शशिलाञ्छनशशतुल्य त्वादुपसर्जनोपमेयं रूपकं श्यामिकैवाङ्क इत्युपनिबद्धम् । तस्य चाङ्कस्य श्यामिकोपर-क्तस्य भगवतीवदननिपाते कारणत्वेनेंदुभ्रांतिरुत्प्रेक्षिता यदेतच्छशिनो लाञ्छनं श्यामिकारूपं तद्भगवतीवदने इन्दुभ्रांत्येव निपतितमिति । इंदुभ्रांतिश्च गुणः सिद्ध-रूपत्वे सति द्रव्यधर्मत्वात् । एवं चात्र शशसदृशी श्यामिका चैतन्यशून्यत्वेन भगवतीवदनमिंदुभ्रान्त्या न गोचरीकरोति । अथ च तस्याः शशभावमापादिताया इन्दुभ्रमलक्षणेन चेतनधर्मेण संबंधो निबद्धः । तेनात्र तस्य वस्त्वन्तरस्य चेतनस्य

इस प्रकार के और भी अन्यान्य स्थलों में इव आदि के प्रयोग न करने पर उत्प्रेक्षा के अभाव का प्रसंग है—इस प्रकार की आशंका पर कहते हैं—

वाच्या (उत्प्रेक्षा) इव आदि के द्वारा अभिहित होती हैं ।४।। (४०) उत्प्रेक्षा दो प्रकार की होती है—कोई इवादि के प्रयोग करने पर होती है और कोई इव आदि के प्रयुक्त न किये जाने पर बल्कि अर्थतः प्रतीयमान होने पर । इन में भी जो वाच्या शब्दतः इवादि-बोध्य होती है—वह इव आदि के द्वारा अभिहित होती है। पर जो अर्थ सामर्थ्यवश आक्षिप्त इव आदि के द्वारा प्रतीत होती है—वहाँ इव आदि का प्रयोग नहीं होता है। चन्दनासक्त····' इत्यादि उदाहरण में मलयानिलगत, कामोद्दीपकता के कारण होने वाली पथिक मूर्च्छाकारिता की कारणता को भुजगनिःश्वास [सम्वाद्य मूर्च्छाकारिता] के रूप में अन्यथा संभावित किया गया है—यहाँ अर्थतः इवार्थ की प्रतीति हो जाती है, अतः इवादि का शब्दतः प्रयोग नहीं है । इवादि का प्रयोग वहीं होता है जहाँ इव आदि शब्द के सामर्थ्य से ही उत्प्रेक्षा का निश्चय होता है।

[अप्रकृत गत] गुण संबंध के [प्रकृत में] अध्यासवश भावाभिमान से प्रवृत्त उस उत्प्रेक्षा का उदाहरण निम्नलिखित है—

योऽसौ गुणो भ्रमलक्षणस्तद्‌योगादिवादेः प्रवृत्तिः। इंदुभ्रमश्च भावरूपो गुणः शशीकृतश्यामिकाकर्तृकतया कविनिवद्धेन वक्त्रा भगवताभिमानेनाध्यवसितः। तेनेयमतद्‌गुणयोगेन भावाभिमानेनोत्प्रेक्षा।

एवं क्रियायोगाध्यासाद्‌भावाभिमानेन योत्प्रेक्षा तस्यामुदाहार्यम्। अभावविषयायाः पुनः क्रियाध्यासेन प्रवृत्तायास्तस्या उदाहरणम्।

मू०— कपोलफलकावस्याः कष्टं भूत्वा तथाविधौ।
अपश्यन्ताविवान्योन्यमीदृक्षां क्षामतां गतौ॥३॥

अत्र कपोलफलकयोस्तपोवशात् क्षामत्वमापन्नयोः परस्परादर्शनमभावरूपं साध्यत्वात् क्रियारूपं क्षामतायाः कारणतयोत्प्रेक्षितम्। तेनेयमतत्क्रियायोगादभावाभिमानोत्प्रेक्षा।

जप के कारण पार्वती के मुख पर आई कालिमा चंद्र के भ्रम से गिरी हुई (चंद्रस्थ) कलंकरेखा जान पड़ती थी। जप करते समय उनकी आँखें सूर्य की ओर टिकी हुई आतप का पान करती थीं—अर्थात् सूर्य पर दृष्टि केंद्रित करके वह जप करती थीं॥२॥

इस पार्वती के मुख पर जप के कारण से श्यामिका का चिह्न आ पड़ा—ऐसा अन्वय है। यहाँ जपप्रवण भगवती पार्वती सूर्य को देखती हैं, अतः उनके चंद्र जैसे मुख पर श्यामिका आ गई थी। उसी श्यामिका जन्म को यहाँ 'पतितम्'—प्रयोग द्वारा पतन रूप अतिशयोक्ति या लोकोत्तर कथन से प्रतिपादित किया गया है। वह श्यामिका चंद्रकलंक शश के सदृश कही गयी है। अतएव वहाँ शशिकलंक शश के तुल्य होने के कारण 'श्यामिका ही अंक (शश) है'—इस अर्थ में श्यामिकांक रूपक का प्रयोग किया गया है। यहाँ रूपक में उपमेय अप्रधान रहता है और उपमान प्रधान। श्यामिका रूप उस कलंक (शश) के भगवती वदन पर आ पड़ने में मुख की चंद्ररूप में भ्रांति हो जाना ही कारण के रूप में उत्प्रेक्षित है। वही कहा है कि भगवती के वदन में चंद्रलाञ्छन के रूप में जो यह श्यामिका लक्षित हो रही है, वह चंद्र की भ्रांति से पतित है। इंदुभ्रांति गुण है, कारण एक तो वह सिद्ध है दूसरे किसी द्रव्य का धर्म है। इस प्रकार यहाँ शशि के समान श्यामिका निश्चित है कि अचेतन है और अचेतन को भगवती के वदन में भला चंद्र का भ्रम क्या होगा? इसलिये शशभावापन्न श्यामिका में इंदुभ्रांति रूप चेतन धर्म का संबंध स्थापित किया गया है। इसीलिए यहाँ चेतनात्मक एक भिन्न वस्तु के गुण भ्रम का अचेतन से संबंध होने के ही कारण यहाँ इव आदि की प्रवृत्ति संभव हुई है। इंदुभ्रम एक भावात्मक गुण है जिसका संबंध शशात्मक श्यामिका या काले

एवमतद्गुणयोगादभावाभिमानेन या उत्प्रेक्षा तस्यामुदाहार्यम् ।

स्वभावोक्तिः

मू०— क्रियायां संप्रवृत्तस्य हेवाकानां निबंधनम् ।
कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता ।।५।। (४१)

मृगबालादेः स्वसमुचिते व्यापारे प्रवृत्तस्य ये हेवाकाः स्वजात्यानुरूप्येणाभिनिवेशविशेषास्तदुपनिबंधाः स्वभावोक्तिः । तस्याश्चालंकारत्वमसाधारणपदार्थस्वरूपध्वननात् ।

तस्या उदाहरणम्—

मू०— क्षणं नंष्ट्वार्धवलितः शृंगेणाग्रे क्षणं नुदन् ।
लोलीकरोति प्रणयादिमामेष मृगार्भकः ।।४।।

धब्बे रूप कर्ता से है और जो कविनिबद्ध पात्र भगवान शिव द्वारा वहाँ संभावित किया जा रहा है। इसीलिये यहाँ अप्रकृत के गुण से संबंध होने के कारण भावाभिमानवश उत्प्रेक्षा की गई है।

इसी प्रकार क्रियायोग के अन्यत्र आरोप से भी भावाभिमानवश जो उत्प्रेक्षा हो सकती है—उसका उदाहरण भी ले लेना चाहिए।

हाँ, क्रियाध्यासवश अभावविषयिणी प्रवृत्त उत्प्रेक्षा का उदाहरण यों है—

पार्वती के दोनों तथाविध कपोल कष्टकर दशा में जो अत्यन्त कृश हो गये थे, वह मानो इसलिये कि वे परस्पर एक दूसरे को देख नहीं सकते थे।

यहाँ तपस्या वश कृश कपोलों की श्यामता के कारण रूप में पारस्परिक अदर्शन रूप साध्य क्रिया संभावित की गई है। परस्पर-दर्शनाभाव रूप क्रिया चेतन की ही हो सकती है, पर उसे यहाँ आरोपित किया गया है। इसलिये यहाँ अभावाभिमानोत्प्रेक्षा हुई।

इसी प्रकार अन्यदीय गुण के आरोप से होने वाली अभावाभिमान क्रिया की भी उत्प्रेक्षा समझनी चाहिए।

[इसके बाद] स्वभावोक्ति [नामक अलंकार की विवेचना आरंभ होने जा रही है]

किसी भी मृगशावक आदि की, जो किसी व्यापार में संलग्न हो, अपनी जाति के अनुरूप जहाँ अभिनिवेशविशेष का निबंध दृष्टिगोचर हो—तो वहाँ स्वभावोक्ति नाम का अलंकार मानना चाहिए।।५।। (४१)

अपने योग्य व्यापार में संलग्न मृगशावक आदि की जाति के अनुरूप अभिनि-

नंष्ट्वेति 'जान्तनशां विभाषा'—इत्यनुनासिकलोपस्य विकल्पितत्वाद् प्रवृत्तिः। अत्र मृगपोतकस्य मातरमिव वत्सलां भगवतीं प्रणयनिर्भरेण चेतसा व्याकुलीकुर्वतः स्वभावो निबद्धः क्षणमपरिदृश्यमानत्वमर्धकायेन परिवृत्तिः शृंगेण च नोदनमित्येवमात्मा।

इति श्री महाप्रतीहारेंदुराजविरचितायामुद्भटालंकारसारसंग्रहलघुवृत्तौ तृतीयो वर्गः॥

वेश विशेष का जहाँ उपनिवंध हो, वहाँ स्वभावोक्ति नाम का अलंकार होता है। उसे अलंकार इसीलिये माना जाता है कि पदार्थ के असाधारणस्वरूप का ध्वनन रहता है। उसका उदाहरण (अधोलिखित है)।

आधा मुड़ा हुआ मृग का यह शावक क्षण भर रुदनकर और दूसरे क्षण शृंग से आगे पीड़ित कर इस (पार्वती) को प्रणय-प्रदर्शन से चंचल कर देता है।

नष्ट्वा या नंष्ट्वा—दोनों प्रयोग शुद्ध हैं। 'मस्जिनशोर्झलि'—से जो नुम् होता है वह—नित्य है, पर नश् धातु के बाद 'त्वा' प्रत्यय का योग होने पर 'जान्तनशां विभाषा(पा० सूत्र) सूत्र द्वारा नुम् विकल्प से होता है—इसीलिये नष्ट्वा और नंष्ट्वा—दोनों ही प्रयोग शुद्ध माने जाते हैं। यहाँ अनुनासिक लोप की अप्रवृत्ति का यही कारण है। यहाँ मृगशावक, जो माता की भांति वत्सल भगवती पार्वती को अपने प्रणय से व्याकुल कर देता है—का प्रभाव उल्लिखित हुआ है। क्षणभर न दिखाई देने के कारण आधा शरीर से मुड़ा हुआ और सींग से पीड़ित करना—यही स्वभाव का स्वरूप है। इस प्रकार उद्भटालंकार सार-संग्रह तथा उसकी लघुवृत्ति का तृतीयवर्गीय अनुवाद समाप्त हुआ।

चतुर्थो वर्गः

मू०— प्रेयोरसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम्।
द्विधोदात्तं तथा श्लिष्टमलंकारान्परे विदुः ।।१।। (४२)

प्रेयोरसवदिति समुदायान्मतुप्। श्लिष्टमिति। तथा उदात्तवत् द्विविधं श्लिष्टम्—इत्यर्थः। विप्रतिपत्तिनिरासार्थं चात्र श्लिष्टस्य द्वैविध्यमुक्तम्। भामहो हि—तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात्त्रिविधं यथा—इति श्लिष्टस्य त्रैविध्यमाह। अतो विप्रविपत्तिनिरासाय तथेत्युक्तम्। उदात्ते तु द्विधेत्ययमनुवादो दृष्टान्तत्वार्थः। यथा उदात्तस्य द्वैविध्यं प्रमाणोपपन्नत्वादङ्गीकृतं तथा श्लिष्टस्यापि तदङ्गीकर्तव्यमित्यर्थः।

प्रेय-वत्तावत्—

रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिः तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ।।२।। (४३)

रत्यादयो भावास्त्रिविधाः स्थायिनो व्यभिचारिणः सात्विकाश्च। तत्र

चतुर्थ वर्गः अन्य लोगों ने प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, दो-दो प्रकार के उदात्त तथा श्लिष्ट—नामक अलंकार कहे हैं।।१।। (४२)

'प्रेयोरस'—से मतुप् प्रत्यय का विधान है, कुछ केवल 'रस' से नहीं। श्लिष्ट भी एक अलंकार है जो उदात्त की ही भाँति दो प्रकार का होता है। दो से कम या अधिक की कोई आपत्ति न उठावे—इसीलिए यहाँ 'द्विधा' का कथन किया गया है। कारण यह है कि भामह ने—उस श्लिष्ट को तीन प्रकार का बताया है और कहा है कि इसमें सहोक्ति, उपमा तथा हेतु के तत्त्वों के निर्देश से ऐसा होता है। कोई श्लिष्ट को तीन प्रकार की होने की बात न उठाये—इसीलिये 'द्विधा' की बात कही गई है। 'उदात्त' में जो 'द्विधा' की बात कही गई है वह विप्रतिपत्तिनिरास के लिये नहीं, प्रत्युत दृष्टान्त के रूप में उसका उपयोग यहाँ समझना चाहिए। निष्कर्ष यह समझना चाहिए कि जिस प्रकार उदात्त के दो भेद प्रामाणिक होने के कारण अंगीकरणीय हैं, उसी प्रकार श्लिष्ट के भी दो भेद माने जाने चाहिए।

पहले प्रेयस्वत् को ही लीजिये—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साही भयं तथा।
जुगुप्साविस्मयशमाः स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥
निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जड़ता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च॥
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः॥
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः॥

एतेषां पञ्चाशत्संख्यानां भावानां सूचकाश्चत्वारोऽनुभावादयः। ते चानुभावो-विभावो व्यभिचारी स्वशब्दश्च। तत्रानुभावश्चतुर्विधः—आङ्गिकः, वाचिकः सात्त्विकः, आहार्यश्च। आङ्गिको हस्ताभिनयादिः। वाचिको काक्वादिप्रयोगः।

अनुभाव आदि के द्वारा जहाँ रति आदि की सूचना से गर्भित काव्य-निर्माण किया जाय सज्जनों ने उसे प्रेयस्वत् कहा है॥२॥ (४२)

रति आदि भाव तीन प्रकार के हैं—स्थायी, व्यभिचारी तथा सात्त्विक। उनमें—

रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय एवं शम—ये स्थायी भाव कहे गये हैं। निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिंता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्तविबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास, एवं वितर्क व्यभिचारी कुल ३३ हैं।

स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय—ये आठ सात्त्विक भाव हैं।

इन पचास भावों के सूचक अनुभाव आदि चार हैं—अनुभाव, विभाव, संचारी तथा स्वबोधक शब्द। उनमें भी अनुभाव कुल मिलाकर चार प्रकार के होते हैं—आंगिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य। आंगिक अर्थात् हाथ, पाँव द्वारा किया जानेवाला अभिनय। वाचिक अर्थात् वाणी द्वारा किये जाने वाले काकु आदि। सात्त्विक स्तम्भ आदि। आहार्य झुल्ल, पगड़ी आदि। इस प्रकार

सात्त्विकः स्तम्भादिः। आहार्यस्तु प्रतिशीर्षकञ्चुकादिः। एवमयमनुभावश्चतुः संख्यः कार्यत्वात्कारणभूतान् गमयति। विभावस्तु द्विविधः—आलम्बनोद्दीपनरूपत्वात्। तत्रालम्बनविभावो यदाश्रयेण रत्यादीनामुदयः यथा रामादेः सीतादिः। उद्दीपनविभावस्तु यद्वशेन रत्यादीनां भावानामतिशयेन दीप्तता भवति यथा—ऋतुमाल्यानुलेपनादिः। एवमेष द्विविधो विभावो रत्यादीनां कारणभूतः। स च कारणत्वात् कार्यभूतान् रत्यादीन् गमयतीति। यथातिवहलनीलजलदादयो वृष्टिम्। यथा हि कार्यस्य सुविवेचितस्य कारणं प्रत्यव्यभिचारिता एवं कारणस्यापि सुविवेचितस्य कार्यं प्रत्यव्यभिचारिता व्यवहारे बाहुल्येन दृश्यते। अतो विभावः कारणत्वाद्रत्यादीन् कार्यभूतान् गमयति। व्यभिचारी तु रत्यादिकानां स्थायिनां भावानामवस्थाविशेषरूपो निर्वेदादिः। स च सहचारित्वात्स्थायिनो भावान् प्रतिपादयति रथस्यैकमिव चक्रं चक्रान्तरम्। स्वशब्दस्तु रत्यादिः। स च वाचकत्वाद् भावान् गमयति। रत्यादीनां च शब्दानां यद्यपि अनुभावैकगोचरस्वलक्षणस्वभावरत्याद्यवगतिनिबंधनत्वं नोपलभ्यते तथाप्यंशेन रत्याद्यवगतिनिबंधनत्वमनुभावादिवद् विद्यत एव। यथा खल्वनुभावादयो न स्वलक्षणतया भावानवगमयन्ति अपि तु समान्यरूपतया तद्वत् स्वशब्दा अपि—इत्यास्ताम्।

चतुर्विध अनुभाव कार्यरूप होने से कारणरूप भाव का बोध कराते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन रूप एवं उद्दीपन रूप। उनमें भी आलम्बन विभाव वह कहा जाता है कि जिसके सहारे रत्यादि भावों का उदय होता है, जैसे राम आदि के प्रति सीता आदि आलम्बन हैं। उद्दीपन विभाव उसे कहते हैं जिसके कारण रति आदि भाव की अतिशय दीप्ति होती है, जैसे—ऋतु, माल्य एवं अनुलेपन आदि। व्यभिचारी उन्हें कहते हैं—जो रति आदि स्थायी भावों के अवस्था विशेष निर्वेद आदि हैं। वह सहचरित होने के कारण स्थायी भावों का उसी प्रकार प्रतिपादन करते हैं—जिस प्रकार रथ का एक चक्र दूसरे चक्र को सक्रिय एवं सफल बनाने में उपयोगी होता है। स्व शब्द का अर्थ है—रति आदि के वाचक रति आदि शब्द। वह वाचक होने के कारण भावों की अवगति कराता है। यद्यपि रत्यादि शब्द, उन रति आदि भावों का जिनका असाधारण स्वरूप एकमात्र अनुभाव आदि के ही माध्यम से प्रतीत हो सकता है—अवगमन कराने में पूर्णतः समर्थ नहीं है फिर भी अंशतः अनुभाव आदि की भाँति रति आदि के ज्ञान का कारण बन ही जाते हैं। जिस प्रकार अनुभाव आदि असाधारण रूप से भावों की अवगति नहीं करा पाते, प्रत्युत साधारण या सामान्य रूप से बोधित कराते ही हैं—उसी प्रकार स्ववाचक शब्द भी कराते हैं—ऐसा तो कहा ही जा सकता है।

एवमेते भावानामवगतिहेतवश्चत्वारः। यदुक्तं भट्टोद्भटेन---चतूरूपा भावाः इति।

तदेषां रत्यादिकानां भावानां पञ्चाशत्संख्यानां यान्यनुभावादिभिश्चतुःसंख्यैः समस्तत्वेन व्यस्तत्वेन च यथायोगं सूचनानि स्वलक्षणस्वरूपाणां सामान्यावस्थोदितानां प्रतिपादनानि तैः काव्यमुपनिबध्यमानं प्रेयस्वत्! प्रेयः शब्दवाच्येन प्रियतरेण रत्यालम्बनेन विभावनेन रतिरुपलक्ष्यते। तथा च साहचर्याद्रत्यादयो भावाः पञ्चाशदवगम्यन्ते एवं च भावकाव्यस्य प्रेयस्वदिति लक्षणया व्यपदेशः। अत्र च भावानामलंकारता काव्यमलंकार्यम्।

तस्योदाहरणम्

इयं च सुतवाल्लभ्यान्निर्विशेषा स्पृहावती।
उल्लापयितुमारब्धा कृत्वेमं क्रोड आत्मनः॥१॥

आत्मनः क्रोडे कृत्वेति संबंधः। अत्रात्मनो वक्षसि निधानमाङ्गिकोऽभिनयः उल्लापनं सान्त्वनं वाचिकः। इममिति इदंशब्देन परामृष्टो यो मृगार्भकः स आलम्बनविभावः। वाल्लभ्योन्मीलितश्चौत्सुक्यात्मा व्यभिचारीभावः। सुतवा-

---

इस प्रकार ये चार हुए अवगति के हेतु। जैसा कि भट्टोद्भट ने कहा है—चार प्रकार के भाव होते हैं—

तो इन रति आदि ५० भावों का अनुभाव आदि चार साधनों से मिलित या व्यक्तिगत रूप में यथासंभव जो सूचन होता है—अर्थात् असाधारण रूप के भावों का सामान्य रूप में जो कथन होता है---उन भावों से गर्भित काव्य प्रेयस्वत् कहा जाता है।

प्रेयस् शब्द के द्वारा वाच्य प्रियतर रति का आलम्बन विभाव है—पर वह रति भाव का ही उपलक्षण है और रति के साहचर्य्य से रति आदि ५० भावों का बोध हो जाता है। इस प्रकार लक्षणाशक्ति के बल पर भाव काव्य को ही प्रेयस्वत् कहते हैं। यहाँ भाव ही अलंकार है और काव्य अलंकार्य। उसका उदाहरण यों है---

अपने बच्चे की तरह समझने वाली अतः स्पृहावती पार्वती ने उस (मृगशावक) को अपनी गोद में बिठाकर सान्त्वना देनी शुरू की। अन्वय यों करना चाहिए—अपने क्रोड में करके। यहाँ अपनी छाती पर रखना आंगिक अभिनय है, उल्लापन अर्थात् सान्त्वना देना वाचिक अभिनय है। 'इमम्' की प्रकृति है—'इदम्' और इस 'इदम्'—यह—शब्द से जिस मृगशावक का परामर्श होता है—वही आलम्बन विभाव है। वात्सल्य से उभाड़ा हुआ औत्सुक्य व्यभिचारी भाव है। अपने बच्चे

ल्लभ्यनिर्विशेषत्वेन हि स्पृहाया रतेरौत्सुक्यभेदाभिसंबंधः प्रतीयते । स्वशब्दस्तु स्पृहेति । एवमयं रत्यात्मको भावो वात्सल्यस्वभावश्चतुर्भिरनुभावादिभिरत्रावगमितः । अन्येष्वपि भावेष्वेवमुदाहार्यम् ।

रसवत्

मू०— रसवद्दर्शितस्पष्ट-श्रृंगारादिरसादयम् ।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥३॥ (४४)
श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥४॥ (४५)

एते च श्रृंगारादयो नव यथायोगं चतुर्वर्गप्राप्त्युपायतया तदितरपरिहारनिबंधनतया च रत्यादीनां स्थायिनां नवानां भावानां यः परिपोषः तदात्मकाः । अतस्तथाविधेन रूपेणास्वाद्यत्वादास्वादभेदनिबंधनेन तांत्रिकेण रसशब्देनाभिधीयन्ते । निर्वेदादौ तु तथाविधस्यास्वाद्यस्याभावात् प्रवृत्तिनिमित्तभेदनिबंधनस्य तांत्रिकस्य रसशब्दस्याप्रवृत्तिः । आस्वाद्यत्वमात्रविवक्षया तु तत्रापि मधुराम्लादिवत् रसशब्दप्रवृत्तिरविरुद्धा । यदुक्तं श्रृंगारादीन् रसाननुक्रम्य ।

जैसा समझने के कारण स्पृहा रूप रति का औत्सुक्य से संबंध प्रतीत होता है। स्ववाचक शब्द यहाँ 'स्पृहा' ही है। इस प्रकार यह रत्यात्मक भाव जो वात्सल्य-रूप है—अनुभाव आदि चार साधनों से अवगत हुआ। अन्य प्रकार के भावों के संबंध में भी ऐसे ही उदाहरण लेने चाहिए।
रसवत् — अलंकार का स्वरूप यों है।]

यह रसवत् अलंकार स्पष्ट रूप में श्रृंगार-आदि रसों के सद्भाव पर निर्भर है। स्ववाचक शब्द, स्थायी, संचारी, [अनुभाव] तथा विभाव युक्त काव्य में ही औपचारिक रूप से रसवत्ता संभव है। नाट्य में रस नव होते हैं—श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत एवं शांत।

ये श्रृंगार आदि नव-यथासंभव धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति और उससे भिन्न की निवृत्ति-कारक होने से रति आदि नव स्थायी भावों के परिपोष वश—ही रस हैं । इसलिए तथाविध रूप से आस्वाद्य होने के कारण आस्वाद भेद वश शास्त्रीय पारिभाषिक पद 'रस' शब्द से उनका अभिधान किया जाता है। रही निर्वेद आदि की बात, सो उनके संबंध में यह कहना है कि उनमें रस कोटि की आस्वाद्यता ही नही होती, अतः रस शब्द का प्रवृत्ति निमित्त न होने के कारण तांत्रिक रस शब्द का प्रयोग निर्वेद आदि के लिये नहीं ही

रसनाद्ररसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ।
निर्वेदादिष्वपि तत्प्रकाममस्तीति तेपि रसाः ।इति।

तदाहुः

चतुर्वर्गेतरी प्राप्यपरिहार्यौ क्रमाद्यतः ।
चैतन्यभेदादास्वाद्यात्स रसस्तादृशो मतः ।

स इति चैतन्यभेद इत्यर्थः । तादृश इत्यनेनास्वादविशेषनिबंधनत्वं श्रृंगारादिषु तांत्रिकस्य रसशब्दस्योक्तम् । एषां च श्रृंगारादीनां नवानां रसानां स्वशब्दादिभिः पञ्चभिरवगतिर्भवति । यदुक्तं भट्टोद्भटेन पञ्चरूपाः रसा इति । तत्र स्वशब्दाः श्रृंगारादेर्वाचकाः श्रृंगारादयः शब्दाः स्थायिनो रसानामुपादानकारणप्रख्या रत्यादयो नव भावाः । संचारिणस्तु निर्वेदादयो रसानामवस्थाविशेषरूपाः । विभावास्तु तेषां निमित्तकारणभूता योषिदादयः ऋतुमाल्यानुलेपनादयश्च । आंगिकादयस्तु चत्वारो रसानां कार्यभूता अभिनयाः । एतेषां च स्वशब्दादीनां पञ्चानां समस्तव्यस्ततया आस्पदत्वाद्येन काव्येन स्फुटरूपतया श्रृंगारादिरसाविर्भावो दृश्यते तत्काव्यं रसवत् । रसाः खलु तस्यालंकाराः ।

किया ज़ा सकता। हाँ, वे भी आस्वाद्य हैं—केवल इस रूप में यदि उन्हें रस कहना है तो जिस प्रकार मधुर, अम्ल आदि के लिये रस शब्द का स्थूल व्यवहार होता है उसी प्रकार यहाँ भी रस शब्द की प्रवृत्ति कोई विपरीत न पड़ेगी। श्रृंगार आदि रसों के अनुक्रम में यह कहा भी है—

अन्य संचारियों में भी आस्वाद्यता, रसनीयता है, पर इसको आचार्यों ने मधुर आदि की भाँति 'रस' शब्द से कहना चाहा है। यह रसनीयता चूंकि निर्वेद आदि संचारी भावों में भी है अतः वे भी रस कहे जायें ।

कहा भी है—रस उसे कहना चाहिये, जिससे क्रमशः चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो और तदितर का परिहार हो। चैतन्य का एक रूप होने से तथा आस्वाद्य होने से उस चैतन्यभेद को 'रस' कहा जा सकता है ।

'सः' सर्वनाम से चैतन्यभेद का ही परामर्श किया जाना चाहिए। 'तादृशः' कहने से यह स्पष्ट है कि श्रृंगार आदि के लिए रस शब्द का पारिभाषिक रूप में प्रयोग तब

प्रवृत्ति निमित्तः—हर शब्द जब किसी अर्थ का बोध कराने में प्रवृत्त होता है—तो किसी न किसी निमित्त को लेकर। वही धर्म प्रवृत्ति निमित्त कहा जाता है जैसे, तांत्रिक रस शब्द 'आस्वाद्यत्व' रूप प्रवृत्ति निमित्त को लेकर श्रृंगार आदि नव रसों का बोध करने में प्रवृत्त होता है।

तस्योदाहरणम्

इति भावयतस्तस्य समस्तान् पार्वतीगुणान् ।
संभृतानल्पसंकल्पः कंदर्पः प्रबलोऽभवत् ।।२।।
स्विद्यतापि स गात्रेण बभार पुलकोत्करम् ।
कदम्बकलिकाकोशकेसरप्रकरोपमम् ।।३।।
क्षणमौत्सुक्यगर्भिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम् ।
क्षणं प्रमोदालसया दृशास्यास्यमभूष्यत ।।४।।

कदम्बकलिकाकोशः कदम्बकलिकाभ्यन्तरम् । अत्र भगवत आभिलाषिक-विप्रलम्भश्रृंगारो निबद्धः । तस्य स्वशब्दः कंदर्पः प्रबलः इति । स्थायी तत्रैव स्वशब्देनोन्मीलितः कंदर्प इति । रतिपरिपोषात्मको हि श्रृंगारो रसः । रतिश्च यूनोर्मन्मथात्मिका । अतो रतिविशेषस्य वाचकत्वात्कंदर्पशब्दः स्थायिनोऽत्र स्वशब्दः । संचारिणश्चौत्सुक्यचिंताहर्षाः स्वशब्देनोन्मीलिताः । स्वेदरोमाञ्चौ च सात्त्विकौ स्वशब्दोपात्तौ । तयोरपि च संचारित्वम् । सात्त्विकानां स्थायिभावावस्थाविशेषत्वेन निर्वेदादिवत् संचारित्वात् । विभावस्तु इति

होता है—जब वैसा (एक विशेष प्रकार का) आस्वाद वहाँ हो। इन श्रृंगार आदि नव रसों का स्वबोधक शब्द आदि पाँच उपकरणों द्वारा प्रतीति होती है। भट्टोद्भट ने जैसा कि कहा भी है—रस पञ्चरूप होते हैं—इस प्रसंग में स्व शब्द श्रृंगारादिबोधक शब्द ही हैं। स्थायी ही वस्तुतः रसों के उपादान कारण हैं—इसलिये रति आदि नव भाव हैं। निर्वेद आदि संचारी रस की विशेष अवस्थाएँ हैं। नायिका आदि तथा ऋतु, माल्य एवं अनुलेपन आदि विभाव निमित्तकारण हैं। आंगिक आदि चतुर्विध अभिनय रसों के कार्य हैं। स्ववाचक शब्द आदि उपर्युक्त पाँचों तत्त्व कभी पूर्णतः और कभी कोई एक भी आधार बनता है और इसके सहारे जिस काव्य से स्फुट रूप से श्रृंगार आदि रस का आविर्भाव किया जाता है—वही काव्य रसवत् कहा जाता है। रस निश्चय ही उस काव्य के अलंकार हैं।

उसका उदाहरण यों है—

पार्वती के समस्त गुणों का इस प्रकार भावन करने वाले शंकर का कामकंदर्प नानाविध संकल्पों से परिपूर्ण हो महाप्रबल हो गया ।।२।।स्वेदमय शरीर रोमाञ्चित हो उठा—रोमाञ्च ऐसे लगते थे जैसे कदम्ब की कलिका के कोश से प्रसूत केसरराशि ही हो। इनका मुख उन आँखों से, जो क्षण भर के लिए औत्सुक्य से भर उठी हों, चिन्ता से निश्चल हो रही हों तथा प्रमोद से अलसा उठी हों, युक्त था। ।।३।।४।।

भावयतस्तस्येति निर्दिष्टः। भगवती हि तत्र दृग्गुणोपेतत्वेन विभाव्यमाना विभावः। अभिनयस्तत्रापाङ्गाभिनयो निर्दिष्टो दृशा इति । अतोऽत्राभिलाषिकः शृंगाररसः स्वशब्दादिभिः पञ्चभिरभिव्यज्यते ।

एवमन्येऽपि रसा उदाहार्याः ।

रसानां भावानां च काव्यशोभातिशयहेतुत्वात् किं काव्यालंकारत्वमुतकाव्य-जीवितत्वमिति न तावद्विचार्यते ग्रंथगौरवभयात् । रसभावस्वरूपं चात्र न विवेचितम-प्रकृतत्वाद्बहुवक्तव्यत्वाच्च ।

ऊर्जस्वि

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।
भावानां च रसानां च बंध ऊर्जस्वि कथ्यते ।।५।। (४६)

कदम्बकालिका का कोश अर्थात् उसका आंतरिक भाग। यहाँ भगवान् शंकर का आभिलाषिक विप्रलम्भ शृंगार निबद्ध है। यहाँ स्वशब्द है—प्रबल कंदर्प या काम (रति)। वही स्थायी 'कंदर्प' शब्द से स्पष्ट कर दिया गया है। कारण यह है कि शृंगार रति का परिपोष ही तो है। रति युवा और युवक का काम ही है। इसलिए रति विशेष का वाचक कंदर्प शब्द यहाँ स्थायी का वाचक शब्द है। औत्सुक्य, चिंता एवं हर्ष—नामक संचारी तो स्पष्ट ही शब्दोक्त हैं। इसी प्रकार स्वेद और रोमाञ्च—सात्त्विक भाव भी शब्दोपात्त हैं। वे भी संचारी ही हैं। कारण, सात्त्विक भी स्थायी भाव की एक विशेष अवस्था है, अतः निर्वेद आदि की भाँति वे भी एक तरह के संचारी ही हैं। "इति भावयतस्तस्य. . ."—द्वारा विभाव का निर्देश किया गया है। तत्तत् गुणों से विभूषित भावनागोचर भग-वती ही विभाव हैं। 'दृशा'—द्वारा यहाँ अभिनय के नाम पर कटाक्षाभिनय कहा गया है। इसलिये यहाँ स्ववाचक शब्द आदि पाँच साधनों द्वारा आभिला-षिक शृंगार की अभिव्यंजना की गई है। इसी प्रकार अन्य रसों का भी उदाहरण दिया जाना चाहिए।

रस एवं भाव काव्यीय शोभा में अतिशयता का आधान करने वाले हैं—इसलिये क्या उन्हें काव्य का अलंकार कहा जाय अथवा काव्य का जीवित?—इसका विचार यहाँ नहीं किया जा रहा है, कारण है ग्रंथ की आकार वृद्धि का भय। रस और भाव का स्वरूप भी यहाँ पूर्णतः विवेचित नहीं हुआ। कारण, पहला तो यह कि वह प्रवृत्त नहीं है और दूसरा यह कि उस पर बहुत कुछ वक्तव्य है।

ऊर्जस्वि [का स्वरूप यहाँ से विचारित होने जा रहा है]

क्वचित्खलु रसभावानां शास्त्रसंविदविरुद्धेन रूपेणोपनिबंधः क्रियते, क्वचित्तु तद्विरुद्धेन। तत्र यत्र शास्त्रसंविदविरुद्धेन रूपेण तेषामुपनिबंधस्तत्र प्रेयोऽलंकारो रसवदलंकारश्चाभिहितः। यत्र तु तद्विरुद्धत्वं तन्मूललोकव्यवहारविरुद्धत्वं च तद्विषयाणां रसभावानामुपनिबंधे सति ऊर्जस्वित्काव्यं भवति। तत्र हि रागद्वेष-मोहकारणकाः अनौचित्येन रसभावा उपनिबध्यंते। अत एव तत्र स्वकल्पना-परिकल्पितत्वेन ऊर्जसो बलस्य विद्यमानत्वाद् ऊर्जस्विव्यपदेशः। ज्योत्स्ना तमिस्रा-इत्यत्र (पा० सू० ५/२/११४) ऊर्जस्विशब्दः।

तस्योदाहरणम्

तथा कामोऽस्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम्।
संग्रहीतुं प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम् ।।५।।

काम एवं क्रोध आदि कारणवश अनुचित ढंग से जहाँ रस या भाव प्रवृत्त हो—वहाँ ऊर्जस्वि नामक अलंकार होता है।।५।। (४६।।)

रस एवं भाव का कहीं तो शास्त्रीय ज्ञान के अनुरूप उपनिबंध होता है और कहीं विरुद्ध। जहाँ शास्त्रीय ज्ञान के अनुरूप उपनिबंध होता है वहाँ तो प्रेयान् अलंकार तथा रसवदलंकार होता है और जहाँ तद्विरुद्ध होता है या तन्मूलक लोक-व्यवहार विरुद्ध अभिधान होता है—वहाँ रस भाव की जब बँधान होती है तब ऊर्जस्वित् काव्य होता है। कारण यह है कि वहाँ राग, द्वेष एवं मोह के कारण अनुचित ढंग से रस भाव आदि का उपनिबंध होता है। इसीलिये अपनी कल्पना से परिकल्पित होने के कारण ऊर्ज या बल की विद्यमानता होती है—अतः यहाँ ऊर्जस्वि का व्यवहार होता है। "ज्योत्स्ना तमिस्रा शृंगिणोर्जस्विन्नूर्जस्वल-गोमिन्मलिनमलीमसाः"—पाणिनीय सूत्र है, जिसके द्वारा ऊर्जस्वि शब्द का मत्वर्थ में निपातन होता है।

उसका उदाहरण [यह है]—शिव में भी काम की वृद्धि उसी प्रकार हुई, जिस प्रकार हिमगिरि की सुता में। वह बलपूर्वक सत्पथ का परित्याग कर संग्रहार्थ प्रवृत्त हुआ।

यहाँ सकल संसार का अतिक्रमण करने वाले भगवान शंकर के प्रति अवि-वाहित कुमारी को विषय बनाकर काम का जो हठसंग्रह है—वह शास्त्रीय अंकुश के विरुद्ध है और यह सब बढ़े हुए राग के कारण है—इसीलिये यहाँ ऊर्जस्विता है। इस प्रसंग में 'काम बढ़ा'—यह प्रयोग स्ववाचक शब्द है—शृंगार का। कारण यह है कि रतिपोषात्मक होने के कारण कामवृद्धि उसका स्वभाव ही है। इसके अंतर्गत प्रयुक्त काम शब्द शृंगाररस के स्थायी भाव रति का ही वाचक 'स्वशब्द'

अत्र सकललोकातिशायिनो भगवतोऽकृतविवाहकुमारीविषयतया हठसंग्रहः शास्त्रसंविद्विरुद्धः प्रवृद्धरागकारणक उपनिबद्धस्तेन ऊर्जस्विता। तत्र कामो ववृधे- इत्ययं श्रृंगाररसस्य स्वशब्दः तस्य रतिपरिपोषकात्मकत्वेन कामवृद्धिस्वभाव-त्वात्। कामशब्दस्त्वेतदन्तर्गतः श्रृंगारस्य याऽसौ स्थायिभूता रतिस्तस्याः स्वशब्दः। हिमगिरेः सुतामित्यालम्वनविभावः। हठेनेत्यनेनावेगलक्षणो व्यभिचारी भावः प्रति-पादितः। अपास्य सत्पथमिति तु मोहः। संग्रहीतुं प्रववृते इत्यांगिकोऽनुभावः। एवमयमत्र पञ्चभिः स्वशब्दादिभिरूर्जस्वि-लक्षणः श्रृंगारः सूचितः।

एवमन्येष्वपि रसभावेषूर्जस्वि उदाहार्यम् ।।

पर्यायोक्तम्—

मू०— पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ।।६।।(४७)

वाचकस्याभिधायकस्य स्वशब्दस्य वृत्तिर्व्यापारो वाच्यार्थप्रत्यायनम्। वाच्यस्य त्वभिधेयस्य व्यापारो वाच्यान्तरेण सहाकांक्षा-सन्निधि-योग्यता-माहात्म्यात् संसर्ग-गमनम्। एवंविधश्च यो वाच्यवाचकयोर्व्यापारस्तमन्तरेणापि प्रकारान्तरेणार्थ-

---

है। हिमगिरि का सुता आलम्बन विभाव है। 'हठेन' कहने से आवेग रूप व्यभि-चारी भाव का प्रतिपादन है। सत्पथ का त्याग—कहने से 'मोह' ध्वनित होता है। संग्रहार्थ प्रवृत्त हुए—इस उक्ति से आंगिक अनुभाव कहा गया। इस प्रकार स्ववाचक शब्द आदि पाँचों सामग्री से ऊर्जस्वि रूप श्रृंगार सूचित हो रहा है।

इसी प्रकार और रस भावों के संबंध में भी ऊर्जस्वि का उदाहरण देना चाहिए।

पर्यायोक्त (का सोदाहरण विवेचन यहाँ से आरंभ होने जा रहा है)

पर्यायोक्त अलंकार वहाँ होता है जहाँ वाच्य व्यापार तथा वाचक व्यापार से शून्य अवगमात्मना अन्य रूप से बात कही जाय ।।६।। (४७)।

वाचक, अभिधायक या स्वबोधक शब्द का व्यापार है—वाच्यार्थ का ज्ञान कराना और वाच्य या अभिधेय का व्यापार है—वाच्यान्तर के साथ आकांक्षा, योग्यता और संनिधि के बल से संसर्गावगम। इस प्रकार जो वाचक और वाच्य के व्यापार हैं—उसके बिना ही प्रकारान्तर से—अर्थसामर्थ्य रूप अवगम से जो प्रतीत हो जाय, वही पर्याय से अर्थात् शब्दानुवत होने पर भी व्यवहित व्यापार से अवगत होने के कारण पर्यायोक्त वस्तु कही जाती है। इस प्रकार वही अपने संबंध से काव्यार्थ को अलंकृत करता है।

सामर्थ्यात्मनावगमस्वभावेन यदवगम्यते तत् पर्यायेण स्वकण्ठानभिहितमपि सान्तरेण शब्दव्यापारेणावगम्यमानत्वात् पर्यायोक्तं वस्तु। तेन च स्वसंश्लेषवशेन काव्यार्थोऽलंक्रियते।

तस्योदाहरणम्—

येन लम्बालकः साश्रः करघातारुणस्तनः।
अकारि भग्नवलयो गजासुरवधूजनः ॥६॥

सोऽपि येन कृतः प्लुष्टदेहेनाप्येवमाकुलः।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ॥७॥

अत्र लम्बालकत्वादयः कार्यरूपत्वात्कारणभूतं गजासुरवधं वाच्यवाचक-व्यापारास्पृष्टमपि गमयन्ति। तेन च तथाविधया विच्छित्यावगम्यमानेनार्थेन ते लम्बालकत्वादयोऽर्था अलंक्रियन्ते। तस्मात्पर्यायोक्तालंकारः।

समाहितम्—

रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमवंधनम्।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत्समाहितम् ॥७॥ (४८)

उसका उदाहरण (यह है)—

जिसने गजासुर की बधू को ऐसा कर दिया कि उसकी अलकें लम्बी लम्बी खुली ही रहीं, आँखें आँसुओं से भर गईं, छाती पर हाथ पीटते-पीटते स्तन अरुणाभ हो गये, कंकण फोड़ दिये गये, उस (भगवान शंकर) को भी जिस दग्ध-काय व्यक्ति ने इस प्रकार व्याकुल कर दिया—उस अवार्यशक्ति वाले मकरकेतु को नमस्कार है।

यहाँ अलकों का लम्बायमान रहना आदि जो कार्य कहे गये हैं—वे निजी कारण गजासुरवध को वाच्यवाचक व्यापार के बिना ही प्रतीत करा देते हैं। तथाविध नमस्कार के साथ प्रतीयमान उस अर्थ के द्वारा लम्बालकत्व आदि अर्थ अलंकृत किये जाते हैं। इसलिये यहाँ पर्यायोक्त अलंकार है।

समाहित (का सोदाहरण निरूपण)—

रस, भाव एवं रसाभास तथा भावाभास की वृत्ति का जहाँ प्रशम कहा गया हो और अतिरिक्त रसादि के अनुभावादिकों की पूर्णरूपेण शून्यता हो—वहाँ समाहित नामक अलंकार होता है।

इह रसभावानां शास्त्रसमयाविरुद्धेन तद्विरुद्धेन च रूपेण द्वैविध्यमुक्तम्। तत्र ये शास्त्रसमयाविरुद्धा रसभावास्ते रसभावशब्देनात्र विवक्षिताः। तद्विरुद्धास्तु तदाभासाः। तेषां रसभावानां तदाभासानां च या वृत्तिः स्वाश्रयसंबंधात्मिका तस्याः प्रशमे निवध्यमाने समाहितालंकारो भवति। तत्र हि तेषां रसभावानां समाधानं समाधिः परिहारो भवति। समाहितमिति भावे क्तः। ननु यदि तस्मिन् काव्ये रसादीनां वृत्तिः परिह्रियते एवं सति पूर्वरसादिनिवृत्या रसाद्यन्तरोपनिबन्धाद्रसवदाद्यलंकारानुप्रवेशः प्रसक्त इत्याशङ्क्योक्तम्-अन्यानुभाव-निःशून्यरूपमिति। अन्यस्य रसाद्यन्तरस्य येऽनुभावादयस्तैर्निःशेषेण शून्यं रूपं यस्य तत्तथोक्तम्। यत्र पूर्वेषां रसादीनां वासनाया दार्ढ्येन तेषूपशान्तेष्वपि रसाद्यन्तराणां न स्वरूपमाविर्भवति, आविर्भवदपि वा कार्यवशेन केनचित्तिरोधीयते तत्र समाहितालंकारो भवति।

तस्योदाहरणम्——

मू०—— अथ कान्तां दृशं दृष्ट्वा विभ्रमाच्च भ्रमं भ्रुवोः।
प्रसन्नं मुखरागं च रोमाञ्चस्वेदसंकुलम् ॥८॥

यहाँ रसभाव का शास्त्रीय समय से अविरोध एवं विरोध रखने वाले दो प्रकार के भाव कहे गये हैं। उनमें से जो शास्त्रीय समय से विरोध न रखने वाले हैं वे रस, भाव शब्द से कहे गये हैं और विरोध रखने वाले——रसाभास एवं भावाभास शब्द से। उन रस, भाव, रसाभास एवं भावाभास का अपने आश्रय में विद्यमान रहने की जो इति है——प्रशम है——वह यदि निबद्ध हो, तो वहाँ समाहित नाम का अलंकार होगा। समाहित में जो 'क्त' प्रत्यय है——वह भाव में है——फलतः समाहित का अर्थ है——समाधान। यहाँ आशंका यह हो सकती है कि जिस काव्य में रसादि का संबंध शांत कर दिया जायगा——वहाँ पूर्वतः परिपोषित रस की निवृत्ति हो जायगी और अन्य रस एवं भाव आदि का अनुप्रवेश होगा——तो इस प्रकार वहाँ रसवद् आदि अन्य अलंकारों का अवसर उपस्थित हो जायगा——इसी बात को ध्यान में रखकर अन्यानुभावशून्यता की बात की गई है। अन्य अर्थात् दूसरे रस आदि के जो अनुभाव आदि हैं उनसे पूर्णतः शून्य रूप होना चाहिए। हाँ, जहाँ पूर्व प्रयुक्त रस आदि की वासना बड़ी दृढ़ हो, उनके उपशान्त हो जाने पर भी अन्य रस आदि का स्वरूपाविर्भाव न हो अथवा आविर्भूत हो भी रहा हो तो भी किसी कार्यवश तिरोहित हो जाय——तो वहाँ समाहित नामक अलंकार होता है। उसका उदाहरण यों है——

स्मरज्वरप्रदीप्तानि सर्वाङ्गानि समादधत् ।
उपासर्पद्गिरिसुतां गिरिशः स्वस्तिपूर्वकम् ॥९॥

समादधन्निजे रूपेऽवस्थापयन् । समादधदित्यभ्यस्तत्वात् नुमोऽप्रवृत्तिः । अत्र भगवता शृङ्गारस्य येऽनुभावाः कान्तदृष्ट्यादयस्तेषामवहित्थेन आकारप्रच्छादनात्मकेन भावेन तिरोधानं विहितम् । यदुक्तं स्वस्तिपूर्वकमिति । अनेन ह्याकारतिरोधानमुपदर्शितम् ।

उदात्तम्—

उदात्तं ऋद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम् ।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥८॥ (४९)

ऋद्धिः सुवर्णादिधनसंपत्तिः । तद् युक्तं वस्तूदात्तम् । तेन च काव्यार्थोऽलंक्रियते ।

तस्योदाहरणम्—

उवाच च यतः क्रोडे वेणुकुञ्जरजन्मभिः ।
मुक्ताफलैरलंकारः शवरीणामपीच्छया ॥१०॥

इसके बाद उसके रमणीय नेत्र, विलासवश भौंहों का चलाना, रोमाञ्च एवं प्रस्वेद से व्याप्त तथा प्रसन्न मुखराग को देखकर स्मरज्वर से संतप्त हो रहे अपने समस्त अंगों को स्वरूपस्थ करते हुए स्वस्तिपूर्वक शंकर पार्वती के पास पहुँचे।

समादधत् से अभिप्राय है—स्वरूपस्थ करते हुए। 'समादधत्' में यद्यपि नुम् का आगम होना चाहिये, फिर भी अभ्यास संज्ञा प्राप्त को नुम् नहीं होता—इस निषेध से यहाँ 'नुम्' की प्रवृत्ति नहीं हुई। यहाँ भगवान् शंकर के जो कांत दृष्टि आदि अनुभाव कहे गये हैं—उनका अवहित्था या आकार प्रच्छादन द्वारा तिरोधान ही कहा गया है। स्वस्तिपूर्वक आदि से यही तो कहा गया है। इससे आकार तिरोधान की ही बात तो एक ढंग से दिखाई गई है।

उदात्त (अलंकार का निरूपण)—

जहाँ अप्रधान रूप से किसी का अंग बनाकर किसी संपत्तिशील वस्तु का वर्णन किया गया हो या किसी महात्मा के चरित का उपस्थापन किया गया हो—पर वह काफी लम्बा वर्णनात्मक न हो [वहाँ 'उदात्त' होता है] ॥८॥ (४१)

ऋद्धि का अर्थ है—सुवर्ण आदि धन-संपत्ति। उससे युक्त वस्तु उदात्त कही जाती है। इससे काव्यार्थ अलंकृत होता है।

उसका उदाहरण यों है—

पुष्ट्येन्द्रनीलवैडूर्यपद्मरागमयैर्वियत् ।
शिरोभिरुल्लिखद् यत्र शिखरं गंधमादनम् ॥११॥
उत्तरोपत्यका यस्य प्रधानस्वर्णभूमयः ।
महान् मरकतोर्वीध्रः पादोपान्तं च संश्रितः ॥१२॥
बभूव यस्य पातालपातिन्यां संक्षये क्षितौ ।
पतनं च तया सार्धमायामस्तु प्रकट्यभूत् ॥१३॥

यस्य एवंविधरूपता हिमाद्रेर्भवती सुता-इति संबंधः। क्रोडः सूकरः। पुष्ट्यो मणिविशेषः। गंधमादनं पर्वतविशेषः। उपत्यकाः पर्वताधरवर्तिनः भूमिभागाः। प्रधानं स्वर्णं कार्त्तस्वरादिः। उर्वीध्रः पर्वतः। संक्षयः कल्पान्तः। भूमेरधोगमनात् भूम्याश्लिष्टस्य प्रदेशस्य भूमिविविक्तत्वाद्धिमवतः कल्पान्ते आयामः प्रकटीभूतः। अत्र रत्नादिसंभारो निबद्धः। तेनेदमुदात्तम्। तस्य चालंकारत्वम्-लोकातिशायिरत्नादिकार्यध्वननात्। एवमेतद् ऋद्धिमद्वस्तुनिबंधनेनैकमुदात्तमुक्तम्।

न केवलमृद्धिमद्वस्तूदात्तं यावदर्थप्राप्तावनर्थपरिहारे चोद्यतानां विपुलाशयानां चेष्टितमपि। तदुक्तं चरितं च महात्मनाम्--इति। न च विपुलाशयचेष्टिते उपनिवध्यमाने तस्य शृंगारादिरसप्रतिपत्तिहेतुत्वाद्रसवदलंकारानुप्रवेशोऽत्र सुभणः

और बोले कि जहाँ वेणु तथा हाथी से उत्पन्न मुक्ताफलों के अलंकार शबरियों की भी अपनी इच्छा वश सरलता से उपलब्ध हो जाते हैं तथा गंधमादन नाम का जिसका शिखर पुष्ट्य (मणिविशेष), इन्द्रनील, वैडूर्य तथा पद्मराग मय शृङ्गों से गगन से रगड़ा खाता रहता है, जिसकी उत्तर वाली उपत्यका उत्तम स्वर्ण की भूमि है मरकत का महान् पर्वत, जिसके पैरों तले पड़ा है, कल्पान्त में पृथ्वी जब पाताल को चली गई, तब भी जिसका पृथिवी के साथ पतन नहीं हुआ, उलटे और विस्तार तथा गौरव ही प्रकट हुआ ॥११।१२।१३॥

जिस हिमालय को यह महिमा है---तुम उसकी पुत्री हो---इस प्रकार प्रस्तुत वक्तव्य का संबंध जोड़ना चाहिए। क्रोड अर्थात् सूकर। पुष्ट्य मणि विशेष है। गंधमादन एक पर्वत का नाम है। उपत्यका पर्वत की निचली तलहटी को कहते हैं। प्रधान स्वर्ण कार्तस्वर आदि को कहेंगे। उर्वीध्र अर्थात् पर्वत। संक्षय कल्पांत को कहते हैं। भूमि के नीचे चले जाने से भूमि से आश्लिष्ट पर्वतीय भाग जब मुक्त हो गया---तो कल्पान्त में उसका सारा विस्तार सामने उठ आया। यहाँ रत्न आदि का संभार वर्णन हुआ है। इसीलिये यहाँ उदात्त नामक अलंकार है। वही यहाँ अलंकार है---कारण, लोक में उत्कर्ष का ध्वनन ये रत्नादि कार्य कर रहे हैं।

विपुलाशयचेष्टितस्यात्र वस्त्वन्तरोपलक्षणत्वेनावान्तरवाक्यार्थीभूतत्वात् । न खल्वत्र महापुरुषचेष्टितं वाक्यतात्पर्यगोचरतामनुभवति, अर्थान्तरोपलक्षणपरत्वात् । यत्र च रसास्तात्पर्येणावगम्यन्ते तत्र तेषां वाक्यविश्रान्तिस्थानत्वेन चतुर्वर्गतदितरप्राप्तिपरिहारोपायभूतस्थायिभावपरिपोषात्मनास्वाद्यमानत्वाद्रसवदलंकारो भवति। तेन कुतोऽत्र रसवदलंकारगंधोऽपि । तदुक्तम्—उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम्—इति ।

तस्योदाहरणम्—

तस्यादिक्रोडपीनासनिघर्षेऽपि पुनः पुनः ।
निष्कम्पस्य स्थितवतो हिमाद्रेर्भवती सुता ॥१४॥

अत्र हिमवतःस्थैर्ये वाक्यार्थीभूते भगवतो वराहवपुषस्त्रैलोक्योद्धरणोद्युक्तस्य चेष्टितं वीररसप्रतिपत्तिहेतुभूतमवान्तरवाक्यार्थत्वादुपलक्षणीभूतम् । आदिक्रोड आदिवराहः ।

एवं रसान्तरेष्वपि उपलक्षणीभूतेषूदाहार्यम् ।

इस प्रकार ऋद्धिमान् वस्तु के निबंधन से होनेवाले उदात्त का एक रूप यहाँ कहा गया।

केवल ऋद्धिमान वस्तु का वर्णन ही उदात्त नहीं है, बल्कि अर्थ की प्राप्ति तथा अनर्थ के परिहार के विषय में उद्यत सदाशय जनों की चेष्टाओं का वर्णन भी 'उदात्त' कहा जाता है। इसी बात को कारिका में 'चरितं च महात्मनाम्'—द्वारा कहा गया है। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि महात्माओं के चरित-नियोजन से शृंगार आदि रस की प्रतिपत्ति संभव है, अतः यहाँ तो रसवद् अलंकार का प्रवेश मजे से कहा जा सकता है, कारण यह है कि यहाँ महात्मा का चरित अन्य वर्ण्यमान वस्तु का अंग है—अतः वह तो अवान्तर अंगभूत वाच्यार्थ है। निश्चय ही यहाँ महापुरुष का चरित प्रस्तुत वाक्य का मुख्य अभिप्रेत अर्थ नहीं है, कारण, वह अन्य अर्थ का अंग है। जहाँ पर रस वाक्य का मुख्य अर्थ होता है, फलतः वहीं वाक्य की विश्रान्ति होती है और उससे चतुर्वर्ग की प्राप्ति तथा तदितर का परिहार रूप फल होता है साथ ही इसी रूप से स्थायी का परिपोष होता है और वह आस्वाद्य होता है—वहीं रसवदलंकार का व्यवहार होता है। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में रसवदलंकार की तो गंध भी कहा है? इसी को कहा गया है—ऋद्धिमान वस्तु का वर्णन तथा महात्मा का चेष्टित—अन्य अर्थ के अंग होते हैं तथा उनका प्रामुख्य न होने से विस्तार नहीं होता। उसका उदाहरणः—

श्लिष्टम्—

एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम् ।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बंधः श्लिष्टमिहोच्यते ॥९॥ (५०)
अलंकारान्तर्गतां प्रतिभां जनयत्पदैः ।
द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयताम् ॥१०॥ (५१)

इह खलु शब्दानामनेकार्थानां युगपदनेकार्थविवक्षाया द्वयी गतिः। अर्थभेदेन तावच्छब्दाः भिद्यन्ते—इति भट्टोद्भटस्य सिद्धांतः। तत्रार्थभेदेन भिद्यमानाः शब्दाः केचित्तंत्रेण प्रयोक्तुं शक्याः, केचिन्न। येषां हल्स्वरस्थानप्रयत्नादीनां साम्यं ते तंत्रेण प्रयोक्तुं शक्यन्ते, यत्र तु हलामेकत्वानेकत्वरूपत्वात् स्वराणां चोदात्तत्वानुदात्तत्वादिना स्थानानां चौष्ठ्यदन्त्यौष्ठ्यत्वादिना प्रयत्नानां च लघुत्वालघुत्वादिना

आदि वराह के पुनः पुनः घर्षण करने पर भी निष्कम्प स्थिर रहनेवाले उस हिमालय को आप सुता हैं ॥१४॥

यहाँ हिमालय की स्थिरता वाक्य का प्रमुख अर्थ है। त्रिलोक उद्धारार्थ प्रस्तुत भगवान महावराह का यह चेष्टित वीररस की प्रतीति का हेतु होकर अवान्तर वाक्यार्थ के रूप में उसका अंग ही कहा जायगा। आदि क्रोड का अर्थ है—आदि वराह।

इसी प्रकार अन्य रसों के अंग होने का उदाहरण दिया जा सकता है।

श्लिष्ट [का सोदाहरण]:—

उन शब्दों के बंध को श्लिष्ट कहते हैं, जो (१) भिन्नार्थक होकर भी एक ही ढंग से उच्चरित होते हों (२) अथवा स्वरित आदि गुणों के भेद वश भिन्न होने पर ऐसा लगता हो जैसे एक ही तरह के प्रयत्न से सादृश्य सम्पन्न होने वाले वे शब्द उच्चारित होते हों ॥९॥१०॥ (५०,५१)

निश्चय ही यहाँ अनेकार्थक शब्दों की यदि साथ ही अनेक अर्थों के प्राप्त्यर्थ विवक्षा हो तो दो स्थितियाँ हो सकती हैं। भट्टोद्भट का यह सिद्धान्त है कि अर्थ भेद से शब्द भेद होता ही है। वहाँ भी यह ध्यान देने की बात है कि अर्थ भेद वश भिन्न-भिन्न अस्तित्व सम्पन्न शब्दों में कतिपय इस प्रकृति के होते हैं कि उनका 'तंत्र' से प्रयोग किया जा सकता है और कतिपय ऐसे होते हैं जहाँ 'तंत्र' का प्रयोग नहीं हो सकता। तंत्र के द्वारा उनका प्रयोग हो सकता है जिनके स्वर व्यंजन, स्थान एवं प्रयत्न समान हों। परन्तु जहाँ व्यंजनों की एकता व अनेकता हो, स्वर उदात्त एवं अनुदात्त हों, उनके ओष्ठ वा दन्तौष्ठय आदि भिन्न स्थान हों, प्रयत्न लघु एवं अलघु आदि हों—और इन सबके कारण भिन्नार्थक शब्दों में भेद हो—तो उन शब्दों

भेदस्तेषां तंत्रेण प्रयोगः कर्त्तुमशक्यः साधारणरूपत्वात्तन्त्रस्य। तदुक्तम्—साधारणं भवेत्तन्त्रमिति। एवं चावस्थिते ये तंत्रेणोच्चारयितुं शक्यन्ते, ते एकप्रयत्नोच्चार्याः। तद्वंधे सत्यर्थश्लेषो भवति। तदुक्तम्—एक प्रयत्नोच्चार्याणामिति। तथा ये तेषामेवैकप्रयत्नोच्चार्याणां शब्दानां छायां सादृश्यं बिभ्रति तदुपनिवंधेन शब्दश्लिष्टं शब्दान्तरे उच्चार्यमाणे सादृश्यवशेनानुच्चारितस्यापि शब्दान्तरस्य श्लिष्टत्वात्। तदुक्तम्-तच्छायां चैव बिभ्रताम्। स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिति। तथा—शब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयतामिति।

एतच्च श्लिष्टं द्विविधमपि उपमाद्यलंकारप्रतिभोत्पादनद्वारेरणालंकारतां प्रतिपद्यते। अतोऽनेनानवकाशत्वात् स्वविषये अलंकारान्तराण्यपोद्यन्ते, तेषां विषयान्तरे सावकाशत्वात्। तदुक्तम्—अलंकारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदैः। द्विविधैरिति। अलंकारान्तराणमत्र प्रतिभामात्रं न तु पदवन्ध इत्यर्थः।

तदेवं शब्दश्लिष्टमर्थश्लिष्टं च लक्षितम्।

का तंत्र द्वारा प्रयोग संभव नहीं है, कारण तंत्र का उपयोग साधारणशब्दों के ही लिये होता है। इस स्थिति में जिनका तंत्र द्वारा उच्चारण संभव है—वे एकप्रयत्नोच्चार्य माने जाते हैं और ऐसे शब्दों के वंध से अर्थ श्लेष होता है। इसी अभिप्राय को 'एकप्रयत्नोच्चार्याणाम्'—इत्यादि द्वारा व्यक्त किया गया है। पर जो शब्द एक प्रयत्नोच्चार्य शब्दों के समान हों—उनका उपनिबंध होने से—शब्द श्लिष्ट होता है। कारण, किसी दूसरे शब्द का उच्चारण किया गया है, पर सादृश्य वश-एक भिन्न शब्द का भी, जो वस्तुतः उच्चारित नहीं हुआ, है, वहाँ संश्लेष माना जा सकता है। उसी को 'तच्छायां च' इत्यादि तथा 'शोकोक्तिविशिष्ट' इत्यादि कारिकांशों से कहा गया है।

यह श्लिष्ट इस प्रकार (शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष के रूप में) दो प्रकार का हुआ। दोनों प्रकार के श्लेष उपमा आदि अन्यान्य संभव अलंकारों की झलक देते हुए अपनी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि श्लेष निरवकाश होने के कारण अपने विषय में अलंकारान्तर को व्यपदेश लाभ नहीं करने देता, कारण-अलंकारान्तर के लिए तो स्वतन्त्र असंकीर्ण और स्थान हैं ही, वे वहाँ अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर स्वतन्त्र व्यपदेश लाभ कर सकते हैं। इसी बात को 'अलंकारान्तरगताम्'—इत्यादि द्वारा कहा गया है। अलंकारान्तरों की यहाँ झलकमात्र ही होती है, न कि प्रतिष्ठा।

तो इस प्रकार शब्द श्लिष्ट एवं अर्थश्लिष्ट—लक्षित किये गये।

तस्योदाहरणम्--

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिनी ।
प्रभातसंध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥१५॥
इन्दुकान्तमुखी स्निग्धमहानीलशिरोरुहा ।
मुक्ताश्रीस्त्रिजगद्रत्नं पद्मरागांघ्रिपल्लवा ॥१६॥
अपारिजातवार्ताऽपि नंदनश्रीर्भुवि स्थिता ।
अविंदुसुंदरी नित्यं गलल्लावण्यबिंदुका ॥१७॥

न केवलं त्वं हिमाद्रेरेवंविधा सुता यावत्स्वयं चैवं प्रकारेति च शब्दः एकः । अत्र भगवती किसलयवदाताम्रौ भास्वन्तौ दीप्तिमन्तौ यौ करौ हस्तौ ताभ्यां विराजते । प्रभातसंध्या तु पल्लववदाताम्रैर्भास्वत आदित्यस्य करैर्मयूखैः विराजते । अत्र चोभयत्रापि हलादीनां साम्यम् । अतस्तंत्रेणोच्चारणस्य संभवादर्थश्लेषः ।

उसका उदाहरणः--

(उपमा की प्रतिभा)--पार्वती (न केवल महान् का संबंधी होने के कारण ही महनीय है, प्रत्युत) स्वयं पल्लव के समान अरुण एवं दीप्तिमान हाथों से शोभित तथा दुर्लभ फलों के लोभियों को वांछित प्रदान करनेवाली उस प्राभातिक संध्या की भाँति है जो पल्लव के समान सूर्य की आताम्र किरणों से सुशोभित तथा जागरण रूपफल या जागरण के स्नानादि फल के लोभियों को इष्ट वस्तु का प्रदान करनेवाली है ॥१५॥

(रूपक की प्रतिभा)--पार्वती त्रिभुवन की रत्नसमृद्धि है। (पार्वती पक्ष में--) चंद्र के समान सुन्दर मुखवाली, चिकने लंबे और काले केशों वाली, अशोभा की जहाँ गंध नहीं है, त्रिभुवन सुन्दरी कमल की सी ललाई वाले पादपल्लव वाली पार्वती (का कहना ही क्या ?) ॥ (रत्नसमृद्धि पक्ष में:--) चन्द्रकांतमणि, इन्द्रनील, मौक्तिक शोभा तथा पद्मरागमणिमय रत्नसमृद्धि ही है ॥१६॥

(विरोधाभास की प्रतिभा) पार्वती नंदन श्री है ! पार्वती पक्ष में:--भगवती पार्वती चूंकि अजातशत्रु हैं, अतः शत्रु समूह की बात उनके संबंध में उठाई ही नहीं जा सकती। उसकी शोभा चूंकि सबके चित्त को आवर्जित करती है--अतः वह नन्दना है। जल के मध्य स्थित होने के कारण जलप्रतिबिम्बित चंद्र के समान उसकी शोभा हो रही है। लावण्य का प्रवाह तो उससे सदा निर्गत होता रहता है। विरोधाभास परक योजना है--पार्वती नंदन श्री है, पर विरोध यह है कि वह पारिजात से रहित कैसे ? वह भूलोक में स्थित कैसे ?

आस्वाफललुब्धेहितप्रदेत्यत्र तु भगवतीपक्षे अस्वापसुखेनाप्तुं यत्र शक्यते फलं तत्र ये लुब्धास्तेभ्य ईहितमीप्सितं प्रददातीत्यर्थः। प्रभातसंध्या पक्षे तु स्वापस्य निद्रानुभवस्य यत्फलं श्रमनिवृत्तिलक्षणं तत्र यो न लुब्धः संध्योपासनप्रवृत्तत्वात् तद्विषयं हितमदृष्टं समर्थयतीत्येवंविधोऽर्थः।

अत्र च पूर्वस्मिन् पक्षे ऐकपद्यात्थाथादिस्वरेणोन्तोदात्तत्वम् (पा० सू० ६।२।१४४)। उत्तरत्र पुनरस्वाफललुब्धे इति हितप्रदेति चानयोर्भिन्नत्वान्नाना-स्वरत्वम्। अस्वापफललुब्ध इत्यस्य तत्पुरुष तुल्यार्थेति (पा० सू० ६।२।२) पूर्व-पदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वात् हितप्रदेत्यस्य तु स्वरेणान्तोदात्तत्वात्। तेनात्रस्वर भेदः अस्वापेति चाकारस्य फललुब्ध इति च एकारस्योभयोः पक्षयोर्यथायोगं लाघवालाघवाभ्यां प्रयत्नभेदोऽपि। अतस्तंत्रेणोच्चारयितुमशक्यता। एकस्मिंस्त्वत्र शब्दे समुच्चारिते शब्दान्तरस्य तत्सादृश्यात्प्रतिपत्तिः। अतोऽयं शब्दश्लेषः।

जिसका विन्दुओं से सौन्दर्य नहीं, वहाँ से लावण्य विन्दुओं का प्रसर कैसे ? [प्रति-ष्ठित अर्थ पहले दिया जा चुका है]।

न केवल तुम तथाविध हिमालय की ही पुत्री हो, प्रत्युत स्वयं भी इस प्रकार की हो—। कारिका में 'च' शब्द के प्रयोग से इस तरह का अर्थ किया गया है। यहाँ भगवती—किसलय के समान आताम्र तथा भास्वान जो हाथ उनके द्वारा शोभित होती है। पर प्रभातसंध्या पल्लव के समान आताम्र सूर्य की किरणों से सुशोभित होती है। यहाँ उभयत्र ही हल् आदि की समानता है। अतः यहाँ तंत्र द्वारा उच्चारण संभव है—फलतः यहाँ अर्थ श्लेष है :

पर 'अस्वापफललुब्धेहितप्रदा'—में भगवती के पक्ष में अर्थ यों होगा—अस्वाप अर्थात् सुख पूर्वक जो फल न प्राप्त किया जा सके—उसमें जो लुब्ध होने वाले हैं—उनके लिये ईप्सित प्रदान करती है। प्रभात संध्यापक्ष में अर्थ यों होगा—स्वाप अर्थात् निद्रानुभव का जो फल है—श्रमनिवृत्त रूप—उसमें जो संध्योपासन में प्रवृत्त होने के कारण लुब्ध नहीं हैं—तदर्थ वह अदृष्ट लाभ समर्पण करती है।

यहाँ पहले पक्ष में दोनों अर्थों की दृष्टि से शब्दभेद होने पर भी उन शब्दों की आनुपूर्वी भिन्न नहीं है—इसलिए 'थाथा' दि (६।२।१४४) सूत्र के द्वारा यहाँ अन्तोदात्त स्वर होगा। (पहली पंक्ति में 'भास्वत्कर' में ही अर्थभेद की दृष्टि से समास भेद है, पर स्वर भेद नहीं। पार्वती पक्ष में:—"भास्वन्तौ करौ"—कर्म धारय (समानाधिकरणतत्पुरुष) तथा संध्यापक्ष में:—'भास्वतः कराः' षष्ठी तत्पुरुष है। अलंकार है—अर्थश्लेष। कारण, यहाँ आकार एक ही है, केवल अर्थ भेद है। उत्तरार्द्ध में 'अस्वाफललुब्धहितप्रदा' तथा 'अस्वापफललुब्धेहितप्रदा'

एतयोश्च द्वयोरपि अर्थश्लेषशब्दश्लेषयोरुपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वम् । प्रभात-संध्या ह्यत्रोपमानं भगवती उपमेया, इवशब्दश्चोपमानोपमेयभावं द्योतयति । शब्द-व्यतिरेकेण तु साधारणोधर्मोऽर्थाधिकारणोऽत्र न विद्यते । तेन नेयमुपमा, अपितु श्लेष उपमाप्रनिभोत्पत्तिहेतुः ।

इंदुकातंमुरवीत्यत्र भगवती चन्द्रवत्सुंदरं मुखं यस्याः सा तथाविधा । तथा स्निग्धदीर्घकृष्णकेशी । मुक्ता परित्यक्ता अश्रीरशोभा यया सा तथाविधा । त्रैलोक्योत्कृष्टा च । तथा पद्मवत्कमलवत् रागो लौहित्यं ययोस्तथाविधौ पादप-पल्लवौ यस्यास्तद्रूपा । यदा त्वसौ भगवती रूपकप्रतिभोत्पत्तिनिबंधनेन श्लेषेण त्रैलोक्योदरवर्तीमाणिक्यसंभाररूपतया रूप्यते तदाऽप्रकृतोऽर्थश्चन्द्रकान्तेन्द्रनी-लमौक्तिकशोभापद्मरागैरवच्छादितरूपतया प्रतीयते, साक्षादेवंविधरत्नमयावयव-योगित्वात् त्रिभुवनोदरान्तर्गतरत्नसमृद्धिरूपेति ।

अर्थभेद के अनुरूप इस प्रकार दो बार योजना करनी पड़ती है। इसलिए यहाँ भिन्न भिन्न पद होने के कारण स्वर भेद हो जायगा। 'अस्वापफललुब्धेहितप्रदा —में एक सामासिक पद है। इसका अंतिम खंड 'प्रदा' है, जिसमें 'अच्' प्रत्यय निहित है और उपसर्ग है—प्र। 'प्रदा' से पूर्व 'ईहित' तथा दूसरे पक्ष में 'हित' शब्द हैं—जो कर्मकारक में हैं। इसलिए यहाँ 'प्रदा' अंतिम स्वर उदात्त है। कारण, उक्त सूत्र कहता है,—थ, अथ, घञ्क्त, अच्, अप्, इत्र, क प्रत्यय जिनके अन्त में हों तथा गति, कारक एवं उपपद पूर्व में हों—तो वे शब्द अंतोदात्त होते हैं। यहाँ अच् प्रत्यय अन्त में है—इसलिए यह अन्तोदात्त हुआ। अस्वापफललुब्धे' [संध्या पक्ष)—आद्युदात्त है। सूत्र है—तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्विती याकृत्याः (पा० ६।२।२)। अर्थ है इस सूत्र का यों :—तत्पुरुष समास में तुल्यार्थक तृतीयान्त, सप्तम्यन्त उपमानवाची, अव्यय, द्वितीयान्त तथा कृत्यप्रत्ययान्त पद यदि पूर्व में हो—तो वहाँ असमस्तावस्था में जो प्रकृत्यंश का स्वर होता है—वही समस्तावस्था में भी रह जाता है। प्रकृति स्वर उदात्त था, इसलिए यह शब्द आद्युदात्त ही रहा। 'हितप्रदा' में थाथादिस्वर की रीति से पूर्वोक्त ढंग से अन्तोदात्तता ही रही, इसलिए यहाँ स्वर भेद है। यहाँ पहले पक्ष में एक ही समास है और वह अन्तोदात्त है। दूसरे पक्ष में दो भिन्न-भिन्न पद हैं और उनमें से पहला आद्यु-दात्त है तथा दूसरा अन्तोदात्त है—इस प्रकार स्वर भेद स्पष्ट है। दूसरे 'अस्वाप' के अकार तथा 'फललुब्धे' के एकार का यथासंभव दोनों पक्षों में लघु प्रयत्न एवं अलघुप्रयत्न का भी भेद है। कहने का मतलब यह कि पार्वती पक्ष में अस्वापफललुब्धे हितप्रदा'—यह एक पद है—यहाँ लघुप्रयत्न है । संध्यापक्ष में 'अस्वापफल

अत्र च मुक्ताश्रीरित्यत्र स्वरभेदो विद्यते, बहुव्रीहिपक्षे बहुव्रीहौ प्रकृत्येति (पा० ६/२/१) पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वात् तत्पुरुषे तु समासान्तोदात्तत्वात् (पा० सू० ६/१/१२३—पा० सू० ६/१/२२३) शिष्टानां तु शब्दानां स्वरभेदो नास्ति। प्रयत्नगुरुत्वागुरुत्वे तु त्रिजगद्रत्नशब्दव्यतिरिक्तेषु तत्तद्वर्णविषयतया विद्येते। तेन तत्र शब्दश्लेषता। त्रिजगद्रत्नशब्दस्य तूभयत्रापि कस्यचिद्विशेषस्याविद्यमानत्वादर्थश्लेषत्वम्।

लुब्धे' तथा 'हितप्रदा' दो पद खंड हैं। यहाँ पहलाखंड आद्युदात्त तथा ए 'गुरुप्रयत्न है, दूसरा तो अंतोदात्त है ही। इस प्रकार स्वर भेद तथा प्रयत्न भेद होने से उच्चारण भिन्न और उच्चारण भिन्न होने से शब्द भिन्न और शब्द भेद होने से साधारणता नहीं—इसीलिए तंत्र से इनका उच्चारण संभव नहीं है—फलतः यहाँ दो पद मानने ही होंगे। रहा यह कि दो दिखाई नहीं पड़ते क्यों? तो उसका उत्तर यह है कि जतु काष्ठन्यायेन वे शब्द इस प्रकार मिल गये हैं कि एक पक्षीय शब्द का उच्चारण करने से शब्दान्तर की भी सादृश्यवश प्रतीति हो जाती है। इसीलिए यहाँ तो भिन्न भिन्न आकार के शब्द परस्पर चिपके हुए हैं—फलतः यहाँ अर्थश्लेष नहीं, बल्कि शब्द श्लेष है।

शब्द श्लेष एवं अर्थश्लेष—दोनों ही स्वयं प्रतिष्ठित हैं और उपमा की झलक मात्र देने में हेतु हैं। प्रभात संध्या—यहाँ उपमान है और भगवती—उपमेय हैं। इव शब्द उपमानोपमेयभाव का द्योतन करता है। शब्दसाम्य के अलावा कोई अर्थगत दूसरा साधारणधर्म यहाँ नहीं दिखाई देता। इस लिए यहाँ उपमा है नहीं, बल्कि उपमा की झलक देनेवाला केवल श्लेष अलंकार ही है।

इंदुकांत मुखी—इत्यादि श्लोक में भगवती चंद्र की तरह सुन्दर मुखवाली कही गई है। केश उसके स्निग्ध, लम्बे तथा काले-काले कहे गये हैं। मुक्त अर्थात् परित्यक्त हैं अशोभा जिसके द्वारा —ऐसी है वह! तीनों लोकों में उत्कृष्ट तो है ही। तथा पद्म या कमल के समान लालिमा वाले, पादपल्लव हैं जिसके ऐसी सरस्वती। जब यह भगवती पार्वती रूपक की झलक देनेवाले श्लेष के द्वारा त्रिभुवनवर्ती रत्नराशि से रूपित की जा रही है तो उपमान परक अप्रकृत अर्थ यों होगा—चंद्रकांत, इंद्रनील, मौक्तिक शोभा, पद्मराग से अवच्छादित रूपवाली प्रतीत होती है अर्थात् इस प्रकार के रत्नमय अवयवों का साक्षात् योग होने से मानों पार्वती त्रिभुवनवर्ती समस्त रत्नों की समृद्धि ही हो।

इस श्लोक के 'मुक्ताश्री'—इस अंश में 'स्वर भेद है। पार्वती पक्ष में 'मुक्ता श्री'—बहुव्रीहि समासवाला होगा, जब कि रत्नराशि के पक्ष में तत्पुरुष। बहुव्रीहि

अपारिजातवार्तापीत्यत्र भगवत्यजातशत्रुत्वात् अपगतशत्रुसमूहवार्ता। तदीया च शोभा सर्वस्य चित्तमावर्जयति—इत्यतो नन्दना श्रीर्यस्यास्तथाविधा। उदकमध्यवर्तितया च-योऽसौ अप्सु उदके प्रतिविम्बित इन्दुस्तद्वत्सुन्दरी। नित्यं च गलल्लावण्यप्रवाहा। यदा त्वसौ भगवती नन्दनश्रीशब्दस्य देवोद्यान-शोभालक्षणार्थान्तराभिधायित्वाद्रूपकप्रतिभोत्पत्तिनिबंधेनन श्लेषेणैतद्भावमापद्यते तदा तत्समाश्रयत्वेन अपारिजातवार्तापीत्यादिपदपर्यालोचनया विरोधप्रतिभा-हेतोरपरस्यापि श्लेषस्याविर्भावो भवति। न खलु देवोद्यानशोभा अविद्यमान

पक्ष में—[पाणिनीय सूत्र है—]बहुव्रीहौप्रकृत्या पूर्वपदम् (पा०६।२।१) [जिसका अर्थ है—बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का असमस्तावस्था वाला ही स्वर ज्यों का त्यों रह जाता है]—से मूल स्वर ही रहेगा। 'अनुदात्तपदमेकवर्जम्' द्वारा समस्त पद को अनुदात्तता प्राप्त थी, पर वह नहीं हुआ। तत्पुरुष पक्ष में समास के लिए जैसा कि सामान्य नियम है—अंतिम स्वर उदात्त होगा। अवशिष्ट शब्दों में स्वर भेद नहीं है। जहाँ तक प्रयत्नगत गौरव लाघव का संबंध है—त्रिजगद्रत्न से भिन्न तत्तद्वर्ण के विषय में वे ही हैं। इसलिए यहाँ भी शब्दश्लेष ही है। [उदाहरणार्थ, 'इंदुकांतमुखी' को ही लें—यहाँ पार्वती पक्ष में 'इंदु के समान कान्त है मुख जिसका'—बहुव्रीहि समास है, और त्रिजगद्रत्न-पक्ष में 'इंदु कांत है मुख या आरंभ में जिसके—अथवा इंदु कांत है मुख-प्रमुख जिसमें'—इस प्रकार बहुव्रीहि है। इस प्रकार यद्यपि दोनों स्थानों में बहुव्रीहि ही है—फिर भी दोनों में भेद है। इसलिए यद्यपि यहाँ स्वर-भेद नहीं है, फिर भी प्रयत्न भेद तो है ही।] त्रिजगद्रत्नम्—में दोनों पक्षों में एक ही समास है। अर्थ भेद अवश्य है—पार्वती पक्ष में—उत्कृष्टवस्तु और अन्यत्र 'रत्न' ही। त्रिजगद्रत्न-में किसी तरह का भेदकतत्त्व नहीं है—इसलिए यहाँ अर्थ श्लेष माना जा सकता है।

अपारिजातवार्तापि—इस श्लोक में भगवती का कोई शत्रु कभी हुआ ही नहीं, इसलिए शत्रु समूह की बात ही उसके संबंध में करनी व्यर्थ है। उसकी शोभा सबके चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करती है—इसीलिए आनंदकर शोभा वाली है वह। जल के मध्य तपस्या निरत होने के कारण वह खड़ी थी, अतः इंदु की परछाई जो जल में पड़ रही थी, कुछ उसी की तरह पार्वती सुन्दर लग रही थी। लावण्य का प्रवाह उससे अजस्र प्रवाहित हो रहा था। पर जब नन्दनश्री का दूसरा अर्थ —'देवोद्यानशोभा' लिया जाता है—तब उस अर्थ की दृष्टि से रूपक की झलक पैदा करने वाले श्लेष से भगवती का उसके साथ रूपण भी किया जाता है और

पारिजाताख्यवृक्षविशेषवृत्तान्ता भवति। न चासौ भूमौ तिष्ठति। अविंदुसुन्दरीत्यत्र तु विंदुभिर्यस्याः सौदर्यं नास्ति तस्याः कथं लावण्यविंदवः प्रसरेयुरिति विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः।

अपारिजातवार्तापीत्यत्राप्यपगतारिजातवार्तेति–बहुव्रीहौ प्रकृत्येति (पा० सू० ६/२/१) पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। तत्पुरुषपक्षे त्वन्तोदात्तत्वम् (पा० सू० ६/१/१२३–६/१/२२३)। अविंदुसुन्दरीत्यत्र अविंदुवत्सुन्दरीत्युपमानत्वात्—तत्पुरुषे तुल्यार्थेति (पा० सू० ६/२/२) अविंदुशब्दस्य प्रकृतिस्वरः। तस्य च सप्तम्यन्तपूर्वपदत्वात् अनेनैव सूत्रेण (पा० सू० ६/२/२) प्रकृति स्वरेणाद्युदात्त

इस दृष्टि से इस श्लोक की (आर्थिक दृष्टि से) दूसरी योजना भी करनी पड़ती है —[योजना यों है—] अपारिजातवार्तापि'—इत्यादि पदों की पर्यालोचना करने से विरोधाभास की भी प्रतिभा होती है, श्लेष तो मुख्यरूप से उस प्रतिभा का हेतु बनकर प्रतिष्ठित है ही। भला देवोद्यान की शोभा ऐसी क्या जहाँ पारिजात नामक वृक्षविशेष की स्थिति ही न हो। दूसरे यह कि वह शोभा भूतल पर किस प्रकार स्थिर रह सकेगी ? अविंदुसुन्दरी—इत्यादि में भी जहाँ एक ओर उसे विंदुसौंदर्यहीन कहा जाता है दूसरी ओर उसी से यह कहना कि लावण्यविन्दु उससे निरन्तर प्रसृत होते रहते हैं—कहाँ तक ठीक है ? इस प्रकार यहाँ विरोधाभास की झलक हुई, पर श्लेष ही पूर्णतः प्रतिष्ठित है।

अपारिजात वार्ता...इत्यादि में भी जहाँ तक पार्वती पक्ष से "अपगत है अरिजात की वार्ता जिससे"—इस अर्थ को लेकर तद्बोधक की बात है—वहाँ बहुव्रीहि समास ही माना जायगा और पूर्वोक्त क्रम से यहाँ भी "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदस्वरत्वम्' के द्वारा पूर्वपद में मूल प्रकृति का ही स्वर सुरक्षित रहेगा। अविंदु सुन्दरी...'—इत्यादि के 'अविन्दु सुन्दरी' का अर्थ होगा अविन्दुवत् सुन्दरी'—और इस दृष्टि से वहाँ तत्पुरुष समास माना जायगा और वहाँ भी उपमान के पूर्वपद होने से "तत्पुरुषे तुल्यार्थे' त्यादि पूर्वचर्चित सूत्र से अविंदु में प्रकृतिस्वर ही रहेगा। कारण यह कि यहाँ ['अप्सु इंदु अविंदु] पूर्वपद (अप्सु) सप्तम्यन्त है—इसलिए इसी पूर्वोक्त सूत्र से प्रकृतिस्वर होने के कारण उसे आद्युदात्त ही मानना होगा। 'विंदुरहित सुन्दरी'—अर्थ की दृष्टि से 'अविंदुसुन्दरी, में (अ) नञ् अव्यय पद है—वह पूर्व पद है—इसीलिए इसी सूत्र से यही स्वर होगा। इसलिये अर्थ भेद से

त्वम् । अबिंदुसुन्दरीत्यत्र त्वव्ययत्वान्नञः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन (पा० सू० ६/२/२) तदेव । तेनात्र स्वरभेदस्याभावः । प्रयत्नभेदकृतस्तु चाकारवैचित्र्याच्छब्दश्लेषता ॥

इति महाश्रीप्रतीहारेंदुराजविरचितायामुद्भटालंकार
सारसंग्रहलघुवृत्तौ चतुर्थो वर्गः ॥४॥

होने वाले शब्दभेद में स्वरभेद नहीं है । हाँ, प्रयत्न भेद से आकार भेद है और इसीलिए उस वैचित्र्य के कारण यहाँ शब्दश्लेष माना गया है ।

इस प्रकार यहाँ उद्भट प्रणीत अलंकार सार संग्रह तथा श्री प्रतीहारेंदु राज द्वारा प्रणीत लघुवृत्ति नामक टीका की हिंदी व्याख्या समाप्त हुई ॥४॥

पञ्चमो वर्गः

अपह्नुतिं विशेषोक्तिं विरोधं तुल्ययोगिता ।
अप्रस्तुतप्रशंसा च व्याजस्तुतिनिदर्शने ॥१॥ (५२)
उपमेयोपमां चैव सहोक्तिं संकरं तथा ।
परिवृत्तिं च जगदुरलंकारान् परे गिराम् ॥२॥ (५३)

अपह्नुतिः

अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा ।
भूतार्थापह्नवेनास्या निबंधः क्रियते बुधैः ॥३॥ (५४)

यत्र भूतं विद्यमानमुपमेयलक्षणमर्थमपह्नुत्योपमानरूपारोपेणोपमानोपमेयभावो [ऽवगम्यते सोऽपह्नु] तिरलंकारः । अत्र च प्राकरणिकस्य विद्यमानस्यार्थस्या [पह्नवादप्राकरणिकार्थाध्यारोपेण] यद्विद्यमानोऽस्फुटेन रूपेण उपमानोपमेय-भावश्चकास्तीत्युक्तम्—किञ्चिदन्तर्गतोपमा—इति

तस्या उदाहरणम्—

एतद्धि न तपः सत्यमिदं हालाहलं विषम् ।
विशेषतः शशिकलाकोमलानां भवादृशाम् ॥१॥

अन्य आचार्यों ने अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमेयोपमा, सहोक्ति, संकर तथा परिवृत्ति को वाणी का अलंकार कहा है ॥१॥(५२॥)२।(५३)

अपह्नुति (का सोदाहरण स्वरूप निरूपण यों है):—

अपह्नुति वह अभीष्ट अलंकार है, जहाँ अल्पमात्रा में उपमा अंतर्भूत हो। विद्वानों ने प्राकरणिक अर्थ का अपह्नव या तिरोधान पूर्वक—इसका अर्थ किया है ॥३॥ (५४)

जहाँ भूत अर्थात् विद्यमान या प्राकरणिक उपमेय रूप अर्थ का अपह्नव कर उपमान के आरोप से उपमानोपमेय भाव व्यंजित हो—वहाँ अपह्नुति नामक अलंकार होता है। यहाँ प्राकरणिक या विद्यमान अर्थ का अपह्नव होता है और

अत्र प्राकरणिकस्य तपसः स्वरूपमपह्नुत्य हालाहलवषविशेषरूपताध्यारोपेण तत्सादृश्यमवगमितम् । तच्चात्र हालाहलविषसादृश्यमुपमेयस्यापह्नुतत्वान्न स्फुट-रूपम् । हालाहलाख्यो विषभेदो यः शीघ्रं व्यापादयति ।

विशेषोक्तिः

यत्सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिबंधनम् ।
विशेषस्याभिधित्सातस्तद्विशेषोक्तिरुच्यते ॥४॥ (५५)

शक्तीनां कारकाणां सामग्र्येऽपि अविकलत्वे यः क्रियाफलस्य किञ्चिद्विशेषमवग-मयितुमनुत्पतेरुपनिबंधः सा विशेषोक्तिः ।

तस्याश्च द्वौ भेदौ । क्वचित्खलु कारणसामग्र्येऽपि यत्कार्यं नोत्पद्यते तस्यानुत्पत्तौ स्वकण्ठेन निमित्तमुपादीयते क्वचित्तु अर्थसामर्थ्यादवगम्यते ।

तदाह—

दर्शितेन निमित्तेन निमित्तादर्शनेन च ।
तस्य बंधो द्विधा लक्ष्ये दृश्यते ललितात्मकः ॥५॥ (५६)

अदर्शनमनुपादानम् ।

अप्राकरणिक अर्थ का अध्यारोप फलतः इस पद्धति से अस्फुट रूप से उपमानोपमेय भाव शोभित होता है। किञ्चिदन्तर्गतोपमा—से उपमा की इसी अस्फुटता की ओर इंगित किया गया है ।

उसका उदाहरण

कारण, यह तप नहीं है, सत्य कहता हूँ यह हलाहल विष है। खासकर शशि कला की भाँति आप जैसे कोमल लोगों के लिए (तो और) ॥१

यहाँ प्राकरणिक है—तप और उसके स्वरूप का अपह्नव कर उपसर हलाहल विशेष के समारोप द्वारा दोनों के उपमानोपमेयाव की भी अवगति कराई गई है। वह हालाहल विष के साथ सादृश्य बहुत स्फुट इस लिए नहीं है कि उपमेय अपह्नुत या निषिद्ध है। हालाहल विष का एक प्रकार है जो शीघ्र ही मार डालता है।

विशेषोक्ति —

कुछ विशेष कहने की इच्छा से जहाँ एक ओर शक्ति या कारण की समग्रता भी कही जाय और दूसरी ओर फल की अनुत्पत्ति का भी कथन हो—तो वहाँ विशेषोक्ति नामक अलंकार होता है॥४॥(५०)

तत्र द्वितीयस्य भेदस्योदाहरणम्

महर्द्धिनि गृहे जन्म रूपं स्मरसुहृद्वयः।
तथापि न सुखप्राप्तिः कस्य चित्रीयते न धीः ॥२॥

अत्र धनसंभारयोगः सुरूपत्वं यौवनं चेति यान्येतानि सुखप्राप्तौ कारणान्यविकलानि तत्सद्भावेऽपि क्रियाफलभूतायाः सुखप्राप्तेरनुत्पत्तिरुपनिबद्धा पूर्वोक्तानां सुखहेतूनां विस्मयविभावनात्मकविशेषख्यापनाय। अत्र च निमित्तं स्वकण्ठेनानुपात्तमप्यर्थसामर्थ्यादवगम्यते विधिवैधुर्यादि। रूपशब्दोऽत्र शरीरस्य रूपमात्राव्यभिचारित्वात् रूपप्रकर्षतात्पर्येणोपात्तः। स्मरसुहृद्वयो यौवनम्। यौवने हि मन्मथोऽभिमुखी भवति।

आद्यभेदोदाहरणं तु।

इत्थं विसंष्ठुलं दृष्ट्वा तावकीनं विचेष्टितम्।
नोदेति किमपि प्रष्टुं सत्वरस्यापि मे वचः ॥३॥

अत्र प्रश्नत्वरालक्षणकारणसद्भावेऽपि प्रश्नवचसोऽनुत्पत्तिरुपनिबद्धा। तया च प्रश्नवचनकारणस्य विस्मयविभावनाख्यो विशेषोऽवगम्यते। अत्र च निमित्तं भगवती गतिविसंष्ठुलचेष्टितदर्शनं स्वकण्ठेनोपात्तम्।

शक्ति या कारण की समग्रता के बावजूद कुछ वैशिष्ट्य का प्रदर्शन करने के लिए क्रियाफल की अनुत्पत्ति की बात जहाँ बाँधी जाय—कही जाय—वहाँ विशेषोक्ति नाम का अलंकार होता है॥

वही कहा है—

उस विशेषोक्ति का लक्ष्य ग्रंथों में अत्यन्त ललित बंध दो प्रकार से देखा जा सकता है—निमित्त कहकर और न कहकर।

अदर्शन से अभिप्राय है अकथन या अप्रयोग का।

यहाँ द्वितीयभेद का उदाहरण यों है—

अत्यन्त समृद्ध घर में तुम्हारा जन्म हुआ है, रूप (उत्तम) है, स्मर का सुहृद् यौवन अवस्था है। फिर भी सुख की प्राप्ति नहीं है—तो भला किसकी बुद्धि होगी (जो इन असंगतियों को सोचकर) चकित न होगी?

यहाँ धन संभार का योग, सुन्दर रूप तथा यौवन—जैसे जितने सुख प्राप्ति के कारण हो सकते हैं—वे सभी हैं—फिर उसके रहने पर भी क्रिया फल सुख की प्राप्ति नहीं होती—यह सब इसलिये कहा गया है ताकि विस्मय प्रकाशन की बात बन सके। यहाँ निमित्त है—विधि की विमुखता, जो शब्दतः कही नहीं गई है, फिर भी अर्थसामर्थ्यवश उसकी प्रतीति हो जाती है। रूप शब्द यहाँ

विरोधः

गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियावचः ।
यद्विशेषाभिधानाय विरोधं तं प्रचक्षते ॥६॥ (५७)

यत्र कविना गुणस्य वा क्रियाया वा अथवा द्विर्वाशब्दस्योपात्तत्वात् द्रव्यस्य विरुद्धोऽन्यः पदार्थः सजातीयो विजातीयो वा वचसा स्वप्रतिभाप्रसूतेन वर्णनिनिकात्मना क्रियते कंचिद्विशेषमवगमयितुं स विरोधाख्योऽलंकारः । गुणक्रियाद्रव्याणामुत्प्रेक्षालंकारलक्षणव्याख्यानसमये स्वरूपमुक्तम् । क्रियाकारणमुत्पादनं तत्प्रधानं वचः । क्रिया वचः । कविप्रतिभया खलु पुराणप्रजापतिनिर्मितशुष्कपरुषपदार्थविलक्षणाः सरसाः पदार्थाः अभिनवा एव निर्मीयन्ते । अतः क्रिया वच इत्युक्तम् ।

तस्योदाहरणम्—

रूप-प्रकर्ष परक है, क्योंकि सामान्यतः रूप तो शरीर मात्र के साथ संबद्ध है, फिर इस प्रकार जिस अर्थ की अवगति सामान्यतः यों भी हो जाती—उसी की विशेष या प्रकृष्ट रूप से प्रतीति के लिये ही 'रूप' शब्द का प्रयोग किया गया है : स्मर का सुहृद् होनेवाली अवस्था यौवन ही है । कारण यह है कि यौवन ही में मन्मथ उन्मुख होता है।

आद्यभेद का उदाहरण तो—

इस प्रकार के तुम्हारे ऊबड़-खाबड़ एवं विसंगत चेष्टित को देखकर यद्यपि मैं कुछ पूछने के लिये त्वराशील हूँ—फिर भी बात मुंह से निकलती नहीं है।

यहाँ प्रश्नविषयक त्वरा (शीलता) रूप कारण के रहने पर भी प्रश्न वचन की अनुत्पत्ति कही गई है। इससे प्रश्नोक्ति रूप कारण गत जो विस्मय प्रकाशन रूप विशेषता है—वह अवगत हो रही है। निमित्त है—भगवती गत विसंगत क्रिया कलाप का दर्शन। यह शब्दतः उपात्त भी है।

विरोध (का सोदाहरण विवेचन)—

[इस कारिका का पूर्वार्द्ध कुछ विचित्र ही है:—इसीलिए इनके विभिन्न टीकाकारों ने भिन्न ढंगों से योजना की है। इंदुराज ने 'गुणस्य क्रियायाः' की व्याख्या करते हुए दो वार 'वा' के प्रयोग की सफलता 'द्रव्य' का आक्षेप करने में मानी है, जब कि विवृत्तिकार द्रव्य जाति एवं दोनों का। इस प्रकार प्रथम चरण से 'द्रव्य, गुण, क्रिया एवं जाति का'—इतना अर्थ लिया गया। दूसरा चरण 'विरुद्धान्य क्रियावचः''—ज्यादा अस्पष्ट है। कुछ लोगों ने 'क्रिया को शेष तीन का उपलक्षण

यद्वा मां किं करोम्येष वाचालयति विस्मयः ।
भवत्याः क्वायमाकारः क्वेदं तपसि पाटवम् ।।४।।

अत्र यदेतत्पूर्वमुपक्रान्तम्– वचो मे नोदेति–इति तस्याक्षेपो यद्वेति कृतः। किंवा करोमि विस्मयवाचालितः सन् ब्रवीमि––भवत्याः क्वेति । एष विस्मयो मां वाचालयतीति संबंधः। अत्राकृतेः सुकुमारायाः पाटवस्य च कठिनकायसाध्यस्य विरोधो भगवतीनिष्ठत्वेनोपनिबंधः । तेन च विस्मयविभावनाख्यो विशेषोऽत्र ख्याप्यते । अयं चासिद्धस्वभावधर्मनिष्ठत्वाद्गुणविरोधः । एवं साध्यस्वभावधर्म-निष्ठेऽपि क्रियाविरोधे उदाहार्यम् । तथा द्रव्यविरोधे गुणक्रियाविरोधे गुणद्रव्य-विरोधे क्रियाद्रव्यविरोधे च ।

तुल्ययोगिता

उपमानोपमेयोक्तिशून्यैरप्रस्तुतैर्वचः ।
साम्याभिधायि प्रस्तावभाग्भिर्वा तुल्ययोगिता ।।७।। (५८)

मान लिया है। इन्दुराज इसकी व्याख्या करते हैं––विरोधी (अन्य) कवि कल्पित पदार्थ का ही प्रधानतः कथन [विरोधी जो अन्य क्रिया––उत्पादन––कवि कल्पना निर्मित सृष्टि––तत्प्रधान कथन]। विवृत्तिकार यों कहते हैं––अन्य विरोधी की सो क्रिया अर्थात् स्वप्रतिभटकरण । विवृत्तिकार का अर्थ बहुत कुछ अस्पष्ट है। उससे साफ तो इन्दुराज का है।

वैशिष्ट्य का द्योतन करने के लिए जहाँ वर्ण्य वस्तु की क्रिया एवं गुण से विरुद्ध एवं विभिन्न किसी वस्तु का कथन ही हो, वहाँ विरोध अलंकार कहा जाता है।।६।। (५७)

जहाँ कवि के द्वारा गुण एवं क्रिया के अथवा 'वा' शब्द के दुबारा प्रयोग के कारण द्रव्य भी ले लिया जाय तो उस द्रव्य के भी विरुद्ध अन्य पदार्थ सजातीय या विजातीय कुछ वैशिष्ट्य प्रदर्शनार्थ कवि की प्रतिभा-प्रसूत वर्णना से कर दिये जाते हैं––वहाँ विरोध नामक अलंकार होता है। गुण क्रिया एवं द्रव्य का लक्षण उत्प्रेक्षालंकार के निरूपण के अवसर पर ही कह दिये गये हैं। क्रियावचः का अर्थ है––क्रिया या कारण या उत्पादन, तत्प्रमुख वर्णन। निश्चय ही कवि अपनी प्रतिभा से पुराण प्रजापति द्वारा निर्मित शुष्क एवं परुष पदार्थ की अपेक्षा सरस पदार्थ सर्वथा नूतन ही कर दिये जाते हैं। इसीलिए 'क्रियावचः' कहा गया है। उसका उदाहरण यों है—

अथवा क्या करूँ—यह विस्मय ही मुझे वाचाल कर रहा है। भला कहाँ आपका यह आकार और कहाँ तपस्या का वह पाटव ?

अप्रस्तुतानामेव वा यत्र साम्यमभिधीयते सा तुल्ययोगिता। अतएवाप्राकरणिकाप्राकरणिकोभयार्थनिष्ठत्वाभावात्तत्रोपमानोयमेयोक्तिशून्यत्वम्। प्रस्तावभाग्भिः प्रस्तुतैः, साम्याभिधायि वच इति संबंधः।

तस्याः पूर्वभेदस्योदाहरणम्

त्वदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते।
मालती शशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥५॥

यहाँ जो यह बात पहले से चली आ रही है—"कोई बात मुँह से नहीं निकल पाती"—उसी का 'यद्वा' द्वारा आक्षेप किया गया है। असन्निहित पदों का अन्वय क्रम (के अनुसार अर्थ) यों होना चाहिए—अथवा क्या करूँ, विस्मय से मुखर हो रहा हूँ—कहाँ आप और कहाँ तपस्या।— यह विस्मय मुझे वाचाल कर रहा है।यहाँ भगवती गत आकृति की सुकुमारता से कठिन काय-साध्य तपस्या की पटुता का विरोध स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार के वर्णन से विस्मय का विभावन रूप वैशिष्ट्य प्रदर्शित किया गया है। यह विरोध सिद्ध-धर्म (गुण) गत होने के कारण गुण विरोध कहा जायगा। इसी प्रकार द्रव्य का वह धर्म जो साध्यरूप क्रिया है—तद्गत विरोध का भी उदाहरण ले लेना चाहिए। इसी प्रकार द्रव्यविरोध गुणक्रिया विरोध, गुणद्रव्यविरोध तथा क्रिया द्रव्य विरोध का भी उदाहरण ले लेना चाहिए :

तुल्ययोगिता (का सोदाहरण निरूपण):—

उपमानोपमेय बोधक उक्ति से शून्य जहाँ केवल अप्रस्तुत गत साम्यबोधक वचन हो अथवा केवल प्रस्तुत गत वहाँ तुल्ययोगिता नामक अलंकार होता है।

जहाँ केवल अप्रस्तुतों का ही साम्य प्रदर्शन किया गया हो—वहाँ तुल्ययोगिता होती है। इसीलिए प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक—उभयार्थ निष्ठ धर्म के न होने के कारण ही यहाँ उपमानोपमेय भाव की उक्ति का अभाव होता है। प्रास्ताविकों या प्राकरणिकों के धर्म का ही जहाँ संबंध हो—वहाँ भी तुल्ययोगिता होती है।

उसके पहले भेद का उदाहरण यों है—

तुम्हारे अंगों की मृदुता को देखने वाले किस व्यक्ति के चित्त में, मालती, चंद्रकला तथा कदली की कठोरता न भासित होगी ?

तुम्हारे शरीर के सौकुमार्य का दर्शन करनेवाले भला किस व्यक्ति के चित्त में मालती आदि की कठिनता न भासित होगी ? यहाँ मालती आदि अप्राकरणिक अर्थों का ही धर्म है—कठोरता, जो यहाँ कहा गया है। द्रष्टुः—शब्द तृन् प्रत्यय

त्वच्छरीरसौकुमार्यदर्शिनः कस्येव चेतसि मालत्यादीनां काठिन्यं न भासत इत्यर्थः। अत्र मालत्यादीनामप्राकरणिकानामेवार्थानां कठोरत्वलक्षणं साम्यमुपनिबद्धम्। द्रष्टुरिति तृन् (पा० सू० ३/२/१३५)। तद्योगे त्वदङ्गमार्दवमिति न लोकाव्ययष्ठिा (पा० सू० २/३/६९) इति षष्ठी निषेधः।

द्वितीय भेदस्योदाहरणम्।

योगपट्टो जटाजालं तारवी त्वङ् मृगाजिनम्।
उचितानि तवाङ्गस्य यद्यमूनि तदुच्यताम् ॥६॥

अत्र प्राककरणिकानामपि योगपट्टादीनां भगवतीशरीरे संस्पर्शानौचित्यलक्षणः समानो धर्मो निबद्धः। तारवी त्वग्वल्कलम्। अङ्गस्य शरीरस्य।

अप्रस्तुतप्रशंसा

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेयं प्रस्तुतार्थानुबंधिनी ॥८॥ (५९)

अधिकारादुपवर्णनावसरादपगतस्य प्राकरणिकादपरस्य वस्तुनो यत्रोपनिबंधः सा अप्रस्तुतप्रशंसा। न चैवमपि तस्या उन्मत्तप्रलापप्रख्यता यतः सा केनचित्स्वाजन्येन प्रस्तुतमर्थमनुबध्नाति। तदुक्तम् प्रस्तुतार्थानुबंधिनी—इति।

(पा० सू३।२।१३५) के योग से बना है। इसीलिए तृन् प्रत्ययान्त शब्द के योग में 'त्वदङ्गमार्दवं' में प्राप्त षष्ठी का निषेध पाणिनि के 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम् सूत्र से हो जाता है।

दूसरे भेद का उदाहरण यों है—

जरा बताओ तो सही कि यह योगपट्ट, जटाजाल, वृक्ष की छाल तथा मृगचर्म—क्या ये तुम्हारे अंगों के लिए उचित हैं?

यहाँ योगपट्ट आदि अप्राकरणिक हैं, जिनका भगवती के शरीर से संस्पर्श अनौचित्यपूर्ण है। यही अनौचित्य समान धर्म है, जिसका सभी अप्राकृतों से संबंध है। तारवी त्वक् का अर्थ है—वल्कल। अंग से मतलब यहाँ शरीर का है।

अप्रस्तुत प्रशंसा (का सोदाहरण विवेचन)—

जहाँ कथञ्चित् प्रस्तुतार्थ से संबंध रखनेवाले अनधिकृत अन्य वस्तु का वर्णन किया जाय—वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलंकार होता है ॥८॥ (५९)

वर्णनावसर के लिये अनुपयोगी प्राकरणिकार्थाभिन्न वस्तु का जहाँ उपनिबंध हो—वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा होती है। ऐसा होने पर इसे उन्मत्त के प्रलाप की भाँति नहीं समझना चाहिए, क्योंकि 'स्वाजन्य' संबंध से उस का प्रस्तुतार्थ से लगाव है।]

तस्या उदाहरणम्—

यान्ति स्वदेहेषु जरामसम्प्राप्तोपभोक्तृकाः ।
फलपुष्पर्द्धिभाजोऽपि दुर्गदेशवनश्रियः ॥७॥

अत्र कृच्छ्रेण गन्तुं शक्यते, यस्मिन् देशे तद्गतकाननानां शोभाः अप्राकरणिक्य एव स्वदेहजर्जरतयोपवर्णिताः। ताभिश्च सादृश्यस्वाजन्येन भगवतीचेष्टितमुपमेयभूतं एवंविधरूपतयावगम्यते। दुर्गेति-सुदुरोरधिकरण (पा० सू० ३।२।४८) स्थं वार्तिकम् इति ड प्रत्ययः।

व्याजस्तुति

शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निंदेव गम्यते।
वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता ॥९॥ (६०)

यत्र शब्दानामभिधायकानां या शक्तिरर्थप्रत्यायनोन्मुख्यं तस्या यः स्वभावो नियतार्थनिष्ठत्वात्मकस्तेन निंदा गम्यत इव न (त्वसौ निंदैव पदार्थपर्यालोचनसाम-

---

[स्वाजन्य संबंध का अर्थ संभवतः कार्यकारणभाव, सामान्यविशेषभाव तथा उपमानोपमेय भाव—संबंध किया जाना चाहिए।] इसी अभिप्राय को 'प्रस्तुतार्थनुबन्धिनी' के द्वारा कहा गया है।

उसका उदाहरण—

वन जैसे दुर्गम देश की यह शोभा, यद्यपि फल एवं पुष्प की संपत्ति से संपन्न है, फिर भी उपभोक्ता के न मिलने से अपने में ही जरा जीर्ण हो जाती है ॥७॥

यहाँ, कठिनाई से जहाँ प्रवेश हो सकता है उस देश गत जंगलों की शोभा अप्राकरणिक है—उसका अपने देह में ही जराजीर्ण हो जाना प्राप्त है। उस शोभा के साथ सादृश्य संबंध वश भगवती की चेष्टाएँ ही उपमेय के रूप में इस प्रकार प्रतीत होती हैं। दुर्ग शब्द में दुर् उपसर्ग है और गम् धातु है—सुदुरोरधिकरण... इत्यादि वार्तिक से 'ड' प्रत्यय का विधान होने पर 'दुर्ग' शब्द बना है।

व्याजस्तुति का (सोदाहरण निरूपण)—

शब्दशक्ति के स्वभाववश जहाँ निंदा की तरह अर्थ जान पड़े, किन्तु वस्तुतः श्रेष्ठ स्तुति ही ध्वनित हो—वहाँ व्याजस्तुति नामक अलंकार होता है ॥९॥

जहाँ अभिधायक शब्दों की अपनी अर्थ प्रत्यायन के लिए उन्मुख शक्ति के स्वभाव से—जो नियत अर्थ परक होता है—कुछ कुछ निंदा का सा अर्थ पहले आपाततः झलके, वस्तुतः निन्दा वहाँ हो न, विपरीत इसके यदि वहाँ के पदार्थों

र्थ्योत्थायां स्तुतौ वाक्यार्थीभूतायामवान्तरवाक्यार्थत्वात्। अतएवाह—वस्तुतस्तु स्तुति श्रेष्ठा—इति। वस्तुत इत्यर्थसामर्थ्यादित्यर्थः। तत्र व्याजस्तुतिर्नामालंकारो भवति। निंदाव्याजेन हि सा स्तुतिः। अतो व्याजस्तुतिः।

तस्या उदाहरणम्—

धिगनन्योपमामेतां तावकीं रूपसंपदम्।
त्रैलोक्येऽप्यनुरूपो यद्वरस्तव न लभ्यते॥८॥

अत्र यदेतद्धिग्वादोपहतत्वं रूपसंपदः साक्षाच्छब्दव्यापारेण स्पृष्टं न तत्स्वात्मपर्यवसायितम्। अर्थसामर्थ्योत्थलोकोत्तरभगवतीरूपोत्कर्षप्रतिपादनपर्यवसितत्वात्। अतस्तस्यावान्तरवाक्यार्थता। तेनेयं व्याजस्तुतिः। निंदाव्याजेन रूपोत्कर्षस्य स्तूयमानत्वात्। धिगनन्योपमामिति—उभसर्वतसोः कार्या (पा० सू० १।४।४८) इति सूत्रोपरिस्थितवार्तिककारिका) इति द्वितीया।

की पर्यालोचना की जाय तो उन पदार्थों के सामर्थ्य से प्रतीत स्तुति परक अर्थ ही वाक्य का प्रतिपाद्य जान पड़ता है तब व्याज होती है। निंदापरक अर्थ तो अवान्तर—वाक्यार्थ है। इसीलिए कहा है—वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा। वस्तुतस्तु कहने का अभिप्राय है—अर्थ के सामर्थ्य से वस्तुतः (एक दूसरा ही स्तुतिपरक अर्थ मिलता है)। ऐसे स्थलों में व्याजस्तुति नाम का अलंकार होता है। कारण, यहाँ निंदा परक अर्थ के बहाने से वस्तुतः स्तवन ही होता है। इसीलिए इसे व्याजस्तुति कहा जाता है। उसका उदाहरणः—

तुम्हारी इस अनुपम और अपरिमित रूप संपत्ति को धिक्कार ही है, कारण त्रिभुवन में तुम्हारे अनुरूप वर ही नहीं मिलते॥८॥

यहाँ जो रूपसंपत्ति के विषय में धिक्कार दिया गया है—वह शब्द के अभिधा नामक साक्षात् व्यापार से समर्पित है—पर उसी अर्थ में वस्तुतः वाक्य का अभिप्राय नहीं है—उसी अर्थ तक जाकर वाक्य पर्यवसन्न नहीं होता। पदार्थों पर ध्यान देने से वाक्य का प्रतिपाद्य यह जान पड़ता है कि भगवती का रूपोत्कर्ष श्लाघ्य है। इसलिए निंदापरक धिग्वाद गौण अर्थ है। इसलिए यहाँ व्याजस्तुति ही हुई। निन्दा के बहाने वस्तुतः यहाँ रूपोत्कर्ष की ही स्तुति की गई है। धिगनन्योपमाम्॥ —में धिक् से द्वितीया का विधान 'उभसर्वतसोः कार्याधिगुपर्यादिषुत्रिषु)'—इस नियम से हो गया। यहाँ मूल सूत्र है—'उपान्वध्याङ्वसः' और इस पर वार्तिक है 'अभुक्त्यर्थस्य न' और उस पर यह कारिका है।

निंदर्शना—

वस्तु वस्तु का उपपन्न वा अनुपपन्न संबंध जहाँ उपमानोपमेय भाव की कल्पना कराकर विश्रान्त हो, वहाँ विदर्शना नामक अलंकार होता है॥१०॥

(नि) विदर्शना--

अभवन् वस्तुसंबंधो भवन्वा यत्र कल्पयेत् ।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा विदर्शना ।।१०।।(६१)

यत्र पदार्थानां संबंधः स्वयमनुपपद्यमानः सन्नुपमानोयमेयभावे पर्यवस्यति अथवा उपमानोपमेयभावकल्पनया स्वात्मानमुपपादयति तत्र विदर्शना । विशिष्टस्यार्थस्योपमानोपमेयभावात्मकस्योपदर्शनात् ।

तस्या उदाहरणम्--

विनोचितेन पत्या च रूपवत्यपि कामिनी ।
विधुवंध्यविभावर्याः प्रविभातैः विशोभताम् ।।९।।

विधुश्चन्द्रः । विभावरी रात्रिः । अत्र रजनिकररहितविभावरीविशोभत्वस्य यदेतत्कर्मत्वं तत्कामिनीकर्तृकायां भरणक्रियायां न समन्वयं गच्छति । न ह्यन्यस्य संबंधिनीं विशोभामन्यो विभर्ति । अतः पदार्थ-समन्वयस्यात्रानुपपत्तिः । उपमानोपमेयभावस्तत्र वाक्यार्थविश्रान्तिस्थानं कृष्णरात्रिवद्विशोभतां विभर्ति--इति ।

एवमेतद्भवति वस्त्वसंबधे उपमानोपमेयभाव कल्पनायामुदाहरणम् ।

जहाँ पदार्थों का संबंध स्वयं उपपन्न न हो वरन्, उपमानोपमेय भाव की कल्पना कराकर पर्यवसन्न हो--विश्रान्त अथवा प्रतिष्ठित हो अथवा उपमानोपमेय भाव की कल्पना कराकर ही अपनी उपपन्नता दिखावे--वहाँ विदर्शना होती है। कारण यह कि ऐसे प्रयोगों में उपमानोपमेयभावात्मक ही विशिष्ट अर्थ का दर्शन प्रतिष्ठित रूप में होता है।

उसका उदाहरणः--

उचित पति के बिना रूपवती कामिनी भी उसी प्रकार श्रीहीन जान पड़ती है, जैसे चन्द्ररहित रजनी।।९।।

विधु का अर्थ है--चंद्र। विभावरी अर्थात् रात्रि। यहाँ रजनिकर रहित रात्रि की श्रीहीनता है कर्म उसका भरण रूप क्रिया से जिसका कर्त्ता कामिनी है--संबंध दिखाया गया है--वह अनुपपन्न है। निष्कर्ष यह कि चंद्रहीन रजनी की श्रीहीनता का भरण तथाविध रजनी ही करेगी, न कि कामिनी--दूसरे (रजनीगत) में रहने वाली विशोभता का वहन दूसरे द्वारा किस प्रकार संभव है? इसकी संगति लगाते हुए यही कहना पड़ेगा कि वाक्यार्थ की विश्रान्ति दोनों के बीच उपमानोपमेयभाव की कल्पना में ही होगी अर्थात् यह तात्पर्यार्थ मानना पड़ेगा कि कामिनी कृष्णरात्रि की तरह श्रीहीनता भरण करती है।

यत्र तु पदार्थसमन्वय उपमानोपमेयभावकल्पनया स्वात्मानमुपपादयति तस्य विदर्शनाभेदस्योदाहरणमुद्भटपुस्तके न दृश्यते। तस्य तु भामहोदिवमिदमुदाहरणम्।

मू०— अयं मंदद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान् ।। इति

तत्र प्रथमोदयसमयविजृम्भमाणस्वकान्तिरहितस्य भास्वतो यदेतदस्तमयोन्मुख्यं तदुपेतस्य श्रीमतः प्रयोज्यकर्तॄन् प्रति पातावसानोदयकर्मकेऽववोधे तत्समर्थाचरणलक्षणं हेतुकर्तृत्वमुपनिवद्धम्। तथाविधं खलु भास्वन्तं पश्यन्तः श्रीमन्तो बुध्यन्ते भास्वत इव सर्वस्वोदयः पातावसान इति। तांश्चासौ तथावबुध्यमानान् स्वावस्थोपदर्शनेन प्रयुङ्क्ते यथाममायमुदयः पातावसानस्तथा भवतामपीति। अत्र च प्रेषणाध्येषणयोरभावात् तत्समर्थाचरणलक्षण एव प्रयोजकव्यापारः कारीषोऽध्यापयति भिक्षा वासयति इति यथा। तेन च प्रयोज्यप्रयोजक-भावेन स्वात्मानमुपपादयितुमुयमानोपमेयभाव आक्षिप्तः। हे श्रीमन्तो यथा ममायमुदयः पतनाय तद्वद्भवतामपीति यूयं बुध्यध्वमिति। तेनात्र प्रयोज्य-प्रयोजकभावलक्षणेन स्वात्मोपपादनायोपमानोपमेयभावस्याक्षेपाद्द्वितीयो विदर्शनाया भेदः।

इस प्रकार यह सब वस्तु-वस्तु के असंबन्ध होने पर [तदुपपत्त्यर्थं आक्षिप्त] उपमानोपमेयभाव की कल्पना पर निर्भर है।

पर जहाँ पदार्थ-पदार्थ का समन्वय उपमानोपमेयभाव की कल्पना द्वारा अपनी उपपत्ति सम्पादित करता है—निदर्शना के उस प्रभेद का उदाहरण उद्भट की प्रस्तुत पुस्तक में उपलब्ध नहीं होता। हाँ, भामह द्वारा कहा हुआ उसका उदाहरण यों हुआ—

वह मंद-प्रभ सूर्य अस्ताचल को जाना चाहता है, मानों श्रीमन्त लोगों को यह बोध कराता हुआ कि उदय सदा पतन के ही लिए होता है।।

यहाँ प्रयोजक कर्ता है—उदय काल की विजृम्भितकान्ति से रहित अस्तोन्मुख सूर्य और प्रयोज्य कर्ता है—अन्य श्रीमान्। प्रयोजक कर्ता प्रयोज्य कर्ता को यह बोध करा रहा है कि उदय का अंत पतन में होता है। अस्तोन्मुख सूर्य को देखने वाले श्रीमानों को यह बोध कराया जा रहा है कि सूर्य की ही तरह सबका उदय पतनावसायी होता है। उपर्युक्त ढंग से समझाये जाते हुए श्रीमानों को अपनी अवस्था को दिखाकर मानो सूर्य यह प्रेरणा देता है कि जिस प्रकार उसका यह उदय पतनावसायी हुआ है वैसा ही उनका भी होगा। यहाँ प्रयोजक का व्यापार प्रेषणात्मक (आज्ञा देना) या अध्येषणात्मक (प्रार्थना करना) नहीं है बल्कि समर्थाचरण रूप ही है, ठीक उसी प्रकार जैसे कारीष अग्नि प्रयोजक है—अध्ययन का, भिक्षा

संकरः—

स च चतुर्विधः संदेहशब्दार्थवर्त्यलंकारैकशब्दाभिधानानुग्राह्यानुग्राहक भेदेन। तत्र संदेहालंकारस्तावत्—

अनेकालंक्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसंभवे।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च संकरः ॥११॥(६२)

अनेकस्यालंकारस्योल्लेखे चेतस्युपारोहे संदेह-संकरो भवति। न त्वेकशब्दाभिधानसंकरादावपि अनेकालंकारोल्लेखः संभवति। यथाः—

मुरारिनिर्गता नूनं नरकप्रतिपंथिनी।
तवापि मूर्ध्नि गङ्गेव चक्रधारा पतिष्यति ॥

अत्र ह्युपमानोपमेयभावस्तत्प्रतिभाहेतुश्च श्लेषोऽनेकोऽलंकार उल्लिख्यते। उपमानोपमेयभावे तावत् गंगोपमानं चक्रधारा उपमेया मुरारिनिर्गतत्वं साधारणो धर्मः। श्लेषस्त्वत्र नरकप्रतिपंथिशब्दादात्मानं लभते। एकत्र हि नरको दानवः अपरत्रत्ववीच्यादिः। एतौ च द्वावलंकारावेकस्मिन्निव शब्देऽनुप्रविशतः। न

प्रयोजक है—रह जाने का। आग बुझ जाय तो पढ़ना बंद, भिक्षा न मिले तो रहना कठिन। तो वास या अध्ययन क्रियाओं में जिस तरह की प्रयोजकता भिक्षा एवं कारीष में है—कुछ उसी प्रकार अचेतन की प्रयोजकता यहाँ भी है। इसलिए उसी प्रयोज्य-प्रयोजक भाव से अपने आपकी उपपत्ति करने के लिए उपमानोपमेयभाव का आक्षेप करने से विदर्शना का दूसरा भेद भी स्थिर हो जायगा।

संकर (का विवेचन)—

संकर चार प्रकार का होता है—संदेह संकर २. शब्दार्थवर्त्यलंकार संकर ३. शब्दाभिधान संकर ४. अंगांगिभावसंकर।

तो पहले संकरालंकार [को ही लीजिए]।

जहाँ एकाधिक अलंकारों की स्थिति संभव हो साथ ही एक साथ उनकी स्थिति परस्पर विरोधी रूप होने के कारण असंभव भी हो, अनेक में से किसी एक के ही लिए जाने में कोई असाधारण तर्क न हो तथा उसे छोड़ने के लिए कोई बाधक न हो—तभी संकर नाम का अलंकार होता है ॥११॥(६२)

अनेक अलंकारों के उल्लेख से अभिप्राय है—अनेक अलंकारों का मन में आ जाना—ऐसा जब हो, तभी संदेह संकर होता है। एकशब्दाभिधान—संकर—आदि अलंकारों में भी अनेक अलंकारों की संभावना होती है—ऐसा नहीं कहना चाहिए—जैसे,

ह्युपमानोपमेयभावस्तत्प्रतिभाहेतुर्वाश्लेषः समासाद्यभावे इवशब्दादिमन्तरेण स्वरूपं प्रतिलभते। तेनात्र द्वावलंकारावेकस्मिन् वाचके इव शब्देऽनुप्रविष्टौ। यदि चानेकालंकारोल्लेखे सति संदेहसंकरस्ततः एवमादावपि अनेकालंकारोल्लेखस्य संभवात्संदेहसंकर-प्रसंग इत्याशंक्योक्तम् समं तद्वृत्यसंभव इति। तस्यानेकस्यालंकारस्य समं युगपद्यदि वृत्तिर्व्यापारोऽलंकार्यालिकरणात्मको न संभवतीत्यर्थः। पूर्वोक्ते तूदाहरणे मुरारिनिर्गतेति साधारणधर्मोपादानान्तरकप्रतिपंथिनीति च श्लेषपदोपदर्शनान्नानेकस्यालंकारस्य युगपद्वृत्तेरसंभवः। तेन तत्र न संदेहसंकरता। ननु यद्यनेकालंकारोल्लेखे युगपद्वृत्यसंभवे च संदेहसंकरत्वमेवं सति यत्र प्रतिभामात्रेणानेकस्मिन्नलंकारे उल्लिख्यमाने यस्य साधकं प्रमाणमस्ति स उपादीयते, यस्य तु बाधकं प्रमाण विद्यते स त्यज्यते। तत्राप्यनेकालंकारोल्लेखस्य समतद्वृत्त्यसंभवस्य च संभवात्संदेहसंकरत्वं प्रसज्जतीत्याशङ्क्योक्तम्––एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे चेति। न्यायः साधकं प्रमाणं दोषो बाधकं प्रमाणम्। यत्रानेकालंकारोल्लेखे युगपद्वृत्यसंभवे च एकतरस्य ग्रहणे साधक-बाधकप्रमाणे समस्तव्यस्ततया न विद्येते तत्र संदेहसंकरः। तेन नानिष्टप्रसंगः। तथाहि यत्र साधक

मुरारि (के चरणों) से निकली हुई, नरक विनाशिनी गंगा धारा के समान तुम्हारे शिर पर भी यह तथाविध चक्र (अस्त्र) की धारा गिरेगी। यहाँ उपमानोपमेय भाव तथा उसकी झलक देनेवाला श्लेष जैसे––अनेक अलंकार स्थित हैं। जहाँ तक उपमानोपमेय भाव का संबंध है गंगा उपमान, चक्रधारा उपमेय, एवं मुरारिनिर्गतत्व साधारण धर्म है। नरक प्रतिपंथी [के दो अर्थ हैं––नरकविरोधी तथा नरकासुर का शत्रु]––शब्द में श्लेष है। कारण यह है कि एक जगह नरक का अर्थ दानव विशेष है और दूसरी जगह अवीची आदि नरक। यहाँ दो अलंकार एक 'इव' शब्द पर आधारित है। यदि यहाँ समास आदि न होता, इव शब्द न होता––तो कभी भी उपमानोपमेय भाव या श्लेष अलंकार किसी भी रूप में अपना अस्तित्व न प्राप्त कर सकते थे। इसलिए यहाँ तो अलंकार एक ही वाचक के आश्रित हैं। यदि संदेह संकर के लिए केवल अनेक अलंकारों का अस्तित्व ही आवश्यक होता तो ऐसे स्थानों में भी अनेक अलंकारों के होने से संदेह संकर का प्रसंग सहज संभव होता इसी बात का उत्तर देने के लिए कहा है––समं तद्वृत्यसंभवः––[एक साथ एक समय में उन अनेक अलंकारों की स्थिति संदेह संकर में संभव नहीं होती, जब कि यहाँ है। अतः यहाँ संदेह संकर नहीं संभव है।] अनेक अलंकारों का एक साथ यदि वृत्ति––व्यापार––अलंकार्यालंकरणात्मक––न संभव हो। जहाँ तक पूर्वोक्त उदाहरण की बात है––'मुरारिनिर्गत' . . . में––यहाँ साधारण धर्म का उपादान

वाधक प्रमाणे सामस्त्येन विद्येते तत्र यस्य साधकं प्रमाणमस्ति तस्योपादानाद् वाधकस्य प्रमाणोपेतस्य च त्यागात् एकस्य ग्रहणं भवति। यत्रापि साधकवाधकप्रमाणयोर्वैयस्त्येन विद्यमानता तत्रापि प्रतिभोल्लिख्यमानानेकालंकारमध्यात्साधकप्रमाणोपेतसत्योपादानात्प्रमाणशून्यस्य चोपेक्ष्यत्वात्तथा वाधकप्रमाणोपेतस्य परित्यागात्तदितरस्य च पूर्वोल्लिखितस्य पारिशेष्येणोपादानादेकस्य ग्रहो भवति। यत्र तु साधकवाधकप्रमाणाभावस्तत्र संदेह एव, एवमयं संदेहसंकरो लक्षितः।

तस्योदाहरणम्

यद्यप्यत्यन्तमुचितो वरेंदुस्तेन लभ्यते।
तथापि वच्मि कुत्रापि क्रियतामादरो वरे ॥१०॥

अत्र वरेंदुरिति वर एव इंदुः वर इन्दुरिवेति रूपकसमासोपमयोर्द्वयोरलंकारयोरुल्लेखः। न च तस्यानेकस्यालंकारस्य युगपद्वृत्तिः संभवति, एकालंकारसंश्रयेणैवालंकारस्य कृतकृत्यत्वात्। न चात्र द्वयोर्मध्यात् एकतरस्य ग्रहणाय साधकवाधकप्रमाणयोगः। साधकं हि प्रमाणं विद्यमानं विधिमुखेनालंकारं ज्ञापयेत्। तथा वाधकमपि प्रहातव्यालंकारनिषेधमुखेनोपादेयमलंकारं पूर्वोल्लिखितं पारिशेष्यादुपादेयतया प्रतिपादयति। अत्र तु द्वयोः साधकवाधकप्रमाणयोरभावात्संदेहस्तेन संदेहसंकरोऽलंकारः।

करने के कारण,तरह प्रतिबंधिनी—जैसे श्लिष्ट पद का प्रयोग होने के कारण अनेक अलंकारों का एक साथ अवस्थान असंभव नहीं है। इसीलिए वहाँ संदेह साङ्कर्य नहीं होगा। हाँ, पुनः आशंका यह की जा सकती है कि यदि अनेक अलंकारों का उल्लेख तथा उनका एक साथ होना असंभव—ये ही दो शर्तें संदेहसांकर्य के लिए अपेक्षित हों तो ऐसा होने पर जहाँ झलक मात्र के लिए अनेक अलंकारों का उल्लेख होने पर जिसके पक्ष में साधक प्रमाण होगा—वह ग्राह्य और जिसके पक्ष में बाधक प्रमाण होगा—वह त्याज्य होगा, अतः इन स्थलों में अनेक अलंकारों का उल्लेख भी हो गया और एक साथ सब की स्थिति भी संभव न हुई—दोनों शर्तों की संभावना है—फलतः यहाँ संदेह संकर की प्रसक्ति हो सकती है—इसी तरह की आशंका को निर्मूल करने के लिए —एकस्य च ग्रहे. . .इत्यादि कहा गया है। न्याय का अर्थ है—साधक प्रमाण, दोष का अर्थ है—बाधक प्रमाण। संदेहसंकर वहीं होता है जहाँ अनेक अलंकारों का उल्लेख हो, साथ ही एक साथ उनकी स्थिति संभव न हो, तीसरे यह कि किसी भी एक को ग्रहण करने में या छोड़ने में कोई भी साधक या बाधक प्रमाण मिलित या पृथक् पृथक् रूप से न हों। इसलिए इस लक्षण

शब्दार्थवर्त्यलंकारस्तु

शब्दार्थवर्त्यलंकारा वाक्य एकत्र भासिनः ।
संकरो वा

यत्रैकस्मिन् वाक्ये शब्दवर्तिनोऽर्थवर्तिनश्चालंकाराः संसर्गमुपयान्ति स शब्दार्थालंकारः । तस्योदाहरणम्—

इत्थं स्थितिर्वरार्था चेन्मा कृथा व्यर्थमर्थिताम् ।
रूपेण ते युवा सर्वः पादबद्धो हि किङ्करः ॥११॥

वरार्था भर्त्रर्था । किङ्करो दासः । अत्र थकारोपनिवद्धोऽनुप्रासात्मकः शब्दालंकारः। अर्थालंकारश्चार्थान्तरन्यासो विद्यते। तथा ह्यत्र मा कृथा व्यर्थमर्थितामित्युपादित्सितेऽर्थेऽर्थित्वस्याकरणं यदुपनिबद्धं तदनुपपाद्यमानतया संभाव्य तत्समर्थनायोक्तम्—रूपेण ते युवा सर्वः पादबद्धो हि किङ्करः इति। यो गुणोत्कर्षशाली स नार्थयते अपि त्वर्थ्यते यथा रत्नादि । त्वं च रूपवत्वाद्गुणोत्कर्षशालिनी । तस्मादुपादित्सितेऽर्थे तवार्थित्वमयुक्तमिति । तेनायं शब्दार्थवर्त्यलंकारसंकरः ।

से किसी भी प्रकार के अनिष्ट की आशंका नहीं । कारण, जहाँ साधक बाधक प्रमाण पूर्णतः हों—तो जिसका साधक प्रमाण होगा, उसका ग्रहण होगा और जिसका बाधक प्रमाण होगा उसका त्याग होगा—अतः एक का ग्रहण होगा ही। जहाँ साधक एवं बाधक प्रमाणों में से किसी एक का ही सद्भाव होगा वहाँ भी प्रतिभा में झलकने वाले अनेक अलंकारों के बीच साधक प्रमाण वाले का ग्रहण होगा और निष्प्रमाण की उपेक्षा तथा बाधक प्रमाण वाले का त्याग होगा और इतर पूर्व प्रतिभासित का बोध न होने से ग्रहण होगा—पर जहाँ न साधक ही हो और न बाधक ही—वहीं संदेह हो सकेगा—शेष सभी स्थितियों में निश्चय ही होगा। इस प्रकार संदेह संकर का लक्षण विचारा गया ।

उसका उदाहरण—यद्यपि अत्यन्त उचित वरचन्द्र उससे प्राप्त किया ही जायगा, फिर भी कहता हूँ किसी भी वर में आदर बुद्धि कर लो ॥१०॥

यहाँ 'वरेंदु में 'वर ही इंदु है' अथवा 'वर इंदु की तरह है'—इन दोनों विग्रहों के अनुरूप रूपक तथा समासोपमा का उल्लेख (संभव) है। यहाँ अनेक अलंकारों की एक साथ स्थिति संभव नहीं है, यदि एक अलंकार की भी स्थिति हो जाय, तो भी अलंकार चरितार्थ है। यहाँ दो के बीच किसी एक का ग्रहण करने के लिए साधक बाधक प्रमाण की स्थिति भी नहीं है। यदि साधक प्रमाण मौजूद होता तो स्पष्टतः किसी अलंकार का सद्भाव साबित होता । इसी प्रकार यदि बाधक प्रमाण भी

एकशब्दाभिधानसङ्करस्तु

एकवाक्यांशप्रवेशाद्वाभिधीयते ॥१२॥ (६३)

एकस्मिन् वाक्यांशे वाक्यैकदेशे यत्रानेकस्यालंकारस्यानुप्रवेशः स एकशब्दाभिधानसंकरः ।

तस्योदाहरणम्—

मैवमेवास्थ सच्छायर्वाणका चारुकर्णिका ।
अम्भोजिनीव चित्रस्था दृष्टिमात्रसुखप्रदा ॥१२॥

अत्रोपमालंकार उपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुभूतश्च श्लेष इत्येतौ द्वौ अलंकारावेकस्मिन् वाक्यांशे इव शब्देऽनुप्रविष्टौ । तथाहि, अम्भोजिनी उपमानं गौरी उपमेया दृष्टिमात्रसुखप्रदत्वं साधारणो धर्मः—इत्युपमा । सच्छायवर्णिका चारुकर्णिकेति श्लेषः । अम्भोजिन्यां हि वर्णा. राजवर्तादयः गौर्यां तु गौरत्वम् । अम्भोजिन्यां कर्णिका कमलमध्यवर्ती बीजकोशः गौर्यां तु चारू कर्णौ । कप् चात्र समासान्तः । तेनायं श्लेषः । एतौ च द्वावलंकारावेकस्मिन् वाक्यांशे इव शब्देऽनुप्रविष्टौ । तेनायमेकशब्दाभिधानसंकरः ।

होता है तो त्याज्य अलंकार का ही निषेध करता, परिशेषात् अन्य पूर्वोक्त अलंकार उपादेय हो जाता । पर यहाँ तो न साधक प्रमाण ही है और न बाधक ही—अतः संदेह है, फलतः संदेह संकर नाम का अलंकार है ।

शब्दार्थवर्त्यलंकार तो (यों है)—

जहाँ एक ही वाक्य में शब्दाश्रित एवं अर्थाश्रित अलंकार भासित हों—वहाँ शब्दार्थवर्त्यलंकार संकर होता है ।

जहाँ एक ही वाक्य में शब्दवर्ती तथा अर्थवर्ती अनेक विध अलंकारों का संबंध हो—वह शब्दार्थलंकार कहा जाता है ।

उसका उदाहरण—

इस प्रकार की स्थिति यदि वर के लिए है तो व्यर्थ याचकता न कर । कारण तुम्हारे रूप के सामने समस्त युवक पैरों पर लुढ़के पड़े किंकर की भाँति हैं ।

वरार्था अर्थात् पति चाहनेवाली । किंकर अर्थात् दास । यहाँ 'थ' का अनेकशः उपनिबंध होने से अनुप्रास अलंकार शब्दालंकर है । अर्थालंकार के नाम पर अर्थान्तरन्यास है । कारण, याचकता को व्यर्थ न कर'—इस अभीष्ट अर्थ के मध्य याचकता के न करने की बात कही गई है—उसे अनुपपन्न संभावित कर समर्थनार्थ कहा गया है—रूपेण ते. . .इत्यादि । जो व्यक्ति उत्कृष्ट गुणों से भूषित है, वह

अनुग्राह्यानुग्राहक संकरस्तु

परस्परोपकारेण यत्रालंकृतयः स्थिताः ।
स्वातंत्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि संकरः ॥१३॥ (६४)

यत्रोपकार्योपकारकभावावस्थितत्वादलंकाराः स्वातंत्र्येणात्मानं न लभन्ते, सोऽनुग्राह्यानुग्राहकसंकरः। उपकार्योऽप्युपकारकमुपकरोति तदीयस्योपकारस्य विषयभावेनावस्थानात्। उपकार्यं हि उपकारकाधेयमुपकारं प्रतीप्सति सत्युपकारकस्योपकारकत्वं भवति, तेनोपकार्येणाप्युकारकस्योपकारः क्रियत इति परस्परग्रहणमत्रोपात्तम्--परस्परोपकारेणेति। तस्योदाहरणम्--

---

दूसरों की याचना नहीं करता, बल्कि उसकी याचना स्वयं दूसरे करते हैं:—जैसे--रत्न आदि हैं। तुम रूपवती होने के कारण गुणोत्कर्ष से युक्त हो ही। इसलिए जो अर्थ तुम्हें अभीष्ट है--उसमें तुम्हारी याचना अयुक्त है। इसलिए शब्दार्थवर्ती (शब्दगत अनुप्रास, तथा अर्थालंकार अर्थान्तरन्यास) अलंकार का सांकर्य हुआ। एक शब्दाभिधान संकर (का सोदाहरण रूप यों हुआ)—

एक वाक्य (में नहीं, पर उस) के अंश में अनेकालङ्कार के प्रवेश से एक शब्दाभिधान संकर होता है।

एक वाक्यांश में--अर्थात् वाक्य के एक भाग में जहाँ अलंकारों का अनुप्रवेश होता है—वहाँ एक शब्दाभिधानसंकर होता है।

उसका उदाहरण--

उस चित्रस्थ कमलिनी की भाँति, जो गुलाबी वर्ण तथा सुन्दर कर्णिका वाली है—गौर वर्ण एवं सुन्दर कानोंवाली पार्वती तुम केवल दृष्टि मात्र को सुख देनेवाली न हो॥१२॥

यहाँ उपमालंकार है तथा उपमा की झलक देनेवाला श्लेष--ये दोनों अलंकार वाक्य के एक देश में --इव शब्द में--अनुप्रविष्ट हैं। कारण, कमलिनी उपमान है, गौरी उपमेय है, दृष्टिमात्र सुखप्रदत्व साधारण धर्म है—इस प्रकार यह हुई उपमा। 'सच्छायवर्ण...' इत्यादि में श्लेष है। कारण यह कि कमलिनी में गुलाबी इत्यादि हो सकता है और गौरी में गौरता। अम्भोजिनी या कमलिनी में कर्णिका का अर्थ है—कमलमध्यवर्ती बीज कोश तथा गौरी में सुन्दर कान। यहाँ समासान्त प्रत्यय 'कप्' है। इसलिए यहाँ श्लेष है। ये दो अलंकार एक वाक्यांश में--इव शब्द में--अनुप्रविष्ट है। इसलिए यह एक शब्दाभिधान संकर है।

जहाँ तक अनुग्राह्यानुग्राहक भाव संकर के स्वरूप का संबंध है—वह यों है—

हरेणेव स्मरव्याधस्त्वयाऽनङ्गीकृतोऽपि सन् ।
त्वद् वपुः क्षणमप्येष धार्ष्ट्यादिव न मुञ्चति ॥१३॥

अत्र धार्ष्ट्यादिव न मुञ्चति—इति यासावुत्प्रेक्षा सा हरेणेव स्मरव्याधस्त्वयाऽनङ्गीकृतोऽपि सन्नित्युपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुश्लेषवशेन स्वरूपं प्रतिलभते। अनङ्गीकृतो हि अनङ्गत्वमशरीरत्वमापादितः अनूरीकृतश्च। यश्चानूरीकृतः क्षणमपि न मुञ्चति तत्र धार्ष्ट्यहेतुतयोत्प्रेक्षितुं शक्यते। तेन श्लेषवशेनात्रोत्प्रेक्षा आसादितस्वभावा। अतोऽयमनुग्राह्यानुग्राहकसंकरः।

जहाँ अलंकार परस्पर एक दूसरे का उपकार करते हुए तथा स्वयं उपकृत होते हुए निरपेक्ष स्वात्मलाभ-पूर्णप्रतिष्ठा—न प्राप्त करें—वहाँ प्रस्तुत ढंग का संकर होता है ॥१३॥ (६४)

जहाँ परस्पर उपकार्योपकारक भाव से स्थित अलंकार निरपेक्ष आत्मलाभ न करते हों, वह अनुग्राह्यानुग्राहकभाव संकर होता है। [उपकारक तो उपकार करता ही है] उपकार्य भी उपकारक का उपकार करता है। क्योंकि उपकारक अपना उपकार करता कहाँ—यदि उपकार्य न होता—उसका विषय न होता। उपकारक तभी उपकारक होता है जब उपकार्य में अपने उपकार रूप आधेय को रख पाता है—अतः उपकार का आश्रय होने के कारण उपकार्य भी उपकारक हुआ—इसीलिये कारिका में 'परस्पर' ग्रहण किया गया है। उसका उदाहरण—

शंकर के समान यह स्मर व्याध तुम्हारे द्वारा अनंगीकृत (अनंग किये जाने पर—अस्वीकृत किये जाने पर) होने पर भी लगता है मानो धृष्टतावश तुम्हारे शरीर को यह क्षणभर भी नहीं छोड़ना चाहता ॥१३॥

यहाँ 'धार्ष्ट्यादिव'—में जो यह उत्प्रेक्षा है, वह हरेणेव. . .' इत्यादि पूर्वार्द्ध से उपमा की झलक देनेवाले श्लेष के ही कारण स्वरूप लाभ कर पाता है। कारण अनंगीकृत के दो अर्थ हैं—अनंगता या अशरीरता को प्राप्त कराया हुआ—तथा अस्वीकृत किया हुआ। जिसे दूर कर दिया और फिर भी वह क्षणभर भी साथ न छोड़े—वहाँ धृष्टता की ही कल्पना की जा सकती है। अतः श्लेष के बल पर ही यहाँ उत्प्रेक्षा अपना स्वभाव प्राप्त कर सकती है। इसलिए यहाँ अनुग्राह्यानुग्राहक भाव संकर है।

इस प्रकार यह चतुर्विध संकर अनेक अलंकार गत विकल्प (जो कोई भी) व्यवस्था (अनेक में से कोई निश्चित एक, समुच्चय (सब के सब) तथा अंगांगिभाव के सहारे कहे गये। उनमें से अनेक अलंकारों के विकल्प से संदेह संकर हुआ। विभिन्न आधार होने के कारण शब्दगत एवं अर्थगत अलंकारों के अवस्थान से व्य-

एवमयं चतुर्विधः संकरः नानालंकारगतविकल्पव्यवस्थासमुच्चयाङ्गाङ्गिभावसमाश्रयणेनाभिहितः । तत्रानेकालंकारविकल्पाद् संदेहसंकरः । विभिन्नाधारत्वेन शब्दार्थवर्तिनोरलंकारयोरवस्थानाद्व्यवस्थासमाश्रयः शब्दार्थवर्त्यलंकारसंकरः । एकशब्दाभिधानसंकरे तु समुच्चयेनानेकोऽलंकार एकस्मिन् वाक्यांशे इवादावनुप्रविशति । अनुग्राह्यानुग्राहकसंकरे त्वनेकस्यालंकारस्याङ्गाङ्गिभावः। अतो विकल्प-व्यवस्था-समुच्चयाङ्गांगिभावसंश्रया एते चत्वारः संकरभेदाः ॥

उपमेयोपमा

अन्योन्यमेव यत्र स्यादुपमानोपमेयता ।
उपमेयोपमामाहुस्तां पक्षान्तरहानिगाम् ॥१४॥ (६५)

यत्रोभयोरुपमानोपमेययोः परस्परमुपमानोपमेयभावस्तत्रोपमेयोपमा । उपमेयेनोपमानस्योपमानात् । ननु च प्राकरणिकं साम्याभिधानसंबंधि उपमेयम् अप्राकरणिकमुपमानम् । यदि चात्रोपमेयस्योपमानत्वमभिधीयते एवं सति तस्य प्राकरणिकत्वं व्याहन्यते-इत्याशंक्योक्तम् पक्षान्तरहानिगामिति । नात्रोपमानोप-

---

वस्था का समाश्रयण कर शब्दार्थवर्त्यलंकार का संकर हुआ। एक शब्दाभिधान संकर में समुच्चित रूप से अनेक अलंकार एक ही इवादि जैसे वाक्य खंड में अनुप्रविष्ट होते हैं। पर अनुग्राह्यानुग्राहक संकर में तो अनेक अलंकारों का अंगांगिभाव होता है। इसलिए विकल्प व्यवस्था, समुच्चय एवं अंगांगिभाव का सहारा लेने के कारण संकर के ये चार भेद होते हैं।

उपमेयोपमा (का सोदाहरण निरूपण यों है)—

जहाँ (उपमान एवं उपमेय में) परस्पर उपमानोमेयदता हो तथा पक्षान्तर (तीसरे उपमान) की हानि हो—वहाँ उपमेयोपमा होती है।

जहाँ दोनों-उपमान तथा उपमेय—में परस्पर उपमानोपमेय भाव हो—वहाँ उपमेयोपमा होती है। संज्ञा का कारण है—उपमेय से (भी) उपमान की समानता दिखाई जाती है। यहाँ आशंका यह खड़ी की जा सकती है कि उपमेय वह होता है—जो प्राकरणिक हो—समता कथन का जिससे संबंध हो और उपमान वह है जो अप्राकरणिक हो। यदि यहाँ उपमेय की उपमानता कही जाती है—तो फिर उपमेय की प्राकरणिकता पर ठेस आती है [कारण जो उपमान हो गया वह अप्राकरणिक हो गया)—इसी आशंका को मन में रखकर कहा गया है—पक्षान्तर हानिगाम् इत्यादि। यहाँ उपमानोपमेय भाव में कोई खास तात्पर्य नहीं है तात्पर्य यह सिद्ध करने में है कि ये ही दो इस प्रकार के हैं न कि कोई तीसरा इनके समान है।

मेयभावे तात्पर्यम्, किंतु एतदेव द्वयमेवंविधं विद्यते न त्वन्यदेतयोः सदृशं वस्त्वन्तरं विद्यत इति। अतश्च एतत्पक्षद्वितयव्यतिरिक्तस्य पक्षान्तरस्यात्र हानेर्विवक्षितत्वात्परस्परमुपमानोपमेयभावो न दुष्यतीति। तस्य पक्षान्तरहानौ प्रतिपाद्यायामवान्तरवाक्यार्थत्वेनावस्थानात् वरं विषंभक्षय मा चास्य गृहे भुक्त्वा—इतिवत्। अत्र हि विषभक्षणं न विधीयते, दुर्जनगृहे भोजन परिवर्जनतात्पर्यात्। एवमिहाप्युपमानोपमेय भावस्य विवक्षा पक्षान्तरहानौ तात्पर्यात्।

शिरांसि पंकजान्येव वेगोत्पातयतो द्विषाम्।
आजौ करोपमं चक्रं यस्य चक्रोपमः करः॥१४॥

अत्र यस्येत्युपात्तस्य-त्वत्कृते सोऽपि वैकुण्ठः—इत्यत्र तच्छब्दसमन्वयेनाकाङ्क्षाविच्छेदो भविष्यति। उत्तरेष्वपि च श्लोकेषु तेनैव यच्छब्दार्थो निराकाङ्क्षीकायः। अत्र करचक्रयोः परस्परमुपमानोपमेयभावः। साधारणश्चात्र धर्मः अतित्वरितत्वेन शत्रुशिरोऽवकर्तनम्। एष चात्रोपमानोपमेयभावः उपमानान्तराभावे पर्यवसितः यदि परमेतयोरेव परस्परमुपमानोपमेयभावः स्यादन्यत्वे तयोरुपमानं नास्तीति।

इसलिए इन दो पक्षों के अतिरिक्त अन्य पक्ष की यहाँ हानि विवक्षित होने से पारस्परिक उपमानोपमेय भाव दूषित नहीं होता। पक्षान्तर की हानि इस प्रकार जव प्रतिपाद्य है— तब पारस्परिक उपमानोपमेय भाव की बात को अन्वान्तर वाक्यार्थ ही मानना पड़ेगा। जैसे—विष खिला दो यह कहीं अच्छा है, पर उसके घर भोजन न करना...। यहाँ स्पष्ट ही, विष भक्षण वाक्य का प्रमुख अर्थ नहीं है। प्रमुख अर्थ है—दुर्जन के गृह में भोजन का निषेध। इसी प्रकार यहाँ भी उपमानोपमेय भाव की विवक्षा प्रमुख नहीं है—प्रमुख है—तृतीय सदृश का निषेध।

रण में शत्रुओं के कमलशिर को वेगपूर्वक उखाड़नेवाले जिस व्यक्ति के हाथ चक्र की तरह और चक्र हाथ की तरह है।१४॥

यहाँ 'यस्य'—शब्द उपात्त है, वह 'तत्' से अपने अन्वय के लिए साकांक्ष है—अतः 'त्वत्कृते सोऽपि वैकुण्ठः [तुम्हारे लिए वह भी विष्णु ही हैं] इस उत्तरवर्ती श्लोक खण्ड के 'सः से अन्वित होकर निराकाङ्क्ष हो जायगा। बाद के श्लोकों में यदि, यत् शब्द आवे तो उसका भी इसी से अन्वय कर निराकांक्षता कर देनी चाहिए। यहाँ कर तथा चक्र का पारस्परिक उपमानोपमेयभाव है। साधारण धर्म है यहाँ अत्यन्त शीघ्रता पूर्वक शत्रु के शिर को कतरना। यहाँ का यह उपमानोपमेयभाव तृतीय उपमान के निषेध में पर्यवसित है। यदि केवल इन्हीं में परस्पर उपमानोपमेय-

सहोक्तिः

तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रिते ।

पदेनैकेन कथ्येते सा सहोक्तिर्मता सताम् ॥१५॥ (६६)

यत्र वस्तुद्वयसमवेते द्वे क्रिये पदेनैकेन तंत्रवृत्या कथ्येते, तत्र सहोक्तिर्नामालंकारो भवति । ननु संजहार शरत्कालः इत्यादावपि दीपके पदेनैकेन वस्तुद्वयसमवेते द्वे क्रिये कथ्येते, अतश्च तत्रापि सहोक्तित्वं प्राप्नोतीत्याशङ्क्योक्तम्–तुल्यकाले-इति । यत्र सहादिना पदेन तुल्यकालतामवगम्य वस्तुद्वितयसमाश्रिते द्वे क्रिये कथ्येते तत्र सहोक्तित्वम् । न चैवं दीपक इति नातिव्याप्तिः । सहादिना च शब्देन युगपत्कालतायामवद्योत्यमानायां द्वयी गतिः । कदाचित्खलु ययोः क्रिययोस्तुल्यकालता ते क्रिये तुल्यकक्षतया स्वाश्रयविश्रान्तत्वेनाभिधीयते यथा देवदत्तयज्ञदत्तौ सहभुञ्जाते इति । कदाचित्त्वैकाश्रयविश्रान्तायां क्रियायामाभिहितायां सहाद्यर्थपर्यालोचनासामर्थ्यादपरस्याश्रयस्य क्रियासंबंधोऽवगम्यते यथा देवदत्तो यज्ञदत्तेन सह भुङ्क्त इति । तत्रेह द्वितीया गतिराश्रीयते शब्देन रूपेणैकत्र क्रियासंबंधस्य प्रतीतस्यापरत्रार्थेन रूपेणीन्नीयमानत्वेन वक्रभणितेः सद्भावात् । एवंविधस्य यत्रैव शोभातिशयविधायित्वं तत्रैव सहोक्तेरलंकारता न सर्वत्रेवि द्रष्टव्यम् ।

भाव होगा, तो उसका मतलब यह होगा कि इन दोनों के समान कोई तीसरा नहीं होगा।

सहोक्ति [का सोदाहरण विवेचन]

दो वस्तुओं में होनेवाली क्रियाएँ यदि तुल्यकाल में ही एक पद से वर्णित की जाय—तो वहाँ सज्जनों ने सहोक्ति स्वीकार की है॥१५॥

जहाँ दो वस्तुओं में होनेवाली दो क्रियाएँ एक ही पद से तंत्रवृत्ति द्वारा कही जायँ—वहाँ सहोक्ति नाम का अलंकार होता है। यहाँ आशंका यह होती है—'संजहार शरत्कालः'—इत्यादि स्थल में भी जहाँ 'दीपक' है—एक ही पद से वस्तुद्वयाश्रित क्रियाएँ कही गई हैं—अतः वहाँ भी सहोक्ति होनी चाहिए—इसी लिए 'तुल्यकाले'—का प्रयोग किया है कि कहीं इस प्रकार की आपत्ति न हो। जहाँ 'सह' आदि पद से समसामयिकता का सहारा लेकर दो वस्तुओं में होनेवाली भिन्न-भिन्न क्रियाओं का कथन किया गया हो—वहाँ सहोक्ति होती है। यद्यपि ऐसा होने पर भी दीपक में सहोक्ति का लक्षण संक्रान्त हो ही जाता है—जिससे अतिव्याप्ति नामक लक्षण दोष प्रसक्त होगा। सह आदि शब्द से जब एक साथ क्रिया का होना ध्वनित हो—तो दो स्थितियाँ सामने आती हैं। कभी जिन दो

तस्या उदाहरणम्—

> द्युजनो मृत्युना सार्धं यस्याजौ तारकामये।
> चक्रे चक्राभिघातेन प्रैष्येणाप्तमनोरथः ।।१५।।

यस्य प्रैष्येणेति संबंधः । अत्र मृत्योर्द्युजनस्य च मनोरथावाप्तिकरणलक्षणे च द्वे क्रिये पदेनैकेनोक्ते चक्रेऽवाप्तमनोरथ इति । यद्यप्यवाप्तमनोरथ इति चक्रे इति च सुप्तिङन्तत्वभेदेन पदद्वित्वं तथापि क्रियापदद्वितयोपादानव्यावृत्तेर्विवक्षितत्वात्पदेनैकेनेति न विरुध्यते अथवा चक्र इति करोतिक्रिया सामान्यभूता विशेषमन्तरेणापर्यवस्यन्ती मनोरथावाप्तिलक्षणं विशेषं गर्भीकरोति । अतश्चात्र सत्यप्यनेकपदत्वे

क्रियाओं का एक साथ होना कहा जाता है, वे दोनों क्रियाएँ समकक्ष होने के कारण स्वाश्रय में प्रतिष्ठित बताई जाती हैं—जैसे—देवदत्त एवं यज्ञदत्त साथ साथ खा रहे हैं। कभी कभी यह होता है कि एक ही आश्रय में प्रमुख क्रिया विश्रान्त रहती है—अर्थात् एक ही वस्तु से उसका संबंध रहता है, पर 'सह' आदि शब्दों के अर्थ की पर्यालोचना करने से सामर्थ्यवश यह ज्ञात हो जाता है कि इस क्रिया का संबंध अन्य वस्तु से भी है—जैसे—यज्ञदत्त के साथ देवदत्त भोजन करता है। तो यहाँ दूसरी स्थिति है। एक स्थल पर क्रिया का शाब्द संबंध प्रतीत होता है, जबकि दूसरी जगह अर्थतः संबंध प्रतीत होता है—अतः यहाँ की उक्ति कुछ वक्रता सी लिये है। इस प्रकार से जहाँ शोभातिशय का विधान हो, वहीं सहोक्ति अलंकार होता है—न कि सर्वत्र—इस पर ध्यान देना चाहिए।

उसका उदाहरणः—

जिसके चन्द्रसंज्ञक आज्ञाकारी सेवक मृत्यु के साथ द्युजन भी तारिकामय रणस्थली में प्राप्त मनोरथ हुआ ।।१५।।

'यस्य' का संबंध प्रैष्येण के साथ है । यहाँ मृत्यु एवं द्युजन—दोनों की 'मनोरथ की प्राप्ति करना' क्रियाएँ हैं—जो 'चक्रे' तथा 'अवाप्त मनोरथ'—जैसे एक ही पद से कह दी गई हैं। यद्यपि 'चक्रे' तिङन्त तथा 'अवाप्त मनोरथः'—सुबन्त है—अतः यहाँ दो पद हैं, फिर भी एक पद का अभिप्राय एक क्रिया पद है—यहाँ आवश्यक यह है कि दो क्रियापदों का उपादान नहीं होना चाहिए—इस लिए सुबन्त , तिङन्त रूप दो पदों के होने पर भी लक्षणगत 'एकपद' से कोई विरोध नहीं है। अथवा 'चक्रे' में जो 'कृ' क्रिया सामान्य है—वह बिना विशेष क्रिया के पर्यवसित होगी नहीं और विशेष है—मनोरथावाप्तिकरण। सो केवल एक 'चक्रे'

एकपदीभाव इव प्रकाशते। तेनैकेन पदेनेत्युक्तम्। सार्धशब्दश्चात्र तुल्यकालतामव-द्योतयति। यस्य प्रैष्येणाज्ञाकारिणा चक्रसंज्ञकेन कर्तृभूतेन मृत्युना सार्धमपृथक्का-लतया द्युजन आप्तमनोरथः कृत इति। अनेकलोककवलीकरणान्मृत्योर्मनोरथा-वाप्तिर्द्युजनस्य च शत्रुविनाशात्।

परिवृत्तिः

समन्यूनविशिष्टैस्तु कस्याचित्परिवर्तनम्।
अर्थानर्थस्वभावं यत्परिवृत्तिरभाणि सा ॥१६॥ (६७)

कस्यचिद्वस्तुनः वस्त्वन्तरेण परिवर्तनं परिवृत्तिः। सा च त्रिविधा-परिवर्तन कारकाणां परिवर्तनीयेन सह समत्वान्न्यूनत्वादधिकत्वाच्च। तदिदमुक्तम् समन्यून-

---

क्रिया से ही यह सब आ सकता है। इसलिए अनेक पदों के रहते हुए भी एक पद की तरह ही वह प्रकाशित होता है। इसीलिए 'एकेन पदेन' कहा गया है। 'सार्ध' शब्द इस स्थल में तुल्यकालता द्योतित करता है। जिसके आज्ञाकारी चक्रसंज्ञक कर्त्ता मृत्यु के साथ एक ही समय द्युजन ने भी मनोरथ प्राप्त कर लिया। अनेक लोक के कवलीकरण से मृत्यु को तथा शत्रुविनाश से द्युजन की मनोरथ प्राप्ति हो गई।

परिवृत्ति—जहाँ किसी से दूसरी वस्तु का सम, न्यून तथा अधिक रूप से परिवर्तन हो—वहाँ परिवृत्ति अलंकार होता है। यह परिवर्तन अर्थ स्वभाव भी होता है और अनर्थस्वभाव भी होता है ॥१६॥

किसी वस्तु का दूसरी वस्तु से बदलना ही परिवर्तन है। यह परिवृत्ति तीन प्रकार की होती है—सम, न्यून तथा अधिक। इसी को 'समन्यूनविशिष्टैः"—द्वारा व्यक्त किया गया है। उसमें भी जहाँ बराबर बराबर लेन-देन हो—वहाँ इसका अनर्थ स्वभाव समझना चाहिए। यहाँ 'अर्थ' शब्द का अर्थ है—उपादेय। अर्थ वह जो याचित किये जायँ। याचित वही होता है जो उपादेय हो। जहाँ बराबर ही लेन-देन है—वहाँ उपादेयता क्या है। इसलिए अर्थ्यता न होने के कारण वहाँ 'अनर्थ' शब्द का प्रयोग होता है। यदि अर्थ की ऐसी व्याख्या की जाय, तो इस प्रकार से इस तरह की अनुपादेयता भी अनर्थ की परिधि में आ जायगी। इसलिए यहाँ का परिवर्तन अनर्थ रूप है। जहाँ पर निकृष्ट वस्तु लेकर और बदले में उत्कृष्ट वस्तु दी जाय वहाँ भी उपादेय से विपरीत का उपादान होने के कारण अनर्थरूपता ही कही जायगी। यहाँ अनर्थ वह सब कुछ है—जो अर्थ से विपरीत है। जैसे—अधर्म एवं अनृत शब्द है—जहाँ धर्म विपरीत तथा ऋत विरुद्ध जो कुछ भी है—वह सब अधर्म और अनृत समझा जाता है। यहाँ अधर्म एवं अनृत शब्दों से धर्म एवं ऋत

विशिष्टैरिति । 'तत्र यस्याः समोऽर्थः परिवर्त्यते तस्या अनर्थस्वभावता । अर्थशब्देन हि उपादेयोऽर्थोऽभिधीयते अर्थ्यतेऽसाविति कृत्वा । यत्र च साम्यं तत्रार्थनीयत्वं नास्ति । तेनार्थ्यत्वाभावानुगमात्तत्रानर्थत्वमभिधीयते । अतस्तत्रानर्थस्वभावं परिवर्तनम् । यत्रापि च निकृष्टपरिग्रहे रणोत्कृष्टपरित्यागः क्रियते तत्राप्यनर्थस्वभावता, उपादेयविपरीतस्योपादानात् । अर्थप्रतिपक्षोह्यत्रानर्थः । अधर्मानृतवत् । यथा हि अधर्मानृतशब्दाभ्यां नोत्तरपदार्थाभावमात्रमभिधीयते नाप्युत्तरपदार्थतुल्योऽर्थः किन्तर्ह्येतत् प्रतिपक्षस्यैवाभिधानम्।एवमिहाप्यनर्थशब्देन अर्थप्रतिपक्षस्यैवाभिधानम्। यथा अनर्थो वैरिणामापतितः इत्येवमादौ । तेन यत्रोत्कृष्टेन निकृष्टः परिगृह्यते तत्रोत्कृष्टस्य सुखहेतुत्वेनोपादेयत्वादर्थस्वभावता । तदिदमुक्तम् अर्थानर्थस्वभावमिति ।

तत्र समपरिवृत्तेरुदाहरणम्

उरो दत्त्वामरारीणां येन युद्धेष्वगृह्यत ।
हिरण्याक्षवधाद्येषु यशः साकं जयश्रिया ॥१६॥

का अभाव नहीं कहा जाता, न तो उसके समान ही कोई अर्थ विवक्षित रहता है, बल्कि धर्म एवं ऋत के प्रतिपक्षी का ही बोध होता है। इसी प्रकार यहाँ भी अनर्थ शब्द से अर्थ के प्रतिपक्षी का ही कथन है । जैसे, वैरियों का अनर्थ आ पड़ा—इत्यादि प्रयोगों में अनर्थ शब्द अर्थ प्रतिपक्षी—अर्थ में ही प्रयुक्त है। इसलिए जहाँ उत्कृष्ट देकर निकृष्ट वस्तु का परिग्रह किया जाय—वहाँ वह दुःखकर होने के कारण अर्थ का प्रतिपक्षी अनर्थ ही होगा। परन्तु जहाँ निकृष्ट वस्तु देकर उत्कृष्ट वस्तु का ग्रहण किया जाय—वहाँ उत्कृष्ट सुखकर होने के कारण उपादेय होगा—अतः वह अर्थ स्वभाव होगा । इसी को कहा है—अर्थानर्थ-स्वभावमित्यादि।

इनमें से समपरिवृत्तिका उदाहरण (लीजिए)

जिसने रणस्थली में वक्षो (उत्साह प्रदर्शन) दानकर हिरण्याक्ष का वध करने से सुरारियों की जयलक्ष्मी के साथ यश भी प्राप्त किया।

यहाँ उरो दान से मतलब—उत्साह का है। पर लक्ष्यमाण अर्थ उत्साह के लिए उपाय भूत अभिधेय अर्थ—उरोदान—है, कारण, नियम है कि जो जिधर या जिसको लक्ष्य कर वक्षःस्थल को उद्यमशील बनाता है—छाती तान कर खड़ा होता है—वह उस विषय में उत्साह ही प्रदर्शित करता है। इसलिए यहाँ वक्षोदान रूप

अत्र उरोदानेनोत्साहो लक्ष्यते। यश्चात्र लक्ष्यमाणस्यार्थस्योत्साहस्योपायतया प्रतीयते अभिधेयोऽर्थो वक्षसो दानं नाम यो हि यत्र वक्ष उद्यमयति स तत्रोत्सहत इति तत्प्रतिभावच्छादितस्योत्साहस्य प्रतीतेः। तदपेक्षया समेन समस्य परिवर्तनमुरो यशसोः समत्वात्।

न्यूनपरिवृत्तिस्तूदाहरणम्—

नेत्रोरगवलभ्राम्यन्मन्दराद्रिशिरश्च्युतैः।
रत्नैरापूर्य दुग्धाब्धिं यः समादत्त कौस्तुभम्॥१७॥

नेत्रभूत उरगो वासुकिः। अत्र कौस्तुभस्योत्कृष्टस्य निकृष्टरत्नपरित्यागेन ग्रहणान्निकृष्टेनोत्कृष्टस्य परिवर्तनम्।

विशिष्टपरिवृत्तिस्तूदाहरणम्।

यो वलौ व्याप्तभूसीम्नि मखेन द्यां जिगीषति।
अभयं स्वर्गसद्मभ्यो दत्वा जग्राह खर्वताम्॥१८॥

भूसीमा पृथिव्या अवधिः। मखो यज्ञः। अत्राभयेनोत्कृष्टेन निकृष्टस्य खर्वत्वस्य ह्रस्वत्वस्य परिवर्तनम् अभिधेयापेक्षया पूर्वतरोदाहरणवत् प्रतिभाति।

से ढंके हुए उत्साह की ही प्रतीति होती है। सो, उसी को ध्यान में रखकर समान का परिवर्तन कहा गया —कारण, उर एवं यश—समान ही हैं।

न्यूनपरिवृत्ति का उदाहरण (लीजिये)।

नेत्रभूत उरग के बल से घूमते हुए मन्दराचल के शिर से गिरे हुए रत्नों से क्षीरसागर को परिपूर्णकर जिसने कौस्तुभ का ग्रहण किया॥१७॥

नेत्रभूत उरग है—वासुकि। यहाँ उत्कृष्ट कौस्तुभ की प्राप्ति निकृष्ट रत्नों के परित्याग से हो रही है—अतः निकृष्ट से उत्कृष्ट की परिवृत्ति ही कही जायगी।

विशिष्ट परिवृत्ति का उदाहण—यह है—

जिसने उस बलि के विषय में, जो भूतल में (परीत) व्याप्त है तथा यज्ञ से स्वर्ग लोक को जीतना चाहता है—समस्त देवताओं के लिए दिया तो अभय पर तदर्थ ग्रहण किया ह्रस्वता (वामनकाय)॥१८॥

भूसीमा अर्थात् पृथिवी की अवधि। मख का अर्थ है यज्ञ। यहाँ अभय है—उत्कृष्ट वस्तु और खर्वता या लघुता है निकृष्ट—इस प्रकार उत्कृष्ट से निकृष्ट का बदला हुआ। यहाँ भी लेन-देन पहले ही उदाहरण की भाँति अभिधेयार्थ को लेकर ही होगा, अभिप्रेत अर्थ को लेकर या लक्ष्य अर्थ को लेकर परिवृत्ति नहीं ही हो सकेगी। कारण, जो देवताओं के प्रति उन्होंने (वालि की ओर से) अभय दान की प्रतिज्ञा की थी उसके उपाय रूप में वामन वेषद्वारा लघुता स्वीकार की।

तात्पर्यार्थापेक्षया तु नेयं परिवृत्तिः । यत्त् देवेभ्यः अभयं प्रतिज्ञातं तदुपायभूतायाः वामनवेषेण खर्वतायाः परिगृहीतत्वात् ।

[इति] महा श्री प्रतीहारेंदुराजविरचितायामुद्भटालंकारसारसंग्रहलघुवृत्तौ पञ्चमो वर्गः ॥

इस प्रकार उद्भट के काव्यालंकार सार संग्रह तथा प्रतीहारेन्दु राज की 'लघुवृत्ति' की व्याख्या का पंचम वर्ग समाप्त हुआ ।

षष्ठो वर्गः

अनन्वयं ससंदेहं संसृष्टिं भाविकं तथा ।
काव्यदृष्टान्तहेतू चेत्यलंकारान् परे विदुः ॥१॥ (६८)

अत्र इति शब्दस्य वक्ष्यमाणं यदनन्वयादि लक्षणं तदुपक्षेपार्थत्वेन प्रयोगान्नान्वयादिस्वरूपपरामर्शार्थत्वम् । इत्येवं वक्ष्यमाणलक्षणकत्वेनानन्वयादीन् अलंकारान् विदुः—इत्यर्थः । अतो वेदनक्रियाकर्मत्वादनन्वयमित्यादौ द्वितीया । काव्यदृष्टान्तहेतुशब्दाभ्यां काव्यशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । दृष्टान्तशब्दस्य चात्र पूर्वनिपातोऽभ्यर्हितत्वात् । अभ्यर्हितत्वं दृष्टान्तस्य दृष्टान्तप्रतिबिंबितव्याप्ति मुखेन हेतोः प्रायेण गमकतासंप्रत्ययात् ।

ससंदेहः

उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः ।
ससंदेहं वचः स्तुत्यै ससंदेहं विदुर्बुधाः ॥२॥ (६९)

उपमानाभेदपूर्वं भेदमभिदधतः कवेः कविनिबद्धस्य वा वक्तुर्वच इति

दूसरे आचार्यों ने अनन्वय, ससंदेह, संसृष्टि, भाविक, काव्यदृष्टान्त, काव्यहेतु—इतने अलंकार कहे हैं ।१॥ (६८)

यहाँ इति शब्द का प्रयोग आगे कहे जाने वाले अनन्वय आदि के लक्षणों को सूचित करने के लिए हुआ है, अतः उसे अनन्वय आदि के स्वरूप-मात्र के परामर्श में विनियुक्त नहीं समझना चाहिए। निष्कर्ष यह कि इस प्रकार आगे कहे हुए लक्षणों से समन्वित अनन्वय आदि अलंकारों को वे आचार्य जानते हैं—इसीलिये वेदन क्रिया का कर्म होने के कारण अनन्वम् इत्यादि में द्वितीया है। यदि वाक्यार्थ का परामर्शक होता तो अनन्वय-इत्यादि से प्रथमा विभक्ति ही होती। "काव्यदृष्टान्तहेतू च"—[द्वंद्वसमास घटक प्रत्येक शब्द का आद्य खंड से संबंध होने के नियम से] में दृष्टान्त तथा हेतु में से प्रत्येक का सम्बन्ध काव्य के साथ होता है। यहां 'अल्पाच्तरम्' के नियम से 'दृष्टान्त एवं हेतु' में हेतु ही अल्प अच् वाला है, अतः उसी का पूर्वनिपात होना चाहिए था, पर यहाँ वह नहीं हुआ, विपरीत इसके

संबंधः । संदेहोपेतवचनव्याजेनोपमानेन तत्त्वं तद्भावमभेदमुपमेयस्याभिधायोत्तरकालं यदा तस्मादुपमानात्तस्योपमेयस्य भेदोऽभिधीयते तदा ससंदेहोऽलंकारः । ननूपमानेन सह पूर्वमभेदेऽभिहिते सति गजस्नानं प्राप्नोति-इत्याशंक्योक्तं—स्तुत्यै इति । स्तुत्यर्थत्वेन एवंविधा अभिधा समाश्रीयत इत्यर्थः ।

तस्योदाहरणम्

हस्ते किमस्य निःशेषदैत्यहृद्दलनोद्भवः ।
यशः संचय एष स्यात् पिण्डीभावोऽस्य किं कृतः ॥१॥

नाभिपद्मस्पृहायातः किं हंसो नैव चंचलः ।
इति यस्याभिमतः शङ्खमशङ्क्लिष्टार्जवो जनः ॥२॥

आर्जवो मूर्खः ऋजुत्वयोगात् । अत्र शंख उपमेयः यशः संचयो हंसश्चोपमानम् । तयोश्च पूर्वमभेदः संदेहव्याजेनाभिहितः किमेष यशः संचयः स्यादिति

जो 'दृष्टांत' का ही पूर्व प्रयोग है—उसका कारण है—उक्त नियम का वह अपवाद कि यदि शब्द 'अभ्यर्हित'—श्रेष्ठ हो तो आपेक्षिक दृष्टि से अधिक अच् सम्पन्न होने पर भी वह पूर्व में प्रयुक्त हो सकता है। अतः इसका पूर्व प्रयोग हो गया। श्रेष्ठता इस माने में है कि 'दृष्टान्त' में प्रतिष्ठित व्याप्ति या दृष्टान्त द्वारा गृहीत व्याप्ति के कारण ही हेतु में साध्यसाधन की क्षमता आती है। इसलिये हेतु की अपेक्षा दृष्टांत श्रेष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण है। ससंदेह अलंकार [का सोदाहरण विवेचन]—

विद्वानों ने उस वचन-भंगी को ससंदेह कहा है जहाँ (उपमेय की) 'स्तुति के लिये उसे उपमान से कभी तो अभिन्न करके और कभी भिन्न करके वर्णन किया जाय ॥२॥ (६९) ॥

उपमान से अभेदपूर्वक भेद का कथन करने वाले कवि या कविनिबद्ध पात्र-विशेष का वचन संदेह युत हो। संदिग्ध वचन के बहाने से जहाँ उपमान से एक-रूपता तद्रूपता या अभेद उपमेय का बताकर पुनः उसी उपमान से उपमेय का भेद बताया जाने लगे, वहाँ ससंदेह नाम का अलंकार होता है। यहाँ आशंका यह उपस्थापित की जाती है कि यदि उपमान के साथ पहले अभेद कहे पर फिर यदि उससे अभेद की बात की जाय—तब तो गजस्नान की ही दशा हुई अर्थात् जैसे, गज स्नान करने के बाद धूल ढाल कर सब बराबर कर लेता है उसी तरह अभेद के बाद यदि पुनः भेद की बात कह दी गई—तब तो फिर ज्यों का त्यों—भेद का भेद

तथा कि हंस इति। पुनश्चात्रोपमानादुपमेयस्य भेदो वर्णितः यशः संचयात्तावद्भे-दोपवर्णनं पिण्डीभावोऽस्य किं कृत इति यशः संचयः खलु प्रसरणशीलः। अस्य तु तद्विरुद्धः पिण्डीभावो दृश्यते। तेन नायं यशः सञ्चय इति। हंसात्तु भेदाभिधानं नैष चञ्चल इति। हंसस्य हि चञ्चलत्वं नाम धर्मः। इह च तन्नोपलभ्यते। तस्मान्नैष हंस इति एवंविधस्य चाभिधानस्य फलं स्तुतिः यशः संचयो भगवता स्वहस्तवर्ती कृत इति। तथा संभाव्यमानहंसागमनं त्रिभुवनोत्पत्ति-निबंधनं यत्तन्नाभिनलिनं तद्वान् भगवान् इति।

ससंदेहस्य भेदान्तरमाह

अलंकारान्तरच्छायां यत्कृत्वा धीषु बंधनम्।
असंदेहेऽपि संदेहरूपं संदेह नाम तत् ॥३॥ (७०)

छाया शोभा। यत्र संदेहाभावेऽपि संदेहस्योपनिबंधे सति न पूर्ववदुपमानादुप-मेयस्य भेद उपनिबध्यते किं तर्ह्यभेद एव संशयच्छायया। तथाविधस्य चोपनि-बंधस्य फलमलंकारान्तरोपजनिता सौंदर्यप्रतिपत्तिः। यदाह-धीष्वलंकारान्तरच्छायां कृत्वेति। तत्रापि संदेहालंकारः।

रह हो गया---इसीलिए कारिका में---'स्तुत्यै' कहा गया है। कहने का मतलब यह कि स्तवन के लिए इस प्रकार का कथन है। उसका उदाहरणः---

जिसके हाथ में पड़ी हुई शंख के विषय में मूर्ख लोग यों आशंका करते हैं कि समस्त दैत्यों के दलन से प्रसूत क्या यह यशोराशि है? पर नहीं,]यशोराशि तो प्रसरणशील होती है---यह तो सम्पिण्डित है। हो सकता है भगवान् के नाभि-नलिन को देखकर उस पर बैठने की इच्छा से आया हंस हो---पर नहीं वह होता तो चंचल होता---यह तो निष्कम्प है॥१॥२॥

आर्जव अर्थात् मूर्ख। ऋजुता या सरलता मूर्ख ही में तो संभव है। यहाँ शंख उपमेय है और यशः सञ्चय तथा हंस-उपमान। दोनों का उपमेय से पहले अभेद किया गया है संदेह के बहाने, क्या यह यशोराशि है? क्या यह हंस है--- इस प्रकार। परंतु बाद में उपमान से उपमेय का भेद वर्णित किया गया है। यश-संचय से भेद दिखाने के लिए ही इसका पिण्डीभूत रूप किस प्रकार हुआ---यह प्रश्न किया गया है। निश्चय ही यशोराशि प्रसरणशील होती है। पर उसका तो पिण्डीभाव रूप विरोधी स्थिति ही है। इसलिये यह यशोराशि तो नहीं हो सकती। हंस से भेद बताने के लिये ही कहा गया है कि यह तो चञ्चल नहीं है। हंस का तो स्वभाव चंचल रहने का है---पर वह यहाँ दिखाई नहीं देता। इसलिये यह हंस

तस्योदाहरणम्

नीलाब्द: किमयं मेरौ धूमोऽथ प्रलयानले ।
इति यः शङ्क्यते श्यामः पक्षीन्द्रेऽर्कत्विषि स्थितः ॥३॥

अत्र मेरोरुपरिवर्ती नीलो वलाहकः कल्पान्तवह्न्याश्रयश्च धूम-इत्येतदुभय मुपमानम् । गरुडारूढस्तु भगवान् कृष्णवपुरुपमेयः। तेन चोपमानद्वयेन संदेह व्याजेन भगवानापादिताभेद उपनिबद्ध : किमयमेवंविधः अथैवंविध इति । ताभ्यां चोपमानाभ्यामुपमेयस्य पूर्ववद्भेदनिबंधनं नात्र किञ्चिदभिहितम् । फलं चैवमभिधानस्योपमालंकारध्वननम् । एवंविधोपमानद्वितयसदृशो भगवान् वैनतेयारूढ इति ॥

तो नहीं हो सकता। इस प्रकार के कथन का फल यह स्तुति है कि क्या भगवान ने यशोराशि ही अपने हाथों में ले रखा है? पूर्वोक्त रूप से हंस के आने की जो संभावना की गई है--वह त्रिभुवन की उत्पत्ति में हेतुभूत नाभिनलिन के कारण। भगवान् इस प्रकार के नाभिकमल वाले हैं।

ससंदेह के अन्य भेदों का निर्वचन यहाँ किया जा रहा है—

जहाँ बुद्धि में अन्य अलंकार जनित सौंदर्य की प्रतीति के लिये संदेह के अभाव में भी संदेह कहा जाय--वहाँ संदेह नाम का अलंकार होता है॥३॥ (७०)

छाया अर्थात् शोभा। जहाँ संदेह का अभाव रहने पर भी संदेह का उपनिबंध हो और ऐसा होने पर भी उपमान से उपमेय का भेद न कहा जाय, बल्कि संदेह की छाया से अभेद ही कहा जाय, फलतः इस प्रकार के कथन का फल अन्य अलंकार-जनित सौंदर्य की निष्पत्ति हो, जैसा कि कारिका में कहा ही है—बुद्धि में अलंकारान्तर की सौंदर्य-निष्पत्ति के लिये । वहाँ भी संदेहालंकार होता है।

उसका उदाहरण--

क्या यह सुमेरु पर नीला बादल है या प्रलयानल का धूम? सूर्य के समान चमकीले गरुड़ पर बैठे हुए जिस श्याम के संबंध में इस प्रकार आशंका की जाती है ॥ ३ ॥

यहाँ मेरु के ऊपर स्थित रहनेवाला कृष्ण मेघ तथा कल्पान्तकालीन वह्नि को आश्रय बनाकर निकलनेवाला धूम--ये दो उपमान हैं। कृष्णकाय गरुडारूढ़ भगवान् उपमेय हैं। इन दोनों उपमानों से संदेह के बहाने अभिन्न करके ही भगवान् कहे गये हैं कि क्या वे ऐसे हैं या वैसे। उन दोनों उपमानों से इस उपमेय का पहले की भाँति भेद द्योतक कोई बात नहीं कही गई है। इस प्रकार के कथन का फल उपमालंकार का ध्वनन है। अर्थात् इस प्रकार के दो उपमानों के समान गरुड़ारूढ़ भगवान् हैं।

अनन्वय

यत्र तेनैव तस्य स्यादुपामानोपमेयता ।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम् ।।४।। (७१)

यत्र तेनैव न तु वस्त्वन्तरेण तस्यैव वस्त्वन्तरस्योपमानोपमेयभावो भवेत्तत्र वस्त्वन्तरानुगमाभावादनन्वयाख्योऽलंकारः । ननु च सादृश्यसंबधे सति प्राकरणिकमुपमेयमप्राकरणिकं तूपमानमित्युपानोपमानोपमेययोर्लक्षितत्वात् कथमेकस्यैवोपमितिक्रियायां कर्मत्वं करणत्वं च संभवतीत्याशङ्क्योक्तम्- असादृश्य विवक्षात इति । नात्रोपमानोपमेयभावे तात्पर्यं किंतु उपमेयोपमावदुपमानान्तर व्यावृत्तावित्यर्थः । इति शब्दोऽत्र वक्ष्यमाणोदाहरणोपक्षेपार्थत्वादनन्वयशब्देन नाभि संबध्यते तेन अनन्वयमिति द्वितीया ।

तस्योदाहरणम्

यस्यवाणी स्ववाणीव स्वक्रियेव क्रियामला ।
रूपं स्वमिव रूपं च लोकलोचनलोभनम् ।।४।।

अनन्वय [का सोदाहरण निरूपण]

जहाँ असादृश्य को विवक्षावश उसी को उसी से उपमानोपमेयता प्रदर्शित की जाय---वहाँ उसे अनन्वय नामक अलंकार कहते हैं ।।४।। (७१)

जहाँ उसी से, न कि (दूसरी) वस्तु से, उसी दूसरी वस्तु का उपमानोपमेयभाव हो वहाँ वस्त्वन्तर का संबंध न होने के कारण (अन्वय का अभाव होने से) अनन्वय नामक अलंकार होता है । यहाँ आशङ्का यह हो सकती है कि सादृश्य संबंध होने पर (उसका एक संबंधी) प्राकरणिक उपमेय होगा और दूसरा संबंधी अप्राकरणिक उपमान---इस प्रकार उपमान एवं उपमेय जब स्पष्ट हैं---तब कैसे एक ही उपमिति क्रिया में कर्म भी होगा और करण भी ---अतः इसी का उत्तर देने के लिए कहा गया है---असादृश्यविवक्षा से इत्यादि। यहाँ वस्तुतः उपमानोपमेयभाव में तात्पर्य नहीं है किंतु उपमेयोपमा की तरह इसका भी तात्पर्य अन्य उपमान की व्यावृत्ति में ही है। [हाँ, उपमेयोपमा में तृतीय सदृश का व्यवच्छेद फल होता है, पर यहाँ द्वितीय सदृश का व्यवच्छेद फल हैं]। 'इति' शब्द का प्रयोग यहाँ पर आगे चलकर दिये जाने वाले उदाहरण का उपक्षेप करने के निमित्त से उपात्त है---इसलिए उसका संबंध अनन्वय (आदि के स्वरूप परामर्शार्थ न होने के कारण) से नहीं है। इसीलिये अनन्वय में प्रथमा नहीं, बल्कि द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

अत्र वाणी क्रियारूपाणां त्रयाणामनुपमतया लोकोत्तरत्वं प्रतिपादयितुमात्मनैवोपमानोपमेयभावो निवद्धः ।

संसृष्टिः

अलङ्कृतीनां वह् वीनां द्वयोर्वापि समाश्रयः ।
एकत्र निरपेक्षाणां मिथः संसृष्टिरुच्यते ॥५॥(७२)

वहूनामलंकाराणां परस्परस्परनिरपेक्षाणां द्वयोर्वा तथाविधयोरेकत्र शब्द एव अर्थ एव वा उपनिवंधे सति संसृष्टिरलंकारः । यत्र तु परस्परसापेक्षत्वं तत्र संदेहैकशब्दाभिधानानुग्राह्यानुग्राहकसंकरास्त्रयः पूर्वमभिहिताः । यत्र च शब्दार्थलक्षणाश्रयद्वितयनिष्ठतयानेकालंकारोपनिवंधस्तत्रापि शब्दार्थवर्त्यनेकालंकारसंकर उक्तः । एवद्वैलक्ष्ण्येन तु संसृष्टिः ।

तस्या उदाहरणम्--

त्वत्कृते सोऽपि वैकुण्ठः शशीवोषसि चन्द्रिकाम् ।
अपां धारां सुधावृष्टि मन्ये त्यजति तां श्रियम् ॥५॥

उसका उदाहरणः—

जिसकी वाणी अपनी ही वाणी की तरह, निर्मल क्रिया अपनी ही क्रिया की तरह, लोक के लोचन को आकृष्ट करने वाला रूप भी अपने ही रूप की तरह है ॥४॥

यहाँ वाणी क्रिया एवं रूप—इन तीनों के अनुपम होने से लोकोत्तरता प्रतिपादन करने के लिये अपने से ही उपमानोपमेयभाव बाँधा गया है।

संसृष्टि [का सोदाहरण निरूपण]:—

जहाँ अनेक अथवा दो अलंकारों का, जो परस्पर निरपेक्ष आत्मलाभ करते हों—एक स्थल में अवस्थान हो—तो वहाँ संसृष्टि नामक अलंकार होता है॥५॥ (७२॥)

अनेक अथवा दो ही परस्पर निरपेक्ष अलंकारों का जहाँ एक ही शब्द या अर्थ रूप आधार में उपनिबंध किया जाय—वहाँ संसृष्टि नामक अलंकार होता है। परन्तु जहाँ अलंकार (स्वात्मलाभ में) परस्पर सापेक्ष हों—वहाँ संदेह, एक शब्दाभिधान, अनुग्राह्यानुग्राहक भाव संकर नामक तीन अलंकार पहले कह दिये गये हैं। जहाँ शब्द एवं अर्थ—उभयगत अनेक अलंकारों की स्थिति हो, वहाँ भी शब्दार्थवर्ती अलंकार संकर होता है। इन सबसे विलक्षण स्थिति हो—तो संसृष्टि होती है।

उसका उदाहरण—

तुम्हारे लिये वह विष्णु भी, मेरी तो यह संभावना है कि धाराहीन सुधावृष्टि

तदुत्तिष्ठातिधन्येन केनापि कमलेक्षणे ।
वरेण सह तारुण्यं निर्विशन्ती गृहे वस ।।६।।

निर्विशन्ती उपभुञ्जाना । अत्र शशी उषसि चन्द्रिकामिव वैकुण्ठः त्वत् कृते श्रियं त्यजतीत्युपमा । अधारां सुधावृष्टिमिति रूपकम् । तथा ह्यत्र लक्ष्म्याः सर्वें पीयूषवृष्टेः संबंधिनो धर्मा विद्यन्ते केवलं धारासंबंधो नास्तीत्युपमागतैकगुणनिवृत्तिद्वारिका शिष्टोपमानगतसकलगुणाभ्यनुज्ञारूपा रूपणावगम्यते यथाऽयं पुरुषः अकरो हस्तीति । तदेतस्मिन् श्लोके उपमाया रूपकस्य च द्वयोरलंकारयोः संसृष्टिस्तयोः केवलाभिधेयाश्रयत्वात् परस्परनिरपेक्षत्वाच्च । तदुत्तिष्ठेत्येतच्छ्लोकापेक्षया तु कमलेक्षणे इति समासोपमात्मकमुपमाभेदमाश्रित्य पूर्वोक्तालंकारद्वयसंकलनया बहूनामलंकाराणां संसृष्ट्युदाहरणं दिक्प्रदर्शनं द्रष्टव्यम् ।

की मूर्ति लक्ष्मी को वैसे ही त्याग देंगे जिस प्रकार उषा के प्राप्त होने पर चंद्रमा ज्योत्स्ना का परित्याग कर देता है। अतः हे कमलनयने ! किसी अनिर्वचनीय तथा अतिधन्य वर के साथ तारुण्य का भोग करती हुई (जंगल को छोड़कर) घर में निवास करो।।५।।६।।

निर्विशन्ती—का अर्थ है—उपभोग करती हुई। यहाँ जिस प्रकार शशि उषा के आने पर चन्द्रिका का त्याग कर देता है उसी प्रकार तुम्हारे लिये विष्णु भी लक्ष्मी का त्याग कर देंगे—इस प्रकार उपमा है । अधारा सुधावृष्टि—द्वारा रूपक का प्रयोग किया गया है। कारण, यहाँ लक्ष्मी में पीयूषवृष्टि संबंधी सभी गुण वर्तमान हैं, केवल धारा नहीं है—इतना ही अंतर है। इस प्रकार उपमा गत (प्रयोजक) एक गुण की कमी द्वारा अवशिष्ट अन्य उपमानगत गुणों की स्वीकृति देते हुए आरोप व्यंजित करते हैं—जैसे—यह पुरुष बिना सूँड का हाथी है। इसलिये इस श्लोक में उपमा तथा रूपक नाम के दो अलंकारों की संसृष्टि है—कारण वे दोनों ही चूंकि [अर्थालंकार होने से] अर्थाश्रित है और साथ ही परस्पर निरपेक्ष भी। इसलिये—'तदुत्तिष्ठ....' इत्यादि श्लोक की अपेक्षा कर 'कमलेक्षणे' में स्थित समासोपमात्मक उपमा नामक प्रभेद को पूर्वोक्त दो अलंकारों से यदि मिला जाय—तो अनेक अलंकारों की संसृष्टि के उदाहरण की भी दिशा उन्मीलित हो जायगी।

भाविक (का सोदाहरण निरूपण):—

जहाँ भूत एवं भविष्य के अर्थ प्रत्यक्ष की भाँति अत्यन्त अद्भुत रूप स्फुटतः वर्णित हों—वहाँ भाविक नाम का अलंकार होता है।।६।। (७३)

भाविकम्

प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः ।
अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचानाकुल्येन भाविकम् ॥६॥ (७३)

साम्प्रतिकेन प्रध्वसाभावेनोपलक्ष्यमाणाः पदार्था भूताः यथा इदानयुधिष्ठिरादयः । ये तु साम्प्रतिकेन प्रागभावेनोपलक्ष्यन्ते ते भाविनः यथेदानीं भगवदवतारः कल्की विष्णूयशाः । एवमनन्तरोपलक्षिताः भूतभाविनश्च येऽर्थास्ते साम्प्रतिकप्रध्वंसाभावप्रागभावविविक्ततया वर्तमानायमानाः प्रत्यक्षा इव यत्र दृश्यन्ते तद्भाविकनामालंकारो भवेत् । अत्र हेतुर्वाचामनाकुलार्थानां चात्यद्भुतत्वम् । तदुक्तम्—वाचामनाकुल्येन अत्यद्भुता इति च । तत्र वाचामनाकुलताव्यस्तसंबंधरहितलोकप्रसिद्धशब्दोपनिवंधात् झगित्यर्थप्रतीतिकारिता । तस्यां हि सत्यां कवेः संबंधी यो भाव आशयः श्रृंगारादिरससंवलितचतुर्वर्गोपायभूतविशिष्टार्थोल्लेखी स कविनेव सहृदयैः श्रोतृभिः स्वाभिप्रायभेदेन तत्तत्काव्यप्रतिबिम्बरूपतया साक्षात्क्रियते । श्रोतॄणामपि हि तथाविधस्वच्छशब्दानुभवद्रावितान्तरात्मनां

भूत से मतलब है—उन पदार्थों का जिनका वर्त्तमान में प्रध्वंसाभाव है (जो नष्ट होकर अतीत के गर्त में जा चुके हैं)—जैसे इदान युधिष्ठिर आदि । भावी पदार्थ से मतलब उन समस्त पदार्थों से है जिनका सम्प्रति प्रागभाव है—जैसे, इस समय भगवान् के अवतार कल्की—विष्णु जैसे यश से सम्पन्न। इस प्रकार पूर्वोक्त ढंग से परिभाषित जो भूत एवं भावी अर्थ प्रध्वंसाभाव तथा प्रागभाव से अग्रस्त रहकर वर्तमान में होने की तरह जहाँ प्रत्यक्ष की तरह दिखाये जायँ—वहाँ भाविक नाम का अलंकार होता है । इस तरह की प्रतीति का हेतु है—वाणी की प्रसन्नता तथा अर्थों की विलक्षणता। इसी को 'वाचामनाकुल्येन . . . द्वारा स्पष्ट किया गया है। वाणी की प्रसन्नता का तात्पर्य यह है कि उलझे हुए संबंध न हों, लोक प्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग हो—और इन सबसे शीघ्र ही अर्थ झलक जाय। इस स्थिति के होने पर कवि का अपना जो श्रृंगारादि रस युक्त चतुर्विधपुरुषार्थ के ज्ञान में उपयोगी विशिष्ट अर्थ, भाव या आशय होता है, उसे कवि की ही भाँति शीघ्रता पूर्वक सहृदय श्रोता अपने अभिप्राय भेद से एकदम उस काव्य को प्रतिबिम्ब की तरह साक्षात्कार कर लेता है। तथाविध (अनाकुल) स्वच्छ शब्दों के अनुभव से द्रुत अन्तरात्मा वाले सहृदय श्रोताओं के हृदय में अपने अभिप्राय का जैसे ठप्पा सा उभड़ आता है। इसलिये कवि का जो यह अभिप्राय है—उसका विषय बने हुए भूत एवं भावी पदार्थ भी सहृदय श्रोताओं के द्वारा

सहृदयानां स्वाभिप्रायप्रतिमुद्रा तत्र संक्रामति । अतः कवेर्योसावभिप्रायस्तद्गोचरीकृता भूता भाविनोऽपि पदार्थास्तत्र सहृदयैःश्रोतृभिः स्वाभिप्रायाभेदेन प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते । यथा चात्र शब्दगतमनाकुलत्वमनन्तरोक्तेन प्रकारेण हेतुस्तथार्थगतमपि चित्रोदात्तार्थोपनिबंधहेतुकमत्यद्भुतत्वं द्रष्टव्यम् । तदुक्तं भाविकमुपक्रम्य भामहेन—

> चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायां स्वाभिनीतता ।
> शब्दानुकुलता चेति तस्य हेतून्प्रचक्षते ।।इति

स्वाभिनीततेत्यभिनयादिद्वारेण शृंगारादिरसवलितत्वं चतुर्वर्गोपायस्योक्तम् । तदेवं एवंविधहेतुनिबंधनं कविश्रोतृभावद्वितयसंमीलनात्मकं भाविकं द्रष्टव्यम् । अतएव चात्र कविसंबंधिनो भावस्य श्रोतृभावाभेदाध्यवसितस्य पुरःस्फुरद्रूपस्य विद्यमानत्वाद्भाविक व्यपदेशः । भावोऽस्मिन् विद्यते इति भाविकम् । तदाह—

> रसोल्लासी कवेरात्मा स्वच्छे शब्दार्थदर्पणे ।
> माधुर्यौजोयुतप्रौढ़े प्रविविद्य प्रकाशते ।।
> संपीतस्वच्छशब्दार्थद्राविताभ्यन्तरस्ततः ।
> श्रोता तत्साम्यतः पुष्टिं चतुर्वर्गे परां व्रजेत् ।। इति

अपने अभिप्रायभेद से प्रत्यक्ष की भाँति दिखाई देने लगते हैं । जिस प्रकार यहाँ पूर्वोक्त ढंग से शब्दगत स्वच्छता को [तथाविध प्रत्यक्ष दर्शन में] हेतु बताया गया है उसी प्रकार अर्थ गत भी आश्चर्यमयता, उदात्तता मूलक अत्यद्भुतता भी कारण होती है । इसीलिए भामह ने भी 'भाविक' का स्वरूप बताते हुए कहा है—भाविक (गतचमत्कार) में (पाँच) ये हेतु पण्डितों ने बताये हैं—(१) चित्रार्थता २. उदात्तार्थता ३. अद्भुतार्थता ४. कथा-गत अभिनेयता तथा ५. शब्द गत स्वच्छता ।

स्वाभिनेयता के द्वारा यह बताया गया है कि अभिनय आदि के द्वारा शृंगार आदि रस का योग तथा चतुर्वर्गोपायता भी वहाँ है। तो इस प्रकार इन हेतुओं के ही कारण कवि एवं श्रोता—दोनों के भावों का संमीलन होने से यहाँ भाविक अलंकार का व्यवहार किया गया है। इसीलिये यहाँ कवि संबंधी भाव, जहाँ श्रोताओं का भाव भी उससे भिन्न नहीं है—का इस तरह अंकन होता है जैसे वह सामने नाच सा रहा हो—इसीलिये यहाँ भाविक नाम का अलंकार होता है। भाविक का अर्थ ही यही है कि जहाँ भाव विद्यमान हो। उसी को कहा है—माधुर्य एवं ओज से प्रौढ़ शब्द एवं अर्थ रूपी दर्पण में कवि की रस से उल्लसित आत्मा प्रतिबिम्बित होकर प्रकाशित होती है ।

स्वच्छ इति प्रसादगुणोऽभिहितः । प्रौढ़ इति तु सालंकारता । संपीतौ सम्यगास्वादितौ । तत्साम्यत इति स्वाभिप्रायभेदेन कविगतस्याभिप्रायस्याध्यवसानादित्यर्थः ।

तस्योदाहरणम्

करोसि पीड़ां प्रीतिञ्च निरञ्जनविलोचना ।
मूर्त्यानया समुद्वीक्ष्य नानाभरणशोभया ।।७।।

अत्राभरणोचितमूर्तित्वेऽपि निरञ्जनविलोचनत्वोपलक्षितादाभरणत्यागात् पीड़ा । सहजसौन्दर्यनिर्भरत्वेन तु आभरणसंपाद्यायाः शोभायाः परिदृश्यमानत्वात् प्रीतिः । तेनात्र साम्प्रतिकप्रध्वंसाभावोपलाक्षितत्वाद्भूषण संबन्धो व्यतीतो प्यत्यद्भुतो योऽसीवपुःप्रकर्षस्तद्वशेन प्रत्यक्ष इव कविनोपनिबद्धः । तथैव चासौ सहृदयानां चमत्कारमावहति । संततमुत्कृष्टतया वैचित्र्येण ईक्षणीयाभरणशोभा यस्यामिति वहुव्रीहिः ।

प्रसन्न अथवा निर्मल शब्द एवं अर्थ के भलीभाँति आस्वादन से पिघले हुये अंतःकरणवाला श्रोता कवि के भाव से साम्य प्राप्त कर चतुर्वर्गोपयोग व्युत्पत्ति में उत्तम पुष्टि-गति-प्राप्त करता है।

'स्वच्छ' विशेषण द्वारा प्रसाद गुण ही कहा गया है। 'प्रौढ़' विशेषण द्वारा शब्दार्थ की अलंकारयुक्तता बताना चाहते हैं। "संपीतौ"—का अर्थ है—सम्यक् आस्वादित। 'तत्साम्यतः"—से श्रोता का अभिप्राय, जिसमें कवि का अभिप्राय भी निगीर्ण माना जाता है।

उसका उदाहरणः—अञ्जन से सूने नेत्रों वाली (नायिका) विविध भूषणों से मनोरम जान पड़ने वाली मनोहर मूर्ति से देखकर प्रीति और पीड़ा-आनंद और व्यथा—दोनों ही पैदा करती है।।७।।

यहाँ नायिका की मूर्ति आभरणों से यद्यपि उचित सजी हुई जान पड़ती है तथापि नेत्रों का अञ्जन से रहित होना—एक विशेष आभरण का त्याग करना—क्लेशकर हो रहा है (दर्शक को)। दूसरी ओर वह सहज सौंदर्य से लदी हुई है—अतः आभरण-प्रसूत शोभा के दिखाई पड़ने से आनंद भी आता है। इसलिये यहाँ सम्प्रति यद्यपि अञ्जन रूप भूषण का प्रध्वंस हो चुका है—वह अतीत है—फिर भी उसके शरीर में एक अद्भुत उत्कर्ष है—उसके कारण कवि ने उस सौंदर्य को इस प्रकार उपस्थित कर दिया है, जैसे वह आँखों के सामने ही नाच रहा है। वैसा ही चमत्कार भी सहृदयों को होता है। निरन्तर विद्यमान उत्कर्ष एवं वैचित्र्य

काव्यहेतुः

श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा ।
हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिंगं तदुच्यते ॥७॥ (७४)

यत्र एकं वस्तु श्रुतं सद् वस्त्वन्तरं स्मारयति अनुभावयति वा तत्र काव्यलिंग नामालंकारः । पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकानुसरणगर्भतया यथा तार्किकप्रसिद्धा हेतवो लोकप्रसिद्धवस्तुविषयत्वेनोपनिबध्यमाना वैरस्यमावहन्ति न तथा काव्यहेतुः अतिशयेन सर्वेषां जनानां योऽसौ हृदयसंवादी सरसः पदार्थस्तन्निष्ठतया उपनिबध्यमानत्वात् । अतः काव्यलिंगमिति काव्यग्रहणमुपात्तम् । न खलु तच्छास्त्रलिंगं किं तर्हि काव्यलिंगमिति काव्यग्रहणेन प्रतिपाद्यते ।

ननु काव्यग्रहणेन कथं काव्यस्य सरसपदार्थनिष्ठतोपदर्श्यते, काव्यस्य सरसत्वाद् । काव्यं खलु गुणसंस्कृतशब्दार्थशरीरत्वात् सरसमेव भवति, न तु नीरसम् । तथा हि गुणाः काव्यस्य माधुर्यौजःप्रसादलक्षणाः । तत्र माधुर्यमाह्लादकत्वम्, ओजोगाढ़ता, प्रसादस्त्वव्यवधानेन रसाभिव्यक्त्यनुगुणता । तदेतेषां त्रयाणां गुणानां मध्यात्प्रसादस्य प्राधान्यम् माधुर्यौजसोस्तु तत्तद्रसाभिव्यक्त्यानुगुण्येन तारतम्येनावस्थितयोः प्रसाद एव सोपयोगता । एवञ्च तद्रसानुगुण्येन माधुर्यौजोभ्यां तारतम्येनावस्थिताभ्यामुपकृते योऽसौ प्रसादात्मा रसानामव्यवधानेन प्रतीतिहेतुर्गुणस्तदुपेतशब्दार्थशरीरत्वेन काव्यस्यावस्थानात्सरसतैव भवति न तु नीरसता ।

वश द्रष्टव्य है आभरण की शोभा जिसमें—ऐसा बहुव्रीहि समास यहाँ समझना चाहिए ।

काव्यहेतु :—

जहाँ एक वस्तु श्रुतिगोचर होकर दूसरी वस्तु का स्मरण करावे या अनुभव करावे—वहाँ काव्यलिंग होता है॥७॥ (७४)

जहाँ एक वस्तु सुनी जाकर दूसरी वस्तु का स्मरण या अनुभव करावे वहाँ काव्यलिंग नाम का अलंकार होता है। जिस प्रकार तार्किक लोग लोक प्रसिद्ध वस्तु की सिद्धि करने के लिये ऐसे हेतु का, जो पक्ष धर्म है जिसमें अन्वयव्यतिरेक के अनुसरण की क्षमता है—प्रयोग करते हुए एक खूसटता पैदा करते हैं, वह स्थिति काव्यीय हेतु से नहीं होती, कारण इस काव्यीय हेतु का विषय सभी लोगों के लिये अत्यन्त सरस तथा हृदयसंवादी होता है। इसलिये लौकिक हेतु से विलक्षणता स्पष्ट करने के लिए ही 'काव्यलिंग' में 'काव्य' विशेषण दिया गया है। वह लिंग

यद्येवमिदानीं गुणैरेव कृतकृत्यत्वात् काव्यस्यालंकाराणां तत्र निरुपयोगिता प्राप्नोति। नैवम्। गुणाहितशोभे काव्येऽलंकाराणां शोभातिशयविधायित्वात् लौकिकालंकारवत्। यथा हि लौकिकानामलंकाराणां गुणसंस्कृते युवति वपुषि निबध्यमानानामलंकारता एवं काव्यालंकाराणामपि द्रष्टव्यम्। ननु निर्गुणेऽपि काव्येऽलंकाराणां गुणवच्छोभाविधायित्वं कस्मान्नेष्यते। अपरिदृष्टत्वात्। न खलु निर्गुणे काव्ये निबध्यमानानामलंकाराणां जरद्योषिदलंकारवत् शोभाविधायित्वं दृश्यते। तथा हि जरद्योषित्यलंकारा निबध्यमाना न तस्याः शोभां कुर्वन्ति, प्रत्युत तस्यां निबध्यमानानां तेषामात्मीयमेव सौभाग्यं हीयते। तथा काव्यालंकाराणामपि निर्गुणे काव्ये निबध्यमानानां काव्यशोभाहेतुत्वाभावः स्वशोभाहानिश्च भवति। यदवोचद्भट्ट वामनः—

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः॥

शास्त्रीय नहीं है, बल्कि काव्यीय है—इस अंतर को स्पष्ट करने के लिये ही 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया गया है।

यहाँ यह आशंका प्रस्तुत की जा सकती है कि काव्यत्व की स्थिति सरस पदार्थ-गत ही कैसे होती है? उत्तर यह है कि काव्य सरस ही होता है। काव्य की परिभाषा ही यह है—वह गुणयुक्त शब्द एवं अर्थ मय शरीर वाला होता है और इसीलिये सरस ही होता है, न कि नीरस। काव्य के गुण हैं—प्रसाद, माधुर्य एवं ओज। आह्लादकता ही माधुर्य है। गाढ़ता (विकटबंध-सामासिकता आदि वश) ही ओज है। बिना किसी व्यवधान के शीघ्र ही रसाभिव्यक्ति का संपादक प्रसाद गुण होता है। इन तीन गुणों के मध्य प्रसाद की प्रधानता है। माधुर्य एवं ओज को, जो तत्तद् रसों की अभिव्यक्ति के अनुरूप तारतामिक स्थिति सम्पन्न है, प्रसाद में ही उपयोगिता है। इस प्रकार अनुरूप रसों के अनुरूप तारतमिक भाव से स्थित माधुर्य एवं ओज के द्वारा उपकृत इस प्रसाद गुण, जो रसों की अव्यवहित प्रतीति का हेतु है—से सम्पन्न निर्मल शब्द एवं अर्थ से काव्य का शब्दार्थ रूपी शरीर जब सम्पन्न रहेगा तो काव्य में सरसता ही होगी नीरसता नहीं होगी।

यदि ऐसी बात है तब तो गुणों से ही काव्य कृतकृत्य है, फिर अलंकारों की यहाँ क्या उपयोगिता है? नहीं, बात यों है—जिस प्रकार लोक में अलंकार गुणी व्यक्ति की ही शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी उसी काव्य की शोभा अलंकार बढ़ाते हैं, जिसमें पहले से ही गुणाधान द्वारा एक विशेष भूमिका प्रस्तुत की जा चुकी है। जिस प्रकार लौकिक अलंकारों की अलंकारता गुणमय युवा शरीर

यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवंध्यमङ्गनायाः ।।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ।।इति

अङ्ग अव्द इष्टामंत्रणे। शुद्धगुणत्वात्स्वदमानं सदलंकारविकल्पकल्पनाभिर्विहितपरिचयमतिशयेन स्वदत इति संबंधः । अतएवालंकाराणामनित्यता। गुणरहितं हि काव्यमकाव्यमेव भवति न त्वलंकाररहितम् । अलंकाराणां गुणोपजनितशोभे काव्ये शोभातिशयविधायित्वात् । तदुक्तं--काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। पूर्वे नित्या इति । पूर्वे इति गुणा इत्यर्थः।

लक्ष्ये चालंकाररहितमपिकेवलगुणसत्क्रियमाणशब्दार्थशरीरं काव्यं दृश्यते।

यथा—अमरुकस्य कवेरनिवद्धशृंगाररसस्यंदी श्लोकः ।

कथमपि कृतप्रत्यापत्तौ प्रिये स्खलितोत्तरे
विरहकृशया कृत्वा व्याजप्रकल्पितमश्रुतम् ।
असहनसखीश्रोत्रप्राप्तिप्रमादससंभ्रमम् ।
विवलितदृशा शून्ये गेहे समुच्छ्वसितं ततः ।। इति ।।

पर ही डालने पर निखरती है—इसी प्रकार लौकिक अलंकारों की भी बात समझनी चाहिए। निश्चय ही बुड्ढी औरत को पहनाए गये आभूषणों की भाँति गुणरहित काव्य में प्रयुक्त अलंकार भी शोभाकर नहीं हो सकते। कारण बुड्ढी औरत को पहनाए गए अलङ्कार उसकी शोभा के लिए नहीं होते, प्रत्युत उसका जो कुछ अपना सौभाग्य बचा हुआ है—वह भी हीन सा प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार निर्गुण काव्य में प्रयुक्त अलंकारों में शोभाजनन की क्षमता तो आ ही नहीं पाती—अपनी जो कुछ रही-सही विशेषता है—वह भी खतम हो जाती है—जैसा कि वामन ने कहा है--युवति के शुद्ध गुणवान् रूप की तरह गुणसंस्कृत काव्य भी अतीव आस्वादकर होता है। वह रूप भी जिस प्रकार अत्यधिक आलंकारिक रचनाओं से सुसज्जित होकर और अधिक आस्वाद पैदा करता है—ठीक वही दशा गुणी काव्य के अलंकृत रूप की भी है। यदि यौवन (गुण) से रहित अंगना के रूप की भाँति काव्यीयवाणी भी कहीं गुणों से सूनी रही तो लोकप्रिय आभूषण भी वहाँ भद्दे लगते हैं।

'अंग' शब्द यहाँ आमंत्रणार्थ प्रयुक्त है। शुद्ध-गुण युक्त होने के कारण आस्वादगोचर होते हुए अलंकार रचनाओं से सम्पन्न होकर अत्यधिक स्वादकर होता है—कहने का यह भाव है। इसीलिए अलंकार अनित्य हैं। गुण-रहित काव्य तो काव्य ही नहीं है, पर अलंकाररहित काव्य को अकाव्य नहीं कह जा

न खल्वत्रार्थालंकारः कश्चिद् दृश्यते । अथ माधुर्यौजोभ्यां परिवृंहितस्य प्रसादस्य विद्यमानत्वात् काव्यरूपता । ननु चात्रापि ईर्ष्याविप्रलम्भश्रृंगाराभ्यां स्वतिरोधानेनोपकृतः संभोगश्रृंगारो नायिकानिष्ठो निबद्धरतद्योगाच्च रसवत्त्वमलं भविष्यति । तथाहि । कथमपि कृतप्रत्यापत्तौ प्रिये––इत्यत्र भागे विरहविप्रलंभ-पूर्वकः प्रियतमचित्तसाम्मुख्यात्मा संभोगश्रृंगारः सूचितः । स्खलितोत्तर इति तु संजातगोत्रस्खलित्वात् प्रेयसो नायिकाया ईर्ष्याविप्रलंभश्रृंगारो निबद्धः । विरह कृशयेत्यादिभिस्त्रिभिः पादैरवहित्थेन भावेन नायिकाधारमीर्ष्याविप्रलम्भश्रृंगारं प्रच्छाद्य संभोगश्रृङ्गारेण चित्तोल्लाससूचितेन वाक्यार्थसमाप्तिः कृता । तथाहि । विरह-कृशयेत्यादिना पादेन नायिकागतो मन्युरवच्छाद्योपदर्शितः । असहनसखीत्यादिनां तु गोत्रस्खलितस्य सखीश्रोत्रप्राप्ति विरहविप्रलंभकारणत्वेनाशंक्य दृष्टिपरावृत्या सखीजनशून्ये गृहे परिदृष्टे यत्तन्नायिकया समुल्लसितं तदुपनिबंधात् संभोगश्रृंगारेण वाक्यार्थो निर्वाहितः ।। तदेवमत्र संभोगस्य विप्रलम्भबाधेन लब्धपदस्योपनिबंधाद्रस-वत्त्वमलंकारः । तद् कथमत्र निरलंकारतोक्ता । उच्यते । न खलु काव्यस्य रसानां

सकता [यदि गुण हों]। अलंकार तो गुण द्वारा काव्य में उत्पन्न की हुई शोभा को और बढ़ाने वाले होते हैं। गुण नित्य होते हैं। पूर्व का अर्थ है––गुण।

उदाहरण ग्रंथों में अलंकारहीन केवल गुण संस्कृत शब्द एवं अर्थ रूप काव्य देखे जाते हैं। उदाहरण के लिये अमरुशतक का एक अकृत्रिम श्रृंगार रस की धारा बहाने वाला श्लोक देखिए––अन्य नायिकासक्त नायक ने विदित वृत्तान्ता नायिका (स्वकीया) को किसी प्रकार मना कर अनुकूल कर लिया था, पर बात-चीत के सिलसिले में उस (परकीया) का नाम मुँह से निकल आया। विरह से कृश नायिका ने (जो विप्रलंभ नहीं सह सकती थी) कुछ ऐसा प्रदर्शन किया मानो उसने सुना ही न हो। दोनों के इतना शीघ्र होने वाले मेल को न सह सकने वाली सखी के संबंध में उसे डर था कि कहीं उसने इस गोत्रस्खलन को सुन न लिया हो–– अतः जल्दी में जो उसने अपनी आँखें उठा कर घर को सूना-सूना सा देखा, तो उसका मन जैसे राहत में आ गया।"

निश्चय ही यहाँ कोई अर्थालंकार नहीं दिखाई पड़ता। हाँ, यह कहा जा सकता है कि माधुर्य एवं ओज के द्वारा सहारा पाये हुए 'प्रसाद' के कारण यहाँ काव्यत्व है––आशंका यह है कि यहाँ भी ईर्ष्या एवं विप्रलंभ श्रृंगार से तिरोहित गाढ़ नायिकागत श्रृंगारस निबद्ध होकर काव्य में पर्याप्त रसवत्ता ला देगा। कारण यह है, 'कथमकृतप्रत्यापत्तौ प्रिये––" इस अंश से विरहविप्रलंभपूर्वक प्रियतम की चित्तवृत्ति का अनुकूल होना ही संभोग श्रृंगार

चालंकार्यालंकारभाव: किंत्वात्मशरीरभाव:। रसा हि काव्यस्यात्मत्वेनावास्थिता: शब्दार्थौंच शरीररूपतया। यथा हि आत्माधिष्ठितं शरीरं जीवतीति व्यपदिश्यते तथा रसाधिष्ठितस्य काव्यस्य जीवद्रूपतया व्यपदेश: क्रियते, तस्माद्रसानां काव्य-शरीरभूतशब्दार्थविषयतयात्मत्वेनावस्थानं नत्वलंकारतया। रसाभिव्यक्तिश्च यथा-योगं माधुर्यौजोभ्यां तारतम्येनावस्थिताभ्यामुपबृंहितो योऽसौ प्रसादात्मा गुण: तेन क्रियते। अतोऽत्र विप्रलंभश्रृंगारोपकृतस्य संभोगश्रृंगारस्य सगुणकाव्यात्मत्वेनाव-स्थानं न तु काव्यं प्रति अलंकारतयेति युक्तमिदमुक्तम्——निरलंकारमपि काव्यं सगुणं दृश्यत इति। एवं रसान्तरेषु भावेषु रसभावाभासेषु तत्प्रशमेषु च वाच्यम्। तदाहु:——

के रूप में सूचित किया गया है। स्खलितोत्तर...' वाली उक्ति से प्रिय एवं प्रियतमा के बीच ईर्ष्याविप्रलंभ श्रृंगार इसलिए निबद्ध हुआ कि प्रिय ने परकीय नायिका का नाम लेकर अवैध प्रेम का भण्डाफोड़ कर दिया। विरह कृशया—— इत्यादि तीन चरणों से आकारगोपनात्मक,अवहित्या नामक भाव द्वारा नायिकानिष्ठ ईर्ष्याविप्रलंभ श्रृंगार को ढाँककर चित्तगत उल्लास द्वारा संभोग-श्रृंगार को सूचित करते हुए समस्त वाक्य के प्रतिपाद्य रूप में उसे ही रखा गया है। कारण, 'विरह कृशये...' इत्यादि चरण से नायिकागत क्रोध ढँके-ढँके रूप में ही प्रदर्शित किया गया है। असहनसखी इत्यादि के द्वारा लेखक यह बताना चाहता है कि नायिका ने यह सोचा कि यदि प्रियतमकृत गोत्रस्खलन की बात सखी के कानों तक पहुँची तो उसकी इच्छा के अनुरूप विप्रलंभ की अवधि बढ़ सकती है——इसी आशंका से उसने जब आँखें चारों तरफ घुमा कर सखीजनों से शून्य घर को अच्छी तरह देख लिया——तो थोड़ा समुच्छ्वसित हुई——इस प्रकार के अर्थ की बँधान से संभोग श्रृंगार के निर्वाह में ही वाक्यार्थ को पर्यवसित किया। तो इस प्रकार यहाँ पर विप्रलंभ बाधपूर्वक संभोग को काव्यबद्ध कर देने के कारण यहाँ रसवद् अलंकार हुआ। इस स्थिति में इसे निरलंकार क्यों कहा? उत्तर यों है—— काव्य एवं रस का अलंकार्यालंकारभाव संबंध नहीं है, बल्कि आत्मशरीरभाव संबंध है। रस काव्य की आत्मा रूप से तथा शब्द एवं अर्थ शरीर रूप से स्थित हैं। जिस प्रकार आत्माधिष्ठित शरीर के लिए जीवित कहे जाने का व्यवहार है उसी प्रकार रसाधिष्ठित काव्य को भी सजीव कहने का व्यवहार होता है। इसलिये शब्दार्थ शरीरवाले काव्य की आत्मा के ही रूप में रस का व्यवहार उचित है, न कि अलंकार के रूप में। रही बात उस रस की अभिव्यक्ति का, वह यथासंभव तारतमिक रूप से स्थित माधुर्य एवं ओज से उपबृंहित प्रसाद गुण द्वारा ही होता

रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया यतः ।
कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम् ।।इति।।

यत्तु रसादीनां पूर्वमलंकारत्वमुक्तम्, तदेवंविधभेदाविवक्षया ।

तदेवं गुणसंस्कृतशब्दार्थशरीरत्वात्सरसमेव काव्यम् । यद्येवं गुणशून्यत्वान्नीरसे व्याकरणादौ भरतादौ च काव्यव्यपदेशो न प्राप्तः ।

ततश्च—

वृत्तदेवादिचरितशंसि चोत्पाद्य वस्तु च ।
कलाशास्त्राश्रयं चेति चतुर्द्धा भिद्यते पुनः ।।

इति भामहोदितं विरुध्यते । अत्र हि कलाश्रयशब्देन भरताद्यभिहितं शास्त्राश्रयशब्देन च व्याकरणादि । अतो वक्तव्यमेतत्कथं तत्र काव्यव्यपदेश इति । उच्यते । मुख्यया तावद् वृत्त्या गुणसंस्कृतशब्दार्थशरीरमेव काव्यम् ।

है। इसलिये यहाँ विप्रलंभ श्रृंगार द्वारा उपकृत संभोग श्रृंगार ही सगुणकाव्य की आत्मा के रूप में स्थित माना जायगा, न कि काव्य के अलंकार रूप में। इसलिये यह ठीक ही कहा है—निरलंकार काव्य भी सगुण देखा जाता है । इसी प्रकार अन्य रस, भाव, रसाभास भावाभास तथा भावप्रशम के संबंध में भी कहा जाना चाहिए । वही कहा है—

चूँकि रसमय काव्य ही जीवित काव्य कहा जाता है अतः रसादि को काव्य की आत्मा के रूप में ही प्रतिष्ठित मानना चाहिए । हाँ, जो पहले रस आदि को अलंकार कहा गया है, वह इस प्रकार के भेद की अविवक्षा से ।

तो इस प्रकार काव्य, गुण युक्त शब्दार्थ मय होने के कारण सरस होगा ही । यदि ऐसी बात मान ली जाय, तब तो गुण शून्य होने के कारण नीरस व्याकरण आदि तथा महाभारत आदि के लिए काव्य व्यवहार ही न प्राप्त होगा । इसलिये—

काव्य को जो अतीत देवता-चरित का उपस्थापक, कल्पितकथानकमय, कलाश्रय तथा शास्त्राश्रय होने के कारण चार प्रकार का कहा गया है—भामह द्वारा—वह प्रस्तुत स्थापना के विरुद्ध चला जायगा । यहाँ कलाश्रय शब्द से महाभारत आदि कहे गये हैं तथा शास्त्राश्रय शब्द से व्याकरणादि । लेकिन तब तो यह कहना पड़ेगा कि (कलाश्रय भारत आदि में तथा शास्त्राश्रय भट्टि-काव्य आदि में) वहाँ काव्य व्यवहार कैसे होता है ? उत्तर है—काव्य शब्द का मुख्य प्रयोग (अभिधा द्वारा) तो गुणमय शब्दार्थ शरीरी काव्य में ही होता है हाँ, जहाँ शब्द एवं अर्थ में गुण नहीं है—ऐसे शब्दार्थमय शरीर वाले काव्य मात्र में ऊपरी साम्यवश लाक्ष-

गुणरहितशब्दार्थशरीरे तु काव्यमात्रे काव्यशब्दस्य काव्यसादृश्यादुपचारात् प्रयोगो भविष्यति । उक्तं च काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते—इति । भक्त्येत्युपचारेणेत्यर्थः । तदेवं गुणसंस्कृतशब्दार्थशरीरत्वात्काव्यस्य सरसत्वमइति । तद्विशिष्टं काव्यलिंगं सरसपदार्थनिष्ठमेव भवति, न तु नीरसवस्तुमात्रनिष्ठं शास्त्रलिंगवदित्न्युपपन्नम् ।

तार्किकाणां च हेतुव्यापारे द्वैविध्यम् । केचित्खलु तार्किका व्याप्तिग्रहणकाले यदनुभूतं व्यापकं वह्न्यादि वस्तु धूमादेर्व्याप्यस्य तत्स्मरणमात्रे धूमादिहेतुदर्शन प्रवुद्धसंस्काराणां पुरुषाणां हेतुव्यापारं मन्यन्ते अपरे तु वह्न्यादीनां पर्वतादिधर्म विशेषसंबंधस्य पूर्वमगृहीतस्य धूमादि हेतुव्यापारसामर्थ्येन इदानीमवसेयत्वाल्लि-ङ्गसामर्थ्याल्लिङ्ग्यनुभवस्यैवोत्पत्तिमाहुः । तदिदमुक्तम्——स्मृतेरनुभवस्यैवेति ।

तस्योदाहरणम्

छायेयं तव शेषाङ्गकान्तेः किञ्चिदनुज्ज्वला ।
विभूषाघटनोद्देशान् दर्शयन्ती दुनोति माम् ॥८॥

अत्र विभूषणविन्यासास्पदभूता ये कण्ठादयस्तदवशिष्टानामङ्गानां याऽसौ कान्तिः दीप्तिः तस्या अनुज्ज्वला मलिना यासौ छाया शोभा सा लिङ्गम् । तत्साम-र्थ्याच्च भूषाविन्यासप्रदेशानां भूषणसंबंधोऽतीतोऽनुमीयते तेन तत्काव्यलिंगम् ।

णिक रूप से ही काव्य का व्यवहार हो सकता है। कहा भी है—काव्य शब्द का मुख्य प्रयोग गुणमय शब्दार्थ में ही होता है, लाक्षणिक रूप से तो किसी तरह के भी शब्दार्थ में काव्य का प्रयोग (पद्यमयता आदि ऊपरी बनावट से ही) किया जा सकता है। भक्ति का अर्थ है—यहाँ लक्षणा। तो इस प्रकार गुण संस्कृत शब्दार्थ-मय शरीर के कारण काव्य का सरस होना उचित ही है। सो, सरस काव्य लिंग सरसपदार्थ में ही स्थित हो सकता है, कुछ शास्त्रलिंग की भाँति नीरस वस्तु-गत नहीं है। इस प्रकार सारा मामला युक्तिसंगत रहा।

तार्किकों के यहाँ जो साधन या हेतु का व्यापार होता है—वह दो प्रकार का होता है। कुछ तार्किक तो इस प्रकार के हैं जो यह मानते हैं कि [महानस आदि दृष्टान्त में] व्याप्ति ग्रहण के ही समय जो यह अनुभूत हो जाता है कि वह्नि (समस्त देश एवं काल की वह्नि) रूप वस्तु धूम आदि व्याप्य का व्यापक है, उसका स्मरण दिलाने में ही हेतु का व्यापार उन पुरुषों के लिये होता है जिन्होंने (पक्ष-पर्वत आदि में) धूम आदि हेतु का दर्शन किया और धूम के इस दर्शन से धूम एवं वह्नि के पूर्वगृहीत संबंध का संस्कार उभड़ आया। दूसरे यह मानते

काव्यदृष्टान्तः

इष्टस्यार्थस्य विस्पष्टप्रतिबिम्बनिदर्शनम् ।
यथेवादिपदैःशून्यं बुधैर्दृष्टान्त उच्यते ॥८॥ (७५)

इष्टस्य प्राकरणिकतया प्रतिपादयितुमभिमतस्यार्थस्य यत्र विस्पष्टतया प्रतिबिम्बं सदृशं वस्तु निदर्श्यते, तत्र काव्यदृष्टान्तो नामलंकारः। ननु--

कोपादेकतराघातनिपतन्मत्तदन्तिनः ।
हरेर्हरिणयुद्धेषु कियान् व्याक्षेपविस्तरः॥

इत्येवमादावपि अप्रस्तुतप्रशंसायामिष्टार्थप्रतिबिम्बनिदर्शनं विद्यते। तथाहि। अत्र रामदेवस्य मारीचवधे व्यापारो निरायासो हरिणहननोद्योगि केसरिकिशोरप्रतिबिम्बितत्वेन निदर्शितः। अतोऽत्रापि दृष्टान्तताप्रसंगः। नैतत्। यत एतदर्थमेव विस्पष्टग्रहणमुपात्तम्। अत्र हि प्रतिबिम्बादेव बिम्बस्योन्नयनाद्विस्पष्टरूपतया इष्टस्यार्थस्य प्रतिबिम्बनिदर्शनं नास्ति। यत्र तु इष्टमर्थं स्वकण्ठेनोपादाय तस्य प्रतिबिम्बमुपदर्श्यते तत्र दृष्टान्त्वम्। अतो नातिव्याप्तिः। उपमादावप्येवंविधस्य रूपस्य संभव इति तन्निराकरणार्थमुक्तम्--यथेवादिपदैः शून्यमिति। आदि ग्रहणेनात्र साधारणधर्मस्यापि परिग्रहः।

हैं कि महानस आदि दृष्टान्तों में पहले वह्नि आदि का पर्वतीय धूम से संबंध गृहीत था नहीं, अतः सम्प्रति दृष्ट पर्वतीय धूम रूप हेतु के सामर्थ्य से इसी समय दोनों का संबंध है--यह निश्चय होता है--अतः लिंग सामर्थ्य से लिङ्गी या साध्य का अनुभव ही होता है--इसी बात को 'स्मृतेरनुभवस्यैवेति' द्वारा कहा है।

उसका उदाहरणः--

पार्वती के उन अवशिष्ट समस्त अंगों की कांति, केवल उन अंगों को छोड़कर जहाँ उन्होंने अलंकार धारण कर रखे थे--कुछ कुछ धीमी सी पड़ी हुई थी और इसीलिए भूषण धारण करने के उन स्थानों की ओर स्पष्ट इंगित होता था कि यहाँ पहले भूषण अवश्य धारण किये गये होंगे--इस दशा को देखकर वक्ता ने कहा कि यह स्थिति मुझे और कष्ट देती है।

यहाँ आभूषणों के धारण करने के जो प्रमुख स्थान कण्ठ आदि थे--उनमें से जहाँ भूषाधारण नहीं था--उन अवशिष्ट अंगों की जो क्रान्ति थी--उसकी मलिन शोभा ही साधन है। उसी के बल से अलंकार धारण करने के लिये विशेष स्थानों का भूषण से संबंध था--ऐसा अनुमान होता है। इसलिये यहाँ काव्यलिंग है।

काव्यदृष्टान्त (का सोदाहरण निरूपण):--

अभीप्सित अर्थ का जहाँ स्पष्ट प्रतिबिंब दर्शित किया जाय और यथा, इव,

तस्योदाहरणम्

किंचात्र बहुनोक्तेन व्रज भर्तारमाप्नुहि ।
उदन्वन्तमनासाद्य महानद्यः किमासते ।।९।।

अत्र भगवतीकर्तृकाया वरप्राप्तेर्महानदीकर्तृका उदन्वत्प्राप्तेर्विस्पष्टतया प्रतिबिम्बत्वेनोपनिबद्धा । अतो दृष्टान्तः ।

एवमेते अष्टकषट्कत्रिकसप्तकैकादशकषट्कैः षड्भिवर्गैरेकचत्वारिंशदलंकाराः प्रतिपादिताः ।

ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिनः प्रधानभूतस्य स्वशब्दव्यापारास्पृष्टत्वेन **प्रतीयमानै**करूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र तथाविधार्थाभिव्यक्तिहेतुः काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः स कस्मादिह नोपदिष्टः । उच्यते । एष्वलंकारेष्वन्तर्भावात् । तथाहि । प्रतीयमानैकरूपस्य वस्तुनस्त्रैविध्यं तैरुक्तं वस्तुमात्रालंकाररसादिभेदेन । तत्र वस्तुमात्रं तावत्प्रतीयते । यथा—

वा आदि का प्रयोग न हो—वहाँ विद्वानों द्वारा काव्यदृष्टान्त का प्रयोग होता है।

'इष्ट' शब्द का अर्थ है—प्रकरण में प्रतिपाद्य अर्थ। ऐसे अर्थ का जहाँ स्पष्ट रूप प्रतिबिम्ब या समान वस्तु निर्दर्शित किया जाय—वहाँ काव्यदृष्टान्त नामक अलंकार होता है। यहाँ एक शंका है—

क्रोधवश एक चपेटे के आघात से मतवाले हाथियों को गिरा देने वाले सिंह के लिये हरिणों से युद्ध करने में कितनी परेशानी है?—इस प्रकार की अप्रस्तुत प्रशंसा आदि में इष्ट अर्थ के समान अर्थ दिखाया ही गया है। कारण, यहाँ भगवान् राम का मारीचवध निरायास है—[यही है प्राकणिक अर्थ] जिसके प्रतिबिंब रूप में हरिण के हनन का उद्योग करने वाले केसरी के किशोर की बात उपस्थित की गई है। इस प्रकार तो यहाँ भी दृष्टान्त हुआ। लेकिन नहीं। क्योंकि इसी आपत्ति के निवारणार्थ कारिका में 'विस्पष्ट' शब्द का ग्रहण है। यहाँ के 'प्रतिबिंब' शब्द से ही 'बिम्ब' की भी कल्पना की गई है, अतः स्पष्ट रूप से प्राकरणिक (बिम्ब) अर्थ का प्रतिबिम्ब प्रदर्शित नहीं हुआ है। जहाँ पर प्राकरणिक अर्थ भी शब्दतः उपात्त हो और फिर उसका प्रतिबिम्बभूत अर्थ भी दिया गया हो, वहाँ काव्यदृष्टान्त नामक अलंकार होता है। इसीलिए अलक्ष्य (अप्रस्तुत प्रशंसा) में लक्षण के जाने से होनेवाली अतिव्याप्ति नहीं हुई। उपमा आदि में भी इस प्रकार की स्थिति संभव है—इसीलिये यथा, इव, वा आदि पदों के अभाव की बात कही गई

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य ।
आलिंगनोद्दामविलासवंध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम् ।।इति।।

अत्र हि राहुवधूरतोत्सवस्य या चुम्बनमात्रशेषता तत्कर्मिका चक्राभिघात-प्रसभाज्ञाकरणिका चकारेतिकरणलक्षणा क्रियाभिधीयते । सा चैवंविधा कार्य-भूतत्वात्कारणमन्तरेणानुपपद्यमाना तथाविधवैरस्यकारि राहुशिरश्छेदलक्षणं कारणं नालंकाररूपं नापि रसादिरूपम् अपि तु वस्तुमात्ररूपं कल्पयति । अतोऽत्र वस्तु-मात्रस्यैवंविधस्य शब्दव्यापारास्पृष्टस्य प्रतीयमानता । तद्विषयस्य च काव्यधर्मस्य ध्वननाभिधानस्य वाच्यवाचकव्यापारशून्यावगमनस्वभावत्वात्पर्यायोक्तालंकार संस्पर्शित्वम् । तदुक्तम्––

पर्यायोक्तम् यदन्येनेत्यादि

ननु पर्यायोक्त शब्देन प्रकारान्तरेण उच्यमानत्वात् प्रतीयमानं वस्तु अभिधी-यते । तच्चेह प्रतीयमानं प्रधानत्वादलंकार्यतया वक्तुं युक्तं; नत्वलंकृतिकारणतया ।

है। 'यथेवादि' में आदि की सार्थकता यह है कि उससे साधारण धर्म भी ले लिया जाय।

उसका उदाहरण:––

और, इस प्रसंग में बेकार बकवाद से क्या लाभ ? जाओ और पति को प्राप्त करो। क्या समुद्र को न पाकर भी कभी महानदियाँ रह सकती हैं।

यहाँ भगवती के द्वारा इष्ट है––वर-प्राप्ति, जिसके समान अर्थ है––महा-नदी के द्वारा समुद्र की प्राप्ति। इसलिये यहाँ दृष्टान्त हुआ।

इस प्रकार आठ-छ-तीन-सात-ग्यारह-छ-के छ वर्गों से ४१ अलंकार प्रति-पादित किये गये।

यहाँ एक आशंका यह है कि जिस काव्य में सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाले, प्रधानभूत, अभिधा व्यापार से अस्पष्ट, प्रतीयमान संज्ञक अर्थ का सद्भाव हो, वहाँ तथाविध अर्थ के व्यञ्जक, काव्य के आत्मभूत तत्त्व को कुछ सहृदयों ने एक प्रकार के ध्वनि नामक जैसे व्यञ्जकत्व नामक काव्य-धर्म की चर्चा की है––वह यहाँ क्यों नहीं कहा गया ? उत्तर है––उसका इन्हीं अलंकारों में अंतर्भाव है। कारण प्रतीयमान रूप इस वस्तु के तीन भेद उन्होंने स्वयं बताये हैं––वस्तु, रस एवं अलंकार। जैसे,

जिसने चक्र प्रहार की हठात् आज्ञा से ही राहु के वधूजन के रतोत्सव को ऐसा कर दिया––जहाँ अब आलिंगन आदि उद्दाम विलास की स्थिति संभव नहीं रही, रहा तो केवल चुम्बन मात्र।

अतः कथं तस्यालंकारव्यपदेशः । उच्यते । प्रधानमपि गुणानां सौन्दर्यहेतुत्वादलंकृतौ साधनत्वं भजति । दृश्यते हि लोके व्यपदेशः स्वाम्यलंकरणका भृत्या इति । अतोऽत्रापि प्रतीयमानस्य सत्यपि प्रधानत्वे स्वगुणभूतवाच्यसौंदर्यसाधकतमत्वादलंकारव्यपदेशो न विरुध्यते । यदि वा भगवद्वासुदेववर्तितया योऽसौ वीररसोऽवगम्यते तदपेक्षया तस्य मुख्यस्यैव वृत्या गुणभूतत्वादलंकारता । एवमुत्तरत्रापि यथासंभवं योज्यम् ।

स्निग्धश्यामलकान्तलिप्तवियतो वेल्लद्वलाका धना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानंदकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहाहा देवि धीरा भव ।।

इत्येवमादावपि रामादीनां शब्दानामसाधारणरूपतया राज्यभ्रंशवनवास-सीताहरणपितृमरणादयो दुःखैकहेतवो स्वार्थसहचारिणो वस्तुमात्ररूपा व्यंग्यधर्मास्तत्परिणतरूपतया स्वार्थस्य प्रतीतिस्तद्धेतुभूतत्वात्पर्यायोक्तालंकारसंस्पर्शितैव ।

यहाँ राहु के वधू के रतोत्सव को चुम्बन मात्र अवशिष्ट कहा गया है। यह यही चुम्बनमात्र शेष कर्म है, चक्राभिघात की प्रसभाज्ञा ही करण है तथा 'चकार'-गत करण क्रिया है। तथाविध क्रिया, जिससे ऐसा कार्य हुआ—तब तक स्पष्ट नहीं होती, जब तक उसके कारण का पता नहीं लगता। वह बात तब उपपन्न होती है, जब यह पता चलता है कि तथाविध विरसता पैदा करने वाला राहु का शिरश्च्छेद है। सो यह शिरश्छेद रूप कारण न तो अलंकार है, न रस है, बल्कि वस्तु रूप ही है। इसलिये अभिधा व्यापार से न प्रतीत इस प्रकार का वस्तु मात्र प्रतीयमान हुआ। इस प्रकार के अर्थ को विषय करने वाला काव्य धर्म है—ध्वनन, जो अभिधा-से अस्पष्ट तथा अवगमनात्मक होता है, उसका संस्पर्श पर्यायोक्तालंकार से होता है। वही कहा है—पर्यायोक्तं यदन्येन . . .इत्यादि।

यहाँ आशंका यह की जा सकती है कि पर्यायोक्त शब्द का अर्थ है—प्रकारान्तर से अभिहित प्रतीयमान वस्तु। सो, वह प्रतीयमान यहाँ प्रधान है, अतः अलंकार्य है—यही कहना ठीक है, कुछ अलंकार कहना नहीं। इसलिए जब वह अलंकरण का कारण नहीं है तो अलंकार कैसे कहा जाता है। उत्तर यों है—कभी-कभी प्रधान भी अप्रधान को सुंदर बनाने के कारण अलंकरण का साधन बन सकता है। लोक में भी कभी-कभी देखा जाता है कि स्वामी ही भृत्य के अलंकारक हो जाते हैं। इसीलिये यहाँ भी यद्यपि प्रतीयमान प्रधान है फिर भी अप्रधानभूत वाच्य अर्थ के सौंदर्य का साधक होने के कारण यदि उसे अलंकार पद से

न खलु पदे पर्यायोक्तेन न भवितव्यम् इतीयं राज्ञामाज्ञा सूत्रकारवचनं वा । लक्षण-योगाविभक्तरूपतावस्थाप्यते । अत्र च पर्यायोक्तलक्षणं विद्यते वाच्यवाचकव्यापार-शून्यस्यावगमनात्मनः प्रकारस्य सद्भावात् । तेन कथंपर्यायोक्तता न स्यात् ।

एवमन्यत्रापि वस्तुमात्रे प्रतीयमाने पर्यायोक्तता वाच्या तस्मान्न वस्तुमात्रे प्रतीयमाने तदभिव्यक्तिहेतुः काव्यधर्मो ध्वनिर्नामार्थान्तरम् ।

अलंकाराणां तु यद्यपि--

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये,
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ।।

पुकारा जाता है--तो इसमें कोई उक्ति विरोध नहीं है। अथवा भगवान् वासुदेव में जो यहाँ वीररस की अवगति होती है, उसकी अपेक्षा मुख्य व्यापार से ही--प्रतीयमान अर्थ गुणभूत (अप्रधान) होने के कारण अलंकार हो जायगा। इसी प्रकार आगे भी जैसा जहाँ संभव हो, वैसा वहाँ समझ लेना चाहिए।

विरही राम की उक्ति है—ऊपर की ओर दृष्टि उठाने पर आकाश मण्डल काले-काले सजल मेघों से आच्छन्न दिखाई पड़ता है। उसी मेघमण्डल से सटी-सटी उड़ती हुई बक पंक्ति गर्भाधान के उल्लास में एक तरफ से दूसरी तरफ जा रही है। इस उन्मादक दृश्य से अपनी दृष्टि खींचकर जब दिशाओं की ओर देखते हैं तो शीतल, मंद, एवं सुगंध अनिल के झँकोरे हृदय को विकम्पित कर देते हैं। अतः आँखों को बंद कर लिया जाय क्या? पर उससे होता ही क्या है? तब भी तो सारी घटना का स्मरण दिलाने वाली पयोद-सुहृद् मयूरमण्डल की केका सुनाई पड़ ही रही है। अस्तु, जो भी हों, हों, मुझे तो स्मरण रखने की बात यह है 'मैं कठोर हृदय राम हूँ''—मैं तो यह सब कुछ सहन कर सकता हूँ पर सीता की दशा क्या होगी? [इतना कहते-कहते सीता की भी मूर्ति भावना-चक्षु के सामने आ जाती है और भगवान् राम मानो उन्हें संबोधन करते हुए कहते हैं—देवि! सीते! धैर्य रखो।''—ऐसे विभिन्न स्थलों में रामादि शब्दों की असाधारण रूपता के बल पर राज्यभ्रंश, बनवास, सीताहरण, पितृमरण आदि दुःख के हेतुभूत अभिप्रेयार्थ (रामत्व) सहचारी वस्तुरूप धर्म व्यंग्य हैं—इन्हीं से युक्त धर्मी राम की प्रतीति होती है—इस प्रकार की प्रतीति का कारण होने से यहाँ पर्यायोक्त के संस्पर्श की झलक मिलती है। यहाँ पर्यायोक्त नहीं होता—ऐसा कहना तो राजाज्ञा अथवा सूत्रकार का वचन मान लेना है। जब पर्यायोक्त का लक्षण यहाँ

इत्यादौ प्रतीयमानैकरूपता तथाप्यनन्तरोक्तलक्षणेष्वलंकारेषु अनुप्रवेशो भविष्यति पर्यायोक्ते वा। तथाहि अत्र श्लोके मुख्यस्य लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखस्य विकसितहासज्योत्स्नस्य संबोधनसामर्थ्यावसिततरलायताक्षित्वस्य च सन्निधानाज्जलनिधेः क्षोभमुपपत्तिमत्त्वेन संभाव्य तदभावो जाड्यसमूहावच्छादितस्वभावत्वादभिहितः। तथाविधार्थपर्यालोचनया चात्र मुखस्य चन्द्रेण रूपणा प्रतीयते चंद्रसंनिधानाज्जलनिधेः क्षोभस्योत्पाददर्शनात्। न च यस्यालंकारस्य प्रतीयमानरूपता तस्येहालंकारत्वं केनचिन्निवारितमिति प्रतीयमानरूपतया रूपकाख्योऽलंकारो भविष्यति। अथवा पर्यायोक्त्या रूपकस्यात्रावसितत्वात् पर्यायोक्तमलंकारः।

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

इत्यादौ तु शूरादिभिः सह सुवर्णपुष्पपृथिवीकर्मकस्य चयनस्यानुपपद्यमानान्वयत्वात् सादृश्यस्यान्वयेनोपमेयभूतस्य बहुलाभत्वस्य तत्सदृशस्य या लक्षणा तद्द्वारेण

मिल जाता है, तब उसके और तरह के भी लक्ष्य हो सकते हैं। यहाँ पर्यायोक्त का लक्षण इसलिए ठीक बैठ जाता है कि अभीप्सित धर्मों की प्रतीति अभिधा व्यापार निरपेक्ष व्यञ्जन या अवगमन व्यापार से हो जाती है---अतः यह प्रकार यहाँ है। इसलिये पर्यायोक्तता यहाँ क्यों नहीं होगी?

इसी प्रकार अन्यत्र भी यदि वस्तुमात्र की प्रतीति होती हो तो वहाँ भी पर्यायोक्त की स्थिति समझनी चाहिए। इसलिये वस्तुमात्र की जहाँ प्रतीति हो---उसकी अभिव्यक्ति के कारणभूत काव्यधर्म को ध्वनिनाम की एक-सर्वथा नई चीज नहीं समझनी चाहिये।

यद्यपि अलंकारों की तो---

जबकि तुम्हारे इस स्मितवचन से निर्गत लावण्य-कान्ति से सारा दिगन्तराल परिपूरित हो रहा है, तो हे चंचलाक्षि! यह समुद्र जरा भी स्पंदित होता दिखाई नहीं पड़ता। इसकी इस स्थिति को देखकर तो मैं यही समझता हूँ कि यह स्पष्ट है कि यह पयोधि जलराशि---जड़राशि---ही है।

इस श्लोक में (रूपक) अलंकार की एकमात्र प्रतीयमान रूपता ही है, तथापि पूर्वोक्त लक्षणों वाले अलंकारों में इनका अन्तर्भाव किया जा सकता है---अथवा पर्यायोक्त में भी भलीभाँति किया जा सकता है। कारण, इस श्लोक में ही यही कहा गया है---लावण्यमयी कान्ति से दिगन्तराल को पूरित करनेवाले तथा हासमयी ज्योत्स्ना बिखेरनेवाले मुख तथा संबोधन के सामर्थ्य से ज्ञात चंचल एवं बड़े-बड़े नेत्रों के सान्निध्य प्राप्त होने पर यह संभावना सयुक्तिक है कि समुद्र में

गर्भीकृतोपमानोपमेयभावा असंभवद्वाच्यार्था विदर्शना द्रष्टव्या। यदुक्तम्—अभवन्वस्तुसंबंध इत्यादि। भट्टवामनेन चात्र वक्रोक्तिव्यवहारः प्रवर्तितः। यदवोचत् सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरिति।

सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं धियां हरिं कृष्णम्।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम् ॥

इत्यादावपि श्लेषः। तथा ह्यत्र सर्वैकशरणमक्षयमित्यादीनां शब्दानामर्थभेदेन भिन्नत्वे सति यथायोगमेकप्रयत्नोच्चार्याणामेकप्रयत्नोच्चार्यशब्दसदृशानां वोच्चारणम्। अतो विरोधालंकारप्रतिभोत्पत्तिहेतुरत्र श्लेषः। यदुक्तम्—एकप्रयत्नोच्चार्याणामित्यादि।

संक्षोभ होना चाहिए था, पर वह हुआ नहीं—तो मालूम पड़ता है कि उसका स्वभाव जाड्य-सम्पन्न है। यहाँ मुख की तथाविध पर्यालोचना करने पर यह जान पड़ता है कि मुख को कवि चन्द्र रूप कहना चाहता है और चंद्र के संनिधान से जलनिधि में क्षोभ की उत्पत्ति देखी जाती है। इस स्थिति में यहाँ जो अलंकार प्रतीत होता है—उसका मैं या कोई अपलाप नहीं करता अतः उस प्रतीयमान (रूपक) अलंकार की स्थिति तो माननी ही होगी। अथवा रूपक को ही प्रकारान्तर से कहा गया है—फलतः पर्यायोक्त अलंकार ही मान लेना चाहिए।

सुनहले फूल फूलने वाली इस पृथिवी को तीन ही प्रकार के लोग चुन सकते हैं—शूर, विद्वान तथा जो सेवा करना जानता हो।—ऐसे श्लोकों में यह कहा हुआ कि सुवर्ण पुष्पा पृथिवी का संचयन शूर करते हैं—कुछ स्पष्ट नहीं होता; अतः लक्षणा द्वारा तत्सदृश अर्थ सादृश्य संबंध से यह आयगा कि (सुवर्णपुष्पा पृथिवी चुनना अर्थात्) बहुत लाभ लेना। यही उपमेय अर्थ है। इसलिए यहाँ वह विदर्शना अलंकार ही मानना होगा—जहाँ का वाच्यार्थ अपने आप में आपाततः वाधित होता है और उपमानोपमेयभाव गर्भस्थ होता है। कहा भी है निदर्शना का रूप—अभवन् वस्तु संबंध—इत्यादि। वामन ने ऐसे स्थलों में वक्रोक्ति का व्यवहार किया है, जैसा कि उन्होंने स्पष्ट ही कहा है—सादृश्यपूर्वक जहाँ लक्षणा होती है—वहाँ वक्रोक्ति का व्यवहार होता है।

प्रस्तुत श्लोक में भगवान् कृष्ण की प्रार्थना है—

(विरोधाभासी अर्थ)—जो सबका एकमात्र शरण हो वह अक्षय अशरण कैसे? (क्षय का अर्थ गृह या शरण), जो धी का ईश है वह अ+धीश कैसे—एक व्यक्ति का धीश होना और न होना (अ+धीश) कैसा? हरा भी और साथ ही काला यह भी विरोध ही है, चतुर आत्मा वाला भला निष्क्रिय क्या होगा?

एवमलंकारान्तरेषु अपि प्रतीयमानेषु वाच्यम् । तेनालंकारनिष्ठस्यापि अभिव्यञ्जकत्वस्योक्तेष्वलंकारेष्वन्तर्भावात् अव्याप्त्यभावः ।

रसभावतदाभासतत्प्रशमानां तु प्रतीयमानतायामुदाहरणम्——

याते गोत्रविपर्यये श्रुतिपथं शय्यामनुप्राप्तया
निर्ध्यातं परिवर्तनं पुनरपि प्रारब्धमङ्गीकृतम् ।
भूयस्तत्प्रकृतं कृतं च शिथिलक्षिप्तैकदोर्लेखया,
तन्वङ्ग्या न तु पारितः स्तनभरः क्रष्टुं प्रियस्योरसः ।।

तथा ह्यत्र गोत्रस्खलितस्य श्रुतिपथप्राप्तेरीर्ष्याविप्रलम्भश्रृंगारो नायिकायाः संमुखीभूतोऽपि संभोगश्रृंगारेण स्वहेतुसामग्र्यप्रतिलब्धप्रकर्षेण तिरोधाय प्रदर्शितः निर्ध्यातं परिवर्तनमित्यादिना हि यथाक्रममीर्ष्याविप्रलम्भश्रृंगारानुभावस्य परिवर्तनस्य दर्शनप्रार्थनाध्यवसायानुष्ठानात्मिकाश्चतस्रोऽवस्थाः संभोग श्रृंगारमंथरी-कृतस्वस्वभावत्वेनोपवर्णिताः । पुनश्च संभोग श्रृङ्गारेण वाक्यार्थो निर्वाहितः न तु

जो अरा वाले (अरि=रथ) का मथन करेगा वह चक्र धारण करनेवाला कैसे होगा ? प्रतिष्ठित अर्थः—सब प्राणियों के शरणदाता, अविनश्वर, स्वामी, बुद्धियों या बुद्धिमानों के अधिष्ठाता, सबके क्लेश को हरण करनेवाले, चतुरात्मा, वस्तुतः निष्क्रिय एवं निर्लेप, शत्रुसंहारक एवं चक्र सुदर्शन धारण करने वाले कृष्ण को प्रणाम करो।

इत्यादि ऐसे श्लोकों में श्लेष ही कहना चाहिए [कारण, इनका सिद्धान्त है कि जहाँ श्लेष के साथ दूसरे अलंकार हों, वहाँ श्लेष ही कहा जाना चाहिए]। कारण, सर्वैकशरण, अक्षय इत्यादि शब्द अर्थ भेद के कारण भिन्न-भिन्न होने पर भी उनमें कहीं एक प्रयत्नोच्चार्य शब्दों या पदों का उच्चारण है और कहीं एक प्रयत्नो-च्चार्य वर्णों के सदृश का उच्चारण है। इसलिए विरोधाभास की यहाँ प्रतिभा या झलकमात्र माननी होगी और श्लेष की प्रतिष्ठा। जैसा कि एक प्रयत्नोच्चार्या-णाम्—इत्यादि के द्वारा श्लेष का स्वरूप पहले बताया जा चुका है ।

इसी प्रकार और भी अन्यान्य प्रतीयमान अलंकारों के संबंध में समझना चाहिए। इसलिए अलंकारगत अभिव्यञ्जकता का उपर्युक्त अलंकारों में ही अंतर्भाव समझ लेना चाहिए। अतः अव्याप्ति नहीं है।

रस, भाव, रसाभाव, भावाभास तथा भावप्रशम जहाँ प्रतीयमान होते हैं—उनका भी उदाहरण ले लीजिए।

जब प्रिय-कृत गोत्रस्खलन प्रिया के कानों में आया, तब वह नायिका जो शय्या पर लेटी हुई थी करवट लेने की बात सोचने लगी और पुनः प्रारंभ भी किया।

पारित इत्यादिना । अतोऽत्र संभोगशृंगारस्येर्ष्याविप्रलंभशृंगारतिरोधानहेतोः प्रतीयमानता । तत्र च पूर्वं रसवत्त्वलक्षणोऽलंकारः प्रतिपादितः——रसवद्दर्शितेत्यादिना । एवं रसान्तरेष्वपि वाच्यम् ।

यत्रापि भावास्तथा रसभावाभासा रसभावतदाभासप्रशमाश्च प्रतीयमानास्तत्रापि यथाक्रमं प्रेयस्वदूर्जस्वित्समाहितलक्षणालंकारयोगो वाच्यः । एवमेतत्प्रधानभूतेषु रसादिषूक्तम ।

गुणभूतेष्वपि च रसेषूदात्तालंकारः प्रतिपादितः चरितं च महात्मनाम्—इत्यादिना । अतश्च रसादिष्वव्यञ्जकत्वस्यनार्थान्तिरता ।

एवं च त्रिविधेऽपि प्रतीयमानेऽर्थे यच्छब्दानां व्यञ्जकत्वमनन्तरोपवर्णितेषूदाहरणेषु षट्प्रकारतयोपदर्शितं तस्योक्तेष्वलंकारेष्वन्तर्भावाद् व्याप्तिः षट् प्रकारता

उस आरब्ध परिवर्तन को बार-बार किया भी, प्रिय पर पड़ी हुई उसकी एक भुजा खिसकने भी लगी, फिर भी वह तनवङ्गी नायिका प्रिय के वक्षःस्थल से अपने स्तनों के भार को न हटा सकी।

यद्यपि प्रिय द्वारा किये हुए गोत्र स्खलन के सुने जाने पर ईर्ष्याविप्रलंभ शृंगार नायिका के समक्ष प्रस्तुत था, फिर भी स्वपोषक सामग्री से परिपुष्ट संभोग शृंगार के धाराधिरोह उत्कर्ष में वह ढाँककर ही दिखाया गया है। निर्व्यातं परिवर्तनम्—इत्यादि के द्वारा यथाक्रम पहले ईर्ष्याविप्रलम्भ शृंगार के अनुभाव करवट-बदलना—अथवा परिवर्तन की चार अवस्थाओं——दर्शन, प्रार्थन, अध्यवसाय तथा अनुष्ठान रूप——का वर्णन संभोग शृंगार की धारा में उत्तरोत्तर मंद पड़ता हुआ किया गया है। फिर संभोग शृंगार में ही वाक्यार्थ को परिसमाप्त किया है "न तु पारितः"——इत्यादि के द्वारा। इसलिए ईर्ष्याविप्रलंभ शृंगार को तिरोहित करने वाला संभोग शृंगार ही प्रतीयमान हो रहा है। इस स्थिति में पहले रसवदलंकार प्रदर्शित किया गया। इसी प्रकार अन्य रसों के भी संबंध में समझना चाहिये ।

और जहाँ पर भाव, रसाभास, भावाभास तथा भावप्रशम प्रतीयमान होते भी हैं—वहाँ भी यथाक्रम प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वित् तथा समाहित नाम के अलंकार ही समझना चाहिए। इस प्रकार प्रधानभूत रसादि के संबंध में यह सब कहा गया।

जहाँ रस आदि अप्रधान हों—वहाँ उदात्त अलंकार 'चरितं च महात्मनाम्'—इत्यादि के द्वारा कहा ही गया है। इसलिए रसादि की जो व्यञ्जकता है—वह कोई एक सर्वथा नई चीज नहीं है।

इस प्रकार तीनों प्रकार के प्रतीयमान अर्थ में शब्द की व्यञ्जकता के पूर्वोक्त उदाहरणों द्वारा जो छ रूप वर्णित हुये हैं—उनका पूर्वोक्त अलंकारों में ही अंतर्भाव

चात्र त्रिविधप्रतीयमानार्थनिष्ठस्यापि व्यञ्जकत्वस्य वाच्यस्य विवक्षितत्वाविवक्षितत्वाभ्यामुक्ता। तथाहि। द्विविधं व्यञ्जकत्वम्—वाचकशक्त्याश्रयं वाच्यशक्त्याश्रयञ्च। तत्र वाचकशक्त्याश्रयमलंकाराणामेव व्यङ्ग्यत्वादेकप्रकारम्। तत्र ह्यलंकारा एव व्यज्यन्ते न तु वस्तुमात्रं नापि रसादयः। यदुक्तम्—

आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥इति॥

वाच्यशक्त्याश्रयं तु रसादिवस्तुमात्रालंकाराभिव्यक्तिहेतुत्वात त्रिविधम् तत्र यत्तावद्वाचकशक्त्याश्रयं व्यंग्यभूतालंकारैकनियतं शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यतया सहृदयैर्व्यंञ्जकत्वमुक्तम्-सर्वैकशरणमक्षयमित्यादौ तत्र शब्दशक्त्या ये प्रतीयन्ते विरोधादयोऽलंकारास्तत्संस्कृतस्वभावं वाच्यमवगम्यते। अतस्तत्र वाच्यस्य विवक्षैव। यत्तु

हो जाने के कारण पूर्ण व्याप्ति हो जाती है। ऊपर जो तीन प्रकार के अर्थों (रस, अलंकार एवं वस्तु) में रहने वाली व्यञ्जकता को छ प्रकार का कहा गया है—वह व्यञ्जक वाच्य के विवक्षित एवं अविवक्षित—दो रूप होने के कारण। कारण, व्यञ्जकता दो प्रकार की होती है—वाचक शक्ति निष्ठ तथा वाच्यशक्तिनिष्ठ। उनमें से वाचकशक्ति निष्ठ तो एक ही प्रकार का होता है, कारण उससे अलंकार ही व्यंग्य होते हैं। उससे अलंकार ही व्यक्त होते हैं, न तो वस्तुमात्र और न रस आदि ही। जैसा कि स्वयं कहा है—जहाँ शब्दतः नहीं कहा हुआ परंतु शब्द की ही शक्ति से आक्षिप्त होकर ही अलंकार प्रकाशित हों—वहाँ शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि होता है।

रहा वाच्यशक्त्याश्रय, सो उसके संबंध में यह कहना है कि उससे तो रस आदि, वस्तु मात्र एवं अलंकार तीनों ही अभिव्यक्त होते हैं।

तो इन सबमें वाचक शक्ति निष्ठ व्यञ्जकता को लेकर जिससे नियमतः अलंकार ही व्यंग्य होते हैं, सहृदयों ने शब्द*शक्ति मूल संलक्ष्यक्रमध्वनि कहा है। जैसा कि—सर्वैकशरणमक्षयमित्यादि में दिखाया गया है। यहाँ शब्द शक्ति वश जो विरोध आदि अलंकार प्रतीत होते हैं—वहाँ का वाच्य तो विवक्षित एवं निर्वाधित स्वभाव का होता है। इसलिये वहाँ वाच्य की विवक्षा ही होती है। पर वाच्यशक्ति पर निर्भर 'याते गोत्रविपर्यये श्रुतिपथं" इत्यादि उदाहरण द्वारा असं-

---

*ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन ने ध्वनि के दो भेद किये हैं—असंलक्ष्यक्रम तथा संलक्ष्य क्रम अभिधामूलध्वनि। संलक्ष्यक्रम के भी शब्दशक्ति मूल, अर्थ शक्तिमूल तथा उभयशक्तिमूल भेद बताया है।

वाच्यशक्ताश्रयम्—याते गोत्रविपर्यये श्रुतिपथमित्यादौ असंलक्ष्यक्रमरसादिव्यंग्य-निष्ठं व्यञ्जकत्वमुक्तं तत्रापि वाच्यस्य विवक्षितत्वमेव। वाच्यभूतानुभावादिविवक्षयैव व्यङ्ग्यरसादिप्रतीतिरुत्पादात्। तदेवं वाचकशक्त्याश्रयव्यंग्यभूतालंकारैकनियते वाच्यशक्त्याश्रये चासंलक्ष्यक्रमरसादिव्यंग्यनिष्ठे व्यञ्जकत्वे वाच्यस्य विवक्षितत्वमेव।

वस्तुमात्रालंकारविषयस्य तु वाच्यशक्त्याश्रयस्य व्यञ्जकत्वस्य प्रत्येकं वाच्यस्य विवक्षितत्वाविवक्षितत्वाभ्यां द्वैविध्यम्। तथाहि—चक्राभिघातप्रसभाज्ञयेत्यादौ वस्तुविषये व्यञ्जकत्वे वाच्यस्य विवक्षितत्वं कार्यविवक्षापूर्वकत्वेन कारणप्रतीतिप्रसवात्। स्निग्धश्यामलकान्तीत्यादौ तु रामादिशब्दानामर्थान्तरसंक्रमितवाच्यानां वाच्यमविवक्षितं व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतत्वात्। एवं वस्तुमात्रविषये व्यञ्जकत्वे वाच्यस्य विवक्षाविवक्षे।

लक्ष्य क्रम व्यंग्यनिष्ठ जिस व्यञ्जकता की चर्चा की गई है—उसका उपजीव्य वाच्य भी विवक्षित ही होता है। कारण, वाच्य रूप में जिन अनुभाव आदि की चर्चा की गई है, वे इसी रूप में विवक्षित रहेंगे, तभी तो उससे व्यंग्य रस आदि प्रतीत हो पाते हैं। तो इस प्रकार वाचक शक्त्याश्रित व्यञ्जकत्व के स्थल पर जहाँ अलंकार का ही व्यंग्य होना निश्चित है, तथा वाच्य शक्ति पर निर्भर व्यञ्जकत्व स्थल में—जहाँ असंलक्ष्यक्रम से रस आदि सभी प्रकार के व्यंग्य संभव हैं—उभयत्र वाच्यार्थ विवक्षित ही होता है।

पर वाच्यशक्ति पर निर्भर जो व्यञ्जकता होती है जिसका विषय वस्तुमात्र तथा अलंकार भी होता है—वहाँ इन प्रत्येक की व्यञ्जकता के लिये अपेक्षित वाच्यार्थ के दो दो रूप होते हैं—विवक्षित तथा अविवक्षित। कारण, चक्राभिघात प्रसभाज्ञयैव...इत्यादि पूर्वचर्चित स्थल में जहाँ किसी वस्तु की व्यञ्जना है—वहाँ की व्यञ्जकता के लिए अपेक्षित वाच्य को विवक्षित रूप वाला ही मानना होगा, कारण वहाँ कार्य द्वारा कारण का अवगम कराया गया है—तो यह तभी हो सकता है जब कार्यपरक वाच्यार्थ विवक्षित अर्थात् निर्बाध हो। परन्तु 'स्निग्ध-श्यामल...' इत्यादि पूर्वोक्त स्थल में राम आदि शब्दों का वाच्यार्थ अर्थान्तर में संक्रान्त है—इसीलिये यहाँ का वाच्य अविवक्षित या सबाध है—इसीलिये व्यंग्यरूप अन्यान्य धर्मों से विशिष्ट रूप में ही वहाँ धर्मों की प्रतीति होती है। इसी प्रकार वह व्यञ्जकता भी, जो केवल वस्तु का व्यञ्जन करती है—दो प्रकार की है—विवक्षित तथा अविवक्षित।

जहाँ की व्यञ्जकता वाच्यशक्ति पर निर्भर हो और अलंकार की व्यंजना करती हो, जैसे—लावण्यकान्ति परिपूरित...इत्यादि में, वहाँ का वाच्यार्थ

अलंकारविषयेऽपि वाच्यकृत्याश्रये व्यञ्जकत्वे––लावण्यकान्तीत्यादौ एकस्मिन् मन्ये-इत्येतस्मिन्शब्दे यो विशेषोक्त्युत्प्रेक्षयोरनुप्रवेशस्तद्वशेन समासादितस्वभावो योसावेकशब्दाभिधानसंकरस्तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुश्लेषप्रौढीकृतं वाच्यं विवक्षितं तन्मूलकत्वेन रूपक-प्रतीतेरुत्पादात्। सुवर्णपुष्पां पृथिवीमित्यादौ तु वाच्यस्याविवक्षा उपमेयस्य बहुलाभत्वस्य तत्सदृशस्य या लक्षणा तस्या अत्यंततिरस्कृतवाच्यमूलत्वात्। यदि त्वत्र न तिङन्तेनोपमानमस्तीति दृष्ट्या तद्भावाध्यवसानात् सुवर्णपुष्पपृथिवीचयनलक्षणोपमानावच्छादितरूपत्वेन शूरादिविषयस्य बहुलाभत्वस्योपमेयस्य प्रौढोक्त्या प्रतिपत्तिः ततोऽत्र प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरस्य वाच्यस्यार्थस्य प्राधान्यात्––भेदेऽनन्यत्वमित्येत्रमात्मकतयोपवर्णितमतिशयोक्तिभेदत्वं वाच्यम्। व्यङ्ग्या ह्युपमा तदानीमत्र गुणीभवति। एवमलंकारनिष्ठस्यापि व्यञ्जकत्वस्य वाच्यविवक्षितत्वाविवक्षितत्वाभ्यां द्वैविध्यम्।

भी विवक्षित होता है। लावण्य...इत्यादि श्लोक के 'मन्ये' इस एक शब्द में विशेषोक्ति तथा उत्प्रेक्षा (समग्र कारण रहने पर भी क्षोभ नहीं––इसलिये विशेषोक्ति तथा 'मन्ये' द्वारा उत्प्रेक्षा) का जो अनुप्रवेश हुआ––इससे एक शब्दाभिधान संकर आया, पर इसकी तो झलक मात्र ही है––इसकी झलक का हेतुभूत मुख्यतः यहाँ श्लेष ही प्रतिष्ठित है––इसी श्लेष से वाच्य यहाँ सम्पन्न है। और इस प्रकार का वाच्य अंततः रूपक (मुख चंद्र ही है) की प्रतीति करता है। निष्कर्ष यह कि यहाँ का वाच्य भी विवक्षित है। सुवर्णपुष्पाम्––इत्यादि में तो वाच्यार्थ बाधित होने के कारण अविवक्षित ही है। यहाँ वाच्यार्थ की (उपमान की) लक्षणा वाच्यार्थ सदृश अर्थात् बहुत लाभ––इस अर्थ में की गई है और इस लक्षण का आश्रय जो वाच्य अर्थ है––वह अत्यंतरितस्कृत है। इसीलिये यहाँ का वाच्य अविवक्षित है। यदि यहाँ व्याकरण के इस नियम को माना जाय कि उपमान किसी (प्रमुख) क्रिया के साथ नहीं रह सकता, तो 'सुवर्णपुष्पपृथिवीचयन'––इतने संपूर्ण अंश को उपमान कहा जायगा और इस उपमान से शूर आदि द्वारा बहुलाभ रूप उपमेय को निगीर्ण मान लिया जायगा और यह सारी प्रतीति कवि की प्रौढ़ोक्तिवश मानी जायगी। तो इस प्रकार यहाँ के वाच्यार्थ को कवि प्रतिभानिष्पादित (अवास्तव) माना जायगा और इसलिए वाच्य अर्थ की प्रमुखता होने के कारण यहाँ 'भेदेऽनन्यत्व' 'भेद में अभेद' रूप वाली अतिशयोक्ति का भेद ही हो सकेगा। व्यंग्य उपमा ही यहाँ तब गुणीभूतव्यंग्य के रूप में प्रतीत होगी। इस प्रकार अलंकारनिष्ठ व्यञ्जकता भी अपने मूल वाच्य के विवक्षित तथा अविवक्षित [द्विविध] होने के कारण दो प्रकार की हुई।

यत्र चाविवक्षा वाच्यस्य वस्तुनिष्ठेऽलंकारनिष्ठे वा व्यंजकत्वे तत्र व्यंग्यरसादेर्झगित्यवगम्यमानत्वादसंलक्ष्यक्रमता द्रष्टव्या। यदुक्तम् भट्टवामनेन--लक्षणायां हि झगित्यर्थप्रतिपत्तिक्षमत्वं रहस्यमाचक्षते--इति। अतएव च सहृदयैर्यत्र वाच्यस्य विवक्षितत्वं तत्रैव वस्त्वलंकारयोः प्रतीयमानयोर्वाच्येन सह क्रमव्यवहारःप्रवर्तितोऽर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यो ध्वनिरित्युक्तं न तु वाच्याविवक्षायामपि। यत्र च वाच्यस्याविवक्षा पूर्वमुक्ता रामोऽस्मीति--सुवर्णपुष्पामिति च तत्र वयमधिकारोपेतप्रस्तुतार्थानुवंधिवस्तूपनिवंधादप्रस्तुतप्रशंसाभेदत्वमेव न्याय्यं मन्यामहे। यदुक्तम्--अधिकारादपेतस्येत्यादि।

जहाँ वाच्य की अविवक्षा हो, व्यञ्जकता वस्तुनिष्ठ तथा अलंकारनिष्ठ हो--वहाँ व्यंग्य रस आदि की अत्यंत शीघ्र प्रतीति होने के कारण असंलक्ष्यक्रम रूपता ही समझनी चाहिए। वामनभट्ट ने भी कहा है--लक्षणा स्थल में शीघ्र ही अर्थ ज्ञान की क्षमता है--इस रहस्य को विद्वानों ने बताया है। इसलिये सहृदयों ने जहाँ वाच्य विवक्षित होता है--वहीं वस्तु एवं अलंकार रूप प्रतीयमान का वाच्यार्थ के साथ (संलक्ष्य) क्रम का व्यवहार किया है--संलक्ष्यक्रम माना है। संलक्ष्यक्रम के भीतर वस्तु एवं अलंकार ही गृहीत होते हैं--वहीं अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम का व्यवहार किया गया है, न कि जहाँ वाच्य अविवक्षित हो--वहाँ भी। हाँ 'रामोऽस्मि'-'सुवर्णपुष्पाम्--इत्यादि जिन स्थलों में वाच्यार्थ... अविवक्षित है भी वहाँ प्राकरणिक वस्तु सदृश जो अप्राकरणिक वस्तु की उक्ति है उसके कारण मैं तो ज्यादा उचित यही समझता हूँ कि अप्रस्तुत प्रशंसा ही मानी जानी चाहिए। ऊपर 'अधिकारादपेतस्य...' इत्यादि जैसा कि अप्रस्तुत प्रशंसा का स्वरूप बताया गया है।

और जो 'स्निग्धश्यामल'...इत्यादि पूर्वचर्चितस्थल में राम आदि शब्दों को पर्यायोक्त ही माना है--वह तो केवल आरंभ की बात है, सिद्धांतित तो विचारोपरांत यही है। कारण, विवक्षितवाच्य तो पर्यायोक्त का एक भेद है।

निश्चय ही जहाँ पर वाच्य-गत-विवक्षापूर्वक अर्थान्तर की प्रतीति होती है [अर्थात् जहाँ निर्बाध अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति होती है] वहाँ चन्द्राभिघात·· इत्यादि चार स्थलों में पर्यायोक्त के ही भेद स्वीकार किये गये हैं। अप्रस्तुत प्रशंसा के स्वरूप पर ध्यान रखते हुए उसे बचाने के ख्याल से पर्यायोक्त का विषय उससे कुछ भिन्न ही मानना चाहिए--दोनों का विषय-भेद स्वीकार करना होगा। हाँ, जहाँ का वाच्य अविवक्षित है और उससे वहाँ अर्थान्तर की प्रतीति होती है--वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा माननी चाहिए इसलिये पर्यायोक्त एवं अप्रस्तुत प्रशंसा में

यत्तु पूर्वपर्यायोक्तभेदत्वं स्निग्धश्यामलकान्तीत्यादौ रामादीनां शब्दानामभिहितं तदुपक्रममात्ररूपतया द्रष्टव्यं विवक्षितवाच्यस्य पर्यायोक्तभेदत्वात् ।

यत्र खलु वाच्यविवक्षापूर्वकत्वेनार्थान्तरं प्रतीयते चक्राभिधाते–त्यादावुदाहरण चतुष्टये तत्र पर्यायोक्तभेदता । पर्यायोक्तलक्षणस्याप्रस्तुतप्रशंसालक्षणविचारवशेन तद्व्यतिरिक्तविषयावगाहित्वात् । यत्र त्वविक्षिते वाच्येऽर्थान्तरस्य प्रतीतिस्तत्राप्रस्तुतप्रशंसा । अतश्च पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसयोरेव यथाक्रमं विवक्षिताविवक्षितवाच्ययो: सर्वध्वनिभेदसामान्यभूतयोर्ध्वनिभेदयोरन्तर्गतिर्वाच्या ।

सुवर्णपुष्पां पृथिवीमित्यादौ तु विदर्शनाभेदत्वं यत्पूर्वमुक्तं तदधिकारोपेतप्रस्तुतार्थानुबंधिवस्तूपनिबन्धात्मत्वेनासंभवद्वाच्याया विदर्शनाया अप्रस्तुतप्रशंसाभेदत्वादुपपद्यत एव । एतच्च विद्वद्भिर्विचार्य ग्रहीतव्यम्, न त्वविमृश्यैवासूयितव्यमित्यलमतिवाचालतया ।

क्रमशः विवक्षित एवं अविवक्षित वाच्य का जो समस्त ध्वनि प्रकारों के सामान्य रूप हैं—का अंतर्भाव जानना चाहिए।

सुवर्णपुष्पा. . .इत्यादि में जो पहले विदर्शना कही गई है वह भी वस्तु वक्तव्य से विरोध नहीं खाती, कारण यह है असंभववाच्यावाली विदर्शना—जहाँ प्राकरणिक अर्थ से समानता रखने वाली वस्तु का उपनिबंध रहता है—भी अप्रस्तुत प्रशंसा का ही एक भेद है। इन बातों को विद्वान् लोग विचार कर स्वीकार करें, न कि बिना विचार किये ही इस स्थल को असूया की नजरों से देखें। इस प्रकार इस संदर्भ में ज्यादा मुखर होना ठीक नहीं है।

तो इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि एक मात्र नियमतः अलंकार को विषय करने वाले वाचकशक्ति समाश्रित—व्यञ्जकत्व स्थल में वाच्यार्थ एकमात्र विवक्षित रूप का ही होता है। वस्तु एवं अलंकार को विषय बनाने वाले वाच्यशक्ति समाश्रित व्यञ्जकत्व के प्रसंग में प्रत्येक का व्यंजक वाच्य विवक्षित एवं अविवक्षित के रूप से दो प्रकार का होता है। इसलिए उस दृष्टि से (वस्तु-अलंकार तथा रस) त्रिविध प्रतीयमान अर्थ विषयक व्यञ्जकता छ प्रकार की हुई। इन छ भेदों के मध्य पहले दो भेदों में वाच्य अविवक्षित होते हैं और शेष चार में विवक्षित और जहाँ वाच्यार्थ विवक्षित होता है वहाँ वाच्य दो प्रकार का होता है—स्वतः संभवी (विश्व में दृष्ट) तथा कवि प्रतिभानिर्मित (काल्पनिक)। इसलिए (४×२=)आठ भेद हुए। इस प्रकार आठ ये विवक्षितवाच्य के तथा पूर्वोक्त दो अविवक्षित वाच्य के—सब मिलाकर दश भेद हुए। वे ही कभी पद-प्रकाश होते हैं और कभी-वाक्य प्रकाश। अतः द्विगुण होने के कारण (१०

तदेवं वाचकशक्तिमूलेऽलंकारैकनियते वाच्यशक्तिमूले च रसादिविषये व्यञ्ज-कत्वे वाच्यस्य विवक्षितत्वैकरूपत्वम्। वस्त्वलंकारविषये तु वाच्यशक्तिमूले व्यञ्ज कत्वे प्रत्येकं वाच्यस्य विवक्षितत्वाविवक्षितत्वाभ्यां द्विभेदता। अतस्तत्समाश्रयणेन त्रिविधप्रतीयमानार्थनिष्ठस्यापि व्यञ्जकत्वस्य षट्प्रकारता भवति। एतेषां च षण्णां भेदानां मध्याद्द्वयोर्भेदयोर्वाच्यस्याविवक्षोक्ता चतुर्षु विवक्षितत्वम्। यत्र च विवक्षितत्वं तत्र वाच्यस्य स्वतः संभवित्वात्प्रौढोक्तिमात्रनिष्पादित-शरीरत्वाच्च द्वैविध्यम्। अतस्तत्र तस्याष्टौ भेदा भवन्ति। एते चाष्टौ भेदा वाच्यस्य यत्राविवक्षा तद्विषयाभ्यां पूर्वोदिताभ्यां द्वाभ्यां भेदाभ्यां संकलिताः सन्तो दश संपद्यन्ते। एत एव तु पदवाक्यप्रकाश्यतया द्वैगुण्यं भजमाना विंशतिर्भवन्ति वर्णसंघटनाप्रबंधाधारस्य व्यञ्जकत्वस्य कृत्तद्धितादिगतस्य च पदवाक्यानुप्रवेशेनैवा विर्भावात्। पदप्रकाश्यत्वं यथा रामोऽस्मीति। चक्राभिघातेत्यादौ तु वाक्यप्रका-श्यता। यथा च प्रधानभूते व्यङ्ग्ये एषा व्यञ्जकता विंशतिविधा भवति तथा गुणीभू-तेऽपि यथासंभवं योज्येति।

तदाहुः--

> विवक्ष्यमविवक्ष्यं च वस्त्वलंकारगोचरे।
> वाच्यं ध्वनौ विवक्ष्यं तु शब्दशक्तिरसास्पदे॥
> भेदषट्के चतुर्द्धा यद्वाच्यमुक्तं विवक्षितम्।
> स्वतः संभवि वा तत्स्यादथवा प्रौढिनिर्मितम्॥
> दशभेदा ध्वनेरेते विंशतिः पदवाक्यतः।
> प्रधानवद् गुणीभूते व्यङ्ग्ये प्रायेण ते तथा॥इति॥

×२) बीस भेद हुये। वर्णगत, संघटनागत तथा प्रबंधगत एवं कृत तथा तद्धित आदि गत सकल भेद पद एवं वाक्य के अंतर्गत समाविष्ट हो जायेंगे--अतः उनकी स्वतंत्र चर्चा और स्थिति अनावश्यक है। पद-प्रकाश का उदाहरण--जैसे--'रामोऽस्मि' में--राम। चक्राभिघातप्रसभा इत्यादि वाक्य प्रकाश का उदा-हरण है। जिस प्रकार व्यंग्य के प्रधान होने पर बीस भेद किये गये, उसी प्रकार गुणीभूत में भी जितना संभव हो--समझ लेना चाहिए।

वही कहा है--

वस्तु एवं अलंकार को विषय करने वाले वाच्य विवक्षित भी हो सकते हैं और अविवक्षित भी। शब्दशक्तिमूल जहाँ रस विषय होता है वहाँ वाच्य अर्थ विव-क्षित ही होता है। इस प्रकार छ भेदों में चार विवक्षित वाच्य वाले हैं--वे भी

वस्त्वलंकारवाच्ये ध्वनौ प्रत्येकं वाच्यं विवक्ष्यमविवक्ष्यंचेति संबन्धः विवक्ष्यमिति विवक्षार्हमित्यर्थः। शब्दशक्तिरसास्पदे--इति वाचकशक्तिसमाश्रयं रसादि व्यंग्यनिष्ठं च व्यन्‌जकत्वमुक्तम्। तद्विशिष्टशक्ति व्यञ्जकभूतां रसादींश्च व्यङ्ग्यभूतानास्पदीकरोति। एवमेतद्व्यन्जकत्वं पर्यायोक्तादिष्वन्तर्भावितम्। एतच्चेह बहुवक्तव्यत्वान्न वैतत्येन प्रपञ्चितम्। कुशाग्रीयबुद्धीनां हि दिङ्मात्र एवोपदर्शिते सति बुद्धिवल्लीप्रतानशतैर्नानादिग्व्यापित्वेन विस्तारमासादयति--इति।

मीमांसासारमेघात्पदजलधिविधोस्तर्कमाणिक्यकोशात्
साहित्यश्रीमुरारे र्बुधकुसुममधोः शौरिपादाब्जभृङ्गात्।
श्रुत्वा सौजन्यसिंधोर्द्विजवरमकुलात् कीर्त्तिवल्ल्यालवालात्
काव्यालंकारसारे लघुविवृतिमधात् कौङ्कणः श्रींदुराजः॥

इति श्री महाप्रतीहारेंदुराजविरचितायामुद्भटालंकारसार—
संग्रहलघुवृत्तौ षष्ठो वर्गः।

स्वतः संभवी तथा कवि प्रतिभा-निर्मित के भेद से दुगने होकर आठ हो जाते हैं और अविवक्षित वाले दो को मिलाकर ध्वनि के दस भेद हो जाते हैं। पुनः वे ही पदगत तथा वाच्यगत होने के कारण बीस प्रकार के हुए। व्यंग्य की प्रधान स्थिति की तरह अप्रधान स्थिति में यथासंभव वैसे ही प्रभेद हो सकते हैं।

वस्तु ध्वनि एवं अलंकार ध्वनि में से प्रत्येक के व्यन्जक वाच्य के विवक्ष्य तथा अविवक्ष्य---ये दो भेद होते हैं। विवक्ष्य का अर्थ है---विवक्षायोग्य। शब्द शक्ति रस्पास्पदे...इत्यादि का अर्थ है---कि व्यन्जकता वाचकशक्ति का सहारा लेकर ही उन्मिषित होती है---वाचक शक्ति से वाच्यार्थबोध होने पर ही प्रकरणादि के सहारे व्यन्जकता प्रकट होती है। इस व्यन्जकता के विषय होते हैं---रस आदि। निष्कर्ष यह कि यह व्यन्जकता शब्द की न केवल एक विशिष्ट शक्ति को ही अपना विषय बनाती है, प्रत्युत रस आदि व्यंग्य को भी अपना विषय बनाती है। इस प्रकार यह व्यन्जकता पर्यायोक्त आदि अलंकारों में ही अंतर्भूत है---उससे अतिरिक्त इसका अस्तित्व स्वीकार नहीं करना चाहिए। यहाँ पर इस विषय में चूंकि बहुत कुछ कहा जा सकता है---और है भी काफी कहना---पर अवसर उपयुक्त नहीं है---अतः विस्तारपूर्वक उसे नहीं कहा गया। कुशाग्रबुद्धि वालों को यदि थोड़ा संकेत भी दे दिया जाय तो उनकी बुद्धि उस विषय पर चारों तरफ छा जाती हैं।

अन्त में इंदुराज पुनः अपने गुरु को स्मरण करते हुये कहते हैं—कीर्तिलता के आलवाल, सौजन्यसिंधु द्विजश्रेष्ठ मुकुल से (साहित्यशास्त्र का) श्रवण करने के अनन्तर कौंकण इन्दुराज ने काव्यालंकार सार संग्रह की लघुवृत्ति नामक टीका निर्मित की। मुकुल की महिमा का कहना ही क्या––मीमांसा की वृष्टि के लिये तो वे मेघ हैं, व्याकरण के समुद्र को उल्लसित करने में वे चंद्र हैं, तर्क––रत्न के तो कोश ही हैं, साहित्य लक्ष्मी को सनाथ करने वाले साक्षात् मुरारि ही हैं, बुध रूपी पुष्पों के उद्भव और विकास के लिये मानों वसन्त ऋतु ही हैं, भगवान् कृष्ण के चरणाम्बुज के वे भृङ्ग हैं।

इस प्रकार श्री महाप्रतीहारेंदुराज विरचित उद्भटालंकार सारसंग्रहलघुवृत्ति का षष्ठ वर्ग समाप्त हुआ।

सर्वतंत्रस्वतंत्रो यः कविवर्यशिरोमणिः।
तस्माच्छ्रीमन्महादेवात्साक्षाद्देवमयाद्गुरोः ॥
श्रुत्वा साहित्यशास्त्रादिवाङ्मयं परमं महत्।
कृता व्याख्या मया पूर्णा राममूर्ति त्रिपाठिना ॥
कार्यमेतत्समारब्धं श्रीनगेंद्रनिदेशतः ।
समापनन्तु तस्यैवच्छायायां वाजपेयिनाम् ॥
दुलारेनंदनाम्नां वै सागरे मूर्ध्नि तिष्ठताम्।
सम्मेलनेन प्राकाश्यं नीतं तत् संविधानतः ॥

परिशिष्ट--१

"काव्यालङ्कार-सार-सङ्ग्रह" की कारिका सूची

परिशिष्ट--२

'काव्यालंकार-सार-संग्रह' एवं 'लघुवृत्ति' में उदाहृत पद्यों की सूची



कवर डिजाईन : सार्थक प्रिन्टर्स, फोन : 2608140, 2667297